JOURNAL OF THE GANGANATHA JHA KENDRIYA SANSKRIT VIDYAPEETHA

LXIV (1-4) JANUARY-DECEMBER 2008

I S S N 0016-4461

Journal Of The Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha

(Formerly : Journal of Ganganatha Jha Research Institute)

A Journal devoted to Oriental Studies in general
and Indological Studies in particular

ublished by :
rincipal
ashtriya Sanskrit Sansthan
Deemed University)
anganath Jha Campus
handrashekhar Azad Park
llahabad-211 002 (U.P.)
NDIA

JOURNAL OF THE GANGANATHA JHA KENDRIYA SANSKRIT VIDYAPEETHA

LXIV (1-4)	JANUARY-DECEMBER 2008

Chief Editor
Surendra Jha, Principal

Editors

V. N. Giri   Banamali Biswal   L. K. Tripathi

Rashtriya Sanskrit Sansthan
(Deemed University)
Ganganatha Jha Campus
Chandrashekhar Azad Park
Allahabad -211 002
2010

Rashtriya Sanskrit Samsthan (Deemed University) Ganganatha Jha Campus is a constituent Institute of Rashtriya Sanskrit Sansthan, Delhi, which is run under the auspices of the Ministry of Human Resources Developments. Govt. of India.

गङ्गानाथप्रसृमरयशश्चन्द्रिकाधौतहर्म्यं
कूजद्विद्वद्विहगनिवहानेकगीताभिरामम् ।
काले काले कुसुमितनवान्वेषणाऽऽमोदिताशं
विद्यापीठं जयतु जगतां भूयसे मङ्गलाय।।

Annual Subscription
Indian : Rs. 80/- Foreign : $ 20/-
(including postage and registration charges)

Printed at :
Academy Press
Daraganj, Allahabad

Editorial

We are extremely happy to present the 64th vol. of the journal of Ganganatha Jha Kendriya Sanskrita Vidyapeetha to our readers.

We have edited the matters available to us for this volume with utmost care. We know, in spite of our sincere efforts some errors still might have crept in. We hope and believe that we can certainly overcome them gradually in our forthcoming issues. However, it will not be possible without the cooperation of our contributors. Therefore, the contributors may please go through our appeal under the title "To our contributors" in the inner back cover of this vol. and help us in contributing accordingly.

Since the Journal is being published from a Research Institute where more than 60,000 Sanskrit Manuscripts are preserved on different branches of Indology, we will prefer text-based studies (i.e. Textual criticism, Textual appreciation etc.) for this purpose. Therefore, the materials related to manuscripts and manuscriptology are most welcome for the forthcoming issues either in the form of research papers or in the form of editing or critical editing of small but rare and important manuscripts.

Surendra Jha
Chief Editor

Contents

(Volume LXIV)

गैर्वाणवाणी-गौरव-ग्रन्थमाला

□□

रघुवंश एवं राजतरङ्गिणी का मध्यमार्गी ईश्वरविलास-महाकाव्य

राजेन्द्र मिश्र

वर्तमान राजस्थान राज्य के मुगलकालीन नगर आमेर (अम्बावती) में स्थापित सूर्यवंशी कछवाहा राजपूतों के चिरजीवी साम्राज्य की कीर्तिगाथा पर आधारित ईश्वरविलास नामक महाकाव्य को मैं, शरीर (कलेवर) एवं आत्मा (संवेदना) – दोनों ही दृष्टियों से, रघुवंश एवं राजतरङ्गिणी का संगमस्थल मानता हूँ। इस ऐतिहासिक म्हाकाव्य का नायक है कछवाहा-राजवंश का प्रायः अन्तिम सार्वभौम सम्राट् सवाई ईश्वरी सिंह (1722–1750) जो मात्र सात वर्ष 2 मास एवं 11 दिन (आश्विन शुक्ल 15, बुधवार सं. 1800 वि. से पौष कृष्ण 12 संवत् 1807 विक्रमी अर्थात् सन् 1743 से 1750 ई.) शासन कर सका। छोटे भाई माधव सिंह तथा उनके पक्षधर प्रभविष्णु शासकों, साथ ही आत्मीय परिजनों के सतत असहयोगों, षड्यन्त्रों एवं भितरघातों के कारण, यदि सवाई ईश्वरी सिंह को हतबुद्धि एवं असहाय होकर आत्महत्या न करनी पड़ी होती तो संभवतः वह राजा मानसिंह, मिर्जा राजा जयसिंह एवं सवाई जयसिंह के अनन्तर इस लोकविश्रुत राजवंश के चौथे महामहिमशाली लोकप्रिय शास्ता नरपति हुए होते।

संभवतः महाकाव्यकार कविकलानिधि देवर्षि श्रीकृष्ण भट्ट ने इसी अवधारणा को प्रमाण मानकर सवाई ईश्वरी सिंह को अपने काव्य का नायक बनाया है। मेरी दृष्टि में भी ईश्वरी सिंह ही ईश्वरविलासमहाकाव्य के युक्तियुक्त न्याय्य नायक हैं। वह मात्र इसलिये नायक नहीं है कि महाकाव्य का नामकरण उनके नाम पर आश्रित है, जैसा कि साहित्यदर्पणादि में महाकाव्य-लक्षण के सन्दर्भ में निर्दिष्ट है।[1]

सवाई ईश्वरी सिंह, इसलिए भी, इस महाकाव्य के नायक नहीं हैं कि उन्हीं के आदेश से उनके वंश की यह कीर्तिकथा कवि द्वारा लिखी गई। अपने राज्याभिषेक-महोत्सव के अवसर पर स्वयं नरपति ने, कवि को इस काव्य के प्रणयनार्थ प्रेरित किया। कवि ने प्रणयनानन्तर इस महाकाव्य को आद्यन्त सुनाया भी महाराज एवं उनके सभासदों को। आनन्दविह्वल नरेश ने कवि का एतदर्थ भरपूर सम्मान भी किया जो कवि कृष्णभट्ट के लिये किसी राजसुख से न्यून नहीं था।[2]

वस्तुतः सवाई ईश्वरी सिंह का काव्यनायकत्व उनके राजोचित गुणों के कारण है। ईश्वरी सिंह का नायकत्व ही, इस महाकाव्य में कवि को अभीष्ट है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि इस विशाल महाकाव्य का आधा भाग (सर्ग 8 से 14 तक) मात्र सवाई ईश्वरी सिंह के प्रशस्तिगायन में पर्यवसित है, जिन्होंने दुर्भाग्यवश केवल अट्ठाईस वर्ष का लघु जीवन जिया।

कविकलानिधि कृष्णभट्ट की दृष्टि में ईश्वरी सिंह ही उनके काव्यनायक हैं। यह तथ्य रचनाकार के कविकर्म से भी सिद्ध हो जाता है। जैसे कविकुलगुरु कालिदास दिलीप के यज्ञाश्व की रक्षा, विश्वजित् यज्ञ एवं कौत्स की गुरुदक्षिणादि सन्दर्भों द्वारा महाराज रघु के अनन्यत्रोपलब्ध ऐश्वर्य-पराक्रम का वर्णन कर, उनके नायकत्व के प्रति अपनी सहमति संकेतित कर देते हैं, ठीक उसी प्रकार कृष्णभट्ट भी महाराज सवाई ईश्वरी सिंह का पूर्वजातिशायी विलक्षण वर्णन कर उनकी काव्यनायकता पर अपनी मुहर लगा देते हैं।

वस्तुतः किसी नरपति का नायकत्व न तो उसके सुदीर्घ आयुष्य पर आधारित होता है और न ही उसके सांसारिक क्रियाकलापों पर। निश्चय ही उस दृष्टि से राजा मानसिंह (1550-1614 ई.) मिर्जा राजा जयसिंह (1611-67 ई.) तथा सवाई जयसिंह (1688-1743 ई.) का जीवनकाल, सवाई ईश्वरीसिंह की तुलना में अधिक सायाम एवं घटनाबहुल रहा है। तथापि उन नरपतियों के चरित एवं व्यक्तित्व में कवि को उस दैवी कला के दर्शन नहीं होते, जो महाराज ईश्वरी सिंह में विद्यमान हैं। इसे यथार्थ कहें अथवा श्रद्धातिरेक, या फिर कवि का स्वतःस्फूर्त पक्षपात, परन्तु सवाई ईश्वरी सिंह को वह सर्वदेवमय चित्रित करता है। उपर्युक्त, अन्य किसी भी आमेर-नरेश का व्यक्तित्व उतना सुदर्शन, सद्गुणमण्डित एवं दैवी आभा से सम्पन्न नहीं, जैसा सवाई ईश्वरीसिंह का! कवि राजा ईश्वरी सिंह को 'ग्रहाणां गणः' कहता है –

सूर्यस्तेजसि चन्द्रमा निजवपुः श्रीकौमुदीनां भरैः
प्राप्तोऽङ्गारकं एष शत्रुविषये, सौम्यः सतां यो गुरुः।
काव्यैकप्रवणः शनैश्चरति यो धर्मस्वरूपं विदन्
द्वेष्यान्नेष्यति राहुकेतुपदवीमेष ग्रहाणां गणः[3]।।

ज्येष्ठ शुक्लपक्ष 13, संवत् 1790 वि. अर्थात् सन् 1733 ई. में कुमार ईश्वरीसिंह को युवराज-पद पर आसीन किया गया। युवराज के रूप में सवाई ईश्वरी सिंह की सर्वदेवमयता को कवि एक बार पुनः प्रस्तुत करता है –

मुखे विधुस्तेजसि भास्करो धने
धनाधिपः शैत्यगुणे जलाधिपः।
जवे मरुज्जम्भरिपुश्च वैभवे
स सर्वदेवात्मक इत्थमीश्वरः[4]।।

ईश्वरीसिंह कविसमूहों का उपास्य है, अपने अमर्त्योचित सद्गुणों के कारण वह वदान्यशिरोमणि है, शत्रुओं का दमनकर्ता है, याचकों के दारिद्र्य को विध्वस्त कर देने वाला है। वस्तुतः वह पृथ्वीवल्लभ है –

वसुन्धरायाः कमनः क ईश्वरो
द्विषच्चमूनां दमनः क ईश्वरः।
दरिद्रतायाः शमनः क ईश्वरः
कविव्रजैरित्थमुपास्य ईश्वरः[5]।।

यदि तुलनात्मक रीति से अध्ययन करें तो प्रतीत होता है कि जिन दैवी सद्‌गुणों, संस्कारों, निसर्गों एवं सत्प्रवृत्तियों का समावेश कवि ने सवाई ईश्वरीसिंह में प्रदर्शित किया है, उनका लेशमात्र भी संस्पर्श अन्यान्य चरित्रों में नहीं है। राजा मानसिंह दुर्धर्ष पराक्रमी हैं, दिग्विजयी हैं, सत्यवादी हैं, कृष्णानुरागी एवं शक्त्युपासक हैं, कृतज्ञ एवं स्वामिभक्त हैं, परदुःखकातर एवं वदान्य हैं। परन्तु उनकी इन समस्त दुर्लभ चारित्रिक विभूतियों का उपयोग होता है केवल मुगलसाम्राज्य की परिपुष्टि एवं विस्तार में। इस दृष्टि से वह महाकाव्य–नायक के रूप में संभवतः कवि को काम्य न रहे होंगे।

मिर्जा राजा जयसिंह भी दुर्धर्ष रणशूर योद्धा, महान् राजनीति–विशारद, स्वदेश–स्वजाति एवं स्वकुलाभिमानी, कवियों–कलाकारों के संरक्षक एवं गुणाधिष्ठान हैं तथापि कहीं न कहीं वह भी स्वामिभक्ति के भार से दबे दीखते हैं। मिर्जाराजा जयसिंह तथा जोधपुर–नरेश जसवन्तसिंह – दोनों ही अपने युग के अप्रतिम रणमल्ल योद्धा तथा महाशक्ति थे। परन्तु विपत्तिग्रस्त दाराशिकोह को दोनों मिलकर भी उबार न सके, अन्यथा भारत राष्ट्र का भविष्य ही कुछ और होता! आलमगीर औरंगजेब यदि भयभीत था तो मात्र मिर्जा राजा जयसिंह से। उनके जीवित रहते वह अपना हिन्दूविरोधी रूप प्रकट नहीं कर सका, परन्तु ऐन उनकी मृत्यु के दिन ही उसने एक सौ एक प्रमुख हिन्दू मन्दिरों को विध्वस्त करने का फरमान पारित कर दिया।

यदि जयसिंह, जसवन्त तथा छत्रपति शिववीर समन्वित हो जाते तो जर्जर एवं विनाशोन्मुख मुगलसल्तनत औरंगजेब के मरने से पूर्व ही नामशेष हो गई होती। परन्तु जयसिंह की वशंवदता, स्वामिभक्ति, निष्ठा एवं सत्यसन्धता के कारण ऐसा नहीं हो पाया।

सवाई महाराजा जयसिंह का क्या कहना? उनमें समस्त नायकोचित गुण हैं। वह विद्याव्यसनी, कलानुरागी, स्वप्नदर्शी, विविध शास्त्रपारंगत नरेश हैं। परन्तु ईश्वरविलासमहाकाव्य में उनकी भी नायकता प्रतिष्ठित नहीं है। उनके अन्यान्यनिरपेक्ष वैभववर्णन के अभाववश कवि ने सवाई जयसिंह के भी घटनाप्रधान जीवनचक्र को ही वर्णित किया है, उनके उदात्त दैवी गुणों को नहीं। इसके अतिरिक्त अनभीष्ट ज्येष्ठ पुत्र की हत्या[6] तथा उदयपुरनरेश अमरसिंह को दिये गये वचन का अपरिपालन[7] – ये दो लोकापवाद भी सवाई जयसिंह की कीर्तिकौमुदी को मलीमस बना देते हैं।

परन्तु सवाई ईश्वरीसिंह का चरित्र इस दृष्टि से स्फटिकोज्ज्वल है। वह जिये भी तो अपने देवोपम सच्चारित्र्य के बल पर और मरे भी तो उसी देवोपम चरित्र की रक्षा के लिए।

प्रायः समस्त पूर्ववर्ती आमेर–नरेश परार्थसाधक जीवन जीते हुए ही दिखाई पड़ते हैं, परन्तु राजसूय–यज्ञ सम्पन्न करने वाले, शत्रुविजयोपलक्ष्य में जयपुर नगर में विजयस्तम्भ (ईसरलाट) का निर्माण कराने वाले, महान् प्रजावत्सल नरेश महाराजा ईश्वरीसिंह के अमल–धवल चरित्र में कहीं कोई दाग नहीं। उनकी महाकाव्यनायकता, इसीलिये सर्वथा अविवादित है क्योंकि वह सर्वतंत्रस्वतंत्र शास्ता हैं।

धीरोदात्त–गुणान्वित सद्वंश क्षत्रिय ही महाकाव्य का नायक होना चाहिये (देवेतर काव्यकृति में) कवि ईश्वरीसिंह की तुलना मर्यादापुरुषोत्तम राम से करता है जिन्होंने एक ही गुरु कौशिक से समस्त विद्याएं प्राप्त कर लीं। पृथक् विद्याओं के लिये पृथक् गुरुओं के पास नहीं जाना पड़ा[8]। दूसरी बात यह कि पूर्वजन्मों

के संस्कार से उपार्जित समस्त विद्याएं कुमार के पास स्वयमेव यूँ चली आई जैसे पूर्वानुरक्त अङ्गना (अपने) प्रियतम के पास स्वयं चली आती है।[9] ईश्वरी सिंह युद्धविद्या में परम पारंगत थे। कोई भी ऐसा अस्त्र-शस्त्र नहीं, जिसके प्रयोग में वह दक्ष न हों![10]

अतिशयोक्ति की देहली तक पहुँच कर कवि अपने नायक को अश्विनीकुमार, कामदेव, पुरूरवा बताता है। प्रत्येक मान्यता के पीछे कवि की अपनी युक्ति है।[11] वह उसे सूर्य, चन्द्र, कल्पवृक्ष तथा इन्द्र भी सिद्ध करता है।[12]

ईश्वरीसिंह के वर्णन में कविकृष्णभट्ट रघुवंश-महाकाव्य के 'रघु एवं अज' सन्दर्भ से अत्यन्त प्रभावित प्रतीत होते हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है 'रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं' आदि श्लोक को स्मृति में रखते हुए कुमार ईश्वरीसिंह - विषयक इस पद्य के पारायण में --

दीपात्प्रदीपः स यथा प्रवर्तितो न भेदलेशं कुरुते निरीक्षताम्।
तथैव सा राजकुमारराजदृक् प्रजा न भेदं लभते स्म कञ्चन।।

ये शौर्यवीर्याद्धुततादयो गुणाः श्रीमन्महाराजवराश्रया बभुः।
त एव तस्मिन् युवराजके दधुर्द्वैगुण्यलक्ष्मीप्रतिबिम्बिता इव।।

महाकाव्य के नवम सर्ग में कवि दाक्षिणात्त्य मराठों के साथ हुए युवराज ईश्वरीसिंह के तुमुल संग्राम का अद्भुत वर्णन करता है। यह युद्ध-वर्णन रघु, अज एवं राम के युद्धों से भी अधिक रोचक प्रतीत होता है, सन्दर्भ की नवीनता तथा यथार्थ की निकटस्थता के कारण। विजयी युवराज के पास जयलक्ष्मी अभिसारिका के समान आती है, यह वर्णित करते कृष्णभट्ट को सम्भवतः कादम्बरी का शूद्रकवर्णन स्मृत हो आता है।[13]

महायशस्वी पिता की मृत्यु के अनन्तर ईश्वरीसिंह का विधिवत् राज्याभिषेक होता है। वह एक बार पुनः महामात्य राजमल्ल एवं विद्याधर आदि के साथ दिग्विजय करते हैं। इस वर्णन में कवि ने अलंकृत काव्यशैली में अपनी विलक्षण प्रतिभा प्रस्तुत की है। श्लेष के कुछ प्रयोग तो अभूतपूर्व ही हैं --

समुदितो मुदितो निखिलैर्गुणैः प्रकृतितः कृतितश्च मनोहरः।
लसितया सितया सुयशः श्रिया भृशरणी शरणीकृतदोर्युगः।।

नरमणी रमणीरमणीयभाः परमया रमया रमयान्वितः।
अनलभा नलभानलभाकृतिर्वसुहितः सुहितः सुहितव्रजैः।।

लसदयः सदयः सदयः करः परचमूरुचमूरुचमूनयन्।
न कलितः कलितः कलितः क्षतोऽविनतमानतमानतमानदः।।

नृपतिमानितमानितमानितद्विजवरोऽजवरो जवरोषणः।
सदसितोदसितोदसितोद्धतः प्रघनयोधनयोधनयोजनः[14]।।

इन पद्यों में सवाई ईश्वरी सिंह की जिन वैयक्तिक भव्यताओं का उल्लेख किया गया है, वे उन्हें महाकाव्य का नायक सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं। जैसा मैंने प्रारंभ में ही कहा एक सवाई जयसिंह को छोड़, आमेर-भूपतियों में कोई अन्य आत्मप्रभविष्णुता का वैसा प्रतिमान् सिद्ध नहीं होता, जैसा सवाई ईश्वरीसिंह थे। समरविजय, राजसूय-याग, स्थापत्यनिर्माण, प्रजापालन, साहित्य-कला-संरक्षण

एवं प्रतापैश्वर्य-स्थापन- सभी दृष्टियों से ईश्वरीसिंह अपनी अल्पकालीन शासनावधि के बावजूद, महान् सिद्ध होते हैं।[15]

जो विद्वान् इस आधार पर ईश्वरीसिंह को महाकाव्य-नायक नहीं स्वीकार करते कि 'वह अपने लोगों के विश्वासघात के शिकार बने', मेरी दृष्टि में उनका यह तर्क युक्तियुक्त नहीं है। राजनीति में 'निष्ठा' का शाश्वत एवं स्थिर होना सदैव संशयापन्न रहा है। रणथम्भौर-नरेश राव हम्मीरसिंह का भी पतन दुर्गपाल रणमल्ल एवं कोठारी जाहड के विश्वासघात से ही हुआ था। दोनों शत्रु अलाउद्दीन खिलजी से मिल गये थे लोभवश। जबकि अलाउद्दीन ने विश्वासघाती रणमल्ल को हाथी से कुचलवा कर मार डाला, असहाय एवं निरुपाय स्थिति में हम्मीरदेव ने भी, शत्रु के हाथों में पड़ने से पूर्व ही, अपने ही भिन्दिपाल के प्रहार से प्राणों का अन्त कर लिया। नयचन्द्रसूरि का हम्मीरकाव्य इस घटना को प्रमाणित करता है।

सवाई ईश्वरीसिंह की भी स्थितियाँ प्रायः ऐसी ही थीं। अपना ही सौतेला भाई माधवसिंह, अपना ही श्वसुर उदयपुर-नरेश राणा जगत्सिंह उनके प्राणों के ग्राहक बने थे। महामात्य केशव तथा सेनापति हरगोविन्द नाराणी पूर्णतः विश्वासघात पर उतर कर शत्रुओं के साथ थे। इसी प्रकार, कोटा एवं जोधपुर के शासक तथा करोड़ों रूपयों का उत्कोच देकर आमंत्रित मराठा सरदार मल्हारराव होल्कर भी उनके विनाशार्थ कृतसंकल्प थे। उस विकट स्थिति में मनस्वी नरेश के पास स्वाभिमानरक्षा का भला और क्या उपाय था? पराधीन मृत्यु की तुलना में स्वाधीन मृत्यु उन्हें अच्छी लगी।

परन्तु अनिष्ठा, असहयोग तथा विश्वासघात के इन कृत्यों से ईश्वरीसिंह के वैरी ही कलंकित होते हैं, न कि सवाई ईश्वरीसिंह। राज्यासन पाने के बाद भी माधवसिंह अपने ही दुष्कृत्यभार से अनुतप्त हुए तथा अपनी भाभी से एतदर्थ क्षमायाचना भी की, ऐसा प्रमाण मिलता है।

वस्तुतः ईश्वरविलास काव्य समूचे महाकाव्य में गर्भाङ्क की तरह अवस्थित है। जैसे उत्तररामचरितम् में नाटक के भीतर नाटक (सप्तमाङ्क) अन्तर्निविष्ट है, उसी प्रकार एक सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र काव्य (सर्ग 8 से 14 तक) जो आद्यन्त केवल ईश्वरविलासकाव्य है, समूचे महाकाव्य में अन्तर्निविष्ट है।

यह महाकाव्य कथ्यतथ्य एवं प्रतिपादन-शैली की दृष्टि से राजतरंगिणी एवं रघुवंश का समन्वय प्रतीत होता है। महाकाव्य में वर्णित राजाओं के जीवन से सम्बद्ध अच्छी-बुरी, अनुकूल-प्रतिकूल, उचित-अनुचित समग्र घटनाओं को यथावत् प्रस्तुत कर, यथार्थ इतिहास की रक्षा करने में कवि ने कल्हण-सरीखी ईमानदारी तथा तटस्थता का परिचय दिया है तो नरपतियों के चयन एवं उनके चरितवर्णन में उसने महाकवि कालिदास के रघुवंश का आदर्श अपनाने की चेष्टा की है, जबकि उसे रघुवंशकार जैसी सफलता नहीं मिल सकी है।

महाकाव्य के प्रथम सर्ग में अत्यन्त परिष्कृत कवित्व-समीक्षा का मानदण्ड स्थापित करने में कृष्णभट्ट महाकवि विल्हण एवं उनके विक्रमाङ्कदेव-चरितम् से भी बेहद प्रभावित दीखते हैं।

वंश वृक्ष

चन्द्रसेन (1467-1503)

|

पृथ्वीराज (19 पुत्र) 1503-27
|
पूरणदेव (1527-33) पुत्रसूजा
|
भीम (पुत्र आसकरण द्वारा हत्या)
|
रतनसिंह (आसकरण द्वारा 1547 में हत्या)
|
आसकरण (15 दिन का राज्य)
|
भारमल (1547-1574) दसपुत्र
|
भगवन्तदास (1564-1589)
|
मानसिंह (1550-1614) 22 रानियाँ
|
जगत्सिंह-भावसिंह (1576-1621)
|
महासिंह (मृत्यु 1617)
|
मिर्जा राजा जयसिंह (1611-1667 वुरहानपुर)
|
रामसिंह (1635-1689 काबुल)
|
किशनसिंह (मृत्यु 1682)
|
विशनसिंह (1671-1700, काबुल)
|
सवाई जयसिंह (1688-1743)

1. शिवसिंह 2. ईश्वरीसिंह (1722-1750) 3. माधवसिंह

संदर्भ

1. द्रष्टव्य : कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।
   नामाऽस्य, सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु।। – सा. दर्पणः, 6.303
2. तत्रैव राज्यतिलकोत्सव एष राजा श्रीकृष्णभट्टकवये कुरु काव्यमेकम्।
   अस्मत्कुलक्रमकथाकथनाभिराममित्याज्ञया सह ददौ सुमहाप्रसादम्।।
   काव्यं स ईश्वरविलासमनोहराख्यं श्राव्यं समस्तविबुधालिसुधासमानम्।
   सानन्दसर्वरसिकं पटुतानिदानं नव्यं विरच्य नवराजसमाजमागात्।।

तस्मै ददौ नृपतिरेष निधिं धनानां नानाऽन्नपानसुखसम्पदुपेतमुच्चैः।

ग्रामं हिरण्यपुरसन्निधिवर्तिनं यच्छ्रीकृष्णभट्टसुकवेर्वसुधैकराज्यम्।। – ईश्वरविलासः 10.34-36

3. वही, 8.7

4. वही, 8.17

5. वही, 8.18

6. सुतस्तु शिवसिंहोऽभून्महाबलपराक्रमः।

दापयित्वा विषं हन्त पित्रा जयपुरे हतः।। – कच्छवंशम्

7. महाराणा अमरसिंह द्वितीय की पुत्री चन्द्रकुँवरि से जयसिंह का विवाह 25 मई 1708 ई. को इस शर्त पर सम्पन्न हुआ कि उसी का पुत्र भावी जयपुर-नरेश होगा। परन्तु ऐसा हुआ नहीं।

8. तेनातिमात्रं बलवीर्यशालिना समस्तशिक्षैककलाविचक्षणात्।

अस्त्राणि शस्त्राणि तथा शिशिक्षिरे रामेण तुष्टादिव कौशिकान्मुनेः।। ईश्वरविलासः, 8.22

9. कौमारमारभ्य गुरोरधीतिनं प्राग्जन्मसंस्कारवशेन सञ्चिताः।

विद्याः समस्तास्तमुपाययुः स्वयं पूर्वानुरक्ताः प्रियमङ्गना इव।। ईश्वरविलासः, 8.19

10. एको धनुः शक्तिकृपाणकोविदो गजाश्वपृष्ठोपरि सुस्थिरासनः।

उत्कूर्दनोल्लङ्घनमल्लकर्मवित् सोऽनन्यसामान्यगुणो विराजते।। ईश्वरविलासः, 8.21

11. नासत्यरूपो दधदद्वितीयतां कन्दर्प एवाद्भुतलब्धविग्रहः।

ऐलो जुषन् संयुजमेष सन्ततं कैस्तर्क्यते नो सुमनोभिरीश्वरः।। ईश्वरविलासः, 8.27

12. विद्वन्मनः पद्मवनप्रभाकरः कीर्त्याख्यराकारजनीसुधाकरः।

वनीपकप्रापककल्पभूरुहो महीभृतां पक्षहरः पुरन्दरः।। ईश्वरविलासः, 8.28

13. तदभिलाषोत्तरला जयश्रीर्यशोऽवदाताम्बरवेषभूषा।

श्रीमन्महाराजकुमारमेनं स्वयं समागादभिसारिकेव।। ईश्वरविलासः, 9.55

तुलना करें :

यस्य च दृढमुष्टिनिष्पीडननिष्ठ्यूतधाराजलबिन्दुदन्तुरेण कृपाणेनाकृष्यमाणा सुभटोरःकपाटविघटितकवचसहस्रान्धकारमध्यवर्तिनी करिकरटगलितमदजलासारदुर्दिनास्वभिसारिकेव समरनिशास्वसकृदाजगाम राजलक्ष्मीः। – कादम्बरीकथामुखः

14. ईश्वरविलासः 13.36-41

15. प्रस्तुत आलेख में सवाई ईश्वरीसिंह की महाकाव्य–नायकता पर विस्तृत विचार करने का कारण यह है कि अनेक अध्येता, अनेक कारणों से, उन्हें नायक नहीं मानते। जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर द्वारा प्रकाशित संस्करण में विद्वत्प्रवर डॉ. हिन्दकेसरी ने अपने शुभाशंसन में लिखा है – 'अपने लोगों के विश्वासघात के शिकार बने ईश्वरी सिंह इस काव्य के नायक नहीं कहे जा सकते।' मैं इस मन्तव्य से सहमत नहीं हूँ।

❑❑

Puṣyamitra's Dynastic Name : Baimbika

Om Prakash Lal Srivastava

Puṣyamitra established his dynasty after the murder of the Mauryan King Bṛhadratha. He continued to retain the title of *'Senāpati'* which he bore during the reign of the last Mauryan King. This is borne out both by epigraphic and literary evidence. It is a well known fact that in the *Ayodhyā*-inscription of Dhanadeva[1], Puṣyamitra is called *Senāpati*. Kālidāsa[2] and Bāṇa[3] too refer him as *Senāpati*.

What is really significant in the present context is the reference to the word 'Baimbika' given to Agnimitra, son of Puṣyamitra by Kālidāsa in the *Mālavikāgnimitra*[4]. The significance of the term 'Baimbika' has already been discussed by H. C. Ray Chaudhury[5]. But, in the absence of any archaeological evidence it could not be fully confirmed that the word 'Baimbika' was used as the dynastic name.

Recent archaeological findings have thrown fresh light on this issue. A brick inscription of Dāmamitra from Erich[6] in *Brāhmi* script of c 1st century B.C. bears the legend *Rajño Baṃbakisa Dāmamitasa Poṇdarīka'*. The term 'Baimbika' also occurs on the brick inscription from Mūsānagar[7] [*Baṃbake Aśvavatāyanīputasa Dāmamitasa Aśvamedha*]. It is clear that the term 'Baimbika' or 'Baṃbaka' signifies the dynastic name. Although in the present stage of our knowledge it is difficult to state whether Dāmamitra was a lineal descendant of Agnimitra or not, it appears neverthless, plausible to uphold that both Agnimitra and Dāmamitra belonged to a dynasty which was known by the term 'Baimbika'.

In this context silver coin of Rudravarmā[8] may be discussed here. It bears the legend in *Kharoṣṭhī* as well as *Brāhmī* script of 1st century B. C. : *'Rajño Vamakisa Rudravarmasa Vijayata.'* Allan[9] associates Rudravarmā with *Audumbara*-dynasty on the basis that the coin of Rudravarmā have been found with *Audumbara* coins. Allan reads 'Vamakisa' as 'Vemakisa' and he refers 'Vemaki' as an unknown family of Audumbaras. This hypothesis is not acceptable, because, neither symbols of Audumbara coins, nor the legend 'Odubarisa' is found on aforesaid coin of Rudravarmā. Coin of another king Bhavavarmā[10] also has come to light with legend

'Rajño Vamakisa Bhavavarmasa Vijayaka' in *Brāhmī* script of c. 1st century B.C. On the basis of aforesaid numismatic evidence Rudravarmā and Bhavavarmā seem to be the rulers of the same dynasty (Clan). The term 'Vamakisa' found on these coins may be identified with the term 'Baṃbakisa' inscribed on brick inscription of Dāmamitra.

Thus, both the numismatic and epigraphic evidence confirm the existence of 'Baimbika' dynasty in c. 1st century B.C.

From the scrutiny of the *Mālavikāgnimitra*, it is aptly clear that Kālidāsa had minutely observed the political development and dynastic changes during the reign of Agnimitra and Puṣyamitra, such as events of Vidarbha, its partition by Agnimitra, war and victory of Vasumitra against the Yavanas etc. But, he never referred to any event or the deeds of any king posterior to the reign of Puṣyamitra. It proves that Kālidāsa was contemporary to Puṣyamitra. Brick inscriptions from Erich and other archaeological evidences also confirm that Kālidāsa lived in 2nd century B.C.[11] i.e. contemporary to Puṣyamitra. Being contemporary the description of Kālidāsa about the family name of Puṣyamitra and Agnimitra as "Baimbika' is more authentic evidence than the *Purāṇic*' references[12] as 'Śuṅga, because the *Purāṇas* were composed in a much later stage.

It is noteworthy that Bāṇa also did not use the term Śuṅga when he referred to Puṣyamitra[13]. Moreover, he did not mention the name of Puṣyamitra, where he refers to the term Śuṅga[14]. It is important that according to Pāṇini[15] Śuṅgas are Bhāradwājas and according to the *Baudhāyana-Śrauta-Sūtra* 'Baimbikas' are Kāśyapas. Therefore, if we identify the *Kāśyapa Senānī*, the performer of two *Aśvamedhas* as referred to in the *Harivaṃsa-Purāṇa*[16] with Puṣyamitra, in the light of aforesaid discussion it is more reasonable to accept that Puṣyamitra belonged to the 'Baimbika' family, not to the Śuṅga.

Bharhuta-inscription[17] also does not mention the name of Puṣyamitra in the reference of *Suganaṃ Raje.....*'. `So, we can't associate the term Śuṅgānāṃ with Puṣyamitra's reign. Thus, in the light of archaeological evidence we can say with a fair amount of certainty that the term 'Baimbika' used for Agnimitra, in the *Mālavikāgnimitra* denotes the Baimbika dynasty to which Agnimitra belonged.

It may be mentioned that the term 'Baimbika', applied to Agnimitra in the *Mālavikāgnimitra,* has been differently interpreted by different scholars[18]. These explanations, however, were given without any definite corroborative evidence. But, in the light of new archaeological discoveries it may be suggested that the term 'Baimbika' signifies a dynasty to which a number of persons belonged and Agnimitra too was a scion of this dynasty.

Thus, archaeological findings will finally put at rest the controversy regarding the name of Puṣyamitra's dynasty as Baimbika', which had been mentioned throughout ancient period in literary as well as archaeological evidences.

References :

1. *Kōśalādhipena dviraśvamedha*-yajñaiḥ *senāpateḥ Puṣyamitrasya ṣaṣṭhena Kauśikīputreṇa Dhana-dharmarājñā pituḥ Falgudevasya Ketanaṃ Kāritaṃ*, Sircar, D.C., Select Inscriptions, Vol. I, p. 96
2. *Ayaṃ devasya Senāpateḥ Puṣyamitrasya sakāśātsottarīya prābhṛtako lekhaḥ* prāptaḥ-*Mālavikāgnimitra*, Act. V
3. *Prajñā durbalaṃ ca baladarśana vyapadeśadarśitāśeṣa sainyaḥ Senānīranāryo Mauryaṃ Bṛhadrathaṃ pipeṣa Puṣyamitraḥ svāminaṃ, Harṣacarita*, Act. VI
4. *Dākṣiṇyaṃ nāma biṃboṣṭhī Baiṃbikānāṃ kulavrataṃ- Mālavikāgnimitra*, Act. IV
5. Chaudhury, H.C. Ray, Political History of Ancient India. 1953, P. 369-370.
6. Śrivastava, Om Prakash Lal, Archaeology of Erich, Discovery of New Dynasties, Sulabha Prakashana, Varanasi, 1991, p. 7
7. Śrivastava, Om Prakash Lal, Dāmamitra of Erich and Mūsānagar Brick Inscriptions, Journal of Epigraphical Society of India, Vol. XIX, P.97-99.
8. Whitehead, R.B. Catalogue of Coins in the Punjab Museum, Lahore, Vol. I, p. 167. XVI-137
9. Allan, J. Catalogue of Coins of Ancient India, London 1936. Introduction, P. LXXXV - LXXXVI
10. Handa, Devendra, Numismatic Digest, Vol. XIX. p. 8 pi. 4, 4a
11. Śrivastava, Om Prakash Lal, Kālidāsa Ki Tithi: ĪśāPūrva Dvitīya Śatābdi, Journal of Ganganath Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, Vol. LIV-LV, P. 141-146
12. *Samā bhokṣyanti pṛthivīm kalau kuru Kutodvaha./*
    Hatvā Bṛhadrathaṃ Mauryarṃ tasya Senāpatiḥ kalau./
    Puṣyamitrastu Śuṅgāhva svayaṃ rājyaṃ Kariṣyati/
    Agnimitrastatastasmāt Sujyeṣṭhodratha bhaviṣyati,//
    Bhāgavata-Purāṇa, 12.1.16.
13. Vide. f.n. 3

वैदिक ज्यामितिविज्ञान की विकास-यात्रा एवं आचार्य बौधायन

रामहित त्रिपाठी

आचार्य बौधायन से पूर्व ज्यामिति-विज्ञान

स्मरणीय है कि शुल्वसूत्र-साहित्य से पूर्व भी यज्ञशाला की विविध स्थापन-व्यवस्थाओं हेतु गणितीय एवं ज्यामितीय व्यवस्थाओं के निदर्शन हमें संहिताओं से लेकर परवर्ती साहित्य में भी प्राप्त होते हैं, किन्तु संक्षिप्तता के साथ। प्रसङ्गतः इसका उल्लेख अग्रलिखित है –

मन्त्र-संहिताओं में ज्यामिति

वैदिक मन्त्र-संहिताओं में ज्यामिति-विधा के संकेतित सन्दर्भों की व्याख्या से स्पष्ट किया जा सकता है कि तत्कालीन भारत में आर्यमनीषियों को एतद्विषयक ज्ञान का क्या स्वरूप रहा। वास्तव में ज्यामितिक पदों के प्रयोग ऋग्वेद-संहिता, यजुर्वेद-संहिता तथा अथर्ववेद-संहिता में बहुलता से हुए हैं। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में आए "अत्यतिष्ठत्" का अर्थ है अवशेष – जो गणितीय ज्ञान का परिचायक है। इसी मन्त्र का "अङ्गुलम्" पद भी लम्बाई-मापन हेतु प्रयुक्त है।[1] इसी भाँति प्रमा, परिधि तथा प्रउग शब्दों[2] के अर्थ क्रमशः मापक, मण्डल (घेरा) तथा त्रिभुज हैं। जो ज्यामितिसम्बन्धी ज्ञान के द्योतक हैं। अश्विनौ के रथ हेतु आए "त्रिवृत्त"[3] पद से त्रिकोणीय आकृति का तथा "वृत्तम्"[4] पद का प्रयोग उनके रथचक्रों की गोलाई का ज्ञापक है। "पृथिव्याः नाभिः" पृथ्वी के केन्द्रविन्दु का ज्ञापक है।[5] इसके अतिरिक्त नवस्रक्तिः एवं चतुस्रसक्तिः के अर्थ क्रमशः नौ कोण और चारों दिशाओं से सीधी रेखा से घिरी हुई आकृतिविशेष है, जो ज्यामितिक ज्ञान के परिचायक हैं। अथर्ववेद का "त्रिभुज"[6] शब्द सीधे 'ज्यामिति' पद का संज्ञा कराता है। ऋग्वेद में गार्हपत्यादि अग्नियों का उल्लेख यज्ञशाला के ज्यामितिक ज्ञान के उद्बोधक पद हैं।[7] पाश्चात्त्य मत में आर्यों को गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि का परिज्ञान ऋग्वेद से पूर्व अथवा उससे भी पूर्वतर होने का अनुमान किया गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मन्त्र-संहिताओं में वैदिक यज्ञशाला से सम्बन्धित ज्यामितीय पदों के प्रयोगों में वर्ग, त्रिभुज, रेखा, वृत्त और रेखाओं से बने कोणादि का सम्यक् परिचय प्राप्त होता है जो भारतीय ज्यामिति का प्रथम निदर्शन है। इतना ही नहीं अपितु यज्ञशाला के अन्तर्गत बनायी जाने वाली वेदियों की निर्मिति-विद्या का भी स्पष्ट रूप से ऋचा में उल्लेख है यथा – "अध्वर्यु वेदी को सजायें और पूर्व दिशा में अग्नि प्रज्वलित करें"[8]। ध्वनिकारक पत्थर को घुमाने हेतु अध्वर्यु आगे आकर वेदी को बनायें[9]।

14. *Atistrīsaṅgaratamanaṅga-paravaśaṃ Śuṅgamamātyo Vasudevo Devabhūti dāsīduhitrā devī vyañjanayā vītajīvitamakārayat,Harṣacarita* Act. VI

15. *Vikarṇaśuṅgachchhagaladvitsa Bhāradvājātriṣu,* Aṣṭādhyāyī, 4.1.117

16. *Audbhijjo Bhavitā Kaścit Senānī Kāśyapo dvijaḥ/*
Aśvamedhaṃ tu Kaliyugé punaḥ pratyāhariṣyati//
Harivaṃśam, 3.2.40

17. *Suganaṃ rajè Gāgīputasa Visadevasa*
Pauteṇa Gotiputasa Āgarajusa putena
Vāchhiputena Dhanabhūtinā kāritaṃ toraṇaṃ
silā kaṃmatō cha upaṃṇa.
Lüders, H. Corpus Inscriptionurn Indicarum, Vol. II, Part-II (Bharhuta Inscriptions) pi. A-1.

18. cf. Ray Chaudhury. op. cit.



Ayodhyā Inscription of Dhanadeva



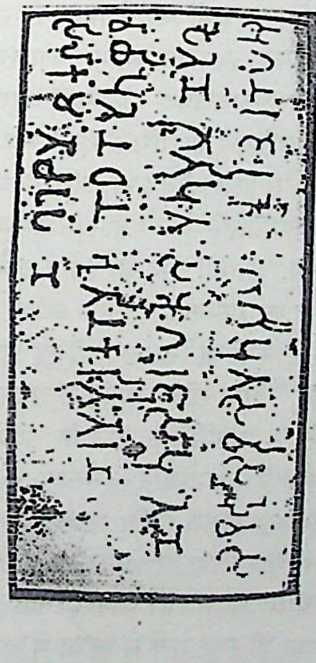
Brick Inscription of Damamitra from Erich



Coin of Rudravarmā



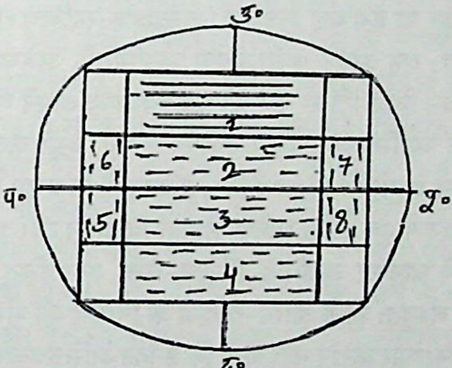
Coin of Bhavavarmā



Bharahuta Inscription

ब्राह्मण-साहित्य में ज्यामिति-विधा

ब्राह्मण-साहित्य में यज्ञपरक मन्त्रों की व्याख्यायें उपन्यस्त हैं। जिनमें यज्ञशाला, वेदि एवं अग्नियों के आयतनों के निर्माण को ज्यामितिक आधारों पर बनाये जाने के वर्णन हैं। शतपथकार ने गार्हपत्य के एक वर्ग व्यास अर्थात् पुरुष-प्रमाण में उसके वृत्त को बनाने तथा आहवनीय का भी उतने आकार का वर्ग बनाये जाने का प्रथमतः स्पष्टोल्लेख किया है कि यह गार्हपत्य अग्नि की वेदी अर्ध व्यास में एक व्याम होती है क्योंकि मनुष्य एक पुरुष अर्थात् व्याम मात्र ऊँचा होता है। वह प्रजापति है। अग्नि प्रजापति है। वह अपने आकार के बराबर ही अग्नि की योनि को बनाता है जो परिमण्डल या वर्तुलाकार होती है। गार्हपत्य इस लोक का प्रतीक है। यह भूमण्डल निश्चय ही गोलाकार है।"[10] इसी भाँति शतपथ-ब्राह्मण के अन्य स्थलों में गार्हपत्य चिति की निर्माणविधि संकेतित है। अग्निवेदियों के निर्माण-कर्त्ताओं को अग्निचित् कहा गया है। जो पलाशशाखा से स्थली को स्वच्छ बनाता है। वह उषा और उल्वा को फैलाता है। उन पर बालू डालकर उसे सूखने से बचाता है। इसी से वर्तुलाकार वेदी को वह ढकता है। गार्हपत्य अग्नि ही योनि है। उषा (खारी मिट्टी) ही उल्बा है जिसे वह आवृत्त कर लेने वाले पत्थर से पाटता है। फिर उस पत्थर को दक्षिणावृत्त करता है। वृत्त में कुल 21 पत्थर होते हैं जिन्हें वह चारों ओर स्थापित करता है। सबसे ऊपर वेदी अथवा चिति का निर्माण करता है।"[11] इसे निम्नरेखित चित्र से स्पष्ट किया जा सकता है –



चित्र : गार्हपत्य वेदी

इस प्रकार शतपथ-ब्राह्मण में आहवनीय वेदी के लिए स्थली का निर्माण सोमयाग हेतु करने का उल्लेख है।[12] इन वर्णनों में क्रमशः गार्हपत्य का वर्तुलाकार, आहवनीय वेदी का वर्गाकार तथा दक्षिण वेदी का आकार अर्ध वर्तुलाकार रूप में निरूपित है जिनकी ज्यामितिक संक्रियाओं का संज्ञान अग्रलिखित चार रूपों में प्राप्तव्य है –

1. प्रदत्त सरल रेखा पर वर्ग का निर्माण करना

2. वृत्त का वर्ग तथा वर्ग का वृत्त बनाना

3. वृत्त को द्विगुणित करना एतदर्थ करणी 2 का सम्यक् ज्ञान अपेक्षणीय है अथवा इसका निर्माण एक वर्ग को द्विगुणित करके पुनः वृत्त निर्मित करने की विधि से करणीय है।

4. प्रदत्त वर्ग के विकर्ण पर निर्मित वर्ग का क्षेत्रफल उस वर्ग से द्विगुणित होता है।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मण-साहित्य में विभिन्न वेदिकाओं की आकार प्रकार की मापन-व्यवस्था का भी ज्ञान उपनिबद्ध किया गया है। यथा – सोमयाग की वेदी अथवा महावेदी का आकार एक समद्विबाहु समलम्ब चतुर्भुज होता है जिसका फलक 24 पद अथवा प्रक्रम, आधार 30 पद तथा लम्ब 36 पद होता है। सौत्रामणी वेदिका एक समद्विबाहु समलम्ब चतुर्भुज के आकार की ही वर्णित की गयी है किन्तु इसका क्षेत्रफल महावेदी से एक तिहाई होती है। साथ ही प्राग्वंश का निर्माण आयाताकार करने का उल्लेख है। इस आधार पर इन वेदिकाओं आदि के सम्बन्ध में अग्रलिखित ज्यामितिक संक्रियाएं प्रकल्पनीय हैं –

1. समद्विबाहु समलम्ब चतुर्भुज का क्षेत्रफल निकालना।

2. बतलाये गये फलक, आधार तथा लम्ब पर समद्विबाहु समलम्ब चतुर्भुज को बनाना।

3. प्रदत्त भुजाओं वाले आयत का निर्माण करना।

4. एक समलम्ब चतुर्भुज बनाना, जो समद्विबाहु हो तथा जिसका क्षेत्रफल इसी प्रकार के चतुर्भुज के सरल अपवर्त्य या अपवर्तक के बराबर हो।

उपरितन वर्णनों के आधार पर हम कह सकते हैं कि ब्राह्मण-साहित्य में वेदिकाओं के निर्माण की जो ज्यामितिक व्यवस्था वर्णित है, वह अपने पूर्वकालिक ज्यामितिक अवधारणाओं को आधार बनाकर अग्रेषित की गयी है। सूत्रकालीन ज्यामिति से पूर्व की यह व्यवस्था अपने में पूर्णता को प्राप्त हुई दृष्टिगत होती है। संहिताओं से पूर्व भी ज्यामितिक स्वरूप अवस्थित रहा, ऐसी कल्पना के आधार पर हम कह सकते हैं कि मन्त्र-संहिताओं से अनुप्रेरित होकर अग्नि-वेदिकाओं के प्रथम निर्माता मनीषियों के संज्ञान में निश्चित रूप में ज्यामितिक स्वरूप एवं उनके सापेक्ष आकार विद्यमान रहे। इन्हीं निर्माता मनीषियों की एक परम्परा पल्लवित हुई जो आगे चलकर ज्यामिति-विज्ञान-वेत्ता, अग्निचित् अथवा अग्नि-वेदिकाओं के निर्माण-कर्ता कहे जाने लगे। वस्तुतः तीनों अग्नि-वेदियों के निर्माण की संरचना के संज्ञान के सम्बन्ध में हम यह कहें तो अत्युक्ति या निराधार कथन नहीं होगा कि इनका अस्तित्वबोध ऋचाओं से भी पूर्व अवस्था में रहा होगा। क्योंकि आदि पुरुष का प्रथम यज्ञ शुद्धतम ज्यामितिक विधा के आधारों पर निर्माता वेदिकाओं में ही अनुष्ठित होकर फलवान् बन पाया।

डॉ. दत्त का भी यह विचार प्रसंगतः उचित प्रतीत होता है कि – "इससे यह लगता है कि वृत्त को वर्गाकार करने और कर्ण पर वर्ग बनाने की समस्यायें कम से कम अपने सरल रूप में भारत में ऋग्वेद जितनी पुरानी हैं। वे और भी ज्यादा पुरानी हो सकती हैं, क्योंकि ओल्डेनवर्ग ने यह दिखाया है कि ये तीन अग्नियाँ ऋग्वेद से भी पुरानी हैं।[13] किन्तु इस सम्बन्ध में स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी का विचार भी आदरणीय है कि – "इस देश में ऐसे काल की बात सोचना मुश्किल है, जब ऋग्वेद की रचना नहीं हुई थी। पर हम यही कह सकते हैं कि इस वेद से प्रेरणा लेकर अग्नि-वेदियों के जो सबसे पहले निर्माण किये थे, उनमें निश्चित ज्यामिति स्वरूप थे।"[14]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतीय ज्यामिति–विज्ञान का सूत्रपात ऋचाओं से आरम्भ होकर तैत्तरीय–संहिता, ब्राह्मण–ग्रन्थों और कल्पसूत्रों की विशिष्ट विधा शूल्वसूत्रों में उपन्यस्त हुआ है। परवर्ती काल के आचार्यों में बौधायन सर्वश्रेष्ठ ज्यामिति–विज्ञानी हैं। जिन्होंने विकर्ण के वर्ग के प्रमेय का अपूर्व रूप में अनुसंधान किया जिसे बाद में पैथागोरस प्रमेय की संज्ञा दी गयी है। आचार्य बोधायन ही प्रथम आचार्य रहे, जिन्होंने इस प्रमेय का विविध प्रयोग सिद्ध किया है। बौधायन द्वारा प्रथमतः 2 संख्या की अपरिमेयता और उसके परिशुद्ध मूल्य का संज्ञान संसार को कराया गया।

आचार्य बौधायन के परवर्ती ज्यामिति-विज्ञानी

पूर्व विवेचनों से स्पष्ट होता है कि भारतीय ज्यामिति का ज्ञान संहिताओं के काल (किंवा उससे भी पूर्व) से चला आ रहा है, जिसे परम्परया आचार्यों ने अग्रेषित एवं संश्लेषित किया है। आचार्य बौधायन के परवर्ती ज्यामिति–विज्ञान के आचार्यों की श्रृंखला में प्रमुख रूप से आपस्तम्ब, कात्यायन, मनु और मैत्रायणी का विशेष स्थान है। ज्ञातव्य है कि इन सभी आचार्यों की ज्यामिति विद्या एकमात्र यज्ञशालाओं और यज्ञ–वेदियों के निर्माण हेतु विहित है।

ज्ञातव्य है कि उक्त आचार्यों के परवर्ती ज्यामितिज्ञों में प्रमुख नाम आर्यभट्ट प्रथम का है, जिन्होंने 476 ईस्वी में जन्म लेकर जिस आर्य–सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है वह अद्वितीय है। यद्यपि आर्यभट्ट प्रथम ने अपनी "आर्यभटीय" रचना में बीजगणित एवं ज्योतिष के तथ्यों का विशेष प्रतिपादन मौलिकता के साथ किया है तथापि उन्होंने उक्त ग्रन्थ के गणितपाद–प्रकरण के अन्तर्गत ज्यामिति–विद्या का अनुपम निदर्शन प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ – त्रिभुज का क्षेत्रफल समदल कोटि (लम्ब) में आधी भुजा (आधार) का गुणा करके ज्ञात किया जा सकता है तथा त्रिभुज के क्षेत्रफल में उर्ध्वभुज (ऊँचाई) के आधे का गुणा करके घन का आयतन निकाला जा सकता है।[15] बौधायन प्रमेय जो परवर्ती काल में पैथागोरस नाम से ख्यात हुई, को भी सुस्पष्ट करते हुए कहत हैं कि – "एक समकोण त्रिभुज में भुज (आधार) के वर्ग में कोटि (लम्ब) का वर्ग जोड़ने से कर्ण का वर्ग आ जाता है"।[16] इसी प्रकार बतलाया गया है कि परिधि के छठवें भाग की ज्या (व्यास त्रिज्या) विष्कम्भक (व्यास) के आधे के बराबर होती है तथा यदि किसी वृत्त का व्यास 2000 हो तो उस वृत्त की परिधि 62,832 होगी। इसके आधार पर का मूल्य 31416 होता है, जिससे यह दशम लव के चतुर्थ स्थल तक पूर्णतः उचित होती है।[17] इसके अतिरिक्त आर्यभट्ट प्रथम ने ज्या के निर्णयात्मक तथ्य और जीवा की जो परिकल्पनाएं प्रस्तुत किया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि वे त्रिज्या और ज्या की सारणीयन–व्यवस्था की कैसी युक्ति निकाले होंगे। आर्यभटीय ग्रन्थ में त्रैराशिक नियमों के प्रमाण फल और इच्छा नामक अंगों का भी निरूपण किया गया है।[18]

ज्ञातव्य है कि आर्यभट्ट द्वितीय द्वारा इसी को मान, विनिमय और इच्छा कह कर अपना तर्क स्थापित किया है। वर्ग–समीकरण का हल नूतन विधि से उपन्यस्त करते हुए बीजगणित की नींव डाली है।

अवधेय है कि विषय–विस्तार से बचने के लिए परवर्ती ज्यामितिज्ञों का विवरण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। पूर्व विवेचन इस तथ्य को सुस्पष्ट करने में क्षम है कि आचार्य बौधायन के अनन्तर भारतीय ज्यामिति को अग्रेषित करने वाले आचार्यों की कमीं नहीं रही है। जिस ज्यामितिक ज्ञानराशि का सूत्रपात मन्त्र–संहितायें ब्राह्मण–ग्रन्थ आचार्य बौधायन ने किया उसके सातत्य एवं विश्लेषण को बढ़ाने में अनेक ज्यामितिज्ञों ने अपना अमूल्य योगदान किया है।

सन्दर्भ

1. ऋ.सं. – 10.90.1

   सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।

   स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्।।

2. वही, 10.130.3
3. वही, 1.34.9.12
4. वही, 1.155.6
5. वही, 1.59.2
6. अ.सं. – 8.9.2
7. ऋ.सं. 1.15.12 – गार्हपत्येन सन्त्य ऋतुनायज्ञनीरसि। देवान् देवयते यज।
8. ऋ.स. 1.170.4 – अरं कृण्वन्तु वेदिं समग्निभिन्धतां पुरः।
9. वही, 5.31.12 – वदन् ग्रावाय वेदिं भ्रियाते यस्य जीरमध्वर्यवश्चरन्ति।

   एवं 7.35.7, 8.19.18, 1.15.12, 6.15.19, 10.85.27 एवं अन्य मन्त्रों में वेदि का एवं तीनों अग्नियों के निर्माण, स्थापन और प्रज्वलॅन-विषयक सन्दर्भ आपूरित हैं।

10. श.ब्रा. – 7.1.1.37 – व्याममात्री भवति। व्याममात्रो वै पुरुषः। पुरुषः प्रजापतिः। प्रजापतिरग्निरात्म-सम्मितां तद्योनिं करोति। परिमण्डला भवति। – – –। – – – । परिमण्डलं उ वा यं लोकः।
11. वही, 7.1.1.1
12. श.ब्रा. – 3.5.1.-6
13. दि साइंस आफ शुल्ब, पृ. 27
14. प्राचीन भारत के वैज्ञानिक कर्णधार, पृ., 552
15. त्रिभुजस्य फलशरीरं समदलकोटी भुजार्धसंवर्गः।

    ऊर्ध्व भुजा तत्संवर्गार्ध सघनष् षडश्रिरिति।। आर्यभटीय – गणितपाद - 6

16. वही, श्लोक – 17

    यश्चैव भुजावर्गः कोटिवर्गश्च कर्णवर्गस्सः।

    वृते शरसंवर्गोर्धज्या वर्गस्स खलु धनुषो।।

17. आर्यभटीय, श्लोक – 9-12
18. वही, गणित पाद, श्लोक – 26

□□

The *Gītagovinda* of Jayadeva: A Model

Gopal Krishna Dash

Bhartṛhari has classified the artistic presentation of the human being into three specific compartments, which constitute the frame of culture. The cultured man is superior as he relishes the flavour of *Sāhitya, Saṃgīta* and *Kalā* (साहित्यसङ्गीत-कलाविहीनः, साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः, नीतिशतकम्). These three elements have been ideated and have been specified as three distinct sections of the Department of Culture. In the context of the study of Jayadeva's *Gītagovinda (GG)* it is quite notable to include Jayadeva as a model of culture and Orissan culture in particular. The *GG* has uniqueness as it is *Sāhitya, Saṅgita* and *Kalā.* It is an artistic generic composition. It has musical accomplishment and has been effectively reflected in fine arts (paintings, fine craft in silk sarees etc). Jayadeva's *GG* is exceptional and has the quality to justify its uniqueness. Jayadeva, the last of the ancients and the first of the modern Indo-Aryan literature belongs to the transition of two ages marked by passing classical age and the advent of new vernacular age[1]. The Vaiṣṇavism of typical Orissan nature has been reflected in the *GG* Vaiṣṇavism was gaining popularity in Utkal during the Gaṅga-emperors like Kāmārṇava Deva (1147-1156 CAD), Rāghava Deva, (1156-1170 CAD) and Rājarāja Deva (1170-1190 CAD). The time is a great factor which has its impact on the composition of the *GG*. In the present paper some observations are made on Jayadeva and the *GG*.

Gītagovinda as a *Kāvya*

GG is a *Vilakṣaṇa-Kāvya* as it does not fall under the scope of any definition *(lakṣaṇa).* It has twelve cantos but it cannot be identified as classic *Mahākāvya* in strict sense of the technicality. It is a *Miśra-Kāvya* but cannot be categorized as *Campū.* It is both dramatic and poetic in nature.

It is *a Miśra-nibaddha-Kāvya* which can be sung and exhibited with enactment of dance. It is also a *Miśra-nibaddha-Kāvya* so far as the metres are concerned. The metres of *akṣara* and *mātrā* are skillfully integrated. The *mātrā-chandas* used in *GG* are rarely used in Sanskrit *Kāvyas*. The metre of *Paddhati (Pajjhaṭikā)* has been used. The contemporary use of *antyānuprāsa* in the local *apabhraṃśa-Kāvya* has direct impact on *GG* The poet has deviated from the accepted line and composed a *Kāvya* as an experiment and became a successful

role model.

It has been mentioned that it is a *Prabandha-Kāvya* but the definition of *Prabandha-Kāvya* was developed on the basis of the *GG* at a later period in the *Saṅgīta-Nārāyaṇa* (1681-1702). It is obvious that the *aṅgas* of a *Prabandha-Kāvya* are not maintained in the *GG*. A *Prabandha* has four *dhātus* such as *Udgrāha, Melāpaka, Dhruvā* and *Ābhoga* and six *aṅgas* like *svara, viruda, pada, lenaka, pāṭa* and *lāla*. Lakṣmaṇabhaṭṭa (middle part of 18th century), author of *Rasikaraṅgadā* commentary on *GG* puts it under *Vṛtta-Prabandha-Kāvya*. Some like to keep it under the category of *Citrarāga-Kāvya* of (*Śṛṅgāraprakāśa*) of Bhoja (11th Century AD). Modern critics are interested to designate it as lyrical *Kāvya*. But the *GG* does not follow the characteristics of any such category. It does not follow the ancient definitions nor it can be substantiated by the *lakṣaṇas* developed at a later stage. *Meghadūta* is popularly known as *Khaṇḍa-Kāvya*. Viśvanātha Kavirāja (14th-15th CAD) has defined *Khaṇḍa-Kāvya* and categorises *Meghadūta* under it. There after *Meghadūta* was popular as *Khaṇḍa-Kāvya*. A definition with post facto origin cannot engulf an ancient *Kāvya* under its scope. The same thing arises in case of the *GG*. It is a *Kāvya* but विलक्षण-*Kāvya* in the sense that it cannot be scrutinized by any ancient definition of poetics. The question of substantiating with definition of later origin is simply invalidated as the scope does not arise. Jayadeva's experimentation of *Saṅgīta-Kāvya* in Sanskrit is unique. He experimented the prevalent contemporary *apabhraṃśa-* style. The *apabhraṃśa* compostions like *caryā paddhati* and *maṅgala-gītas* might have influenced the *GG*. *Saṅgīta Ratnākara* of निःशङ्क शार्ङ्गदेव (1210-1247 AD) or *Saṅgīta-Nārāyaṇa* of Jagannātha Nārāyaṇa Deva (17th Century AD) cannot be taken as influencing factor. The *Prabandha-Kāvya* of the prevalent age integrated with the *apabhraṃśa*-(Vernacular) composition probably have influenced Jayadeva to compose such *Kāvya* which stands beyond the scrutiny of any specific definition and was left to the test and taste of connoisseurs for its success and came out successful with, glorious imprint. The researcher may try to trace out that during that period *maṅgala-gītas* in Orissa were composed in folk-tradition and that tradition of Oriya *maṅgala-gīta* integrated with *Vṛtta-Prabandha Kāvya* of *Saṅgīta*-tradition has been picked up by a genius of the caliber of Sri Jayadeva Paṇḍita Kavi to skillfully compose an immortal *Kāvya* in the form of the *GG*.

Mādhavism

Jayadeva has become the source material to conceptualise the Mādhavism. The images of Mādhava were worshipped in the *Prācī*-valley. Credit goes to Jayadeva for popularising the Mādhava concept in literature. Mādhavism has been coined on the basis of the *GG*. The popular image of Viṣṇu with the conch, disc, mace and lotus has got a transformation in Orissa. The upper two hands are adorned with the conch and disc and lower two hands are with a flute. Four handed Viṣṇu has got a

new integrated image of Viṣṇu-Kṛṣṇa. The Viṣṇu and Kṛṣṇa are identified with one image, i.e. the Mādhava image. Viṣṇu-Kṛṣṇa is recognized as Mādhava. Jayadeva's *Kāvya* has philosophised the Mādhavism of Orissa. Mādhava (*Mā Lakṣmī*, *dhava-* husband) is Viṣṇu. In the Mādhavism one finds the identity of Viṣṇu with Kṛṣṇa, so also one will be enlightened to know that Lakṣmī is also identified with 'Rādhā. The word *Rādhā-Mādhavayoḥ'* is the first verse of the *GG* in very significant. राधा चासौ मा चेति, राधामा (मा = लक्ष्मीः, राधा-लक्ष्मीः), सा च धवश्च, राधामाधवौ, तयोः. Jayadeva does not see any distinction between Viṣṇu and Kṛṣṇa, and Lakṣmī and Rādhā. It supports the concept of Mādhavism in the field of Vaiṣṇavism. Integrated concept of Viṣṇu and Kṛṣṇa and Lakṣmī and Rādhā has typical Orissan flavour and which has been attested by Jayadeva in the followed descriptions like

1. श्रितकमला-कुचमण्डल[2]
2. पद्मावती-चरणचारण-चक्रवर्ती[3]

   पद्मावती is Lakṣmī and Rādhā, (राधा पद्मावती पद्मा पद्महस्ता च विस्तृता)
3. पद्मापयोधरतटी[4]
4. नागरनारायण[5]
5. विलक्षलक्ष्मीपति[6]
6. चतुरचतुर्भुज[7]

These words justify the secret of the identity of Viṣṇu-Kṛṣṇa, and Lakṣmī-Rādhā which can be safely presented as the growth of the philosophy of Mādhavism.

The first verse of the *GG*

In the ancient poetics Kṛṣṇa has not been glorified as hero of *Śṛṅgāra*. Jayadeva's description establishes him as the hero of *Śṛṅgāra*. This *Śṛṅgāra* cannot be analysed in the light of the *Śṛṅgāra* depicted in the Poetics. The God of *Śṛṅgāra* becomes the hero of *Śṛṅgāra*.

स्थायिभावो रतिः श्यामो वर्णोऽयं विष्णुदैवतः।[8]

It is a mystic *Śṛṅgāra* which was designated as *Ujjvala-Rasa* by the later poeticians. Jayadeva also hints at this point in the expressions मङ्गलमुज्ज्वलगीतम्.

मेघैर्मेदुरम्बरम् - The sky is covered with patches of clouds and is darkened in a night of the spring season. Here the moon is covered because two moons cannot play at a time. When the Absolute moon in the form of Mādhava with sixteen *Kalās* appears to display the mystic love-dalliance, the moon with fifteen *Kalās* in the sky has to disappear to enliven the eternal शृङ्गार. अम्बर is covered so that पीताम्बर Mādhava

and Rādhā will accomplish the transcendental शृङ्गार which will shine the entire creation.

वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैः – वनभू does not mean the forest. It is a pleasure-garden. It is used in plural so that the शृङ्गारलीला will take place at different bowers of the pleasure- garden. The dark colour will heighten the शृङ्गार in विप्रलम्भ and सम्भोग as well. When personified श्याम plays the atmosphere has to be calm and quiet with serenity of pervading blueness.

नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय– Mādhava is fearful not because he is a child. He is afraid of the night for his nocturnal deeds as a शठनायक . As per the information of the सखी he is having *rāsa* with other *gopīs*. He is afraid of facing Rādhā. A hero of शृङ्गार cannot be a character of भयानक which is contradictory. Rādhā has to cast aside *Praṇayamāna* and be bold to lead Kṛṣṇa to their renowned place of Union. Rādhā has to play active role as her name is placed at first position in the word 'राधामाधवयोः'.

तद् गृहम् – Here the pronoun तद् does not stand for any noun. It signifies the meaning of the eternal place of union which has been glorified in the scriptures. तद् also signifies a place which is at remote place and is not perceptible by others.

इमम् – एनम् is preferable to इमम्. But इमम् suggests a powerful meaning. Normally it is used as एषः अधीते, एनम् अध्यापय. एनम् has more closeness than इमम्. The use of words इदम्, एतद्, अदस् and तद् is noteworthy. इदम् is close, एतद् is closer अदस् is at remote place, तद् means not easily perceptible or beyond perception.

इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् ।
अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात् ।।

अयम्, इमम् mean Kṛṣṇa is at a close distance and there is access to Kṛṣṇa's whereabout. Rādhā has to find him out and lead him to their eternal place of Union (तद् गृहम्). गृह also means Rādhā. As she is the गृहिणी she is the real गृह and should lead Kṛṣṇa to her. तद् means imperceptible by others.

नन्दनिदेशतः - It means on the advice of Nanda or from the place of Nanda. Second meaning is contextually relevant. Nanda cannot advise her to be united with Kṛṣṇa as it does not have the propriety. The word इत्थम् serves the purpose. Being so advised by सखी she had to proceed to Kṛṣṇa.

नन्दयतीति नन्दः, स चासौ निदेशश्च (pleasing advice) नन्दस्य निदेशतः समीपतः. Both the meanings are contextually significant on the basis of श्लेष. On the pleasing

advice of the female friend they proceeded to a place away from the place of Nanda.

The first line is on the sentiment. Second line is about Kṛṣṇa'a role in the night and *Vipralambha* and suggestion is being made, on the active role of Rādhā. Third and fourth are about their union. It is a *maṅgala* of *Vastunirdeśātmaka* type and *namaskāra* is also suggested.

Daśāvatāra :

The incarnations have been described in many books and presented at many places like the *Mahābhārata*[9], *Bhāgavata*[10]; *Agnipurāṇa*[11], *Daśāvatārastuti* of Śaṅkarācārya, *Daśāvatarastuti* of Kṣemendra, *Daśāvatāra maṭhas* of Kākaṭapura and Purī, *Daśāvatāra* of Jagannātha temple. In most of the places Kṛṣṇa is an incarnation. In some descriptions Balarāma is replaced by Kṛṣṇa. Different kinds of *Daśāvatāra* has also been enumerated[12]. Here Kṛṣṇa is an *avatāra* and Balarāma has been ignored. It is a work of post-Jayadeva-period. In this particular book Jagannātha is glorified. Jagannātha plays with Ramā, the eternal consort and manifests in four *Vyūhas, viz* Vāsudeva, Saṅkarṣaṇa, Pradyumna and Aniruddha. Aniruddha manifests the incarnations. Jagannatha is beyond the concept of *Avatāra* and *Avatārin.* On the wall of the Jagamohana of Puri temple Jagannātha replaces Buddha. This is a recent construction with cement plaster. This has been made to identify Jagannātha with Buddha. This may create confusion among the future researchers. On the main temple there is the image of Buddha. So the *daśāvatara* image of the wall of the Jagamohana should not be taken as authentic.

In most of the incarnations Viṣṇu manifests in different incarnations. But Jayadeva's *daśāvatara-stuti* has popularized Kṛṣṇa's incarnations (दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः). It is also a part of the theory of Mādhavism.

Notes on Padmāvatī:

पद्मावतीचरणचारणचक्रवर्ती[13]

Some critics have made the interpretation of पद्मावती and चारण in the sense of Jayadeva's wife (Padmāvatī) and one who causes her feet to move in dance. The verse needs a study :

वागृदेवताचरितचित्रितचित्तसद्मा
पद्मावतीचरणचारणचक्रवर्ती।
श्रीवासुदेवरतिकेलिकथासमेत-
मेतं करोति जयदेवकविः प्रबन्धम्[14]।

Jayadeva, wandering king of bards, who sing at Padmāvatī's feet, was obsessed in heart by rhythms of the goddess of speech, and he made this lyrical poem from tales of the passionate play when Krishna loved Śrī[15]. I have made development on

this translation with the following observation. The heart is an abode where in the glorious deeds of goddess of speech have been painted. The goddess of speech has manifested in all forms in the heart of poet of the genius. In the first line prayer has been offered to goddess of speech.

पद्मावती ...... – पद्मावत्याः चरणयोः चारणाः वन्दिनः तेषां चक्रवर्ती. चारण means singing actor. They wander and sing the glory of Gods and kings. चारणास्तु कुशीलवाः[16]. Bhānuji Dīkṣita interprets it as चारयन्ति कीर्तिम्. They publicise the glory, चारणs can compose and sing. They move from place to place, narrate and popularize a glorified story of Gods. They represent the *Sūta*-tradition of the *Purāṇas*. They are represented by the *Cakuliā* (or *Cakaḍiā*) Paṇḍā-tradition, Nātha-tradition, Harikathā-tradition and Baul tradition of Orissa, Andhra and Bengal (*Trikaliṅga*) respectively. Barbara Stoier Miller translates that Jayadeva, a wandering king who sing at Padmāvatī's feet. The translation may be like this :

Jayadeva, foremost among the bards who sings the glory of the feet of Padmāvatī (Lakṣmī-Rādhā). Padmāvatī is a goddess. In the first line and third line of the verse there is a reference to the goddess speech and Vāsudeva. So on the strength of associationism the meaning of Padmāvatī in the second line is contextually relevant in the sense of goddess. Padmāvatī may mean the goddess of Kenduli. Or as per the context Padmāvatī means integrated Lakṣmī-Rādhā (राधा पद्मावती पद्मा पद्महस्ता च विस्तृता). In Padmāvatī, Lakṣmī- Rādhā has individual identity. In Śrī-Vāsudeva, Lakṣmī-Rādhā has become the integral part in the eternal love-dalliance of Viṣṇu-Kṛṣṇa. Here Vaśudeva does not necessarily mean one of the four *Vyūhas* of Viṣṇu (viz, Vāsudeva, Saṅkarṣaṇa, Pradyumna and Aniruddha) rather its association with Padmāvatī (Lakṣmī-Rādhā) strengthens the Mādhavism in the form of Viṣṇu-Kṛṣṇa. If Padmāvatī represents Lakṣmī-Rādhā there is no necessity to translate Śrī Vāsudeva as Vasudeva loving Śrī. During Jayadeva's period Śrī has been accepted as an integral part of a proper name. It adds the auspiciousness to the name. So Jayadeva uses ŚrīVāsudeva, ŚrīJayadeva and *ŚrīGītagovinda*. Most probably it was due to the influence of *Śrī-sampradāya*. *Śrī-kṣetra*, *Śrī-mandira*, Śrī-jagannātha and proper names are used with Śrī at present time.

In the particular verse, the meaning of Jayadeva's wife Padmāvatī may have apparent श्ळेष but not pure श्ळेष. In श्ळेष the meanings are expressed and are contextually relevant. The meaning of wife is not relevant here. श्ळिष्ट रूपक cannot be supported as there is no continuity of the description of his wife, which should be a प्रस्तुत and there should be no concealment in imposition. If we take the meaning as suggested, it has no charm and it will fall under गुणीभूतव्यङ्ग्य. It cannot be *aprastuta* as the *aprastuta* is a standard of comparision and superior in nature. Jayadeva is the husband of *Padmāvatī*. It has been mentioned at another place, e.g.

जयति पद्मावतीरमण जयदेव कविः।[17]

With resemblance of name one cannot twist the meaning of a poet of the calibre of Jayadeva, who is an exponent of using the words with propriety and purity[18]. Hence Padmāvatī of the *GG.* 1.2 is more in conformity with the goddess Lakṣmī-Rādhā.

Notes on Script and Pronunciation

(i) ऋ- is more localised in pronunciation, It is pronounced as अ, इ, उ in *Prākṛta-* language. The alliteration of पृष्ठे and गरिष्ठे are supported on this ground (e.g प्रिष्टे–गरिष्ठे). मृग–मअ, मिअ, मिरिग, घृत–घिअ, तृण–तिरण, कृपा–किरिपा, कुरूपा. The pronunciation of ऋ is difficult.

(ii) ब and व are to be supported for the sake of alliteration.

(iii) ज and य (य्य) – In the *apabhraṃśa* य is pronounced as ज. In the *Mādhyandina* tradition of *Yajurveda* the word यज्ञ is pronounced as य्य (=ज) ज्ञ. य्य and य are used. In Oriya they are represented by ଯ and ୟ respectively. But in Classical Sanskrit only य is written in *Devanāgarī*.

(iv) र and ळ are also taken to be identical by रळयोरभेदः. ल has two forms, one is dental (e.g लवङ्ग) and the other is cerebral (e.g. ईळे). In *Devanāgarī* two distinct scripts are used for these two letters such as ल and ळ. In Oriya, they are represented by ଲ and ଳ (e.g ଲବଙ୍ଗ -କାଳ). In Oriya and Sanskrit both usages are supported. In Orissa, Maharashtra and most parts of South India such pronunciation is valid. In Oriya manuscripts such difference is very distinct. The copysts present them in one character in Devanagari (i.e. ल). दुःस्पृष्ट 'ड' is recited as ळ in between two vowels (e.g. ईळे). र, ड and ळ are cerebral in character. ळ is also accepted as दुःस्पृष्ट in some of the *Śikṣā*-texts[19]. The scholars may consider it and the text be printed like this-

Devanāgarī — ललितलवङ्गलतापरिशीळनकोमळमळयसमीरे।

Oriya — ଲଳିତଲବଙ୍ଗଲତାପରିଶୀଳନକୋମଳମଳୟସମୀରେ।

Pronunciation of ळ is not defective and should be incorporated in the critical editions and singing as well. It has the typical Orissan touch and should be presented without violation. Involuntary mistakes of the copyists mislead the editors. The reading has to be verified from the manuscripts of Oriya character and presented faithfully.

Conclusion :

Jayadeva's contribution to the religion and philosophy for popularising the Mādhavism is very significant. His *Kāvya* has inspired the authorities to develop

the definition of *Prabandha-Kāvya* in the *Saṇgīta*-literature. Jayadeva is a model of Orissan culture and ambassador of the literature, music and art of Orissa.

References :

1. S.K. Chatterjee: 1973, *Jayadeva,* Sahitya Akademi, p. 1
2. *Gītagovinda* (G.G.) 1.17
3. G.G. 1.21
4. G.G. 1.25
5. G.G.
6. G.G.
7. G.G.
8. *Sāhitya darpaṇa* 3. 186
9. *Mahābhārata* 12.3.26
10. *Bhāgavata* 1.3.6-25, IT. 7.1.38, X.40.17-22
11. *Agnipurāṇa* (Chs 2,3,4,5,12,16)
12. *Śrī MahāpuruṣaVīdyā :* 1984, Ed. Otto Harressowitz, Wiesbaden, Ch. I. 20-29
13. G.G. 1.2
14. G.G. P. 2
15. The *Gītagovinda* of Jayadeva, 1984, Tr., Barbara Stoler Miller, Motiial Banarasi Dass, p. 69
16. *Amarakośa* 11.10.12
17. G.G. 10.9
18. See सन्दर्भशुद्धिं गिरां जानीते जयदेव एव, GG. 1.3
19. *Siddhānta-Kaumudī :* 1993, Gopal Krishna Dash and Kadambini Dash, Santosh Publications, p. 66

□□

अनुवाद : भारत और यूरोप की दृष्टि में*

शिवकुमार मिश्र

किसी भी जीवन्त भाषा के विकास के लिए तुलनात्मक अध्ययन और आलोचना का विमर्श जितना अपेक्षित है, संस्कृत में उतना ही उपेक्षित है। अनेक विश्वविद्यालयों में हिन्दी, बंगला आदि दो–एक आधुनिक भारतीय भाषाओं में तुलनात्मक अध्ययन के स्वतन्त्र विभाग स्थापित हैं और उनमें विधिवत् पाठ्यक्रम भी चलाए जा रहे हैं। संस्कृत में वैसा कहाँ? तुलनात्मक अध्ययन का एक प्रमुख अंग अनुवाद की अवधारणा जो आज प्रचलन में है, उसका संस्कृत–काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा में शायद ही कोई स्थान रहा है। यहाँ एक कृति अन्य कृति से किन अर्थों में भिन्न है अथवा एक ही कृतिकार की दो रचनाओं में भिन्नता क्यों पाई जाती है, इस पर प्राचीन काव्यशास्त्र में कहीं विमर्श हुआ हो, ऐसा मेरे संज्ञान में नहीं है। फिर संस्कृत की किसी रचना का तदिभन्न भारतीय या भारतीयेतर भाषा की किसी रचना से तुलनात्मक अध्ययन या आलोचना तो दूर की बात है। अनुवाद की अवधारणा, जो आज प्रचलन में है, उसमें परखा यह जाता है कि अनूदित कृति मूल कृति के कितना अधिक निकट या दूर है, विशेषतया मूलकृति के सन्देशों/अर्थों के सम्प्रेषण में। और, उनकी प्रामाणिकता क्या है ? इसमें संशय नहीं कि आज प्रचलित अवधारणा के अनुसार पिछले दो–शताब्दों में संस्कृत के अनेक श्रेष्ठ ज्ञानात्मक और सर्जनात्मक ग्रन्थों के अनेक देशी–विदेशी भाषाओं में और तत्तत् भाषाओं की श्रेष्ठ विशेषतया साहित्यिक कृतियों के संस्कृत में भी खूब अनुवाद हुए। किन्तु अनुवाद के सिद्धान्त और प्रयोग को दृष्टि में रखकर कोई विवेचनात्मक पहल संस्कृत–जगत् में हुई हो, इसका भी ज्ञान मुझे नहीं है।

अनुवाद की उपर्युक्त पाश्चात्त्य अवधारणा से भिन्न अवधारणा हमारे प्राचीन संस्कृत–वाङ्मय में अवश्य मिलती है! काव्यशास्त्रीय या नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में

---

* 'संस्कृत में अनूदित साहित्य' विषय पर आयोजित द्विदिवसीय राष्ट्रीय संस्कृत सम्मेलन, बरोदरा में Key-note- address के रूप में दिये गये वक्तव्य का संविर्धित रूप।

गाहासत्तसई, **बृहत्कथा**, **कर्पूरमञ्जरी** आदि प्राकृत–ग्रन्थों से जहाँ उद्धरण दिये गये हैं, उनमें कतिपय ध्वनि–परिवर्त्तन करके उनका संस्कृत–रूपान्तर रूढ़नाम **'संस्कृतच्छाया'** देने की रीति रही है। संस्कृत–रूपकों में स्त्री या कथित निम्न कोटि के पात्रों में संवाद होते हैं, उनकी भी संस्कृतच्छाया दी गई होती है। यह **'संस्कृतच्छाया'** अनुवाद का ही एक रूप कहा जा सकता है। बुधस्वामीकृत **'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह'**, क्षेमेन्द्रकृत **' बृहत्कथामञ्जरी'** और सोमदेवकृत **'कथासरित्सागर'** भी पैशाची भाषा में गुणाढ्य द्वारा लिखित **'बृहत्कथा'** के भावानुवाद ही हैं जो पढ़ने पर मूलकृति का आनन्द प्रदान करते हैं। प्रख्यात शास्त्रीय ग्रन्थों पर निर्वचनों और विविध टिप्पणियों के साथ 'भाष्यों' को और प्रौढ़ साहित्यिक ग्रन्थों पर 'टीकाओं' को भी अनुवाद की कोटि में रखा जा सकता है क्योंकि उनका भी लक्ष्य मूलकृति के अर्थ या सम्प्रेष्य का सम्प्रेषण ही होता है। इनकी विशेषता यह होती है कि इनमें सम्भावित जिज्ञासाओं के समाधान भी दे दिये गये होते हैं। वास्तविकता तो यह है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों एवं सर्जकों को शब्दशः या पदान्वय–अनुवाद में न तो कोई आस्था थी और न ही रुचि। कारण यह कि मूलपाठ या कृति के शब्दों या वाक्यों में जितना सन्देश (सम्प्रेष्य या अर्थ) सम्प्रेष्य होता है, उससे कहीं अधिक सन्देश उन–उन शब्दों और वाक्यों के बीच या उनके आसपास छिपे होते हैं। शास्त्रीय ग्रन्थों की अपेक्षा सर्जनात्मक कृतियों में इन अप्रकट सन्देशों की सम्भावनाएं और भी बढ़ जाती हैं। भाष्यों और टीकाओं में इन अन्तर्पाठों को अध्याहार, निदर्शन (Illustration) और उपपत्ति (Demonstrations) द्वारा अभिव्यक्त करने का पूरा अवसर होता है। इस कथन में कोई सन्देह नहीं है कि भाष्यकार या टीकाकार मूलपाठ या मूलकृति के सन्देशों को यथावत् सम्प्रेषित करने में सर्वतोभावेन सफल भी हुए हैं। आज की अवधारणा में ये अनुवाद भले न कहे जाएं किन्तु इन्हें नई रचना या आविष्कार के रूप में अवश्य देखा जा सकता है। प्राचीन भाष्य (पतञ्जलि आदि के) और टीकाएं (मल्लिनाथ आदि के) आज मूलकृतिवत् या उससे बढ़कर ही हैं क्योंकि इनमें मूलकृति के सन्देश यथावत् सम्प्रेषित हुए हैं।

भारतीय अवधारणा में भी अनुवाद का अर्थ अनुवचन ही होता है अर्थात् मूलपाठ में निहित अर्थ / सन्देश / सम्प्रेष्य को एक अन्य पाठ में अन्तरित कर देना। अनुवाद की पाश्चात्त्य अवधारणा में भी बचता सन्देश ही है, शेष सब कुछ बदल जाते हैं। इस अवधारणा के समर्थकों का मत भी है कि एक भाषा के सन्देश को अन्य भाषा में यथायथ सम्प्रेषित करना सुदुस्तर कार्य है। यह असम्भव को सम्भव बनाने जैसा है। अनुवाद की भारतीय अवधारणा के पीछे भी कदाचित् यही दृष्टि रही हो कि मूलकृति

का यथायथ अनुवाद हो ही नहीं सकता विशेषतया साहित्यिक कृतियों का। क्योंकि साहित्यकार की उक्तियाँ अनन्य होती हैं। यदि उनका अनुवाद किया जायगा तो उनकी अनन्यता खण्डित हो जाएगी। इसके अतिरिक्त साहित्यिक कृतियों के आधार–तत्त्व जो कल्पन और भावन होते हैं, अति सूक्ष्म होते हैं। उनको एक अन्य भाषा में सम्प्रेषित करना कठिन ही नहीं, अति कठिन होता है। मूल तथ्य यह है कि मूलकृति का यथायथ ज्ञान मूलकृति की भाषा के सम्यक् ज्ञान के पश्चात् ही हो सकता है। अनुवाद के माध्यम से प्राप्त ज्ञान निश्चित ही अपूर्ण रह जाता है। वैदिक विद्वान् प्रो. के. सी. चट्टोपाध्याय कहा करते थेः **'Study *Ṛgveda* through *Ṛgveda*'** **'रुबाइयात उमर खैयाम'** का अनुवाद फिट्जजेरल्ड ने किया और इस अनुवाद की विश्व भर में धूम मच गई। किन्तु आलोचकों का मत है कि फिट्जजेरल्ड ने उमर खैय्याम की अन्तर्वर्ती भावना को तो पाठकों तक पहुंचा दिया। पर इस अनुवाद में खैयाम के दार्शनिक और धार्मिक विचार शत–प्रतिशत सम्प्रेषित नहीं हो पाये हैं। आधुनिक आलोचक इ. ए. नाइडा का कहना उचित ही है कि पुनर्विन्यास (अनुवाद) की यह प्रक्रिया कुछ–कुछ उसी प्रकार है, जिस प्रकार कतिपय भिन्न आकार के बक्सों के सामानों को उससे भिन्न आकार के अन्य बक्सों में पुनः सुव्यवस्थित करना। कुछ का तो यहाँ तक कहना है कि अनुवादों के माध्यम से साहित्याध्ययन पूरी तरह से मिथ्याचार है (बेनेदेतो क्रोचे) आदि।

किन्तु अनुवाद पर अनेक विपरीत आलोचनाओं के बावजूद आज ज्ञान–विज्ञान के विस्फोट–युग में अनुवाद की अनेक उपयोगिताओं से इन्कार भी नहीं किया जा सकता। प्रसिद्ध जर्मन कवि और आलोचक गेटे का कथन है : **अनुवाद की अपूर्णता के विषय में चाहे जो भी कहा जाय, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अनुवाद विश्व के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और महत्तम कार्यों में एक है।**[1]

इतिहास साक्षी है कि प्राचीन भारत में संस्कृत ने अपने को उस ऊँचाई पर प्रतिष्ठित कर लिया था कि इस भाषा के सर्जकों ने देशी भाषा में संस्कृतग्रन्थों के अनुवाद/अध्ययन आदि में कोई दिलचस्पी नहीं ली। भारत आदिकाल से बहुभाषी देश रहा है और इस कारण यहाँ अनुवाद की प्रचुर सम्भावनाएं थीं, तथापि विद्वानों का बहुकाल तक इस ओर कोई रुचि नहीं दिखाई दी। पर चौंकाने वाली बात यह है कि स्थानगत, भाषागत और शिल्पगत **(उत्प्रेक्षा दक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरम्)** भिन्नता होने पर भी भारतीय रचनाकारों का विचार–दर्शन और भावभूमि एक ही रही है। अर्थ या सन्देशों के धरातल पर इस राष्ट्र के सभी भाषा–साहित्यों का केन्द्रीय भाव एक ही

रहा है। कारण कि अखिल भारत की काव्य–परम्परा वैदिक वाङ्मय, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत–सहित सभी पुराण, भास, कालिदास, बाणभट्ट आदि से सहजतया जुड़ी है। कदाचित् इन्हीं कारणों से यहाँ के काव्यशास्त्री अनुवाद–परक अध्ययन किंवा तुलनात्मक साहित्यालोचन से विमुख ही रहे। किन्तु इस धारणा और विचारणा से इतनी तो हानि हो ही गई कि केवल संस्कृत–भाषा पर अवलम्बित विद्वान् भाषान्तरों के श्रेष्ठ ग्रन्थों में निहित ज्ञान और सर्जनात्मक ग्रन्थों में निहित वस्तु और शिल्प से वंचित होकर एकांगी किंवा 'कूप-मण्डूक' ही बने रहे।

ऐसा नहीं कि भारतीय परम्परा में 'अनुवाद' शब्द था ही नहीं अथवा अनुवाद पर विचार ही नहीं हुआ। 'अनुवाद' का प्रयोग अति प्राचीन है और वह भी भाषाई प्रक्रिया के रूप में। अनुवाद (अनु+वद्+घञ्) अर्थात् किसी कथन के पीछे का कथन। न्याय-मीमांसा का एक सूत्र हैः **विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः।**[2] *विधेरनुवचनं विहितस्य वाऽनुवचनमनुवादः।* वहीं 'अनुवचनम्' का लक्षण भी दे दिया गया है। तदनुसार **'विधेरनुवचनं शब्दानुवादः'** और **'विहितस्यानुवचनमर्थानुवादः**। सूत्रकार गौतम के आशय का अनुसरण करते हुए वृत्तिकार आचार्य विश्वनाथ (1600 वीं खीष्टाब्द) ने अनुवाद का सुस्पष्ट लक्ष्ण दिया : **प्राप्तस्य अनु पश्चात् कथनं सप्रयोजनमनुवादः।** अर्थात् पुनः कथन के अर्थ में अनुवचन अनुवाद होता है यदि उस अनुवचन का कोई विशिष्ट प्रयोजन हो। अनुवाद की आधुनिक अवधारणा में न्यायशास्त्रगत अनुवाद का बीज आसानी से तलाशा जा सकता है। इस अवधारणा में भी अनुवाद पुनः कथन ही है। अन्तर इतना–सा है कि न्यायशास्त्रगत अनुवाद का प्रयोग एक ही भाषा के अन्तर्गत होता है जब कि आज एक भाषा का अन्य भाषा में पुनः कथन अनुवाद है।

अनुवाद क्या है, इस विषय पर अंग्रेजी और हिन्दी–भाषा के अनेक विद्वानों द्वारा दी गई अनुवाद–परिभाषाओं को खँगालने के उपरान्त दो भाषाविदों को यहाँ उद्धृत करना उचित समझता हूँ। इन दोनों को मिलाकर देखने से अनुवाद का स्वरूप सुस्पष्ट हो जाता है।

- एक भाषा की पाठ–सामग्री का दूसरी भाषा की समतुल्य पाठ–सामग्री में पुनः स्थापन अनुवाद है। (कैटफॅर्ड)[3]

- स्रोतभाषा के सन्देश का प्रथमतया अर्थ और तत्पश्चात् शैली के धरातल पर लक्ष्यभाषा में निकटतम, स्वाभाविक तथा समतुल्य (पाठ) प्रस्तुत करना अनुवाद है।' (इ.ए. नाइडा)[4]

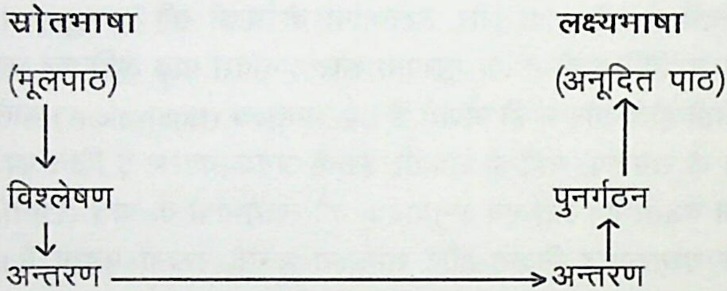
कैटफॅर्ड की परिभाषा सरल है जबकि नाइडा का सुस्पष्ट। सुस्पष्ट इसलिए कि

उन्होंने पाठों की समतुल्यता को समझाने के लिए परिभाषा में कुछ विशिष्ट पदों का संयोजन किया है जो कैटफॅर्ड में नहीं है। तकनीकी शब्दावली का प्रयोग किया जाय तो कैटफॅर्ड के One language का आशय होगा **स्रोतभाषा** अर्थात् मूलपाठ या कृति जिस भाषा में हो; और another lauguage का आशय होगा **लक्ष्यभाषा** जिसमें अनुवाद किया जा रहा है। कैटफॅर्ड के textual material का आशय होगा **पाठ–सामग्री**। पाठ–सामग्री का अभिप्राय स्रोतभाषा में उपलब्ध लिखित सामग्री से है। यह सामग्री एक शब्द से लेकर सहस्रों पृष्ठों अथवा पुस्तकों तक हो सकती है।

अनुवाद के सन्दर्भ में स्रोतभाषा और लक्ष्यभाषा के पाठों की 'समतुल्यता' भी विवेचनीय है। यह तो सर्वविदित ही है कि मूलपाठ और अनूदित पाठ अविकल रूप से समरूप (Identical) नहीं होते और न हो सकते हैं। वे समतुल्य (Equivalent) होते हैं। अनूदितकृति मूलकृति के समरूप नहीं हो सकती, इसके अनेक कारण हैं जिन पर यहाँ कहना अनपेक्षित जान पड़ता है। अत एव अनुवादक को लक्ष्यभाषा के पाठ (रचना) को स्रोतभाषा के पाठ के यथासम्भव निकट और समतुल्य बनाये रखना पड़ता है। यह संक्रिया दो स्तरों पर होती है। **एक**, अर्थ (सन्देश या सम्प्रेष्य) के स्तर पर और **दूसरा**, भाषा की निजता अर्थात् पद–बन्ध, मुहावरे और व्याकरण के स्तर पर। इसलिए उपर्युक्त दोनों ही परिभाषाओं में समतुल्य सामग्री (equivalent material) का प्रयोग विशिष्ट है। नाइडा अपनी परिभाषा में यह भी जोड़ता है कि अनूदित पाठ का स्वाभाविक होना भी अनिवार्य है। स्वाभाविक अर्थात् प्रांजल किंवा सहज। डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव जोड़ते हैं कि अनूदित पाठ को मूलपाठ के समतुल्य होने के साथ सममूल्य भी होना चाहिए। मेरी समझ में इसका अभिप्राय हुआ –गुणवत्ता में समान महत्त्व वाला। इस अर्थ में सममूल्यता समतुल्यता में ही अन्तर्हित प्रतीत होती है। पाठों की समतुल्यता पर भाषा के विद्वान् कैटफॅर्ड और नाइडा के साथ–साथ डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव तथा डॉ. कृष्णाकुमार गोस्वामी का 'अनुवाद–सिद्धान्त और समस्याएं' ग्रन्थ देखा जा सकता है।

डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव अनुवाद पर विचार करने की दो दृष्टियों का उल्लेख करते हैं : **पाठपरक दृष्टि** और **प्रक्रियापरक दृष्टि**। पाठपरक दृष्टि में पूर्वतः प्राप्त मूलपाठ और अनूदित पाठ के अन्तर्सम्बन्धों का विश्लेषण किया जाता है। इसके अन्तर्गत विचार किया जाता है कि समतुल्यता के सिद्धान्त पर अनूदित पाठ मूलपाठ के कितना निकट या दूर है। यह सामान्यतः अनुवाद–समीक्षकों का क्षेत्र है। किन्तु प्रक्रियापरक दृष्टि में अनुवादक के समक्ष केवल मूलपाठ या मूलकृति ही होती है। एक अनुवादक को

अनुवाद–काल में कई समस्याओं से जूझना पड़ता है। यथा : मूलकृति को कथ्यतः और कथनतः गहराई से समझना, मूलकृति के सन्देशों को अन्य भाषा (लक्ष्यभाषा) में बाँधना, अनूदित कृति के रूप में कथ्यतः और कथनतः एक समतुल्य कृति की रचना करना आदि–आदि। सुस्पष्ट है कि प्रक्रिया–परक दृष्टि अनुवादकों के लिए अधिक उपयोगी है। नाइडा ने आरेख द्वारा इसे इस प्रकार दर्शाया है : (डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव के 'अनुवाद–प्रक्रिया' निबन्ध से)



अनुवादक से अपेक्षा की जाती है कि उसे स्रोतभाषा और लक्ष्यभाषा दोनों की गहरी समझ है और उसमें दोनों ही भाषाओं के सम्यक् विश्लेषण की क्षमता भी है। अनुवादक को सर्वप्रथम मूलकृति के सन्देश/अर्थ को परत–दर–परत समझना पड़ता है। यहाँ अवधेय है कि सन्देश एक स्तर पर तो सामान्य या भाषा–सापेक्ष्य होता है और अन्य स्तर पर विशिष्ट, रूढ़ या भाषा--तटस्थ। यथा : **गतोऽस्तमर्कः**। यह वाक्य सामान्य स्तर पर तो कालवाचक है : 'सूर्य अस्त हो गया'। किन्तु विशिष्ट स्तर पर व्यंजनादि व्यापार से भिन्न–भिन्न परिवेश या स्थितियों में भिन्न–भिन्न अर्थ का द्योतक भी है। विशिष्ट या रूढ़ अर्थ के द्योतित होने पर भाषा तटस्थ हो जाती है। वास्तव में रचना में विशिष्टार्थ, संकेतार्थ या रूढ़ार्थ बड़ा ही शक्तिशाली होता है। सर्जनात्मक कृतियों में तो ऐसे प्रयोगों का बाहुल्य होता है। ऐसे स्थलों के अनुवाद में प्रभूत कठिनाई होती है। संस्कृत के काव्यशास्त्रों में ऐसे प्रयोगों के अर्थ–निर्धारण के लिए सूक्ष्म–से–सूक्ष्म विश्लेषण उपलब्ध हैं। एक अच्छे अनुवादक को तत्तत् स्थलों को देख लेना चाहिए। सन्देशों के अर्थ–निर्धारण में स्रोतभाषा के व्याकरण–ग्रन्थ, भाषा–शास्त्र के अर्थ–विज्ञान और सर्वोपरि उस भाषा के संकेतित अर्थ की महती भूमिका होती है।

मूलकृति के सन्देश को यथासम्भव सुरक्षित रखते हुए अनुवादक को लक्ष्यभाषा की

भाषा–इकाइयों में बाँधना पड़ता है। वस्तुतः सन्देश को भाषान्तरित करना ही अनुवाद है। यह अन्तरण–काल या भाषान्तरण–काल अनुवाद का दूसरा सोपान है। कुछ विद्वान् इसे सन्देशों का प्रतिस्थापन भी कहते हैं। उल्लेखनीय यह है कि अनुवादक को स्रोतभाषा और लक्ष्यभाषा से जुड़े सांस्कृतिक और सामाजिक सन्दर्भों मसलन प्रथा–परम्परा, आचार–शिष्टाचार, लोक–व्यवहार आदि की भी गहरी समझ, निश्चयात्मक ज्ञान और संस्कार भी होना चाहिए। यथा : "Good morning, Good evening" ये वाक्य–खण्ड एक स्तर पर तो कालवाचक हैं किन्तु अन्य या विशिष्ट स्तर पर ये अंग्रेजी–भाषा या समाज के अभिवादन–प्रकार के सूचक भी है। ये शिष्टाचारात्मक वाक्य उस समाज में बड़े–छोटे सबके लिए प्रयोग में लाये जाते हैं। किन्तु भारतीय समाज में स्थिति भिन्न है। यहाँ अभिवादन काल–बद्ध नहीं होता बल्कि अभिवादन का शिष्टाचार कुटुम्ब (Relation) या आयु पर निर्भर करता है। श्रेष्ठों और ज्येष्ठों के चरण–स्पर्श किये जाएंगे अथवा 'प्रणामाः' कहा जायगा। समवयस्कों को 'नमस्ते' कहा जायेगा। श्रेष्ठ और ज्येष्ठ हर हालत में छोटों को आशीर्वाद देंगे। अनुवाद होगा : 'चिरञ्जीवी भव' 'दीर्घायुः भव' 'सदा सुखी भव' आदि–आदि। संस्कृत के सहस्राधिक सांस्कृतिक शब्दों का अनुवाद करना तो असम्भव–सा है। यथा, ऋत, हिरण्यगर्भ आदि। इन शब्दों के अनुवाद तो ये शब्द स्वयं ही हो सकते है। विदेशी भाषाओं में तो इनका अनुवाद सुदुस्तर ही है। भारतीय भाषाओं में तो ये यथावत् रख दिये जाते हैं।

पुनर्गठन या पुनर्विन्यास अनुवादन का तीसरा सोपान है। माना, मूलकृति का सन्देश भाषान्तरित हो चुका किन्तु अनुवादक को अभी छुट्टी नहीं मिली। अनुवाद एक स्तर पर सर्जना भी होता है विशेषतया सर्जनात्मक कृति का। अतः इस स्तर पर अनुवादक को एक रचयिता की भूमिका का निर्वहण करना पड़ता है। एक संवेदनशील और सहृदय अनुवादक ही सर्जनात्मक कृति का उत्कृष्ट अनुवाद कर सकता है। अनुवादक रचना के भावों से जितना ही एकात्म होगा, उसका अनुवाद उतना ही मूलकृति के अधिक निकट होगा। कविवर बच्चन जी को यदि प्रमाण माना जाय, तो 'रुबाइयात उमर खैयाम' को विश्व–पटल पर स्थापित करने में फिट्जजेरल्ड की सहृदयता और काव्य–कला की ही महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इस स्तर पर अनुवादक लक्ष्यभाषा के पाठक–वर्ग को ध्यान में रखकर लक्ष्यभाषा की ही अभिव्यक्ति–शैली, संस्कार और मिजाज के अनुरूप भाषान्तरित सन्देश का एक समतुल्य या सहपाठ या सहकृति की रचना करता है। वह भाषान्तरित सन्देश को इस प्रकार पुनर्गठित करता है ताकि अनूदित कृति पढ़ने में सहज हो और वह मूलकृति–सा आनन्द दे सके। एतदर्थ

भाषान्तरित सन्देशों की शब्दावलियों या वाक्य–विन्यास में काफी परिवर्तन करना पड़ सकता है। मूलपाठ के विषय या मूलकृति की काव्यता को बिना क्षति पहुँचाए अनुवादक आवश्यकतानुसार अनुवाद में कुछ जोड़ या घटा भी सकता है। पुनर्गठन–काल में पद्यकृति को गद्य में अथवा गद्यकृति को पद्य में, छह पंक्तियों को चार पंक्तियों में अथवा आठ पंक्तियों में, काव्य–कृति को समच्छन्द में अथवा विषमच्छन्द में अनुवाद करने की छूट ले सकता है। इसे इस प्रारूप में दर्शाया जा सकता है :

1. क. (मूलपाठ या कृति) – ख. (मूलपाठ या कृति से जो कुछ घटाया गया है) = अनूदित कृति।
2. क. (मूलपाठ या कृति) – ख. (मूलपाठ या कृति से जो कुछ घटाया गया है) + ग. (मूलपाठ या कृति मे जो कुछ नया जोड़ा गया है) = अनूदित कृति।

पहला प्रारूप ज्ञान–साहित्य और दूसरा सर्जनात्मक साहित्य के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। सर्जनात्मक कृति के अनुवाद में एक अच्छे अनुवादक को काफी कुछ जोड़ना या घटाना भी पड़ता है। रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने अनुवादक की भूमिका को अद्योलिखित प्रारूप द्वारा दर्शाया है:[5]

1	2	3
अनुवादक की भूमिका	**प्रक्रिया**	**समस्या**
(मूलपाठ या कृति) का पाठक	बोधन	अर्थग्रहण की समस्या
द्विभाषिक	अन्तरण	अर्थग्रहण की समस्या
(अनूदित पाठ का) रचयिता	सर्जन	अर्थ–सम्प्रेषण की समस्या

इस प्रारूप पर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि ऊपर इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है।

उच्च या उच्चतम सरकारी अथवा गैरसरकारी संस्थानों द्वारा पुरस्कृत संस्कृतेतर अंग्रेजी–सहित आधुनिक भारतीय भाषाओं की कृतियों के भाषान्तरण और प्रकाशन में तनिक देर नहीं लगती किन्तु संस्कृत–कृतियों के साथ ऐसा क्यों नहीं होता ? संभवतः इसीलिए कि संस्कृत के विद्वान् आत्म अनुवाद–कार्य के प्रति घोर उदासीन हैं। शायद इसीलिए अब कुछ रचनाकार कविता के अनुवाद के साथ ही अपनी कृति छपवाने लगे हैं।

बिना उदाहरण के सिद्धान्त–पक्ष शून्य–प्राय होता है। अत एव महाकवि कालिदास

के अभिज्ञानशाकुन्तल (4.8) से एक प्रसिद्ध श्लोक उदाहरण स्वरूप लेते हैं :

मूलपाठ :

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति ह्रदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनं।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः,
पीड़यन्ते गृहिणः कथन्नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः[6] ।।

अनूदित पाठ :

राजा लक्ष्मण सिंह :

आज शकुन्तला जाएगी मन मेरो अकुलात,
रूकि आंसु गदगद गिरा, आँखिन कछु न लखात।
मो–से वनवासीन जो इतौ सतावत मोह,
तो गेही कैसे सहे दुहिता प्रथम–विछोह।।

महादेवी वर्मा :

आज विदा होगी शकुन्तला सोच हृदय आता है भर–भर,
दृष्टि हुई धुँधली चिन्ता से, रुद्ध अश्रु से कण्ठ रुद्धस्वर।
जब ममता से इतना विचलित व्यथित हुआ वनवासी का मन,
तब दुहित–विछोह नूतन से पाते कितनी व्यथा गृहीजन।।[7]

सत्यदेव चौधरी :

आज विदा होगी शकुन्तला, सोच हुआ है मनुआ आकुल,
रोके से अंसुवन के अब कण्ठ मेरा है भर आया।
और चिन्ता से आँखें मेरी हो गई अब हैं सूनी–सूनी,
अरण्य–निवासी स्नेह के कारण, हूँ जब विचलित इतना,
घरबारी जन की कौन दशा तब, सुता–विरह के नूतन दुःख में।

एम. एम. विलियम्स :

The day my love one leaves me, and my heart
Is heavy with its grief : The streams of sorrow
Choked at the source , repress my faltering voice.
I have no words to speak, mine eyes are dimmed
By the dark shadows of the thoughts that rise

Within my soul. If such the force of grief
In an old hermit parted from this nurshing,
What anguish must the striken parent feel
Bereft for ever of an only daughter.

अब मूलपाठ के अनुवादों पर विचार करते हैं :

प्रथम पंक्ति का इति–पद हेत्वर्थक (इति हेतोः) है, अर्थात् इस कारण। ल. सिंह ने इसे छोड़ दिया है। महादेवी और स. चौधरी ने 'सोच' और विलियम्स ने **'and'** जोड़ा है। यहाँ विलियम्स कलिदास के अधिक निकट हैं। इसी पंक्ति के **'हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया'** को लें। यहाँ 'उत्कण्ठया' का अर्थ 'व्याकुलतया' है। जोड़ें 'वैक्लव्यं' से। इस स्थल पर ल. सिंह और स. चौधरी निकट हैं। महादेवी और विलियम्स में 'व्याकुलता' पदवाच्यतः स्पष्ट नहीं है। अब द्वितीय पंक्ति के **'कण्ठः.......... कलुषः'** को लें। **स्तम्भितानां अन्तःस्थितानां वाष्पाणां वृत्त्या कलुषः विकृतः कण्ठः (स्वरः भाषितं वा)**। भीतर–भीतर आँसुओं को रोकने के कारण स्वर या कथन विकृत (अस्फुट) हो गया है, यह सम्प्रेष्य है। स्तम्भन आन्तरिक संक्रिया होती है। कण्व जैसे उच्चकोटिक तपस्वियों के लोचन में अश्रु सम्भव नहीं। ल. सिंह और महादेवी के अनुवादों में अश्रु कहाँ रुद्ध हैं? कण्व के नयनों में या अन्तस् में – यह स्पष्ट नहीं है। विलियम्स कालिदास के निकट हैं किन्तु 'I have no words to speak' यह अतिरिक्ततया क्यों जोड़ा गया, वे ही जानें। हिन्दी में स्वर या भाषित के लिए यदि 'कण्ठ' शब्द प्रचलन में हो, तो स. चौधरी ठीक ही हैं। अब इसी पंक्ति के 'चिन्ताजडं दर्शनं' पर विचार किया जाय। इसमें अर्थ की दो परतें चिपकी हैं और प्रस्तुत सन्दर्भ में दोनों ही समानतया समीचीन भी हैं। **दर्शनं लोचनं ज्ञानं वा, चिन्तया जडं स्वविषयाग्राहकं जातमिति भावः**। लोचन (बाहय चक्षु) अथवा ज्ञान (अन्तश्चक्षु) भावी चिन्ताओं से ऐसे जडीभूत हो गये हैं कि वे स्व–स्व विषयों को यथावत् ग्रहण करने में असमर्थ हैं, यह सम्प्रेष्य है। ल. सिंह और स. चौधरी में दूसरा अर्थ गायब है। महादेवी और विलियम्स सटीक हैं।

अब मूलपाठ की तृतीय पंक्ति पर विचार करते हैं। इस पंक्ति में 'मम' और 'स्नेहात्' विशिष्ट पद हैं और अर्थ के एक विशिष्ट धरातल पर जुड़े भी हैं। सुविदित है कि शकुन्तला कण्व की औरस–कन्या नहीं थी अपितु धर्मकन्या थी। शकुन्त–पक्षियों से लालिता (पालिता शकुन्तला) को शकुन्तों से ही कण्व ने प्राप्त किया था। इस प्रकार प्राप्त कन्या के पालन से उसमें स्नेह या प्रीति का संवर्धन तो हो सकता है किन्तु औरस–कन्या जैसी ममता नहीं हो सकती। रक्त–सम्बन्ध ममता (मम + ता) का, मोह

का स्वाभाविक/सहज और प्रबल हेतु होता है। 'मम' पर यहाँ बल भी है। 'जब मुझ निःस्पृह तपस्वी, तिस पर पालक पिता का कर्त्तव्य–मात्र निर्वहण करने वाले को ऐसी (एवं विध उन्मथित कर देने वाली) विकलता? आशय यह कि विकलता होनी नहीं चाहिए, यह सम्प्रेष्य है। ममता और स्नेह में अन्तर है। ममता सर्वथा निजता के साथ जुड़ी है, वह सहजात होती है अपनों को लेकर किन्तु स्नेह में वह सान्द्रता और सहजातता नहीं। मूल के उपर्युक्त अर्थ की दृष्टि से ल. सिंह का 'मो–से' पद चिन्त्य है। मूल में 'ईदृशं' 'वैक्लव्यं' का विशेषण है, न कि 'मम' अर्थात् तपस्वी कण्व का। 'मोह' स्नेह का द्योतक नहीं हो सकता। महादेवीजी की अनूदित पंक्ति का वक्ता ही बदल गया है। 'वैक्लव्यं मम.....' यह पंक्ति कण्व का कथन है जबकि अनूदित पंक्ति स्वयं महादेवी का कथन बन गया है। व्यंग्य की जो धार मूल में है, वह इनके अनुवाद में नहीं। महादेवी का 'ममता' प्रकृत सन्दर्भ में मूलपाठ में प्रयुक्त स्नेह से काफी दूर है। मूल में प्रयुक्त 'मम' अर्थात् मुझ तपस्वी कण्व का' बलाघात–पूर्वक जो भाव है, वह भी नहीं आ सका है। 'विचलित' एक अतिरिक्त पद जोड़ा गया है। स. चौधरी और विलियम्स के अनुवाद अपेक्षाकृत अधिक निकट हैं। किन्तु विलियम्स का अनुवाद भी यहाँ स्वयं उनका ही कथन हो गया है, न कि कण्व का।

मूलपाठ की चतुर्थ पंक्ति के प्रथम तीन अनुवाद मूल के निकट ही हैं। 'ही' इसलिए कि अनुवादकों ने 'तनया' के लिए 'दुहिता' का प्रयोग किया है। 'तन्वा जाता' तनया के लिए 'दुःखेन धारिता पालिता वा' दुहिता का प्रयोग आज के सन्दर्भ में शोभनीय नहीं है। यह स्वीकृत तथ्य है कि पर्यायवाची शब्द अर्थ–विज्ञान की दृष्टि से समान वजन के नहीं होते। अर्थ–विशेष को प्रकट करने के लिए शब्द–विशेष ही होता है। इसीलिए अनुवाद में समतुल्यता का बड़ा महत्त्व है। चौथे अनुवादक विलियम्स ने 'तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः' के लिए 'Bereft for ever of an only daughter' कहा है जो मूल से दूर है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आज की अवधारणा के अनुसार अनुवाद विशेषतया सर्जनात्मक कृति का, वास्तव में असम्भव को सम्भव बनाने जैसा है। अनुवाद की भारतीय अवधारणा में कविता की सूंक्ष्म–से–सूक्ष्म और तरल–से–तरल कल्पना और भाव को भी एक सीमा तक अभिव्यक्ति दी जा सकती है। 'एक सीमा तक' इसलिए क्योंकि : **Poetry is to be felt and not to be explained.**

सन्दर्भ :

1. अनुवाद–कला डॉ. ए. एन. विश्वनाथ अय्यर, पृ. 48 पर उद्धृत

2. न्यायसूत्र, 11.1.65

3. The replacement of textual material in one language by equivalent textual material in another language is translation. (Catford J.C.1965, A Linguistic Theory of Translation)

4. Translation consists in producing in receptor language the closest, natural equivalent to the message of source language, first in meaning and secondly in style (Nida E.A.1964) (Toward a Science of Translation)

5. अनुवाद–प्रक्रिया, पृ, 92, अनुवाद विज्ञान : सिद्धान्त और अनुप्रयोग

6. अभिज्ञानशाकुन्तल 4.8

7. सप्तपर्णी पृ. 196

❑❑

रसगङ्गाधर-व्याख्यातॄणां भट्टनायकमत-विवरणे भ्रान्तिः

विजयपाल शास्त्री

पण्डितराजस्य कीर्तिपताकायमानः साहित्यपाण्डित्यनिकषभूतो रसगङ्गाधरनामा ग्रन्थोऽलङ्कारशास्त्रस्य प्रौढतमा रचनेति सर्वैस्सादरमूरीक्रियते। सूक्ष्मेक्षिकया नव्यनैयायिकरीत्या च विषयाणां समीक्षणादस्य गौरवमितरप्राक्तनप्रबन्धेभ्योऽतिरिच्यत इति सर्वसमालोचकसम्मतं मतम् । पण्डितराजस्य लोकोत्तरपाण्डित्यप्रकर्षवशाद् ग्रन्थरचना तथा प्रौढा गभीरा च जाता यत्तद्व्याख्याने प्रायः पण्डिता अपि खण्डिता जायन्ते। ग्रन्थार्थस्य दुरवगाहत्वादेवात्र व्याख्यानां वैरल्यं दृश्यते। यानि खलु व्याख्यानानि पण्डितप्रकाण्ड-पदवाक्यप्रमाण-पारावारीण-वैयाकरणशिरोमणि-नागेशभट्टस्य मर्मप्रकाशाख्यव्याख्यानाद् अर्वाचीनानि सन्ति तेषु प्रस्तुतस्थले अध्ययनाध्यापनप्रसङ्गेन यच्चिन्त्यमनुभूतं तदिह प्रस्तूयते।

रसस्वरूपविषये भट्टनायकस्य किमभिमतम् इति विवरणप्रसङ्गे रसगङ्गाधरे वाक्यमिदं पठ्यते 'पङ्गौ पूर्वव्यापारमहिमनि' इति। भट्टनागेशेन त्वियं पङ्क्तिरित्थं व्याख्याता- 'एवमुक्तव्यापारेण। तावतैव साफल्येनाह पङ्गाविति सति सप्तमी[1]।' अत्र- 'एवमुक्तव्यापारेण' इति 'तावतैव साफल्येनाह- पङ्गाविति' इति च नागेशव्याख्याने स्फुटमेव पङ्गुत्वमभिधाव्यापारस्यैव निर्दिष्टमिति न सन्देहलेशोऽप्यस्ति। भट्टनागेशेनात्र पण्डितराजस्य हार्दं सहजमेव व्यक्तीकृतम् । परम् एतदनवबुद्ध्य परवर्त्तिभिः बहुभिर्व्याख्याकारैरत्र महतीं भ्रान्तिं समुत्पाद्य पण्डितराजस्याशयो गर्त्तसात्कृतः।

'पङ्गौ पूर्वव्यापारमहिमनि' इत्यत्र व्याख्यातारः पूर्वव्यापारशब्देन भावकत्वव्यापारं गृह्णन्ति। तदिदमसङ्गतम्। वस्तुतः पूर्वव्यापारोऽत्राभिधाव्यापार एव पण्डितराजस्याभिमतः। स त्वभिप्रायो भ्रमवशाद् व्याख्यातृभिर्गड्डुलिकाप्रवाहेणान्यथैव प्रतिपाद्यते। स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थं रसगङ्गाधरात् प्रासङ्गिकं सम्पूर्णम् उद्धरणमिह प्रस्तूयते- 'तस्मादभिधया निवेदिताः पदार्था भावकत्वव्यापारेणागम्यात्वादिरसविरोधि-ज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्म-पुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते। एवं साधारणीकृतेषु दुष्यन्तशकुन्तला-देश-काल-वयोऽवस्थादिषु पङ्गौ पूर्वव्यापारमहिमनि तृतीयस्य भोगकृत्त्वव्यापारस्य महिम्ना निगीर्णयो रजस्तमसोरुद्रिक्तसत्त्वजनितेन निजचित्स्वभाव-निर्वृतिलक्षणेन साक्षात्कारेण विषयीकृतो भावनोपनीतः साधारणात्मा रत्यादिः स्थायी रसः[2]' इति।

अत्रायं परमार्थो यदभिधया निवेदिताः शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमद्दुष्यन्तादयो ये पदार्थाः सन्ति ते सामान्यात्मका विशेषात्मकाश्चेति द्विरूपाः, तत्र कान्तात्वादि सामान्यम् , शकुन्तलात्वादि च विशेषः। इत्थमत्र काव्येऽभिधाव्यापारो द्विरूपो द्विपदो वाऽस्ति, स खलु कान्तात्वादिकं च निवेदयति शकुन्तलात्वादिकञ्च।

तत्समनन्तरमेव समापतितेन भावकत्वव्यापारेण तत्र रसनिष्पत्तौ बाधको विशेषः शकुन्तलात्वादिरूपस्तिरोधीयते, रसनिष्पत्तिसाधकं सामान्यं कान्तात्वादिकञ्च पुरस्क्रियते। तदित्थम् अभिधानन्तरमापतितेन भावकत्वव्यापारेण स्वस्यापेक्षया पूर्वस्य (समनन्तरपूर्ववर्त्तिनः) अभिधाव्यापारस्य द्विरूपस्य द्विपदस्य वा यो विशेषाख्य एकः पादस्तस्य वैकल्यं कृत्वा पङ्गुत्वं वा सम्पाद्य ते पदार्था अगम्यात्वादिरसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादि-रसानुकूलधर्म-पुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते। एवं भावकत्व-व्यापारप्रभावेण साधारणीकृतेषु दुष्यन्त-शकुन्तला-देश-कालवयोऽवस्थाऽऽदिषु पङ्गौ=एकपादिविकले च पूर्वव्यापारमहिमनि =अभिधाव्यापारप्रभावे सति तृतीयस्य भोगकृत्त्वव्यापारस्य महिम्ना निगीर्णयो रजस्तमसोरुद्रिक्तसत्त्वजनितेन निजचित्स्वभावनिर्वृतिलक्षणेन साक्षात्कारेण विषयीकृतो भावनोपनीतः रत्यादिः स्थायी रसः इति।

पूर्वनिर्दिष्टादस्मादर्थाद् भिन्नमेव व्याख्यातारो विवृण्वते- तद्यथा 'हिन्दी रसगङ्गाधर' इत्याख्ये साहित्याचार्यपुरुषोत्तम-चतुर्वेदप्रणीते रसगङ्गाधरस्य भाषानुवादरूपे ग्रन्थे- *"वह क्रिया दुष्यन्त, शकुन्तला, देश, काल, वय और स्थिति आदि सब पदार्थों को साधारण बना देती है। उनमें किसी प्रकार की विशेषता नहीं रहने देती कि जिससे हमारी रसचर्वणा में गड़बड़ पड़े, बस यह सब कार्रवाई करके वह (भावना) ठंडी पड़ जाती है। उसके अनन्तर एक तीसरी क्रिया उत्पन्न होती है।*[3]*"*

इत्थमेव च मुजफ्फरपुरस्थ-राजकीय-संस्कृत-महाविद्यालयस्य भूतपूर्वप्रधानाचार्येण मैथिलश्रोत्रिय-कविशेखरपण्डितबदरीनाथझा-महाभागेन प्रणीतायां रसगङ्गाधरस्य चन्द्रिकाभिधानायां संस्कृतव्याख्यायां व्याख्यायते- **"एवम् उक्तभावकत्वव्यापारेण सामान्यधर्मावच्छिन्नत्वेन बोधितेषु च पङ्गौ कृतकृत्यत्वाद् विरते सतीति शेषः। पूर्वव्यापारो भावकत्वम्।[4]"** अत्र चन्द्रिकाया हिन्दीरूपान्तरकारः मुजफ्फरपुरस्थ-संस्कृतमहाविद्यालयस्य पूर्वसाहित्यप्रधानाध्यापकः पण्डितश्रीमदनमोहनझा-महोदयोऽपि इदमेवानुवदति -

'इस तरह वह भावकत्व व्यापार शकुन्तला, दुष्यन्त, देश, काल, वय और संयोग, वियोग आदि दशा, सबको साधारण बना देता है, अर्थात् इनमें किसी प्रकार की विशेषता नहीं रहने देता कि जिससे रसोद्बोध में बाधा पड़े। बस, इतना कार्य करके वह विरत हो जाता है।'

प्रखरसमालोचकत्वेन विख्यातः श्रीकेदारनाथओझामहोदयोऽपि स्वकीयायां रसचन्द्रिका-नाम्न्यां रसगङ्गाधर-व्याख्यायामेवमेव व्याख्याति- *"पङ्गौ विरते सति भावकत्वव्यापारे*[5]*"*

एवमेवान्येऽपि रसगङ्गाधरस्याधुनिका व्याख्यातारः लोकमणिदाहालप्रभृतयो व्याख्यान्ति। वस्तुतोऽयं व्याख्यातॄणां भ्रम एव। एते पङ्गुशब्देन भावकत्वव्यापारस्य विरामं निर्दिशन्ति। अत्रेदमवधेयं यत् पण्डितराजेन खञ्जापरपर्यायः पङ्गुशब्दः प्रसिद्धार्थो गृहीतः। यथा- 'पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्'- इत्यत्रास्ति। अस्यैव पङ्गुशब्दस्यात्रौपचारिकः प्रयोगः कृतः। स चायं प्रयोगोऽभिधाव्यापारस्य महिम्नः कृते सर्वथानुरूपोऽस्ति। यतो हि भावकत्वव्यापारद्वारा स पङ्गुतामापाद्यते। अत एवापहृतविशेषगतिः सामान्यमात्रावशेषः स स्फुटमेव पङ्गुवदाचरति। इत्थं काव्यनिवेदितेषु काव्येन प्रस्तुतेषु पदार्थेषु भावकत्वव्यापारेण साधारणीकृतेषु सत्सु, पङ्गौ पूर्वव्यापारमहिमनि, तृतीयस्य भोजकत्वव्यापारस्य महिम्ना यथोक्तदिशा भट्टनायकमतेन रसस्य भुक्तिः साक्षात्कारो वा भवति।

पदान्वयदृष्ट्यापि पूर्वव्यापारोऽभिधाव्यापार एव गृहीतो भवति। यतः भावकत्वव्यापारमहिम्ना साधारणीकृतेषु काव्योक्तिषु पदार्थेषु पूर्वव्यापारमहिमा पङ्गुर्भवतीत्युक्तम्। इह पूर्वव्यापारश्चासन्दिग्धरूपेणाभिधाव्यापार एव। यतो हि भावकत्वमहिम्ना साधारणीकरणे सति ततः समनन्तरपूर्वः कोऽन्यः स्यादृतेऽभिधाव्यापारात्।

व्याख्यातारस्त्वत्र सम्भिन्नबुद्धयः तृतीयव्यापारं प्रति धावन्तो भ्रमात् ततः प्राक्तनं भावकत्वव्यापारं मन्यमानाः तस्य कृते पङ्गुशब्दप्रयोगस्यौचित्यमभलभमाना अपि अन्यथैवार्थापयन्ति- 'पङ्गौ = विरते भावकत्वव्यापारमहिम्नि' इति। न ह्यत्र भावकत्वमहिम्नः विरामोऽभिप्रेतः, भावकत्वस्य प्रभावः खल्वाधारभूतो भोजकत्वस्य प्रवृत्तौ। यदि तन्मतेनात्र भावकत्वप्रभावे पङ्गुभूते = विरते इत्यर्थो मन्यते तर्हि भोजकत्वस्यानवकाशता एव भवतीति तथा व्याख्याने भूयोऽप्यनर्थगर्त्तपात एव।

इदमत्रावधेयं यदभिधाव्यारमहिम्नोऽत्र पङ्गुत्वमेवेष्टं न तु सर्वथोपरमः। रसध्वनेरभिधामूलत्वात्, 'वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिः' (ध्वन्यालोके वृत्तिभागः 1.4) इत्युक्तत्वाच्च। यच्च पङ्गुत्वं भावकत्वव्यापारमहिम्नः प्रतिपाद्यते, तत्र पङ्गुशब्दस्य खञ्जः[6] इति प्रसिद्धार्थो न घटते। यच्च पङ्गुशब्दस्यार्थो निवृत्तिरिति मन्यते तदप्यसारम्, भट्टनायकमते भावकत्वव्यापारस्य महिम्नो निवृत्तौ मतायां भोजकत्वव्यापारस्याधार एव नश्यति, ततोऽस्य प्रवृत्तिरेव न स्यात् । अतः पूर्वव्यापारोऽत्राभिधा-व्यापार एवेति पण्डितराजस्याशयः स्पष्टः, स त्वनवधानाद् आधुनिकैर्व्याख्यातृभिरन्यथा व्याख्यातः। आधुनिकानां व्याख्यानमिदं नूनं संशोधनमर्हति।

सन्दर्भाः

1. रसगङ्गाधरः मर्मप्रकाशव्याख्योपेतः, प्रथमाननम्, पृ. 29
2. रसगङ्गाधरः, प्रथमाननम् , रससूत्रव्याख्यानप्रकरणम्
3. हिन्दी रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ. 58
4. रसगङ्गाधरः, चन्द्रिकाख्यहिन्दीसंस्कृतव्याख्योपेतः, प्रथमाननम्, पृ. 108
5. रसगङ्गाधरः, रसचन्द्रिकाटीकोपेतः, प्रथमाननम्, पृ. 79
6. (खञ्ज् + कु, खस्य पत्वे जस्य गादेशः, नुम्), आप्टे-कोशः, पृ. 561

सन्दर्भग्रन्थाः

1. रसगङ्गाधरः - मर्मप्रकाशव्याख्योपेतः, भट्टमथुरानाथशास्त्रिसम्पादित, निर्णयसागर मुद्रणालय, मुम्बई (पुनर्मुद्रित- मोतीलाल बनारसीदास- 1983 ई.)
2. रसगङ्गाधरः - चन्द्रिका-हिन्दीसंस्कृतव्याख्योपेतः, प्रथमाननम् (पञ्चम-संस्करणम्), चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1997 ई.
3. रसगङ्गाधरः - केदारनाथओझा प्रणीत-रसचन्द्रिकाटीकोपेतः, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयः, वाराणसी, 1977 ई.
4. हिन्दी रसगङ्गाधर - साहित्याचार्य पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1927 ई.

कालंजर में सूर्योपासना की परम्परा : एक ऐतिहासिक विश्लेषण*

चन्द्रदेव पाण्डेय

कालंजर विन्ध्य के अंचल में उत्तरप्रदेश के बांदा जिले में बांदा से 35 मील की दूरी पर 25^0 1' उत्तरी अक्षांश में तथा 80^0 29' पूर्वी देशान्तर पर स्थित है। यह क्षेत्र देश के उस भू-भाग में स्थित है, जो प्राचीन काल में चेदि जनपद तथा पूर्व मध्यकाल में 'जेजाकभुक्ति' कहलाता था। कालंजर प्राचीन काल से ही धार्मिक क्रियाकलाप का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। यहाँ पर भक्तिपूर्ण साधनाएँ एवं साधकों की सभाएँ की जाती थीं।[1] यह स्थल शैव-साधना के केन्द्र के रूप में प्रख्यात था। साथ में शाक्त, वैष्णव, जैन, बौद्ध एवं सौर आदि अनेक धार्मिक सम्प्रदायों के अविच्छिन्न विकास का परिज्ञान होता है। उक्त धार्मिक भावभूमि में भगवान् सहस्रांशुमाली को अत्यन्त श्रद्धास्पद तथा महत्त्वमय स्थान प्राप्त था।

सूर्योपासना भारतीय धर्मानुष्ठान की एक मौलिक विशेषता रही, जिसे सभ्यता के उषःकाल से लेकर हिन्दू काल की समाप्ति तक अनेक प्रजातियों, भाषाभाषियों एवं परम्पराओं ने समय-समय पर समृद्धिशाली वनाया है। सूर्य को समस्त देवताओं का आत्मा, ब्रह्माण्ड का स्वामी और नियामक, कर्मों का साक्षी एवं परम तत्त्व ब्रह्म का पर्याय माना गया है।

आदिकालीन समाज में सूर्य-पूजा अनेक प्रतीकों के माध्यम से होती थी। सैन्धव संस्कृति में सूर्योपासना स्वस्तिक, चक्र एवं वृत्तादि के प्रतीकात्मक स्वरूपों में की जाती थी। ऋग्वैदिक समाज में सूर्य के नैसर्गिक रूप की उपासना स्तुतिगीतियों एवं उपहारों से की जाती थी। ऋग्वेद में उल्लेख प्राप्त होता है कि सूर्य की प्रार्थनाएँ यज्ञशाला से प्रारम्भ होती थीं[2] –

प्र ब्रहमैत्तु सदनातृ तस्य वि रश्मिभिः ससृजे गाः।

उपनिषदों तथा पुराणों में सूर्य-पूजा का विशेष निर्वचन हुआ है। कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में पाप की निवृत्ति हेतु नित्य त्रैकालिक सूर्य-वन्दन का उल्लेख प्राप्त होता है।[3] साम्ब-पुराण में आख्यात है कि पहले प्रतिमा नहीं थी अपितु मण्डलाकार रूप में ही सूर्य-पूजा होती थी।[4] भगवान् सूर्य सर्वप्रथम महाभारत में मानव के रूप में अनेकत्र प्रत्यक्ष हुए हैं।

उल्लेखनीय है कि छठीं शताब्दी ई. पू. से द्वितीय शताब्दी ई. पू. के काल तक सूर्योपासना का सामाजिक क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया था जिसके अन्तर्गत भारत के निम्नवर्गीय समाज से लेकर उच्चवर्गीय समाज के विभिन्न लोगों द्वारा सूर्योपासना की जाती थी। कुषाण-काल में तो सूर्य-पूजा का प्रचलन ही नहीं था, प्रत्युत कुषाण सम्राट् स्वयं सूर्योपासक भी थे। कनिष्क (78 ई.) के पूर्वज शिव तथा सूर्य के उपासक थे।[5]

यशस्वी गुप्त सम्राटों, विशेषतः कुमार गुप्त प्रथम (415 ई. - 455 ई.) के काल से ही सूर्योपासना को प्रमुखता प्राप्त होने लगी थी। मन्दसोर के लेख के अनुसार दशपुर की तन्तुवाय श्रेणी ने अपने शिल्प के द्वारा अर्जित धनराशि से एक भव्य सूर्य-मन्दिर का निर्माण कराया था।[6] स्कन्दगुप्त के काल (455 ई.-467 ई.) में बुलन्दशहर जिले के इन्द्रपुर नामक स्थान में क्षत्रिय अचलवर्मा तथा भृकुण्ठ सिंह ने एक सूर्य-मन्दिर बनवाया था। देव विष्णु (चतुर्वेदी) ने इस मन्दिर में दीप जलाने के निमित्त दान दिया था। गुप्त-सम्राटों के काल में ग्वालियर तथा बघेलखण्ड के आश्रमक नामक स्थान में निर्मित सूर्य-मन्दिरों का विवरण प्राप्त होता है। निष्कर्षतः यह स्थापित किया जा सकता है कि प्रतापी गुप्त-सम्राटों के समय में भगवान् सूर्य की आराधना सुप्रचलित थी।

भारत में पूर्व मध्यकाल (7वीं - 13वीं शताब्दी ई.) सूर्योपासना (सौर-संस्कृति) का सर्वाधिक समृद्ध एवं भव्य काल माना जाता है। सातवीं शताब्दी ई. में महाराज हर्ष के काल में सूर्योपासना अपने उत्कर्ष पर पहुँच गयी थी।[7] नरवर्द्धन, राज्यवर्द्धन, आदित्यवर्द्धन तथा प्रभाकरवर्द्धन सूर्यदेव के अनन्य भक्त थे। हर्ष के पिता महाराज प्रभाकरवर्द्धन के विषय में महाकवि बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में उल्लेख किया है कि वे स्वाभाविक प्रवृत्ति से ही सूर्य के अनन्य उपासक थे।[8] वे प्रतिदिन सूर्योदय के समय पूर्वाभिमुख होकर एक पवित्र पात्र में लाल कमलों का एक गुच्छा लेकर सूर्यदेव को अर्घ्य देते थे। अर्घ्य देने के उपरान्त वे नित्य प्रातः, मध्याह्न तथा संध्या समय आदित्यहृदय मन्त्र का जप करते थे।[9] मधुवन और बाँसखेड़ा, कुरुक्षेत्र के ताम्रलेखों तथा सोनपत की मुहर में उन्हें (प्रभाकरवर्द्धन को) 'परमादित्य-भक्त' कहा गया है। अनेक प्रमाणों से भी इस तथ्य की संपुष्टि होती है कि इस काल में सौर-सम्प्रदाय अन्य धार्मिक सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक उत्कर्ष पर था और देश के विभिन्न भागों में अनेक सूर्य-मन्दिर विद्यमान थे।

कालंजर दुर्ग के सात प्रवेश-द्वारों के विषय में पॉगसन का अभिमत है कि कालंजर सूर्योपासना का केन्द्र रहा होगा। उन्होंने रविचित्र के आधार पर एवंविध मत व्यक्त किया है। उनके अनुसार प्रथम शब्द सूर्य का द्योतक है एवं परवर्ती पवित्र स्थल का।[10] कनिंघम 'रविचित्र' का सामान्य अर्थ 'सूर्य-चित्र' ग्रहण करते हैं।[11] भारत में सूर्य-चित्रांकन की परम्परा प्राचीन है। इस परिप्रेक्ष्य में अवन्ती की एक स्थानीय मुद्रा पर सूर्य-चित्रांकन को सन्दर्भित किया जा सकता है।[12] इस प्रकार रविचित्र नाम कालंजर का भगवान् सूर्य से सम्बन्ध दिग्दर्शित करता है। धंग के खजुराहो अभिलेख से ज्ञात होता है कि कालंजर अपनी तुंगता (ऊँचाई) के कारण मध्याह्न सूर्य की गति को अवरुद्ध कर देता था।

कालंजर दुर्ग के मध्य एक दीर्घाकार जलाशय है जिसे कोट-तीर्थ की संज्ञा प्राप्त है तथा इसकी गणना दुर्ग के पवित्र स्थलों में भी की गयी है। कतिपय विद्वान् इसका अर्थाख्यान कोढ़ तीर्थ (कुष्ठ रोगियों का तीर्थस्थल) करते हैं। यहाँ पर स्नान करने से कुष्ठ रोगियों को लाभ प्राप्त होता है।[13] अयोध्या के निकट सूर्यकुण्ड नामक एक जलाशय है। जनश्रुति है कि उस कुण्ड में स्नान करने से सभी प्रकार के चर्मरोगों का विनाश हो जाता है। मिथिला में भी ऐसी धारणा है कि कार्तिक शुक्ल पक्ष की षष्ठी के दिन सूर्योपासना करने से मनुष्य को किसी प्रकार का चर्मरोग नहीं होता। अनुश्रुतियों से पता चलता है कि चन्देल शासक कीर्तिवर्मन् कुष्ठ रोग से ग्रस्त था तथा बुढ़िया ताल में स्नानोपरान्त उसका कुष्ठ रोग समाप्त हो गया था।[14] उग्रदेव द्वारा कुष्ठ रोग से मुक्ति हेतु इक्कीस दिन के सूर्यानुष्ठान का विवरण प्राप्त होता है। मयूर ने भी (7वीं शताब्दी ई.) कुष्ठ रोग के शमनार्थ सूर्यशतक की रचना की थी। उन्होंने भगवान् सूर्य की उपासना की तथा

उन्हें प्रसन्न कर स्वास्थ्यलाभ प्राप्त किया। जनश्रुति के अनुसार अधोलिखित श्लोक का मयूर द्वारा पारायण करने पर भगवान् सूर्य प्रकट हुए थे तथा उन्होंने मयूर को कुष्ठ रोग से मुक्त कर दिया था[15] —

शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन्व्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्
दीर्घाघ्रातानघौघैः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् यः।।
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्द्विगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्ते-
र्दत्तार्घाः सिद्धसंघैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम्।।

साम्ब ने सूर्योपासना द्वारा कुष्ठ रोग से मुक्ति प्राप्त कर अपने पूर्व मनोहर रूप को प्राप्त किया था।[16]

ऋग्वेद में सूर्य को सभी चर्मरोगों तथा अनेक असाध्य रोगों का विनाशक बताया गया है।[17] प्रत्येक सूर्योपासक अपनी आधि एवं व्याधि के शमन के लिए ऋग्वैदिक मन्त्र को जपता था। सायण के अनुसार उक्त (ऋग्वैदिक) मन्त्रों का जप करने से प्रस्कण्व ऋषि का चर्मरोग विनष्ट हो गया था। हृदयजन्य एवं शारीरिक रोगों के निवारण-विषयक भगवान् सूर्यदेव के सामर्थ्य का विवेचन अनेक ऋचाओं में हुआ है। पद्म-पुराण में उल्लेख आता है कि महाराज भद्रेश्वर को कुष्ठ रोग हो गया था। ब्राह्मणों द्वारा उपदिष्ट होने पर महाराज भद्रेश्वर ने सूर्य का अनुष्ठान किया था जिससे उन्हें कुष्ठ रोग से निवृत्ति प्राप्त हुयी थी।[18] गुप्त-सम्राट् स्कन्दगुप्त के इन्दौर के ताम्रलेख (गुप्त संवत् 136 = 455 ई.) में भी सूर्य को अनेक रोगों का विनाशक कहा गया है –

यं लोको बहु-रोग-वेगविवशः संश्रित्य चेतोलभः।
पायाद्वः स जगत्पिधान-पुटभिद्रश्म्याकरो भास्करः।।

मध्ययुगीन कतिपय अभिलेखों में भी सूर्य को मानव के स्वास्थ्य का रक्षक कहा गया है।

सूर्योपासना से कुष्ठ रोग का निवारण हो जाता है, यह धारणा न केवल भारतीयों में प्रचलित थी अपितु प्राचीन काल से ही पारसीकों में भी विख्यात थी। हेरोडोटस की अवधारणा में कुष्ठरोग का कारण भगवान् सूर्यदेव के प्रति पाप करना था। हेरोडोटस की इतिहास की प्रथम पुस्तक में अधोलिखित उल्लेख प्राप्त होता है "कोई भी नागरिक जो कुष्ठरोग या श्वेतकुष्ठ से ग्रस्त होता था, नगर में प्रविष्ट नहीं होता था न वह अन्य पारसीकों से मिलता-जुलता था तथा अन्य लोग यह कहते थे कि इस रोग का कारण सूर्य के प्रति किया गया कोई पाप है।" उक्त कथन से यह पता चलता है कि पारसीकों की अवधारणा में जो देवता इस प्रकार के संक्रामक रोगों की उत्पत्ति का कारण है केवल वही उस रोग का विनाशक भी हो सकता है।[19]

वस्तुतः भारत में सूर्योपासना द्वारा कुष्ठ-रोग से मुक्ति की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। सूर्योपासना के अन्य उद्देश्यों में मानसिक एवं शारीरिक रोगों से मुक्ति, अच्छे स्वास्थ्य की प्राप्ति, समृद्धि, मंगल, ऐश्वर्य, अच्छी कृषि (अन्न), पशु-वृद्धि, युद्ध में शत्रु पर विजय, आत्म (आत्मा) को बन्धन-मुक्ति एवं सूर्य-लोक (सूर्य-शरण) प्राप्ति का उल्लेख मिलता है।

पूर्व मध्यकाल में कालंजर को सूर्योपासना के केन्द्र के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। पुरातात्त्विक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि प्रतिहारों एवं चन्देलों ने अपने-अपने राज्यकाल में अनेक मन्दिरों का निर्माण करवाया था। कालंजर तथा अजयगढ़ के समीपवर्ती क्षेत्र मढ़खेरा (टीकमगढ़) में प्रतिहारों ने सूर्य-मन्दिर का निर्माण करवाया तथा खजुराहो में चित्रगुप्त-मन्दिर चन्देलों ने बनवाया था।[20] कालंजर से

सूर्य-मूर्तियाँ प्राप्त हुयी हैं जिन्हें आसन एवं स्थानक वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इस प्रकार की एक मूर्ति पाठा से प्राप्त हुई है जिसमें सूर्य पर्यंकासन में प्रदर्शित हैं।[21] इनके ऊपर के दोनों हाथों में कमल का अंकन है। एवंविध सूर्य-प्रतिमाएँ खजुराहो से भी मिली हैं।[22]

सूर्य की स्थानक मूर्तियाँ आसन मूर्तियों की अपेक्षा संख्या में अधिक हैं। कालंजर के कोट तीर्थ स्थित तालाब के सोपानक्रम के एक शिलाखण्ड में यह मूर्ति विद्यमान है। विवेच्य मूर्ति कालंजर की प्रमुख मूर्तियों में से एक है। इसमें सूर्य समभंग मुद्रा में खड़े हैं, हाथ खण्डित हैं। इनमें पूर्ण विकसित कमल रहे होंगे। उनके सिर के पीछे प्रभामण्डल है। वे किरीट, मुकुंट, कुण्डल, हार व ग्रैवेयक, यज्ञोपवीत, कौस्तुभ, वनमाला और मेखला से सुसज्जित हैं। उनके वक्ष में वर्म है, बाएँ और दाएँ पार्श्वों में अनुचर दण्ड और पिंगल बने हैं। इसमें अनेक पार्श्वचरों का अंकन है। पादपीठ के नीचे रथ के सात अश्व पंक्तिवद्ध अवस्था में उत्कीर्ण हैं। केन्द्रीय अश्व के ऊपर सारथि अरुण हैं। अरुण दायें हाथ में सप्ताश्वों की रश्मियाँ धारण किये हैं। अरुण एवं सूर्य के मध्य में, सूर्य के चरणों के समीप स्थित भूदेवी महाश्वेता हैं। यह मूर्ति कलात्मक दृष्टि से कालंजर के शिल्पी की महत्त्वपूर्ण कृति मानी जा सकती है।[23]

ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव की विशिष्टताओं से समन्वित हरि-हर-हिरण्यगर्भ नामक सूर्य की प्रतिमा कालंजर के नीलकण्ठ मन्दिर के निकट स्थित है। प्रो. विशम्भर शरण पाठक ने इस प्रतिमा का विवेचन किया है।[24] त्रिमूर्ति के साथ सूर्य की एकात्मकता का उल्लेख शास्त्रों में प्राप्त होता है। मार्कण्डेय-पुराण में प्रकाशमान सूर्य को ही ब्रह्मा, शिव और विष्णु का शरीर कहा गया है। वायुपुराण[25] तथा स्कन्दपुराण[26] भी त्रिमूर्ति की एकात्मक अवधारणा की पुष्टि करते हैं। सूर्य विष्णु, शक्ति, शिव तथा गणेश के रूप में भी प्रतिपादित होने लगे थे।[27]

शिव, ब्रह्मा और विष्णु से संयुक्त सूर्य की प्रतिमा का उल्लेख शिल्पशास्त्रों में भी प्राप्त होता है। अपराजितपृच्छा में इसे हरि-हर-हिरण्यगर्भ संज्ञा प्रदान की गयी है। उल्लेख प्राप्त होता है कि यह प्रतिमा चतुर्मुखी और अष्टभुजी हो और इसमें चारों देवताओं का निवास हो, सामने की ओर सूर्य दो हाथों में कमल लिए हुए, दायीं ओर शिव खट्वांग और त्रिशूल के साथ बायीं ओर विष्णु शंख और चक्र तथा (पार्श्व की ओर) ब्रह्मा, कमण्डल और अक्षमाला धारण किये हुए चित्रित हों।[28]

कालंजर की विवेच्य प्रतिमा त्रिमुखी, अष्टभुजी और समभंग है। इसमें तीन मुख सुन्दर रूप में चित्रित हैं। केन्द्रीय मस्तक में किरीट, मुकुट और पार्श्व मस्तकों में जटा-मुकुट का एक युगल उत्कीर्ण है। इसमें प्रतिमा हार, ग्रैवेयक, कंकण, वनमाला, यज्ञोपवीत और कौस्तुभमणि से अलंकृत है। सामने के दो हाथों में पूर्ण विकसित कमल हैं। शेष हाथों में दायीं ओर एक अक्षमाला युक्त वरद मुद्रा में चित्रित है, दूसरा त्रिशूलधारी तथा तीसरा शंखयुक्त है। बायीं ओर के शेष तीनों हाथों में क्रमशः चक्र, सर्प और कमण्डल का चित्रण है।

उपर्युक्त प्रकार की विशेषताओं से समन्वित त्रिमूर्ति प्रतिमाएँ खजुराहो[29] तथा बंगाँव (बुन्देलखण्ड)[30] से भी प्राप्त हुयी हैं। देलमल (उत्तरी गुजरात)[31] में स्थित लम्बोजी माता के मन्दिर से 12वीं शताब्दी ई. की एक त्रिमूर्ति प्रतिमा प्राप्त हुयी है जिसमें मध्यस्थीय शीर्ष भाग सिद्धपुर और धन्व (गुजरात) की सूर्य-प्रतिमा के समान है। यह मूर्ति ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं सूर्य की संयुक्त मूर्ति है, जिसमें सूर्य पर विशेष बल दिया गया है। एवंविध संयुक्त मूर्तियाँ किराडू, हर्षनाथ एवं प्रभास (काठियावाड़) में सोमनाथ के सूर्य-नारायण

मन्दिर से (पद्मासनावस्था में) प्राप्त हुयी हैं जिसमें सूर्य की उत्कृष्टता प्रदर्शित की गयी है। उल्लेखनीय है कि मयूरप्रणीत 'सूर्यशतकम्' में भी भगवान् आदित्य को ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश से अधिक शक्तिशाली निरूपित किया गया है। वस्तुतः अन्य देवताओं की अपेक्षा आदित्य से ही जगत् का अधिक मंगल होता है।[32]

उपर्युक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में यह तथ्य प्रतिपादित किया जा सकता है कि पूर्व मध्य काल में सम्पूर्ण भारतवर्ष में भगवान् सूर्य प्रमुख आराध्य देव के रूप में प्रतिष्ठित हो गए थे। प्रतिष्ठानपुर (झूँसी-इलाहाबाद), गंगादित्य-त्रिवेणी (संगम-प्रयाग), भीटा व गढ़वा (इलाहाबाद), भेलपुर (भेलस्वामी-वाराणसी), लोलार्क (वाराणसी), मथुरा, इन्द्रपुर (बुलन्दशहर), जागेश्वर (अल्मोड़ा), थानेश्वर, सूर्यवन (कुरुक्षेत्र) एवं मार्तण्ड भैरव (काश्मीर) इत्यादि सूर्योपासना के प्रमुख स्थल (केन्द्र) थे।[33] प्रो. वासुदेव उपाध्याय के अनुसार पूर्व मध्य काल में मध्य देश, राजपूताना और केन्द्रीय भारत सूर्योपासना के लोकप्रिय क्षेत्र थे।[34]

चन्देल शासकों के काल में कालंजर एवं समीपवर्ती क्षेत्रों में सौरधर्म अत्यन्त लोकप्रिय ही नहीं प्रत्युत प्रमुख धर्म के रूप में समादृत था। प्रमुखता की यह धारणा समाज में अन्तर्व्याप्त थी जिसका सन्दर्भ कतिपय चन्देल अभिलेखों में भी प्राप्त होता है। चन्देल-शासक परमर्दिदेव (1165 ई.-1203 ई.) के महोबा पट्टिकाओं (1173ई.) में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि कतिपय समुदायों में सर्वप्रथम सूर्याराधन किया जाता था तदनन्तर अन्य देवताओं की स्तुति की जाती थी।[35] खजुराहो अभिलेख संवत् 1011 (954 ई.) भगवान् सूर्य के स्तवन (नमो सवित्रे) से समाप्त होता है।

प्रतिहार नरेश महेन्द्रपाल द्वितीय (लगभग 935 ई. - 948 ई.) के प्रतापगढ़ अभिलेख का प्रथम अनुदान सूर्य के दो मांगलिक श्लोकों से समारम्भ होता है तदनन्तर दुर्गाजी की स्तुति की गयी है।[36] प्रख्यात इतिहासकार प्रो. लालता प्रसाद पाण्डेय के शब्दों में प्रतिहारों का राज्यकाल सूर्योपासना का स्वर्णिम युग था।[37] उल्लेखनीय है कि प्रतिहार नरेश रामभद्र (833ई. - 836 ई.)[38] एवं विनायक पालदेव[39] भी सूर्योपासक थे जिन्हें 'परमादित्य भक्त' कहा गया है। अतः सन्दर्भित उक्त समस्त साक्ष्यों के आलोक में यह निष्कर्ष प्रतिपादित किया जा सकता है कि पूर्व मध्यकाल (700 ई. - 1300 ई.) में कालंजर में भगवान् सहस्रांशुमाली प्रमुख उपास्य देव के रूप में अपार जनसमूह की श्रद्धा के केन्द्र थे।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. सुल्लेरे, सुशील कुमार, अजयगढ़ और कालंजर की देव-प्रतिमाएँ, नई दिल्ली, 1987, पृष्ठ 78-79
2. ऋग्वेद, (सायण-भाष्य-सहित), सम्पादित, वैदिक संशोधन-मण्डल, (वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट), पूना, 1933, जिल्द 1-5, 7/36/1
3. कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत्, (सम्पादित, ई. बी. कावेल), चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, प्रथम संस्करण, वाराणसी 1968, 2/7, अथातः सर्वजितः कौषीतकेस्त्रीण्युपासनानि भवन्ति सर्वजिद्ध स्म कौषीतकिरुद्यन्तमादित्यमुपतिष्ठते।
4. साम्बपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बाम्बे, 1889, (संपादित, कृष्णमणि त्रिपाठी), वाराणसी, 1983, 29/2,

न पुरा प्रतिमा ह्यासीत् पूज्यते मण्डले रविः।
यथैतन्मण्डलं व्योम्नि स्थीयते सवितुस्सतदा।।

5. उपाध्याय, भगवत शरण : प्राचीन भारत का इतिहास, पटना, 1957, पृष्ठ 258
6. सरकार, दिनेशचन्द्र : सेलेक्ट इंस्क्रिप्सन्स, वाल्यूम I, कलकत्ता, 1942, पृष्ठ 297, श्रेण्यादेशेन भक्त्या च कारितं भवनं रवेः।
7. चटर्जी, गौरीशंकर : हर्षवर्द्धन, इलाहाबाद, 1950, पृष्ठ 66
8. हर्षचरित, बाणभट्ट (सम्पादित पी.वी. काणे), प्रथम संस्करण, बाम्बे, 1918, चतुर्थ उच्छ्वास, पृष्ठ 3, निसर्गत एव च स नृपतिरादित्यभक्तो बभूव।
9. वही, पृष्ठ 178
10. सुल्लेरे, सुशील कुमार, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 18-19
11. कनिंघम, आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑव इण्डिया रिपोर्ट, भाग 21, पृष्ठ 28
12. पाण्डेय, चन्द्रदेव, साम्ब पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन, इलाहाबाद, 1986, पृष्ठ 56
13. सुल्लेरे, सुशील कुमार, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 22-23
14. वही, पृष्ठ 66
15. सूर्यशतकम्, मयूर (सम्पादित, रमाकान्त त्रिपाठी), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1981, श्लोक 6
16. साम्बपुराण-25/14,

साम्बोऽपि स्तवराजेन स्तुत्वा सप्ताश्ववाहनम्।
पूतात्मा नीरुजः श्रीमांस्तस्माद् रोगाद् विमुक्तवान्।।

17. ऋग्वेद 1/50/11-13, एक सूक्त में सूर्यदेव को विष दूर करने का श्रेय प्रदान किया गया है, 1/191
18. पद्मपुराण (सम्पादित, एम.सी. आप्टे), आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1893-94, 76/31-34,

ॐ नमः सहस्रबाहवे आदित्याय नमो नमः।
नमस्ते पद्महस्ताय वरुणाय नमो नमः।।
नमस्तिमिरनाशाय श्रीसूर्याय नमो नमः।
नमः सहस्रजिह्वाय भानवे च नमो नमः।।
त्वं च ब्रह्मा त्वं च विष्णू रुद्रस्त्वं च नमो नमः।
त्वमग्निस्सर्वभूतेषु वायुस्त्वं च नमो नमः।
सर्वगः सर्वभूतेषु नहि किञ्चित्त्वया विना।
चराचरे जगत्यस्मिन् सर्वदेहे व्यवस्थितः।।

19. क्वेकेनबास, जी.पी., संस्कृत पोयम्स ऑव मयूर, कोलम्बिया यूनिवर्सिटी, न्यूयार्क, 1978, पृष्ठ 35,

Whatsoever one of the citizens has leprosy or the white (leprosy) does not come into city, nor does he mingle with the other persons. And they say that he contacts these (diseases) because of having committed some sin against the Sun; उक्त सन्दर्भ में मयूरप्रणीत 'सूर्यशतकम्' का श्लोक 35 तुलनीय है

20. एन्श्येन्ट इंडिया 15, पृष्ठ 44
21. सुल्लेरे, सुशील कुमार : पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 161
22. अवस्थी, रामाश्रय : खजुराहो की देव-प्रतिमाएँ, आगरा, 1967, पृष्ठ 173-174
23. सुल्लेरे सुशील कुमार, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 162
24. पाठक, वी.एस., शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया, वाराणसी, 1960, पृष्ठ 54
25. वायुपुराण, आनन्दाश्रम प्रेस, पूना, 1905, 5/18-19

    परस्परेण वर्तन्ते धारयन्ति परस्परम्

    अन्योन्यमिथुना ह्येते ह्यन्योन्यमुपजीविनः।

    क्षणं वियोगो न ह्येषां न त्यजन्ति परस्परम्।।
26. स्कन्दपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बाम्बे, 1910, ब्रह्म खण्ड, धर्मारण्य-माहात्म्य 5/101,

    अयं हि रुद्र आदित्यो हरिरेष दिवाकरः।

    रविर्हिरण्यरूपोऽसौ त्रयीरूपोऽयमर्यमा।।
27. वही, वैष्णव खण्ड 3/4-5,

    अहं विष्णुश्च शर्वश्च देवी विघ्नेश्वरस्तथा।

    एकोऽहं पञ्चधा जातो नाट्ये सूत्रधरो यथा।।

    अस्माकं सर्व एवैते भेदा विद्धि खगेश्वर

    तस्मात्सौरैश्च गाणैशैः शाक्तैः शैवैश्च वैष्णवैः।।
28. अपराजितपृच्छा, भुवनदेव, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा, 1950, 213/32-34
29. अवस्थी, रामाश्रय : पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 177-181, स्टेला, क्रैमरिश, हिन्दू टेम्पिल्स, (भाग 1 व 2), कलकत्ता, 1946, पृष्ठ 273-74
30. रायबहादुर, हीरालाल : त्रिमूर्तीज इन बुन्देलखण्ड, इण्डियन एण्टीक्वेरी, 1918, भाग 47, पृष्ठ 136-37
31. सांकलिया, एच.डी. : आर्कियोलॉजी ऑव गुजरात, बाम्बे, 1941, पृष्ठ 163
32. सूर्यशतकम्,मयूर, पूर्वोद्धृत, श्लोक 88,

    कैलाशे कृत्तिवासा विहरति विरहत्रासदेहोढकान्तः

    श्रान्तः शेते महाहावधिजलधि विना छद्मना पद्मनाभः।।

योगोद्योगैकतानो गमयति सकलं वासरं स्वं स्वयंभू-

र्भूरित्रैलोक्यचिन्ताभृति भुवनविधौ यत्र भास्वान्स वोऽव्यात्।।

33. पाण्डेय, चन्द्रदेव : पूर्व मध्यकालीन भारत में सूर्योपासना : ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य (7वीं - 13वीं शताब्दी ई.) शीर्षक लेख, पृष्ठ 161-168, भारती, बुलेटिन ऑव द डिपार्टमेन्ट ऑव ऐन्श्येन्ट इण्डियन हिस्ट्री, कल्चर एण्ड आर्क्योलाजी, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी, वाल्यूम 22, 1995-96 में प्रकाशित

34. उपाध्याय, वासुदेव : सोसिओ रेलिजस कन्डीशन ऑव नार्थ इण्डिया, वाराणसी, 1964, पृष्ठ 31, 258

35. एपिग्रॉफिया इंडिका : भाग 16, पृष्ठ 13, 1 17-18, भास्कर-पूजा पुरस्सर

36. श्रीवास्तव, विनोदचन्द्र, सन वरशिप इन एन्श्येन्ट इण्डिया, इलाहाबाद, 1972, पृष्ठ 391

37. पाण्डेय, लालता प्रसाद : सन वरशिप इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, दिल्ली, 1971, पृष्ठ 80

38. एपिग्रॉफिया इंडिका, भाग 14, पृष्ठ 178, वही भाग 5, पृष्ठ 212

39. महेन्द्रपाल द्वितीय का प्रतापगढ़ अभिलेख, विक्रम संवत् 1003, एपिग्रॉफिया इंडिका, भाग 14, पृष्ठ 182

□□

Rudra Candra (The Poet) : An Identification*

Sudarshan Kumar Sharma

In *Āryāsaptaśatī*[1] Viśveśvara Pāṇḍeya refers to Rudracandra Nṛpati whom he has declared as Pravarasena in corporeal form. Much controversy is already prevalent regarding the identity of Pravarasena and his authorship of *Setur bandha*. A critical review here is being undertaken to arrive at the exact personality of the King Poet.

Viśveśvara Pāṇḍeya' in the *Svopajñaṭikā'* says on verse 61 as under[2] :

"Formidable equipped with all the constituent components of the army that belonged to which one that same king Pravarasena, the composer of *Kāvya : Setu-bandha* by whom a causeway had been created in the form of the traditional heredity of the world, sponsored by the affection or devotion of the people, the one being a veritable ocean having up-surge of the ambrosia in the form of poetry being (Originally) King Rudra Candra having assumed the honorific title of Praversena was the king master of Formidable Army.

Dhanapāla in Introductory verse 35 on *Tilakamañjarī* mentions Rudra as the author of *Trailokya-Sundarī* and in verse 22 he refers to Pravarasena being a distinct person whose fame is associated with the *"Setuvāṅmaya-vāridhi"* i.e. *Setubandha-Kāvya*.

> *Jitaṃ Pravarasenena rāmeṇeva mahātmanā/*
> *taratyupari yatkiñcit setuvāṅmaya-vāridheḥ//* [5]

In verse 36 Dhanapāla[6] mentions *Kardamarāja*, the creator of *Sūktis* being the son of Rudra :

> *"Santu Kardamarājasya hṛdyā kathaṃ na sūktayaḥ/*
> *kavistrailokyasundaryāḥ yasya prajñā nidhiḥ pitā//'*

The ticklish point created by Viśvesvara Pāṇḍeya is the Identity of Rudra Candra *nṛpati* with Pravarasena, being Posterior to Dhanapāla who definitely takes two as distinct. Whether Rudra of *Tilaka-mañjarī* is the Rudra Candra of Viśveśvarapāṇḍeya, shall pose a waxed problem. Vācaspati Gairolā, in History of Sanskrit Literature, says :

"The śakarāja of *Harṣacarita* and *Devicandra*[7] Gupta whom Candragupta

*. Paper presented at 44th session of the All India Oriental Conference, Kurukshetra University, Kurukshetra.

Vikramāditya in his callow yauth had killed most Probably was the *Śaka* king Rudra Siṃha whose coins in great number have been located. Candragupta II Vikramāditya is well known as 'Śakāri ' the enemy of śakas. Dr. Budh Prakash[8] calls him *"Basāna"*. Daṇḍi[9] in *Kāvyādarśa* I -34 has mentioned *setubandha* as an ocean of the gems in the form of sweet sayings and Bāṇa[10] in his *Harṣa-carita* says : "The fame of *Pravarasena* refulgent like a lily went over to the furthest shore of the ocean like the army of monkeys, by a bridge; the fame went beyond the ocean by the *setubandhera Kāvya*, the composition of Pravarasena. The author of Avanti - *Sundarī*[11] (ASK) Introduction verses 12 and 13 refer to Rājñā- Śrī-Sarvasenena" and

seturūpeṇa tiṣṭhanto loke sadvastūdarśinaḥ./

Ṣaṭpañcāśat pramāṇatvam gatā naḥ kavipuṅgavaḥ"//

Dr. V. V. Mirashi[12] in his Article entitled" "Thalner plates of the Vākāṭaka Hariṣeṇa" referring to the *Vatsa-gulma* branch of the *Vākāṭakas*, has mentioned descending dowm from Pravarsaena I (275 AD - 335 AD) :

|

Sarvasena I (Son)

|

Vindhyaśakti II (Son)

|

Pravarasena II (Son)

|

Sarvarasena II : name lost recovered (Son)

|

Devasena (Son)

|

Hariśeṇa (Son)

Taking *vindhyaśakti* as the Progenitor of the lineage (225 AD - 275 AD) having 2 pravarasenas and 2 Sarvasenas following him.

Dr. A.S. Altekar[13] in Gupta-Vākāṭaka Age calls Rudrasena I (335 AD to 360 AD) as grandson of Pravarasena; Pṛthivsena I son of Rudrasena I (360 AD to 385 AD) as followed by Rudrasena II (385 - 390 AD) with regency of Prabhāvatī Guptā (390 - 410 AD) having Pravarasena II (AD 410-440), Narendrasena (440 to 460 AD), Pṛthvīṣeṇa II (AD 460 - 480 AD) followed by Hariṣeṇa of Basim Branch.

Dr. Altekar[14] mentions Sarvasena a younger son of emperor Pravarasena I having founded the Basim (*vatsagulma*) branch in 330 AD : Pravarasena I having a reign period of 60 years, Sarvasena had a shorter reign. Dr. Altekar assigns *Vindhyaśakti* son of sarvasena a longer reign (50 years). Dr Altekar also mentions a nameless King succeeded by his son Devasena-succeeded by Hariṣeṇa. Dr. V.V. Mirashi[15] has named this king as Sarvasena II. Sudhākara Chaṭṭopādhyāya refers to Rudrasena I, married to Prabhāvatī Guptā, daughter of Candra Gupta II Vikramāditya and also refers to the nameless king of *Vatsagulma* branch.

Dewan Bahadur Dr. Krishna Swami Aiyangar[16] in "Ancient India and South Indian History and Culture" (AIASIHAC) also gives a combined geneology of the Nandivardhana and Vatsagulma Branch of Vākāṭakas as under :

Vindhyaśakti
|
Pravarasena
|
Gautamīputra (did not rule)
|
Rudrasena I
|
Rudrasena II
|
Divākarasena
|
Pravarasena II (Dāmodrasena)

Name gone in the Ajanta 2 Inscription's	Narendrasena
Given as Sarvasena II by V. V. Mirashi	Pṛthviṣeṇa III
As per Thalner plates	

|
Devasena
|
Hariṣeṇa

Poona copper-plate grant[17] of Prabhāvatī Guptā Vākāṭakā and Riddhapura[18] copper-plate of Pravarasena II mention — Rudrasena Vākāṭaka King as the husband of Prabhāvatī Guptā, the mother of Divākarasena and Dāmodarasena

alias Pravarasena with Pravarasena as the Emperor of Vākāṭakas succeeding Prabhāvatī Guptā who acted as regent. Cammaka Panegyric of Pravarasena II also refers to Paravarasena II as the ruler of Vākāṭakas :

"Vākāṭakānāṃ Mahārāja Śrī Rudra-senāgra-mahiṣī Śrīdivākarasena-jananī PrabhāvatīGuptā and *Vākāṭakānāṃ Mahārāja Śrī Rudrasenāgra mahiṣī vākāṭakānām mahārāja ŚrīDamodarasena Pravarasenajananī"* and *vākāṭakānāṃ mahārāja Śrī Pravarasenasya"* with :

> *"Vākāṭakālalāmasya Krama - prāptanṛpa - śriyaḥ/*
> *rājñaḥ Pravarasenasya śāsanaṃ ripuśāsanaṃ//"*

of commaka Inscription afford a cue to the surmise that Pravarasena appearing as *Rudra Candra Nṛpati* of Viśveśvara Pāṇḍeya may be Pravarasena, son of Rudrasena II (AD 385 - 390) having regency of Prabhāvatī Guptā, the mother, Divākarasena having died during the reign Period of Rudrasena II having his reign Period as AD 400 to 440 AD having contemporaneity of Kālidāsa whom Candragupta II Vikramāditya sent as ambassador to the court of *Rāṣṭra-Kūṭa* King Devarāja, having his great grandson Narendrasena Vākāṭaka Prince married to Ajita -Bhaṭṭārikā, the Kuntala Princess as per evidence of Bālāghāṭa Plates[20]. Rāmadāsa[21] in his commentary on *setubandha* refers to Vikramāditya ordaining Kālidāsa to compose *setubandha* on behalf of Pravarasena Mahārāja.

Dr. R.S. Tripathi[22] in his HOAI identifies Rudradeva of Allahabad stone pillar inscription[23] (Line 21) and endorses the point of matrimonial tie of Prabhāvatī guptā with Rudrasena II Vākāṭakā, grandson of Rudrasena I and son of Pṛthviṣeṇa, being daughter of Candragupta II from Kuberanāgā the Nāga princess. He gives the chronology of Vākāṭakā-kings as under :

Vindhyaśakti

|

Pravarasena I (Pravīra of Purāṇas)

|

(Son) Gautamīputra marrying the one Bhāraśiva Princess
daughter of Bhavanāga (not ascending the throne)

|

Paravarasena II, the grandson of Pravarasena I

|

Pṛthvīṣeṇa

|

Rudrasena II, son-in-law of Candragupta Prabhāvatīguptā acting as regent

on behalf of her minor sons. Several kings followed and last one was Hariṣeṇa, Dr. D. S. Trivedi[24] in his Indian Chronology (823 BC to 1963 AD) has thoroughly bungled with the chronology of Vākāṭakās assigning the period 326 BC to 126 BC by intermingling the rules of Śātakarṇis and Gupta Dynasty and has placed Gupta Dynesty before the Alexandrian invasion.

Dr. Krishnaswamy Aiyangar in[25] AIASIHAC also gives chronology of vākāṭakās as under :

Vindhyśakti
|
Pravarasena I
|
Gautamīputra (did not rule)
|
Rudrasena I
|
Pṛthviṣeṇa I
|
Rudrasena II
|
Divākarasena
|
Pravarasena II

Pravarasena II → Name not in Ajantā record | Narendrasena I

Name not in Ajantā record
|
Devasena
|
Hariṣeṇa

Narendrasena I
|
Prithviṣeṇa II

Sudhākara Caṭṭoppādhyāya[26] in his EHONI gives the chronology of *vākāṭakās* main Branch as under :

Vindhyaśakti
|
Pravarasena I

Pravarasena I → Gautamīputra | Sarvasena

Rudrasena I

Pṛthviṣeṇa I

Rudrasena II — married to Prabhāvatī Guptā, daughter of candragupta II

1. Divākarasena 2. Dāmodarasena alias Pravar Sena II

Narendrasena

He gives *vatsagulma* branch[27] as under :

Vindhyśakti II

Pravarasena II

Name unknown given as sarvasena II by V. V. Mirashi (Thalner plates)

Devasena

Hariṣeṇa

Dr. A. S. Altekar[30] assigns AD 385 - 390 as the reign period of Rudrasena II married to Prabhāvatī Guptā and 390-410 AD as the regency period of Prabhāvatī Guptā on behalf of her minor son who on maturity became the king and ruled from AD 410 -440.

Dr. A.S. Altekar assigns an age of 75 to Prabhāvatī Guptā who lived for 25 years during the accession - reign period of Pravarasena II (P 105 GVA).

Dr. Altekar refers to Divākarasena the elder son of Rudrasena II having died in the 13th year of mother's regency and Dāmodarasena, the younger son assuming the title as Pravarasena II having ruled from AD 410 - 440 (P 104 GVA).

Dr. Sudhākara Caṭṭopādhyāya has created a confusion by giving 3 names serially on P - 257.

Rudrasena II — married to Prabhāvatī Guptā, daughter of Candragupta II

6. Divakarasena 7. Dāmodara sena 8. Paravara sena II

Which can give the idea of Pravarasena II being the third son of Rudrasena II against the view of Dr. A.S. Altekar.

Verses 61, 62 of the *Prācīna Kavikīrtana* of Viśveśvara Pāṇḍeya evidently prove Rudra Candra Nṛpati and Pravarasena as the two variant names of one and the same person.

Dr. K. K. Handiqui[29] eliminates Pravarasena I and II of Kāśmīra mentioned by Kalhaṇa in his *Rāja-taraṅgiṇī* III 97 :

"Atha Kṣamā-bhṛdrarakṣa Kṣamām śreṣṭhasenastadātmajaḥ pravarasenaṃ yaṃ Tunjinam cāñ-jas-ā janāḥ. Whose real name was *"śreṣṭhasena"* known also as Pravarasena and Tuñjīna. The second one was his grandson and much more important a ruler whom Kalhaṇa deals with in III 106 - 378 (PP. 46 - 65 RTPE and 27-38 M.A steined) assigned to 6th century A.D. having no literary activity to his credit.

Dr. Kailāśa Candra Jaina in his "Mālwā through the ages[30] quotes Indian tradition quoting Kālidāsa as the original author of *Setubandha* naming the *Prākṛtakāvya* as the work of Pravarasena II, *Vākāṭaka* king whom Dr. V. V. Mirashi definitely[31] establishes as the second son of Prabhāvatī-Guptā", Vākāṭakā, the dowager queen of Rudrasena II, the first being Divākarasena (AD 405 - 420) and the second one originally named as Dāmodarasena having ruled from (AD 420- - 450 AD) father of Narendra sena (AD 450 - 470) and grand father of Pṛthvīṣeṇa (470 34 - 490 AD), the only king known as credited with Poetic composition.[32]

Dr. V. V. Mirashi[33] takes Devagupta as the variant name of Candragupta II Vikramāditya on the evidence of Poona and Riddhapura copper plate grants of Prabhāvatī Guptā Vākāṭakā daughter of candragupta II Vikramāditya and wife of Rudrasena II Vākāṭakā, mother of Divākarasena and Dāmodarasena alias Pravarasena II, the established author of *Setubandha*.

The point of Pravarasena being incorporeal form as king Rudra Candra in *Āryāsaptaśatī* of Viśveśvara Pāṇḍeya, being the author of *setu (bandha)* in verse 61, may be Pravarasena II, Vākāṭakā daughter's son of Candragupta II, Vikramāditya alias Devagupta.

Since Dr. V. V. Mirashi[34] quotes Ancient Sanskrit Poets as Karṇa (229 - 239 AD), Sarvasena (330 - 355 AD), Pravarasena[35] (420 - 455 AD) Mānāṅka (AD 375 400 AD), Devarāja (400 AD - 425 AD) and Vākpatirāja (725 - 750 AD), we can presume the identification of Rudra Candra alias Pravarasena of Viśveśvara Pāṇḍeya as Pravarasena II Vākāṭakā grandson of Sarvasena I and father of Sarvasena II unnamed as undecipherable in Ajanta cave XVI inscription disciphered and identified as per Thalner plates[36] of Hariṣeṇa by V.V. Mirashi Precluding the possibility of construal of Rudrasena I and Rudrasena II of Nandi Vardhana Branch as Rudra Candra evidently taken as Pravarasena by Viśveśvara pāṇḍeya.

Since Sarvasena I, son of Pravarasena I, founder of Vatsagulma Branch (AD 330-350 or 355) has been declared as the author of *Prākṛta-Kāvya : Harivijaya*[37] as per the evidence of Bhuvanapāla's commentary on *Gāthāsaptaśatī* being the author of *gāthās* 502, 503, 217, 234, followed by Pravarasena II (AD 420 - 455) there can be little doubt in the point of taking Pravarasena II originally Dāmodarasena, younger brother of Divākarasena, son of *Prabhāvatī Guptā* Vākāṭakā son of Rudrasena II (385AD to 390 AD) as Rudra Candra of Viśveśvara Pāṇḍeya who came to know the nickname from some reliable source as he came to know the name of son of Bāṇa Bhaṭṭa as Abhinanda in his verse 51 of the *Prācīna Kavikīrtana*[38] :

"Sahajenādbhutajanakaḥ
sahajayati Kādambarī-Kṛdabhinandaḥ/
Yasya janako pibāṇaḥ
Taṃ prati naivānyathāsiddhaḥ.//

REFERENCES

1. Verses 61, 62, P 32 Sanskrit Parishad Granthāvali 13/A/l 0, The Sanskrit Academy, Osmania University, Hyderabad 50000, First Edition, 1966

   Baddhānurāga Garbhitasetuḥ
   Kavitāsudhodayodanvān /
   Śrī Rudracandranṛpatir
   Vibhāti sākṣāt Pravarasenaḥ //
   And
   Avikala-kalāKulamayaḥ -
   Parihīna bhujaṅga-nimnagāsaṅgaḥ /
   Prabalayati RudraCandraḥ
   Kutukodanvantam Ullasat Kavitāḥ //

2. *Pravarā Sarvāṅgasampannā senā yasya atha ca Pravarasenarājā setu kāvyaKāraḥ. Atha ca baddho Janānurāga Puraḥsaraḥ Seturloka maryādārūpo yena"*, Ṭīkā'l LL 1-3, p 32
3. *Kavitā Sudhodayodarivān" Kāvyāmṛtodbhāvakaḥ samudraḥ" Śrī Rudra Candraḥ nṛpatiḥ Śrīmān Rudracandraḥ rājā pratīyate vapuṣmān Pravarasena eva"*
4. *"Saḥ madāndha Kavidhvaṃsī Rudraḥ Kairnābhinandyate Suśliṣta Laliṭā Yasya Kathā Trailokyasundarī"*, Tilakamañjari, p 3, L. D. series 110. edited by Dr. N. M. Kansara, Director Maharashi Academy of Vedic Sciences Ahemedabad, L.D. Institute of Indology, Ahmedabad 38, First edition, 1991 July (NMKE) also P.31, Text with *parāgaṭīkā*

vijayalāvaṇyasūrīśvara śrīvijayalāvaṇyaśurīśvara Mandire Botāda saurāṣṭra 1957 And P.5 edition of paṇḍita Bhavadatta śāstrī and Kāśinātha Pāṇḍuraṅga *Paraba,* Second ed. 1938, Nirṇaya sāgara press edition, Bombay

5. P.2, NMKE. P. 24 VLSE Parāgatīkā Boṭaḍed, NSPE p.31
6. NMKE p3: VLSE Boṭada p32 NSPE p5
7. HSL. Vidyābhavana Rāṣṭrabhāṣāgrantha-mālā- 28, Caukhambā Vidyābhavana, Vārāṇasī, 1960
8. Aspects of Indian History and Civilization, P 76 (AOI- HAC), Shiv lal Aggarwal and Co. (Pvt. Ltd.), Educational Publishers, Agra, First ed. 1965
9. Mahārāṣṭrāśrayā*ṃ* bhāṣām Prakṛṣṭam Prākṛta*ṃ* viduḥ.
   sāgaraḥ sūktiratnānām setubandhādiyan-mayam." p.17, edited by V. Nārāyaṇa Ayyar, Printed by - Messrs V. Veṅkaṭeśvara Śāstrulu for V. Rāma-swamy śāstrulu and sons at their Vāvillā Press, Madras, 1964
10. Kīrtiḥ Pravarasenasya Prayātā Kumudojjvalā.
    sāgarasya paramparāṃ Kapi-Seneva Setunā" H.Ç. JNVSE P.II, Verse No. 15, p.2, verse No. 14, PVKE p.5, NSPE and JNPE p.8
11. P3 śūranāḍ Kuñjana Pillai University, Travancore series 172, 1954 edition.
12. P. 242, Recent Studies in Sanskrit and Indology being Jagannātha Aggarwal Felicitation Volume, edited by Dr. Dharmendra Kumar Gupta Ajantā Publications, Jawahar Nagar, Delhi 110007, 1982 edition
13. PP. 90 - 110, edited by Dr. D.C. *Sircar* and A.S. Altekar, Moti Lal Banarsi Dass, Bungalow Road, Jawahar Nagar, Delhi, Banaras and patna, reprint ed, 1954
14. Ibid. pp. 110-112
15. pp. 257-258, EHONI i.e. Early History of Northern India, Moti Lal Banarsi Dass, Delhi, 1976 ed. 3rd revised edition
16. P. 133, Volume I, Ancient India, 'Oriental Agency, Poona, 1941 edition Poona Oriental series, No. 74

17-18. A study of Ancient Indian inscriptions by Dr. Vāsudeva Upādhyāya, Moti Lal Banarsi Dass (MLBD), New Delhi 11007, 1961 edition, pp. 120 - 122, *Mūlalekha* portion

19. I bid, p. 122, *Mūlalekha* portion
20. Studies in Indology, volume I, pp. 10-11, published by Vidarbha *samśodhana maṇḍala*, 1960 edition, Dr V.V. Mirashi.
21. *"iha tāvan mahārājapravarasenanimittam Mahārājādhirāja vikramādityenājñapto nikhila kavicakra cūḍāmaṇiḥ kālidāsamahāśayaḥ.*

setubandha-prabandham cikīrṣur-nirvighna-samāptyartham rāma-candrā-tmaka-madhu-mathana-rūpābhīṣṭadevatānamaskārāpādeṣa-mukhena maṅgalamācarannāha." setubandha P.3 edited by Paṇḍita Śivadatta Oriental College, Lahore. And Kāshinātha pāṇḍuraṅga paraba. Bhāratiya Vidyā prakāśan, 1, U.B. Jawahar Nagar, Delhi - 110007, 1982 edition

22. p. 74, MALI (Historical and Literacy Inscription by Dr. Rāja Bali Pāṇḍeya Caukhaumbā Sanskrit series office, Vārāṇasī I, 1962 ed, volume 23, Caukhaumbā Sanskrit studies and p. 48 ASOAII Dr. Vāsudeva Upādhyāya
23. Bhāratīya vidyā Bhavana (1903) Bombay, p. 26
24. Ibid, p-114
25. Name Given as Sarvasena II by Dr. V.V. Mihashi as per Thalner grants quoted earlier also p.29, pp. 122 - 123
26. Ibid, p.257
27. Ibid, p. 258
28. Pravarasena's setubandha, prākṛta texts series, No. 20, edited by P.L Vaidya, D.D. Malvania and H.C. Bhayani Prākṛta text Society, Ahmedabad 350069 and Vārāṇasī-5 (221005), 1976 ed, Introduction p. 18 fh 2.
29. *Rājatarāṇgiṇī* III 97 p.45 Rāma Teja Pāṇḍeya ed. Chaukhaumbā Sanskrit Pratiṣthāna, Jawahar Nagar, Delhi 110007, 1985, p. 27, M.A. stein ed Munshi Ram Manohar Lal, Nai Sarak, Delhi 6, Second edition 1960.
30. MLBD, Delhi 110007, 1972 edition, p. 297,
31. Studies in Indology, Volume I, P.25 fh 4., The Vidarbha saṃśodhana maṇḍala, Nāgapura, 1960 ed.
32. Ibid, p. 98, 170
33. Ibid, Vol. pp. 169, 221
34. Ibid, Vol. I, p. 86, The Date of *Gāthāsaptaśatī*
35. A.S. Altekar, taking reign period as AD 410 - 449 in Gupta Vākāṭakā age, p. 105, Moti Lal Banarsi Dass, Nepali Khapra, Banaras, 1954 edition
36. Recent studies in Sanskrit and Indology by Dr. D. K. Gupta, Ajantā Publishers, Jawahar Nagar, Delhi, 1982, p, 242.
37. *S* II, p. 82, vide Sarvasena
38. Āryāśaptaśatī, p. 26

□□

Was there any race called *Ārya* ?

Indulata Das

Introduction

In Indian history there is a great debate on the issue, whether the *Āryas* were outsiders who invaded the country and settled here after subjugating the natives, or they were the original inhabitants of the land? The theory that *Āryas* were alien invaders has been strongly propagated throughout the world and our children start learning their history from this episode. But opposition to this theory is quite vehement.

But confirmation or denial of the "invasion of *Āryas*" can be accomplished only if it is backed by the minimum proof that there was ever a race called *Ārya*.

India is not a country without a recorded history of her hoary past as many uninformed people ventilate. On the contrary India is perhaps the first country in the whole world to have started the tradition of recording the past happenings with the most appropriate name *Itihāsa* (इति + ह + आस) which means 'it so happened'. And our earliest history is recorded in two great works called *Rāmāyaṇa* and *Mahābhārata*. The fact that the two books are works of history *(Itihāsa)* and not mere fictions has its proofs in the same books[1] and widely in other works written subsequently[2]. The whole Indian tradition has unanimously accepted the duo as the earliest historical works although written in epical form which was the prevalent style for writing history in the then India.

It is most important to note that there is absolutely no mention of any race called *Ārya* (or any such invasion) in any of the two voluminous historical works although the word *Ārya* has been adequately used in the books. This absence is self-explaining and is more than sufficient to end all speculations regarding the so called *Ārya*n invasion in Indian history.

Yet many more evidences have been collected here from various sources only to provide more ballast to the truth.

Among all evidences to establish a theory, apart from a recorded history, literary evidence is the most powerful and most reliable one, because other evidences like the archeological proof etc. have their utter limitations. Conjectures based on reminiscences found by archeological explores may be insufficient and misleading because physical remains of a civilization ruined by the ravaging time cannot be a strong proof for establishing or denying any incident supposed to have or have not

taken place thousands of years back.

On the other hand, literature is one of the best record-keepers of time. Literature of a land reflects the history, geography, culture and traditions in an unfailing way. Trying to recover a history from a hoary past absolutely on the basis of its physical remains without heeding to the available literature may not be full proof. Therefore, it is highly desirable to look at the literature of the land to find out the foot-prints of the lost past. In this regard the grand Indian literature has to be explored in order to discover the real entity of the *Ārya* and then only it could be concluded if there was any invasion or not. And fortunately the huge gamut of hoary Indian literature has profusely used the word *Ārya* in it.

(As mentioned earlier, *Rāmāyaṇa* and *Mahābhārata* are the two historical works written in epic form. Hence the duo will be quoted as literary proofs in addition to their historical attestation.)

Analysis and Definition of the Word *Ārya*:

The disintegration of the word *Ārya* may be done as follows : ऋ + ण्यत् = आर्यः . This may be explained as : अर्तुं सदाचरितुं योग्यः (A person whose conduct is good) or अर्तुं प्रकृतमाचरितुं योग्यः (A person who performs right actions) is an *Ārya*.[3]

Vāchaspati disintegrates the word *Ārya* as आरात् + यत् = आर्यः, which is explained as : आरात् धर्मात् वर्तते इति आरात् + यत् - आर्यः[4] A person who remains in righteousness is called *Ārya*.

Jagaddhara, the famous commentator of the drama *Mālatimādhavam* explains the word as : आरात् याताः दूरं गता ग्राम्यत्वादिदोषेभ्यः इति आर्यः[5] (A person who is away from weaknesses like crudeness etc. is called *Ārya*)

The thesaurus *Amarakoṣa* mentions *Ārya* obviously to mean a civilized man and a person of good conduct and groups it with words like *Mahākula, Kulina, Sabhya, Sajjana* and *Sādhu* as synonyms of *Ārya* : (माहाकुलकुलीनार्यसभ्यसज्जनसाधवः)[6].

The universally accepted definition of *Ārya* forwarded by Vasiṣṭha is :

कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्रकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः ।।[7]

(A person who performs his duties and avoids non-duties and always adheres to good moral conduct is known as *Ārya*.)

Bharata defines *Ārya* as follows :

कुलं शीलं दया दानं धर्मं सत्यं कृतज्ञता ।
अद्रोह इति येष्वेतत् तान् आर्यान् संप्रचक्षते ।।[8]

(Persons who have good pedigree, good conduct, compassion, charity, righteousness, truthfulness, gratitude, non- animosity are called *Āryas*.)

The *Śabdaratnāvali* also defines *Ārya* as a person who is respectable, great, and wise.[9]

Manu, the designer of Indian society and the earliest law-maker of the land has used the word *Ārya* frequently in his treatise exclusively to mean a righteous civilized person and nothing else. *Āryas* and *Anāryas* (non-*Ārya*) are determined according to their deeds, he asserts : आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत्.[10]

(Even if a person poses to be an *Ārya,* can be understood by the actions he performs.)

Thus, from the available definitions and synonyms of *Ārya* there is no evidence that *Ārya* ever meant a race.

USES OF THE WORD *ĀRYA*

- As mentioned above the word *Ārya* has been profusely used in the Indian literature, especially in the ancient one. Having discussed the definitions and synonyms of the word *Ārya,* it is pertinent now to analyse the uses of *Ārya* to find out if the same indicate to any race.

1. An Address of Reverence :

The word *Ārya* is used to show one's utter respect to a person. For example, in *Rāmāyaṇa* Bharata, the younger brother of Rāma, addresses him as *Ārya* :

दुःखातितप्तो भरतो राजपुत्रो महाबलः ।
उक्त्वार्येति सकृद् दीनं पुनर्नोवाच किञ्चन ।।[11]

(The mighty prince Bharata moved by sorrow could only utter 'Oh *Ārya*' and could not speak anything else.)

The word *Ārya* is also used by Lakṣmaṇa for addressing Rāma with respect : आर्य ! अथ किम्[12] (Yes, *Ārya* !)

Lakṣmaṇa is also called *Ārya* by others : आर्य लक्ष्मण! सम्प्राह वीरो दधिमुखः कपिः ।[13] (The valorous monkey Dadhimukha said, "O *Ārya* Lakṣmaṇa!")

The Kañchuki (an elderly officer posted in the harem for looking after the royal ladies) is addressed as *Ārya* by prince Rāma, when he is a boy. [14]

The word Ā*ryā* (आर्या) which is the feminine gender of *Ārya* is also used to express one's respect to the lady. For example, Hanumān mentions Sitā by affixing *Āryā* to her name :

आर्यायाः सदृशं शीलं सीतायाः प्लवगर्षभाः ।
तपसा धारयेल्लोकान् क्रुद्धा वा निर्दहेदपि ।।[15]

(O monkeys, the moral character of Sitā is so powerful that it can sustain the world if she is pleased and burn if angered.)

Bharata also mentions Sitā as *Ārya* (आर्या). आर्यासहायमहमद्यगुरुं दिदृक्षुः[16]

(Today I wish to have an audience of my elder brother along with Āryā Sitā.) The dance guru is called *Ārya* by the attendants in the drama *Mālavikāgnimitra* (आर्य! वन्दे)[१७].

Thus the whole Sanskrit literature would show that *Ārya* was an address or a prefix used to show one's deep reverence. This theory is fortified by the evidence that no junior has ever been called *Ārya* by the senior. For example Rāma has been called *Ārya* by Lakṣmaṇa and Bharata etc. but not the vice versa. Had the word *Ārya* been used to mark the birth of a person to an *Ārya* family then there should not have been the discrimination of senior and junior. If Rāma could be called *Ārya*, because he belonged to a certain race, Lakṣmaṇa could have been called *Ārya* by Rāma for the same reason. But certainly Lakṣmaṇa is called *Ārya* by his juniors not by seniors like Rāma.

2. An Ideal Person in the Society :

The word *Ārya* is used to mean a person whose behaviour is ideal for the society. For example, when a depressed Arjuna wants to withdraw from the war with the Kauravas, Lord Krishna denounces his action as adverse to the action of an *Ārya* : अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन[18] ! (O Arjuna, your action is against the norms of an *Ārya*, non- giver of heaven and will incur bad name.)

The *Kāmandakīya-Nītisāra* gives a very unique definition of *Dharma*. According to it, the action which is praised by the *Āryas*, well-versed in the *Vedas* is *Dharma*. That which is denounced by them is *Adharma*.

(यमार्या क्रियमाणं हि शंसन्त्यागमवेदिनः।
स धर्मो यं प्रशंसन्ति तमधर्मं प्रचक्षते।।)[19]

3. An Address for Father in Law and Mother in Law :

The word *Ārya* has been used as an address for the father-in-law and mother-in-law by the daughter-in-law. For example Sitā addresses her mothers- in- law as Ā*ryās*. आर्याः वन्दे[20] (I bow down to you, O *Āryas*).

Naturally the word "*Āryaputra*" (son of *Ārya*) is used as an address of the husband by the wife irrespective of her caste and lineage. For example, Hidimbi, the demoness calls Bhīma as '*Āryaputra*'.[21] There is no restriction for any class or caste in using the word '*Ārya*' or "*Āryaputra*" for the parents in law and the husband.

4. A Common Word for *'Naṭī'* and *'Sūradhāra'* :

In Sanskrit dramas the *Naṭī* and *Sūtradhāra* are two characters seen in the beginning who introduce the subject matter of drama through their conversation. The *Sūtradhāra* addresses the *'Naṭī'* as *Āryā* (आर्या) and the *Naṭī* addresses the *Sūtradhāra* as *Ārya* (आर्य). It is a rule in dramaturgy : वाच्यौ नटीसूत्रधारावार्यनाम्ना परस्परम्[22] (The *Naṭi* and *Sūtradhāra* should address each other as *Āryā*.) Sometimes she is also found calling him *Ārya*putra.[23]

4. An Address for Grand Father :

The word *Āryaka* (आर्यक) which is derived by suffixing कन् to the word *Ārya* means grand father[24]. The suffix कन् is used to mean the same thing as the original word (स्वार्थे कन्). For example *Bāla* (बाल) is made *Bālaka* (बालक) and the meaning is same. Thus the meaning of *"Āryaka"* is same as *"Ārya"* but the word in this particular form is specifically used for meaning grandfather.

5. An Address for the Audience :

"Āryamiśra" is an address for the respectable gathering congregated for viewing a drama. In almost all the dramas of Bhāsa the *Sūtradhāra* is found saying : एवमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि. The word *"Āryamiśra"* is a mixture of two words *"Ārya"* and *"Miśra"*. The meaning of *Ārya* is as before and *Miśra* is a word usually affixed to respectable persons.

5. An Address for the General Public :

Ārya has been an address of the general public. For example during the movement of a royal member the public is addressed to give passage as follows : उत्सरत उत्सरत आर्याः[25] ! (Side please gentlemen!).

Had *Ārya* been a race, the general public could not have been called *Āryas* without knowing whether it consists of any non-*Ārya* or not.

7. Address for Any body Unintroduced :

Ārya is an address for any person not introduced so far. For example when Duṣyanta, clad in simple attire is first seen by the girls in the hermitage of Kaṇva he is addressed *'Ārya'* before knowing who he is.[26] *Ārya* is an address like "sir" or "gentleman".

8. The Use of "*Ārya*" and "*Anārya*" for Members of the Same Family :

In Indian literature there are such significant uses of *Ārya* which categorically rejects the theory of *Ārya* as a race because the word *Ārya* and *Anārya* have been used for two members of the same family. Here are some examples :

(a) Śakuni, the brother of Gāndhāri and the king of Sindhu is called *Anārya* by Droṇa : शकुने! त्वदनार्यभावात् सर्वलोकमनार्यमिति मन्यसे ।[27] (O Śakuni, because you are an *Anārya* you think the whole world to be *Anārya*.)

At the same time Gāndhāri, the sister of Śakuni is called *Āryā* in another drama written by the same dramatist Bhāsa.[28] Had *Ārya* been a race a brother could not have been a non-*Ārya* while the sister is *Āryā*.

(b) The hundred Kaurava-brothers, the sonṣ of *Āryā* Gāndhārī have been called *Anārya* by Ghaṭotkaca : अये अत्रभवान् धृतराष्ट्रः अनार्यशतस्योत्पादयिता[29] (O you are the Dhṛtarāṣṭra, the father of one hundred *Anāryas* !)

Had *Ārya* been a race the sons of an *Ārya* could not have been called *Anārya*.

(c) As mentioned above Rāma is called *Ārya* by Bharata but the same Bharata is calling *Kaikeyi* an "*Anāryā*" because of her undesirable behaviour : ऐश्वर्यकामां कैकेयीमनार्यामार्यरूपिणीम्[30] (Kaikeyi who hankers after wealth is an *Anāryā* in the form of *Āryā*).

9: Use of "*Ārya*" and "*Anārya*" for the Same Person

Had *Ārya* been the name of a race — a person who is an *Ārya* must have remained *Ārya* all the time. But there are examples when the same person is addressed "*Ārya*" and "*Anārya*" according to his good and abominable behaviour. For example Duṣyanta is called *Ārya* in the first act of the *Abhijñāna-Śākuntalam* but is called *Anārya* in the fifth Act of the same play when he does not accept *Śakuntalā*, his married wife.[31]

b) Rāvaṇa, the son of a sage is called *Anārya* by Sitā:

किं स्विद् वीर्यं तवानार्य ! यो मां भर्तुरसंनिधौ ।
अपहृत्यागतः पाप तेनादृष्टो महात्मना ।[32]

(O *Anārya*, what is your valour in kidnapping me in the absence of my husband, who is a great soul and who could not see you.)

When Rāvana is advised by Vibhiṣaṇa to return Sitā he abuses Vibhiṣaṇa by calling him an *Anārya* and that the association of an *Anārya* is abominable.[33] If Rāvana is a non-*Ārya* himself he can't blame the association of a non-*Ārya*. This clearly means that Rāvaṇa posses himself to be an *Ārya* and blames *Bibhiṣaṇa* as a non-*Ārya*. This clearly means *Ārya* is not the name of a race or else two brothers that can't be *Ārya* and non-*Ārya* simultaneously.

10: Use of *Ārya* for Creatures Other Than Human Beings :

The word *Ārya* is not used for human beings exclusively. It has been used for

other creatures whenever there is the need to show respect to that particular being.

(a) In *Rāmāyaṇa* Jaṭāyu which is a vulture has been addressed *Ārya*. Sitā says:

जटायो! पश्य ममार्य ! ह्रियमाणमनाथवत् ।
अनेन राक्षसेन्द्रेणाकरुणं पापकर्मणा ।।[34]

(O *Ārya* Jaṭāyu ! see I am being kidnapped ruthlessly like an orphan by this sinful demon king.)

(b) Tārā, a female monkey has been mentioned with her name prefixed by *Āryā* in Rāmāyaṇa :

तस्येन्द्रकल्पस्य दुरासदस्य
महानुभावस्य समीपमार्या ।
आर्तातितूर्णं व्यसनं प्रपन्ना
जगाम तारा परिविह्वलन्ती ।।[35]

(Respectable Tārā who had fallen to great distress ran yelling to the great Indra-like formidable soul (Bāli).

(c) Kakubha, a monkey is addressed *Ārya* by another monkey Bilamukha.[36]

(d) Śaṅkukarṇa is a demon in Laṅkā who is addressed *Āryā* by his junior.[37]

These are only picked up examples. Hundreds of such uses are available in anskrit epics and dramas which prove beyond doubt that the use of the word *Ārya* not limited to human beings only. This certainly defies the theory that *Ārya* was the name of a race.

11. Use of *Ārya* for Non-Corporeal Things :

Ārya is not used for a corporeal being always. The word has been used for incorporeal subtle things like the mind, the nature of a man, the conduct of a person and the action of a person etc.

(a) For example, the action of a person is also called *Ārya* in *Mahābhārata* :

आर्यकर्मणि रज्यन्ते भूतिकर्माणि कुर्वते ।[38]

(Wise persons are always attached to "*Ārya*-actions" and perform actions which bring prosperity to them.)

(b) The mind of a person is called *Ārya* by Kālidāsa in *Abhijñāna Śākuntalam*:

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमां यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।[39]

(No doubt Śakuntalā is marriageable to a *Kṣatriya* because my *Ārya* mind is coveting her.)

c) The conduct of a person is also called *Ārya* in *Mahābhārata*. Vidura defines a person with *Ārya*-conduct :

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ।।[10]

(A person who does not incite latent animosity, does not ride arrogance, does not wilt away, does not perform undesirable actions with the pretext that he is in distress is called a "person with *Ārya* conduct" by the *Āryas*.)

d) The word *Ārya* has been used to connote the conduct of a person:

नैतच्चित्रं नरव्याघ्रे शीलवृत्तविदां वरे।
यदार्य त्वयि तिष्ठेत्तु निम्नोत्सृष्टमिवोदकम् ।।[11]

(Just as water running downwards always gathers at the lowest point so also all the *Ārya* (good conduct) is gathered in you.)

e) The nature of a person may be *Ārya*. For example in *Rāmāyaṇa*:

स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ।[12]

(Husband is the supreme god for women whose nature is *Ārya*.)

Ārya and the *Dharmaśāstras* :

Dharmaśāstras, also known as *Smṛiti-śāstra* were the moral code of conduct as well as the penal codes of the country. The *ManuSmṛti* enjoyed the status of the constitution of India. Manu, the earliest law-maker has prescribed norms for all the classes of the society, for the four *Varṇas*, for the four *Āśramas*, for all the castes, for kings, for the subjects, for men, for women, for father, for sons, for daughters, for servants, for masters and what not. There is no system, no segment in the society for which Manu has not prescribed social and moral norms and duties. All the later *Smṛtis* have followed the standard norms of Manu. It is to be noted that Manu has nowhere prescribed any social or moral norms for the *Āryas*. Had there been a race called *Ārya*, Manu and his follower law-makers must have prescribed its duties and status in the society. It is impossible to think that the so called victorious race *Ārya* could have been excluded from the purview of the *Dharmaśāstras* which were obviously composed by *Āryas* themselves.

Ārya and *Āryāvarta* :

Another point which the protagonists of *Ārya*n invasion theory propagate is the relation between *Ārya* and *Āryāvarta*. *Āryāvarta* (the area between *Himālaya* and *Vindhya*), they hold is so called because it was inhabited by the *Āryan* race.

But this theory is absolutely erroneous, because there is no mention in the whole literature that a person is called *Ārya* because he is an inhabitant of Ā*ryāvarta*

and people outside that area are *Anāryas*. On the other hand *Āryas* (civilized) and *Anāryas* (wicked) were everywhere in the country and even outside. As mentioned above Kauravas and Kaikeyi, inhabitants of *Āryāvarta* were called *Anārya* where as demons of *Laṅkā* were addressed *Āryas*. Therefore, *Āryāvarta* was simply a name and its similarity with the word *Ārya* never meant that *Ārya* was a race who inhabited in *Āryāvarta*.

The Source of Misinformation :

Scanning the whole gamut of Indian literature, historical treatises and other supplementary aids from every possible angle, it is by now clear that there is no evidence to vindicate the existence of a race called *Ārya*. Now the question arises what is the basis of the theory that "the *Āryas* invaded the land and subjugated the natives"?

In fact, it is a sheer imagination which is based on failure of understanding of the real meaning of a few passages containing words like *Dasyu* and *Daśa* in the *Vedas*.

A token explanation of one such *Mantra* will dispel the misgiving.

One such example is the 8th *Mantra* of the 51st *Sūkta* of the 1st *Maṇḍala* of *Ṛgveda* in which god Indra is invoked and offered Soma. And a favour is requested to subjugate the *Dasyus*. The mention of *Ārya* and *Dasyu* in the *Mantra* is like this:

विजानीहि आर्यान् ये च दस्यवो ।[43]

(O Indra know who are the *Āryas* and who are the *Dasyus*.)

Basing on such expressions a wrong conclusion was drawn that the word *ısyu* meant the locals of India and *Ārya* mentioned in such *Mantras* were the ılien invaders.

As there is no evidence to substantiate that there was any race called *Ārya* so also there is no proof in the whole literature to indicate that there was any race called *Dasyu*. *Dasyu* means a bandit, a rubber who usurps others' property. Persons from any community or any caste can become bandits. For example, in the *Daśakumāracarita* there is the story of a Brahmin turned bandit[44].

The *Mantra* of *Ṛgveda*, mentioned above is a prayer to subdue the wicked. A society is healthy only when the wicked is subjugated. Even a book like *Bhāgavata* attests the same:

साधूनां भद्रमेव स्यादसाधुदमने कृते ।[45]

(Well being of good persons is assured when the sinful are crushed)

Therefore, it is not fair to conjecture that the use of the *Ārya* and *Dasyu* means the *Ārya* race and the non-*Ārya* race respectively.

The word "*Dasyu*" has been used in other literary works also. For example, Kālidāsa uses the word to mean the same (a robber).[46]

Peace-Lovers Do Not Cause Bloodshed :

A civilization is reflected in the literature it produces and the civilization of India has been reflected in its marvelous literature of which a sample is as follows. The Vedic sage covets peace for the whole universe :

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्मशान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः। सा मा शान्तिरेधि[47]।

(Let there be peace in the sky, in the space, in the earth, in the water, in the herbs, in the woods, in the gods, in the *Brahman* and everywhere. Let there be peace and peace. Let the same peace be in me too.)

It is impossible to imagine that such lovers of peace could cause bloodshed by invading others' territory and killing innocents.

Invaders do not Love the Land :

Indian literature composed by sages is filled with patriotism for the motherland and utter love for the country. Every particle of the country has been reverently glorified by the sages (who were obviously *Āryas*). To pick up an example the vivacious *Viṣṇupurāṇa* writes :

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।[48]

(Even gods sing the glory of those who are born on the land of Bharata.)

This may be called a drop from the ocean of praise. The Vedic sages have penned about the holy land *Bhārata*. It is impossible to imagine that an invader race could nurture such unfathomable love for the country it invaded.

No Mention of Their Own Land :

It is equally unthinkable that the *Āryas* who supposedly invaded the country sang the glory of the invaded soil with utter exuberance but absolutely forgot to make any mention of their original land. Nowhere in the whole literature of the country there is the slightest mention directly or indirectly of any other homeland of the *Āryas*. It is a testified truth that aliens may exploit the territory they reside but they can not shower their love on it. Their heart is always with their own land.

No Record of the So Called Victory :

It is the psychology of the victorious to celebrate the victory in every possible way and for as long as possible. If at all Ārya was a race which defeated the locals

and occupied such a huge piece of land, this great success story should have inundated the whole literature of the country. This victory story should have been the main theme of the local literature because the *Āryas* were the composer of the literature of the land.

This may be compared with other victory stories of the country. The story of *Rāmāyaṇa* and *Mahābhārata* are also victory-stories of *Rāmacandra* and the *Pāṇḍavas* respectively. The two victory-stories have flooded the literature and culture of the country like anything. But where is the victory-story of the *Āryas*? Did'nt they care to make a single mention of the grand victory they enjoyed? Why there is no mention of any victory throughout the length and breadth of the Indian literature and even there is no trace of it in the folk lores?

There is a single answer to all these queries. There is no mention of any victory of the *Āryas* because there was no victory at all. There was no victory, because, there was no invasion at all. There was no invasion, because, there was no race called *Ārya*.

Conclusion:

The study of the ancient history, literature, *Dharmaśāstras* and other supporting materials of our country reveals that there is not a single proof to substantiate the existence of a race called *Ārya*. The *Āryan* invasion theory, therefore, is a falsehood, product of imagination backed either by ignorance or by any hidden intention to cause clever damage to the country and her civilization.

References :

1. (a) पूजयंश्च पठंश्चैनमितिहासं पुरातनम् । (*Rāmāyaṇa, Yuddha-Kāṇḍa*. 128.117)
   एवमेतत् पुरावृत्तमाख्यानम् (*Rāmāyaṇa, Uttara Kāṇḍa*. 111.25)
   (b) इतिहासमिमं भुवि (*Mahābhārata, Ādiparva, Anukramaṇi* 26)
2. परिक्रिया पुराकल्प इतिहासगतिर्द्विधा।
   स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका।।
   तत्र रामायणं महाभारतं चोदाहरणे।। (*Kāvya-Mīmāṃsā* 2.2)
3. *Śabakalpadruma,* p. 190
4. Vācaspati (qtd. *Abhijñāna Śākuntalam,* R.M.Bose, p. 12)
5. Jagaddhara on *Mālatimādhavam* (qtd. *Abhijñāna-Śākuntalam*, RM Bose, p. 12)
6. *Amarakoṣa* 2.7.3
7. Qtd. (*Abhijñāna Śākuntalam*, RM Bose, p. 12)
8. Ibid

9. Qtd. *Śabdakalpadruma*, p. 190
10. *Manusmṛti* 10. 57
11. *Rāmāyaṇa, Ayodhyā*. 99.39
12. *Pratimānāṭakam*, 7th Act
13. *Rāmāyaṇa, Sundarakāṇḍa* 63.16
14. Ibid
15. *Rāmāyaṇa, Sundara-Kāṇḍa*. 59.3
16. Pratimānāṭakam 7.6
17. *Mālavikāgnimitram*, (*Miśraviṣkambhaka*)
18. *Gītā* 2.2
19. *Kāmandakīyanītisāra* 6.7
20. *Pratimānāṭakam*, 7th Act
21. *Madhyama-Vyāyogam*. 1st Act
22. *Sāhityadarpaṇa* 6.147
23. *Abhijñānasakuntalam*, *Prastāvanā*
24. Rāmāyaṇa, Ayodhyā Kāṇḍa 72. 6
25. *Urubhaṅgam*, 1st Act, *Swapnavāsavadattam*, 1st Act
26. *Abhijñānasakuntalam*, 1st Act
27. *Pañcharātram*, 1st Act
28. *Urubhaṅgam*, 1st Act
29. *Dūtaghaṭotkaca*, 1st Act
30. *Rāmāyaṇa, Ayodhyā Kāṇḍa* 92. 26
31. *Abhijñānaśākuntalam* (1st and 5th Act)
32. Rāmāyaṇa, *Sundarakāṇḍa* 56.72-73
33. Rāmāyaṇa *Yuddhakāṇḍa* 16.11-15
34. *Rāmāyaṇ. Āraṇya Kāṇḍa* 49.38
35. *Rāmāyaṇ. Kiskindhyā Kāṇḍa* 24.29
36. *Abhiṣekanāṭakam*, 2nd Act
37. *Abhiṣekanāṭakam*, 3rd Act
38. *Vidura Nīti* 1.30
39. *Abhijñānaśākuntalam* 1.20
40. *Vidura Nīti* 1.30
41. *Rāmāyaṇa, Ayodhyā Kāṇḍa* 113.16

42. *Rāmāyaṇa, Ayodhyā Kāṇḍa,* 117.24
43. *Ṛgveda* 1.51.8
44. *Daśakumāracaritam, Pūrvapiṭhikā, 2nd Ucchvāsa*
45. *Bhāgavatam* 1.17.14
46. पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन (*Abhijñānaśākuntalam* 5.20)
47. *Yajurveda* 36.17
48. *Viṣṇupurāṇam* 2.3.24

Bibliography

1. *Ṛgveda-Saṃhitā*- Chaukhambha Vidya Bhavan, Varanasi, 1991
2. *Yajurveda-Saṃhitā* : Published by Parimal Publications, 27/28 Shaktinagar, Delhi-110007, 2004
3. *Rāmāyaṇa* : by Valmiki, Geeta Press, Gorakhpur, 27th edition
4. *Mahābhārata*: by Veda Vyāsa , Geeta Press, Gorakhpur, 5th edition, Sambat-2045
5. *ViduraNīti* (*Mahābhārata*): Geeta press, Gorakhpur, Sambat- 2027
6. *Bhagvadgītā* : by Vyasa, Gita press,Gorakhpur, Sambat-2054
7. *Bhāgavatam* : by Vyasa, Gita press,Gorakhpur, Sambat-2054
8. *Viṣṇupurāṇa* : Gita press, Gorakhpur, Sambat-2054
9. *Abhiṣekanāṭakam*, (*Bhāsa-Nāṭaka-Cakra* : Ed. by Dr. Sudhakar Malaviya, Published by Krisnadas Academy, Varanasi, 1987)
10. *Pratimānāṭakam*, (*Bhāsa-Nāṭaka-Cakra* : Ed. by Dr. Sudhakar Malaviya, Published by Krisnadas Academy, Varanasi, 1987)
11. *Dūtaghaṭotkacam*, (*Bhāsa-Nāṭaka-Cakra* : Ed. by Dr. Sudhakar Malaviya, Published by Krisnadas Academy, Varanasi, 1987)
12. *Urubhaṅgam*, (*Bhāsa-Nāṭaka-Cakra:* Ed. by Dr. Sudhakar Malaviya, Published by Krisnadas Academy, Varanasi, 1987)
13. *Pañcarātram*, (*Bhāsa-Nāṭaka-Cakra*: Ed. by Dr. Sudhakar Malaviya, Published by Krisnadas Academy, Varanasi, 1987)
14. *Madhyamavyāyogam*, (*BhāsaNāṭakaCakra*: Ed. by Dr. Sudhakar Malaviya, Published by Krisnadas Academy, Varanasi, 1987)
15. *Svapnavāsavadattam*, (*Bhāsa-Nāṭaka-Cakra:* Ed. by Dr. Sudhakar Malaviya, Published by Krishnadas Academy, Varanasi, 1987)
16. *Abhijñāna Sākuntalam*, by Kālidāsa (Commentry by Sri R.M.Bose), Modern Book Agency Private Ltd.,10, Bankim Chatterjee Street, Calcutta, 1976

17. *Mālavikāgnimitram*, *Kālidāsa Granthāvali* : Edited by Reva prasad Dwivedi, Benaras Hindu University, Varanasi, 1976

18. *Daśakumaracaritam*, by Daṇḍi, Commentary by M.R.Kale, Motilal Banarasidas, Delhi, 4th Reprint, 1979

19. *Sāhityadarpaṇaḥ* :by Sri Viśvanātha Kavirāja, Edited by Acharya Krishna Mohan Sastri, The Chaukhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1967

20. *Kāvya Mīmāṃmsā* : by Rajaśekhara, Commentary by Ganga Sagar Ray, Published by Chowkhambha Vidyabhavan, Varanasi, 3rd Edition,1982

21. *Kāmandakīya Nītisāra*: Edited by Sri Jayamangal Upadhyaya, Published by- Ānandāśrama Press, Pune, 1982

22. *Amarakoṣaḥ*: by Sri Amar Singh, Published by Motilal Banarasidass, Delhi, 1975

23. *Manusmṛti*: by Manu, Published by Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi, 2003

24. *Śabdakalpadruma*: By Raja Radhakanta Dev, Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi, 2002

कल्हण की राजतरङ्गिणी में इतिहास-लेखन का आदर्श

मीनाश्री यादव

बीसवीं शताब्दी ईसवी के द्वितीय दशक के ए.बी.कीथ (A.B.Keith) महोदय ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर में इस धारणा पर सवाल उठाया था कि भारत में केवल कुछ परिणाम (Amount) में ही इतिहास-लेखन था और कुछ मात्रा (Degree) में ही इतिहास की समझ (Sense for History) थी। अन्ततः उन्होंने यह मत व्यक्त किया था कि "विस्तृत काल के सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य में कोई भी लेखक ऐसा नहीं है जो गम्भीरतापूर्वक आलोचनात्मक इतिहासकार माना जा सके।[1]" प्रथम राजतरंगिणी[2] के रचयिता कश्मीर की 12 वीं शताब्दी ईसवी के इतिहासकार कल्हण के सम्बन्ध में कीथ महोदय कहते हैं कि वे (कल्हण) वास्तविक इतिहासकार के निकटतम ही पहुँच पाते हैं।[3] वे इसी क्रम में फिर कहते हैं कि भारत का कोई अन्य लेखक कल्हण की उपलब्धियों के थोड़े भी निकट नहीं पहुँच पाता।[4] बहुत से विद्वान् कीथ के उपर्युक्त मत को अभी तक मान्यता देते चले आ रहे हैं। उदाहरणार्थ, ई.श्रीधरन् ने सन 2004 में छपी अपनी पुस्तक 'ए टेक्स्टबुक आफ हिस्टॉरिऑग्राफी'[5] में कीथ के मत को सहमति के साथ उद्धृत करते हुये भारत में "इतिहास की समझ का अभाव[6]" बताया है। उन्होंने कल्हण की राजतरंगिणी को भी केवल अर्ध – ऐतिहासिक[7] (Semi-Historical) साहित्य के अन्तर्गत माना है। भारत में इतिहास के ज्ञान के स्तर की सम्यक् जानकारी के लिए प्रांसगिक साहित्यिक ग्रन्थों से प्राप्त साक्ष्यों का परीक्षण ऐतिहासिक अध्ययन के विकास के व्यापक परिप्रेक्ष्य में करने की आवश्यकता है। ए.बी.कीथ ने विस्तृत संस्कृत-साहित्य में वास्तविक आलोचनात्मक इतिहासकार का अभाव बताया है। यदि कीथ के इस मत पर विचार किया जाय तो यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि इतिहास-लेखन की आलोचनात्मक पद्धति क्या है और ऐतिहासिक अध्ययन के विकास के क्रम में इस प्रकार की पद्धति का उदय कब होता है। आर्थर मार्विक[8] ने ऐतिहासिक अध्ययन के विकास का विस्तृत निरूपण करने के पश्चात् यह पाया है कि इतिहास-लेखन की आधुनिक आलोचनात्मक पद्धति की नयी परम्परा का उदय योरप में 19 वीं शताब्दी ईसवी के प्रथमार्ध में नाइब्यूर (Niebuhr) (1776-1831) ई. की रचना हिस्ट्री आफ रोम से हुआ। रांके (1795-1886) ई. ने इस परम्परा को और आगे विकसित एवं व्यवस्थित किया। वह आधुनिक[9] ऐतिहासिक अध्ययन की परम्परा आगे चलकर योरप में और विकसित एवं परिष्कृत होती है।[10] इस प्रकार, मार्विक के अनुसार, 19 वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में नाइब्यूर एवं रांके ने ऐतिहासिक अध्ययन एवं इतिहास-लेखन की पद्धति में एक क्रान्ति[11] (Methodological revolution) ला दिया, जिसका व्यापक प्रभाव पड़ा।

19 वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में जो आधुनिक इतिहास-लेखन की परम्परा प्रारम्भ हुई उसमें तथ्यात्मक शैली पर विशेष बल दिया जाने लगा। नाइब्यूर[12] ने जोर देकर कहा कि आकर्षक शैली (Persuasive Style) और ऐतिहासिक यथार्थता (Historical accuracy) दोनों साथ नहीं चल सकती। बाद के भी बहुत सारे इतिहासकारों ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया।

भारत में इतिहास-लेखन की तथ्यात्मक शैली अपनाने पर बल कल्हण ने 12 वीं शताब्दी ईस्वी में ही कश्मीर के इतिहास पर लिखित ग्रन्थ राजतरंगिणी में दिया था।[13] उसने अपने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही अपनी शैली के सम्बन्ध में कहा है :

कथादैर्घ्यानुरोधेन वैचित्र्येऽप्यप्रपञ्चिते।[14]

(विस्तृत वृतान्त[15] के वर्णन के अनुरोध (बाध्यता, अभिप्राय) से वैचित्र्य (काव्यात्मकता) का विस्तार नहीं किया गया है।) अपने पहले के कश्मीर के इतिहासकार सुव्रत की कल्हण ने यह कह कर आलोचना की कि उसकी रचना-शैली पाण्डित्याभिमान-जन्य काव्यात्मकता के कारण दोषपूर्ण हो गयी थी।[16] कल्हण के बाद 15 वीं शताब्दी में जोनराज ने अपनी राजतरङ्गिणी में बाद के कुछ काल के कश्मीर के इतिहास का विवरण प्रस्तुत किया है। पर वे काव्यात्मक शैली से प्रभावित थे।[17] परन्तु जोनराज के शिष्य श्रीवर ने इतिहास-लेखन की शैली में कल्हण के ही आदर्श को अपनाया और उसे अधिक स्पष्ट भी किया। उनके अनुसार, इतिहास-लेखन राजवृत्तान्त के अनुरोध (बाध्यता, अभिप्राय) से तथ्यात्मक शैली में किया जाता है। उसमें काव्य-गुण की वाञ्छा नहीं करना चाहिए।[18] श्रीवर आगे कहते हैं कि ललित काव्य की रचना अन्य पण्डित करें।[19] श्रीवर अपने इतिहास-लेखन में यथार्थ-वर्णन हेतु अपनायी जाने वाली तथ्यात्मक शैली को और स्पष्ट करते हुये कहते हैं -

कायस्थोक्तिवदेवेयं कृतं स्मृत्यै भविष्यताम्।[20]

इस तथ्यात्मक शैली को लिपिक के यथातथ्य (Matter-of-fact) विवरण के समान बताया है, जो काव्यात्मक शैली से, सुविदित रूप से, भिन्न होती है।

19वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में योरप में ऐतिहासिक अध्ययन एवं इतिहास-लेखन की आधुनिक आलोचनात्मक पद्धति के आरम्भण में रांके का महत्वपूर्ण योगदान था। इस पद्धति में रांके[21] ने जिस काल का इतिहास लिखा जाय उसके हर प्रकार के समसामयिक मूल या प्राथमिक स्रोतों (Documents प्रेलेखों) के विस्तृत अध्ययन को इतिहास-लेखन का आधार माना है। भारत में 12 वीं शताब्दी ईसवी में ही इतिहासकार कल्हण ने अपनी राजतरङ्गिणी, जिसमें उसने कश्मीर का इतिहास लिखा है, में सम्यक् रूप से इतिहास-लेखन हेतु मूल स्रोतों के विस्तृत अध्ययन को अत्यन्त आवश्यक माना था।[22] उसने स्वयं विभिन्न प्रकार के अभिलेखों (ताम्रपत्रों आदि), प्रशस्तियों, साहित्यिक ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों, भवनों, सिक्कों, स्थानीय परम्पराओं, पारिवारिक रेकार्ड (Family records) आदि को अपने राजतरङ्गिणी के इतिहास-लेखन एवं पहले के इतिहास के ग्रन्थों के आलोचनात्मक परीक्षण का आधार बनाया।[23] (लेकिन अपने ग्रन्थ की तिथि से 50 वर्ष पहले तक के इतिहास के लिये ही उसे इस प्रकार के मूल स्रोत उपलब्ध हो पाये थे।)[24] मूल स्रोतों के विस्तृत एवं गहन अध्ययन के आधार पर कल्हण ने पहले के विद्वानों द्वारा कश्मीर के इतिहास पर लिखित ग्रन्थों की त्रुटियों को सुधार कर वहाँ के इतिहास के पुनर्लेखन का नवीन

प्रयास किया। इसका उसने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है :

दाक्ष्यं कियदिदं तस्मादस्मिन् भूतार्थवर्णने।
सर्वप्रकारं स्खलिते योजनाय ममोद्यमः।।[25]

पहले के कुछ इतिहासकारों की त्रुटियों का भी उल्लेख कल्हण ने किया है। उदाहरणार्थ, 11 वीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् क्षेमेन्द्र द्वारा कश्मीर के इतिहास पर लिखित नृपावली नामक ग्रन्थ के सम्बन्ध में कल्हण ने कहा है कि 'अनवधानता' (असावधानी) के कारण उसमें इतनी त्रुटियाँ हो गई हैं कि उसका कोई भी अंश निर्दोष नहीं कहा जा सकता।

केनाऽप्यनवधानेन कविकर्मणि सत्यपि।
अंशोऽपि नास्ति निर्दोषः क्षेमेन्द्रस्य नृपावली।।[26]

आधुनिक ऐतिहासिक अध्ययन के उद्देश्य के परिप्रेक्ष्य में रांके का अतीत के यथार्थ एवं वस्तुनिष्ठ (निष्पक्ष) वर्णन सम्बन्धी दृष्टिकोण नवीन तथा विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है।[27] पर कल्हण की राजतरङ्गिणी से ज्ञात होता है कि भारत में इतिहास की अवधारणा के विकास के क्रम में इतिहास-लेखन के प्रति इस प्रकार के दृष्टिकोण का उदय 12 वीं शताब्दी ईसवी के मध्य तक ही हो गया था। अपनी राजतरङ्गिणी[28] के प्रारम्भ में ही कल्हण ने भूतार्थ का राग और द्वेष से रहित निष्पक्ष प्रस्तुतीकरण करने वाले को प्रशंसनीय एवं गुणवान् माना है :

श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती।।

अतीत के वृत्तान्त (पुरावृत्त या पूर्वचरित)[29] की इतिहास के रूप में अवधारणा का विकास कल्हण की राजतरंगिणी के काल (12 वीं शताब्दी) के पहले ही भारत में हो चुका था। इतिहास का व्युत्पत्तिपरक अर्थ 'ऐसा वास्तव में था[30]' समझा जाता था।

11 वीं शताब्दी तक भारत में इतिहास की एक से अधिक धाराओं का आविर्भाव हो गया था। महाराजाधिराज भोज (1010 से 1060 ईसवी) ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सरस्वतीकण्ठाभरण[31] में इतिहास की तीन धाराओं का उल्लेख किया है – 1. इतिहास, 2. काव्येतिहास एवं 3. शास्त्रेतिहास। इतिहास को इस ग्रन्थ की रत्नदर्पण टीका (14 वीं शताब्दी) में 'अतीतार्थप्रधान' (अतीत के सरोकारों, मामलों एवं घटनाओं से सम्बन्धित) याथातथ्य वर्णन बताया है।[32] यह विशुद्ध इतिहास की धारा थी। सरस्वतीकण्ठाभरण की टीकाओं[33] के अनुसार काव्येतिहास में इतिहास की पृष्ठभूमि में काव्य के ऊपर ध्यान संकेन्द्रित होता है, और शास्त्रेतिहास में – जैसा कि महाभारत में मिलता है – मुख्य रूप से धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष से सम्बन्धित शिक्षाओं को इतिहास में सन्निविष्ट किया जाता है। इन दोनों धाराओं में याथातथ्य वर्णन की भूमिका गौण हो जाती है। महाभारत के एक श्लोक[34] को ई. श्रीधरन् ने प्राचीन भारत में इतिहास की एकमात्र प्रामाणिक परिभाषा (Standard definition) मानी है। पर सरस्वतीकण्ठाभरण के उपर्युक्त साक्ष्य से स्पष्ट है कि यह केवल शास्त्रेतिहास की धारा से सम्बन्धित है।

इतिहास की धाराओं के स्वरूप-वैभिन्य की ऐसी स्थिति में कल्हण ने अपनी राजतरङ्गिणी के लिये इतिहास शब्द का प्रयोग न कर उसे 'भूतार्थवर्णन'[36] की परंपरा से सम्बन्धित बताया है। 'भूतार्थ'[37] शब्द

यहाँ वास्तव में घटित घटनाओं का द्योतक है। कश्मीर के सन्दर्भ में उन्हीं के याथातथ्य, यथार्थ एवं संशोधित वर्णन के 'उद्यम'[38] (प्रयास) का दावा कल्हण ने अपने ग्रन्थ में किया है।

यह भूतार्थवर्णन की परम्परा तत्त्वतः सरस्वतीकण्ठाभरण[39] में मिलने वाली 'अतीतार्थ' के प्राधान्य वाली इतिहास की धारा से ही सम्बद्ध थी। राजतरङ्गिणी में कल्हण के इस वर्णन की एक विशेषता यह भी है कि इसमें पाँचवें से लेकर आठवें तरंग तक लौकिक अथवा सप्तर्षि सवंत् में सुनिश्चित तिथियाँ मिलती हैं। यह संवत् 3076-75 ईसवी पूर्व में प्रारम्भ होता था।[40]

कल्हण ने अपने राग-द्वेष से रहित निष्पक्ष इतिहास-लेखन के आदर्श को व्यवहार में परिणत करने का प्रयास किया था। उनके पिता चण्पक कश्मीर के हर्ष नरेश (1081-1101 ईसवी) के विश्वासपात्र मंत्री थे। परन्तु राजतरङ्गिणी में उन्होने हर्ष के अत्याचारों की अनदेखी नहीं किया[41] और उनका स्पष्ट वर्णन किया है। कश्मीर में अवन्तिवर्मन् के शासन-काल 855 से 883 ईसवी में सुय्य नामक इंजीनियर ने नहरों एवं जल-सारणियों की योजनाओं[42] के क्रियान्वयन द्वारा सिंचाई की उत्तम व्यवस्था किया था इससे कश्मीर में कृषि-उत्पादन की अभूतपूर्व वृद्धि हुई थी। सुय्य जब एक अनाथ बच्चा था तब वह सुय्या नामक चण्डाली को मिला था, और उसी शूद्र स्त्री ने उसका लालन-पालन किया था।[43] चण्डाली सुय्या के नाम पर ही उसका नाम सुय्य पड़ा। सुय्य को बहुत से लोग हेय दृष्टि से देखते थे और उसे 'उन्मत्त'[44] कहते थे। पर कल्हण ने अपने निष्पक्ष ऐतिहासिक वर्णन में उसके महत्वपूर्ण योगदान की अनदेखी न कर उसकी बड़ी प्रशंसा की है।[45]

इस प्रकार तथ्यामत्क शैली में मूल स्रोतों के आधार पर निष्पक्ष यथार्थ वर्णन का जो आलोचनात्मक पद्धति से विशेषित इतिहास-लेखन का आदर्श योरप में नाइब्यूर एवं रांके ने 19 वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में अवधारित किया वह 12वीं शताब्दी ईस्वी के मध्य में ही कल्हण द्वारा रचित राजतरंगिणी में, एक विचारणीय हद तक मिलंता है। इस तरह कल्हण की राजतरङ्गिणी में इतिहास की एक उच्चकोटि की समझ मिलती है।

राजतरङ्गिणी में, जैसा कि सुविदित है, कुछ कमियाँ[16] भी हैं। पर इस कारण से इसमें मिलने वाली इतिहास-लेखन के आदर्श की उच्चस्तरीय अवधारणा का महत्त्व कम नहीं आंका जाना चाहिये।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ

1. ए.बी. कीथ, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1920, पृ. 144
2. कल्हण की राजतरङ्गिणी, एम.ए. स्टाइन (Stein) द्वारा सम्पादित एवं अलग से अंग्रेजी में अनूदित (लन्दन, 1900), रघुनाथ सिंह द्वारा हिन्दी में अनूदित, वाराणसी, 1988
3. ए.बी. कीथ, ऊपर उद्धृत, पृ. 144
4. वही, पृ. 144
5. ई.श्रीधरन्, ए टेक्स्टबुक आफ हिस्टॉरिऑग्रफी, ओरियंट लांगमैन, न्यू डेलही, 2004, पृ. 309
6. The lack of Historical sense, वही, पृ. 309
7. वही, पृ. 320

8. आर्थर मार्विक, दि नेचर आफ हिस्ट्री, न्यू यार्क, 1974, पृ. 39

9. वही, पृ. 45

10. वही, पृ. 45

11. वही, पृ. 43

12. वही, पृ. 39

13. कल्हण ने राजतरंगिणी की रचना 1148-49 ई. में किया था।

14. राजतरङ्गिणी 1.6

15. मोनियर विलियम्स के अनुसार राजतरंगिणी में 'कथा' शब्द का अर्थ नैरेटिव (narrative) वर्णन या वृत्तान्त है, ए संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, पृ. 247, स्तम्भ 2, कीथ ने भी वैचित्र्य शब्द से भारवि, माघ आदि की काव्यात्मक शैली का संकेत ग्रहण किया है, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. 165

16. पाटवं दुष्टवैदुष्यतीव्रा सुव्रतभारती – राजतरंगिणी, 1, 12

17. संरोपितः काव्यद्रुमो भाविफलोदयः, जोनराजकृता राजतरंगिणी, हिन्दी अनुवादक, रघुनाथ सिंह, वाराणसी, 1972, 1. 8

योरप में भी रांके के बाद के कुछ विद्वानों ने इतिहास-लेखन में उसके वस्तुनिष्ठता (objectivity) एवं तथ्यात्मकता के आदर्श की आलोचना की थी। लेकिन अन्ततोगत्वा इस आदर्श को व्यापक मान्यता मिली, आर्थर मार्विक, ऊपर उद्धृत, पृ. 43-44

जोनराज के शिष्य श्रीवर ने भी अपनी जैन-राजतरंगिणी में उनकी काव्यात्मक शैली का विशेष उल्लेख किया है – क्व काव्यं मद्गुरोस्तस्य क्व च मन्दमतेर्मम।

जैन-राजतरंगिणी, हिन्दी अनुवादक रघुनाथ सिंह, वाराणसी, 1977, 1.1.8

जोनराज की मृत्यु 1459ई. में हुई और उसके बाद श्रीवर ने अपनी जैन-राजतरंगिणी में 1459 से 1486-ई. तक का कश्मीर का इतिहास लिखा है, ए.बी. कीथ, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. 174

18. राजवृत्तानुरोधेन न काव्यगुणवाञ्छया, जैन-राजतरंगिणी, 1.1.9

19. ललितं काव्यं कुर्वन्त्वन्येऽपि पण्डिताः, जैन-राजतरंगिणी, 1.1.10

यही बात इस ग्रन्थ के तृतीय तरंग के छठे श्लोक में भी कही गयी है।

20. जैन-राजतरङ्गिणी

21. ए.जी.विजरी (A.G. Widgery), इंटरप्रटेशन्स आफ हिस्ट्री, लन्दन, 1961, पृ. 235

22. राजतरंगिणी, 1.14 और आगे

23-24. कीथ, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. 162, इसके अतिरिक्त कल्हण ने अपने इतिहास-लेखन हेतु पूर्वगामी विद्वानों द्वारा लिखित राजवृत्तान्त-विषयक ग्यारह ग्रन्थों, नीलमत पुराण तथा

विभिन्न शास्त्रों का भी निरीक्षण किया था, राजतरङ्गिणी, 1.14 और आगे

25. राजतरङ्गिणी, 1.10
26. राजतरङ्गिणी, 1.12
27. आर्थर मार्विक, दि नेचर आफ हिस्ट्री, पृ. 39, 42

    ए.जी.विजरी, इंटरप्रटेशन्स आफ हिस्ट्री, पृ. 134, 135
28. वही 1.7 'भूतार्थकथन' शब्द इतिहास के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। 'सरस्वती' शब्द का अर्थ इस संदर्भ में speech (वाणी), wisdom (बुद्धिमानी, विवेक), या learning (ज्ञान, जानकारी) है, मोनियर विलियम्स, ए संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, पृ. 1182. 'स्थेय' शब्द निर्णायक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, राजतरङ्गिणी, अनुवादक रघुनाथ सिंह, वाराणसी, 1984, पृ. 4 फुटनोट)
29. अमरकोश (1.5.4) में इतिहास का अर्थ 'पुरावृत्त' दिया गया है। अमरकोश (1.5.4) पर क्षीरस्वामिन् की टीका में 'पुरावृत्त' को 'पूर्वचरित' बताया गया है। विन्टरनित्स (Winternitz) ने अमरकोश का काल छठी शताब्दी ईसवी माना है (हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर, जिल्द 3, भाग 2, दिल्ली, 1967, पृ. 456 : अमरकोश (नामलिंगानुशासन) पर क्षीरस्वामिन् (11वीं शताब्दी ईसवी) की टीका का सम्पादन हरदत्त शर्मा एवं जी. सरदेसाई ने किया है, पूना, 1941
30. इति (ऐसा) + ह: (वास्तव में) : आसीत् (था)

    अमरकोश (1.5.4) पर क्षीरस्वामिन् की टीका।
31. सरस्वतीकण्ठाभरण, रत्नदर्पण एवं स्वरूपानन्द भाष्य सहित, सम्पादक, कमलेश्वर नाथ मिश्र, भाग 1, चौखम्बा ओरियन्टलिया, वाराणसी, 1976, पृ. 479, 480
32. वही, पृ. 479
33. वही, पृ. 480
34. धर्मार्थकाममोक्षाणाम् उपदेशसमन्वितम्।

    पूर्ववृत्तं कथायुक्तं इतिहासं प्रचक्षते।।

    वामन शिवराम आप्टे की 'दि प्रैक्टिकल संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी', संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण, दिल्ली, 1998, पृ. 382
35. ऊपर उद्धृत, पृ. 316
36. राजतरङ्गिणी, 1.10 (पूर्वोद्धृत)
37. मोनियर विलियम्स की 'ए संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी', पृ. 762
38. राजतरङ्गिणी, 1.10
39. सरस्वतीकण्ठाभरण पृ. 479
40. कल्हण की राजतरङ्गिणी, अनुवादक एम. ए. स्टाइन, जिल्द I

दिल्ली, 1979 (पुनर्मुद्रण), पृ. 58

41. कीथ, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. 168

42. मीनाश्री यादव, एग्रीकल्चर एण्ड पेजेन्ट्स इन नार्दर्न इंडिया, फ्राम सं. 600–1200 ए.डी. (डी.फिल. थीसिस), पृ. 91

43. राजतरंगिणी, 5. 74-77

44. राजतरंगिणी, 5.81

45. वही, 5.72,73

46. ए.बी.कीथ, ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. 166 और आगे, यू.एन. घोशाल, स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, बाम्बे, 1957, पृ. 238 और आगे, ई. श्रीधरन्, पूर्वोद्धत, पृ. 333, 334

राजतरङ्गिणी की प्रथम तीन तरंगें इतिहास के विश्वसनीय स्रोतों से उपलब्ध साक्ष्यों पर नहीं, अपितु अनुश्रुति और मिथक पर अधिक आधारित हैं। कल्हण का विशेष ध्यान राजनीतिक इतिहास पर ही था, पर यह कमी तो 19वीं शताब्दी में आधुनिक इतिहास-लेखन की परम्परा के प्रवर्तक माने जाने वाले रांके में भी थी (आर्थर मार्विक, दि नेचर आफ हिस्ट्री, पृ. 43)

❑❑

अथर्ववेदे जलचिकित्सा

राधारमणपाण्डेयः

अथर्ववेदे चिकित्सा चतुर्धा वर्णिताऽस्ति - आथर्वणी आङ्गिरसी, दैवी, मनुष्यजा चेति।[1] एतासु चतुर्विधासु चिकित्सासु आथर्वणी चिकित्सा अथर्वा-ऋषिसम्बद्धा वर्तते। आङ्गिरसी चिकित्सा अङ्गिरा-ऋषिसम्बद्धाऽस्ति। दैवी चिकित्सा देवसम्बद्धाऽस्ति। मनुष्यजा चिकित्सा च मानवसम्बद्धा वर्तते। एतासु सर्वासु चिकित्सासु दैवी चिकित्सा मुख्यं महत्त्वं भजते। दैवी चिकित्सा दैवभिषग्भिः ब्रह्मा-प्रजापति-अग्नि-वरुण-रुद्र-इन्द्र-अश्विनीकुमार-सूर्य-सोमादिभिः विहिता चिकित्सा वर्तते। एतस्याः चिकित्सायाः अपरं नाम प्राकृतिकी चिकित्सा अपि वर्तते। दैवी-चिकित्सा मुख्यरूपेण जलचिकित्सा (Hydro-therapy), सौरचिकित्सा (The Sun-rays-therapy), वायुचिकित्सा (Aireo-therapy), विद्युत्-चिकित्सा (Electro-therapy), वर्णचिकित्सा (Tingo-therapy), व्रत-उपवास-यज्ञ-हवनादयः चिकित्साः सन्ति। **'न हि तोयाद् विना तृप्तिः'** इति प्रायः सर्वे स्वकीये जीवनेऽनुभवन्ति। अतः कोश-ग्रन्थेषु जलस्य पर्यायो जीवनमिति वर्णितमस्ति।[2] निरुक्ते जलस्य पर्यायः अमृतमिति कृतमस्ति –

न म्रियन्ते हि प्राणिनोऽनेन पीतेन।

अथवाऽत्यन्त-स्वादुत्वादमृतमित्युच्यते।।[3]

शुद्धं जलं मधुरं स्वादु अमृतवच्च भवति। वैदिकसाहित्ये जलस्य रूपाणि नैकविधानि वर्तन्ते। छान्दोग्योपनिषदि जलस्य रूपं ब्रह्मरूपेण कृतमस्ति।[4] नैकासु उपनिषत्सु जलं मधुरूपेण वर्णितमस्ति। अनेकेषु कोशेषु जलस्य रूपममृतरूपेण विहितमस्ति। जलं जनानां प्राणवद्वर्तते इति छान्दोग्योपनिषत्प्रभृतिग्रन्थेषु एतदुल्लिखितमस्ति। न्यायग्रन्थेषु एतस्य जलस्य विषये विचारो द्रव्यरूपेण वर्तते। जलस्यापरः पर्यायो रस इत्युच्यते। अत एव चरकसंहिताप्रभृतिरचनासु जलं रसनीयत्वादास्वाद्यत्वाद्वा रस इत्युच्यते।[5] इत्थं जलस्य महत्ताविषये वर्णनं नैकेषु ग्रन्थेषु समुपलभ्यते।

अधुना जल-चिकित्सायाः विवेचनं प्रस्तूयते - प्रायः सर्वेषु वेदेषु जलचिकित्सायाः वर्णनं समुपलभ्यते किन्तु ऋग्वेद-अथर्ववेदयोः जलमहत्त्वं किञ्चिद् अधिकतरमस्ति। रुद्र-वरुणौ देवौ जलचिकित्सायाम् अग्रगामिनौ वर्तेते। रुद्रदेवः प्रथमो दिव्यो भिषग् मन्यते।[6] रुद्रो जल-चिकित्सकोऽस्ति।[7] वरुणो वैद्यानां स्वामी चिकित्सकश्च ज्ञायते।[8] ऋग्वेद-अथर्ववेदयोः जलचिकित्सा नैकविधा वर्णिता अस्ति। जले सर्वविधो गुणो वर्तते इति विचारः ऋग्वेदेऽस्ति। जलात् सर्वरोगाणां चिकित्सा भवितुं शक्नोति।[9] अपरस्मिन् मन्त्रे तत्रैव वर्णनमस्ति यज्जलेऽमृतमोषधिगुणाश्च वर्तन्ते।[10] जलं शरीराय शक्तिकारकं रोगनाशकं च वर्तते।[11] सोमादिरसानां जले मेलनं कृत्वा तत्सेवनात् मानवाः दीर्घायुषो भवन्ति।[12]

जलचिकित्साविषये इदं कथ्यते यज्जलं सर्वरोगाणां निदानमस्ति। जलं सर्वोत्तमो वैद्यो वर्तते।[13] इदं नेत्र-पादादीनां सर्वविधां पीडां दूरीकरोति। हृदयरोगे इदं नितरां लाभकारकमस्ति।[14] जलस्य विविधानां गुणानां वर्णनमनेकेषु सूक्तेषु कृतमस्ति। हिमालयाद् निर्गतानां नदीनां जलं सविशेषं लाभकारि भवति। एतस्य जलस्य प्रयोगः जनैः हृदयरोगे क्रियेत।[15] प्रवहज्जलं शुद्धं गुणकारि च भवति। कर्मशीलाः जनाः जलम् औषधिञ्च सेवयेयुः।[16] वृष्टिजलं सर्वोत्कृष्टम् अमृतञ्चोच्यते। एतस्मात् सर्वे रोगाः दूरीभवन्ति दीर्घमायुश्च प्राप्यते[17] जनैः। जलस्य अन्ये गुणाः इमे प्रोक्ताः सन्ति। जलं बलवर्धकमस्ति। इदं सौन्दर्यवर्धकमस्ति।[18] जलं मनुष्याय मातृवत्सुखं शान्तिञ्च ददाति।[19] जलं विना मनुष्यजीवनं शक्यन्नास्ति। जलं सर्वविधेषु वस्तुषु श्रेष्ठमस्ति। इदं जीवनाय ओषधिवत् कार्यं कुरुते।[20]

अथर्ववेदे शरीरविज्ञानस्य दृष्ट्या एका महत्त्वपूर्णा वार्ता उल्लिखिता वर्तते यच्छरीरेऽष्टविधं जलं वर्तते। शरीरस्य सप्त धातवो गर्भश्च अर्थात् रस-रक्त-मांस-अस्थि-मज्जा-वीर्य-गर्भादीनि सर्वाणि जलस्य विभिन्नानि रूपाणि सन्ति।[21] जलं सर्वेषां रोगाणां निदानमस्ति। इदमानुवंशिकान् रोगान्नपि विनाशयति।[22] अथर्ववेदे इदं वर्णनमस्ति यन्नदीषु स्नानात्, निमज्जनात् तरणाच्च सर्वविधाः रोगाः विनष्टाः भवन्ति।[23] पृथिव्याः गभीराद्ध्रागाद् निष्कासितं जलमतीव लाभप्रदं भवति।[24] जले सञ्जीवनी शक्तिः वर्तते। एतस्य जलस्य सम्यग् उपयोगात् मानवाः शतायुषो भवन्ति।[25] जलेऽग्निः सोमश्चोभे तत्त्वे स्तः। अतः एतस्य प्रभावः तीव्रो भवति। आग्नेयतत्त्वेन इदं जलं मानवेभ्यः प्राणशक्तिं ददाति। सोमीयतत्त्वेन चेदं जनेभ्यः तेजस्वितां प्रयच्छति।[26] पदार्थानां क्लेदनं दोषाणां निवारणञ्च जलस्य मुख्यो गुणोऽस्ति।[27] स्थान-आश्रयाणां भेदाद् जलस्य गुणेष्वपि भेदो भवति। वृष्टि-जलं सर्वोत्तमं भवति।[28] प्रवहज्जलञ्च निर्दोषं गुणकारि च भवति।[29] अतोऽप्रवहणशीलं जलमग्राह्यं वर्तते। वेदेषु जलस्य अनेकानि आश्रयाणि उक्तानि सन्ति। प्राप्तिस्थानानामाधारेण जलस्य अनेके भेदाः उल्लिखिता वर्तन्ते। विविधानां जलानां नामानि इमानि सन्ति-

1. **धन्वन्यं जलम्-** इदं जलं बालुकाप्रदेशेषु प्राप्यते।
2. **अनूप्यं जलम्-** इदं जलं जलीयेषु स्थानेषु गर्तेषु वा लभ्यते।
3. **खनित्रिमं जलम् -** इदं जलं कूपेषु लभ्यते।
4. **वर्ण्यं जलम् -** इदं जलं वृष्टिजलं भवति।
5. **हैमवतं जलम् -** हिमालयपर्वतेभ्यो निर्गतानां नदीनां जलमिदम्भवति।
6. **उत्स्यं जलम् -** स्रोतोभ्यः प्राप्तं जलमिदं वर्तते।
7. **सनिष्यद् जलम् -** अजस्रं प्रवहणशीलं जलमिदं भवति।
8. **समुद्रियं जलम् -** समुद्रेभ्यः प्राप्तं जलमिदं वर्तते।[30]

एतेषु सर्वेषु जलेषु केवलं वृष्टिजलम् अत्युत्तमं शतवृष्ण्यञ्च भवति।

जलस्य विभिन्नानां भेदानामुल्लेखस्य अभिप्रायोऽयं वर्तते यत् प्रत्येकं जलस्य किञ्चिद् वैशिष्ट्यं वर्तते। तदाधृत्यैव तस्य जलस्य ओषधिरूपेण प्रयोगः क्रियते। ऋग्वेदेऽथर्ववेदे चोल्लेखोऽस्ति[31] यज्जले सर्वेषां तत्त्वानां निवासोऽस्ति। अतो जलं देवालयभूतं वर्तते। अथर्ववेदे विचारोऽयं वर्तते यज्जलं शक्तियुतं

दिव्यगुणयुतं तेजयुतञ्च वर्तते।[32] जलेऽग्निर्भवति। अतो जलस्य घर्षणाद् विद्युद् उत्पद्यते। इदं जलं जनेभ्यः शक्तिं तेजश्च ददाति।[33] शुद्धं जलममृतं रोगनाशकञ्चास्ति। परन्तु दूषितं जलं दूषितो रसश्च न केवलं सामान्यानां रोगाणामपितु वंशपरम्परागतानां रोगाणाञ्चापि कारणं भवति।[34]

रुद्रो देवो जल-चिकित्सायाः आविष्कारको मन्यते। एतया चिकित्सया सर्वविधानि व्रणादीनि स्वस्थानि भवन्ति।[35] जल-चिकित्सा जलाषभेषजमिव वर्णिता वर्तते। रुद्रो देवश्च जलचिकित्सकरूपेण वेदेषु प्रस्तुतो वर्तते।[36] जलचिकित्सायाः उल्लेखः उग्रं भेषजम् इवास्ति।[37] एतस्यां चिकित्सायां रोगग्रस्तोऽंशः क्लेदीक्रियते। तस्यांशस्योपरि च जलं धाररूपेण पात्यते। जलस्य एतादृशात् प्रयोगात् सोऽंशो नीरोगो भवति।

अथर्ववेदे सूर्यस्नानस्य वर्णनमस्ति। तदनुसारेण सूर्यस्यातपे जलसेवनं कल्याणप्रदं वर्तते-

देवस्य सवितुः सर्वे कर्म कृण्वन्तु मानवाः।

शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः॥[38]

स्वप्नदोषायापि इयं जलचिकित्सा सर्वोत्तमाऽस्ति। कस्यचिच्छयानस्य जनस्य वीर्यस्खलनं स्वप्नदोष इति कथ्यते। अथर्ववेदे स्वप्नदोषाय दुःस्वप्नाय च जलचिकित्सा वर्णिताऽस्ति।[39] एतस्य रोगस्य निवारणाय कटिस्नानमावश्यकं वर्तते। कटिस्नानेन तात्पर्यमिदं वर्तते यद् रोगग्रस्तो जनः कस्याञ्चिद् द्रोण्यां जलं गृहीत्वा तस्मिञ्जले उपविशेत्। उपवेशनसमये द्रोण्यां स्थापितं जलं कटिं यावद् अवश्यं भवेत्। शयनसमये पादानां प्रक्षालनमेतस्मिन् रोगेऽतीव लाभकरमस्ति। शयनात् प्राक् शीतलेन जलेन स्नानम्, रात्रौ नाभौ क्लेदस्य वस्त्रस्य स्थापनम् , शयनात् प्राग् मूत्रेन्द्रियस्य प्रक्षालनञ्चेति उपायाः स्वप्नदोषान् निरुन्धन्ति। यदि स्वप्नदोषोऽधिको भवति तर्हि स जनो रात्रौ मूत्रेन्द्रियस्य नाभेश्च मध्ये क्लेदं वस्त्रं स्थापयित्वा शयनं कुर्यात्। एतस्मात् प्रयोगात् विशेषो लाभो भवति। मूत्रेन्द्रियस्य अग्रभागस्य कोमलेन क्लेदवस्त्रेण च शनैः शनैः संवाहनम्, तदुपरि जलधारस्य पातनम्, मूत्रेन्द्रियस्य शीतले जले च पञ्च सप्त वा क्षणान् यावत् स्थापनं च एतस्मिन् रोगेऽतीव लाभकरमस्ति।

चरक-सुश्रुत-वाग्भटादयो वैद्याचार्याः जलस्य विविधानि रूपाणि तदुपयोगञ्चाधिकृत्य स्वकीयेषु ग्रन्थेषु विस्तरेण विचारं प्रस्तुतवन्तः। इमे आचार्याः वृष्टि-नदी-समुद्र-शीतल-उष्ण-पेय-अपेयजलादीनां विवेचनं कुर्वाणाः ग्राह्यस्य अग्राह्यस्य च विवरणं जलचिकित्सायाश्चोपयोगितां विवेचितवन्तः।[40] जलमुदर-कृमि-विषनिवारण-ज्वरताप-कुस्वप्नतां-स्वप्नदोष-प्रमेह-चर्म-उदरप्रभृतिरोगेषु नितरां लाभप्रदमस्ति। आधुनिकानां चिकित्साशास्त्रिणाम्मतं वर्तते यज्जनाः प्रतिदिनं द्विलीटरपरिमितं जलं पिबेयुः। जलस्य अपानात् नैके रोगाः उद्भवन्ति। जलस्य पानाच्च शरीरात् सर्वाणि दूषितानि तत्त्वानि बहिर्भवन्ति। शरीरञ्च स्वस्थं भवति। फलतः इदं सिद्ध्यति। जलं सर्वरोगनाशकं रसायनञ्च वर्तते। जलाभावे न कश्चन प्राणी जीवितो स्थातुं शक्नोति। जलं विना मनुष्येषु मुखशोषः, शरीराङ्गेषु दुर्बलता, मृत्युरपि भवितुं शक्नुवन्ति। अतो जलचिकित्सा चतुर्विधासु चिकित्सासु महद् महत्त्वं भजते। जलं सर्वेषां जीवने नितरामावश्यकमस्ति।

सन्दर्भः

1. आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत।
   ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि।। अथर्व. 11.4.16

2. जीवनं वर्तते नीरप्राणधारणयोरपि। अमरकोशे वारिवर्गः

3. निरुक्तम् 1.12.83

4. छान्दोग्योपनिषत् 7.10.1-2

5. रस्यते इति रसः। चरकसंहिता, सूत्रस्थानम् ।

6. प्रथमो दैव्यो भिषक्। यजुर्वेदः 16.5

7. रुद्रं जलाषभेषजम्। ऋग्वेदः 1.43.4

8. वरुणं भिषजां पतिम्। यजुवेदः. 2/40
वरुणो भिषज्यन्। तत्रैव 19.80

9. अप्सु मे सोमो अब्रवीद् अन्तर्विश्वानि भेषजा।
आपश्च विश्वभेषजीः। ऋग्वेदः 1.23.20

10. अप्स्वन्तरमृतम् अप्सु भेषजम् । तत्रैव 1.23.19

11. आपः पृणीत भेषजं वरुथं तन्वे मम। तत्रैव 1.23.2

2. आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि। तत्रैव 1.23.23

3. आपः . . . भिषजां सुभिषक्तमाः। अथर्ववेदः 6.24.2

14. आपो . . . ह्रद्द्योतभेषजम्। तत्रैव 6.24.1

15. हिमवतः प्रस्रवन्ति सिन्धौ समह सङ्गमः।
आपोह मह्यं तद्देवीर्ददन् ह्रदद्योतभेषजम्।। तत्रैश्व 6.24.1

16. देवस्य सवितुः सर्वे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः।
शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवः।। तत्रैव 6.23.3

17. विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् । तत्रैव 1.3.5

18. आपो हि ष्ठा मयो भुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे। तत्रैव 1.5.1

19. यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयेतेह नः।
उशतीरिव मातरः। तत्रैव 1.5.2

20. ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम्।
अपो याचामि भेषजम्। तत्रैव 1.5.4

21. अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्। तत्रैव 11.8.29-32

22. आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।

आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात्। तत्रैव 3.7.5

23. इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः।

वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान्। तत्रैव 3.24.3

24. भिषग्भ्यो भिषक्तरा आपो अच्छा वदामसि। तत्रैव 19.2.3

25. जीवा स्थ जीव्यासं सर्वमायुजीव्यासम्। तत्रैव 19.69.1

26. आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ताः।

तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत्।। तत्रैव 3.13.5

27. इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत्।

यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम्।। तत्रैव 7.89.3

28. अपो दिव्या अचायिषं रसेन सम्पृक्ष्महि।

पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा।। तत्रैव 7.89.1

29. सस्रुषीस्तदपसो दिवा नक्तं च सस्रुषीः।

वरेण्यक्रतुरहमपो देवीरूप ह्वये।। तत्रैव 6.23.1

30. शं न आपो धन्वन्याः शमु सन्त्वनूप्याः

शं न खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ-

आभृताः शिवा नः सन्तु वार्षिकीः। तत्रैव 1.6.4

शं त आपो हैमवतीः शमु ते सन्तूत्स्याः।

शं ते सनिष्यदा आपः शमु ते सन्तु वर्ष्याः।

अपो देवीरूप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः।

सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः। तत्रैव 1.4.3

31. यद् देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत। ऋग् 10.72.6

प्रविष्टा देवाः सलिलानि आसन्। तत्रैव 10.8.40

32. अग्नेर्भागस्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त। तत्रैव 10.5.7

33. शिवानग्नीनप्सुषदो हवामहे मयि क्षत्रं वर्च आ धत्त देवीः। तत्रैव 16.1.13

34. यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वा व्यानशे।

वेदाहं तस्य भेषजं क्षेत्रियं नाशयामि त्वत्।। तत्रैव 3.7.6

35. इदं रुद्रस्य भेषजम्। तत्रैव 6.57.1

36. रुद्र जलाषभेषज.। तत्रैव 2.27.6

37. जालाषमुग्रं भेषजम्। जालाषेणाभिषिञ्चत्। तत्रैव 6.57.2

38. तत्रैव 6.23.3

39 अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत्।

प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु। तत्रैव 10.5.24

40. चरकसंहिता, सूत्रस्थानम् सप्तविंशतितमेऽध्याये जलवर्गः। अष्टाङ्गहृदये, सूत्रस्थाने, पञ्चमेऽध्याये, तोयवर्गः। सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थानम्, पञ्चचत्वारिंशत्तमेऽध्याये तोयवर्गः।

❑❑

Image And Symbol-Worship in the Late Ṛgvedic Period

Krishna Kumar

Introduction :

Till recently, the scholars generally held the opinion that idolatry was a very late innovation in the religious life of man. The epoch-making discovery of a Palaeolithic God at Mansar in Nagpur District (Maharashtra) by A.K. Sharma has, however, finally dispelled this misconception. The discovery of stone tools right from the Early Stone Age to the Late Stone Age near the said anthropomorphic figure roughly fashioned out of a huge triangular shaped granite block suggests that the prehistoric man of Mansar regularly worshipped this image. Similarly, the Indologists believe that the Ṛgvedic religion was primarily based on nature-worship, which gradually developed into a sacrificial cult, and it had no place for image worship. However, this view is not wholly witnessed by the available literary and archaeological evidence which clearly shows that the late Ṛgvedic religion was a amalgam of different religious practices including symbol and crude image-worship. As regards the prevalence of idolatry in the Ṛgvedic period, the scholars are sharply divided into two groups. While on the basis of literary evidence. F. Max-Muller[1], H. H. Wilson [2], R. P. Chanda[3] etc. have completely ruled out the possibility of image worship in the Ṛgvedic age on the same[5] round. Bollensen [4], S.V. Venkateshwara, 5 A.C. Das, 6 O.C. Gangoli[7], B.C. Bhattacharya[8] etc. have held that image-worship was practised by the early Aryans. In view of the highly controversial nature of this issue, it needs a careful investigation in the light of the available literary and archaeological evidence.

Literary Evidence :

S.V. Venkateshwara and others have noticed certain hymns in the *Ṛgveda*, which testify that idolatry was prevalent in the early Āryan society. In a verse the sage asks : 'Who will buy this Indra for ten cows? When he has slain his foe he may give him back to me'.[9] In another hymn the priest says : 'O thunderbolt-bearing Indra : we do not sell you even at a large price; O thunderbolt bearer ! not even for thousands or ten thousands of riches; O possessor of many treasures! not even in exchange of untold wealth[10]. As noticed by A.C. Das in a passage a household

image of Indra is mentioned 'like a small limbed boy'.[11] Moreover, the art of image making [12] and praise for the artists making images of Indra[13] are also alluded to in a few hymns.

The crude figures and symbols representing different divinities find mention in the Post-Ṛgvedic literature as well. The deposition of a 'golden man' together with other objects in the foundation of a sacrificial altar is described in the *Taittirīya Saṃhitā*[14]. In a passage from the *Śatapatha Brāhmaṇa* the 'golden man' is variously identified with Prajāpati, Agni and the sacrifices himself.[15] C. Kulkarni also noticed several references to images of Indra and *Pṛthvī* in the Vedic *Saṃhitās*.[16] The wheels and discs of gold symblising sun *(Sūrya)* are referred to in the Vedic literature[17]. These literary illustrations suggest that the practice of symbol and image-worship, which commenced in the late Ṛgvedic age, continued even during the Post-Ṛgvedic times.

Archaeological Evidence :

Now the question arises, where are the actual icons and symbols of the Ṛgvedic age? So far my knowledge goes, none has ever tried to answer this question. As I have discussed elsewhere the so-called Copper Hoard-OCP Culture was one of the earliest proto-historic cultures in Northern India, and the Late Ṛgvedic Āryans were the authors of the same.[18] Numerous copper Hoard objects, viz. celts, harpoons, spear-heads, antennae, swords, hatchets, rings and anthropomorphs have already been reported from different sites in the *Gaṅgā* valley. The important sites yielding anthropomorphs are Lothal[19] in Gujrat; Bisauli,[20] Kiratpur,[21] Saipai[22], Fathegarh[23], Chandausi[24], Sheorajpr[25], Madarpur[25] and Bankot[25b] in Uttar Pradesh; Koabarti[26] in Bihar and Jagatpur in Nepal[26a]. But these curious objects have never been properly studied, so far.[27] (Fig.1)

An anthropomorph has been variously identified by eminent scholars as an image[28], an all purpose tool[29], a figure in the shape of a man,[30] a missile or boomrang[31], a primitive object of magic, or cult significance,[32] a figure of the Mother Goddess,[33] a thunder-bolt[34], an object of worship,[35] a personified deity,[36] some kind of ritual figure,[37] a cult-object associated with fertility and prosperity[38] etc. Since none of these identifications are based on solid grounds, they are mere conjectures.[39] In the light of the afore-said Ṛgvedic hymns the so-called copper anthropomorphs may be reasonably identified with the Ṛgvedic images of lord Īndira.

The archaeological excavations at Lal Qila (on OCP site in Bullandshahar district, U.P.) have yielded some terracotta figurines of the Mother Goddess (Fig.2) 40. They most probably represent the Ṛgvedic idols of *Pṛthvi* (the Goddess Earth). A unique copper figurine of humped bull has come to light from Khajraveri in West Bengal.[40a] (Fig.3) A few terracotta bull figurines have also been recovered from excavations at Ambkheri – an OCP site in Saharanpur district,[41] and Lal Qila in

Bullandshahr district [41a] in Uttar Pradesh. They possibly stand for the Ṛgvedic icons of *Vṛṣabha* or the Holy Bull. Some terracotta toy-cart wheels and pottery discs (Fig.4) were discovered at several OCP sites, viz. Ambkheri, [42] Lal Qila, [43] Atranjikhera[44], Daultapur[44a] and Śringaverapura[44b]. Besides serving various secular needs, they were probably also employed as symbol of the Sun God (*Sūrya*) for worship by the late Ṛgvedic Aryans.

Conclusion :

Thus on the basis of combined testimony of the literary and archaeological evidence we arrive to the conclusion that some sort of symbol and crude idol-worship was undoubtedly in vogue during the late Ṛgvedic age. In addition to the sun-symbols, images of Indra, *Pṛthvi* and *Vṛṣabha* were also adored by the late Ṛgvedic Āryans. The Ṛgvedic iconography was deeply influenced by the anthropomorphic and theromorphic elements. Subsequently, both these traits albeit in an evolved form, survived in the Brahmanical iconography. Incidentally, this study also proves that the late Ṛgvedic Āryans were the authors of the so-called Copper Hoard/OCP Culture.[45]

In the absence of the C-14 determinations for the OCP sites, this culture cannot be precisely dated. The available TL dates, however, suggest a time-span of circa-2100-900 B.C. with a margin on either side.[46] As I had pointed out more than a decade ago the long continous chain of the protohistoric cultures beginning right from the aceramic Neolithic cultures in Afghanistan and Baluchistan down to the full-fledged Copper Age culture, i.e. the Copper Hoard. OCP culture in Northern India including the so-called Indus Valley culture, marks the indigenous culture-change process,[47] which may reasonably be identified with different stages in the gradual evolution of the Ṛgvedic Aryan culture in South Asia.[48] On the basis of the C-14 and the TL dates this long chain of the proto-historic cultures may tentatively be assigned to a date-bracket of circa 8000 B.C. – 900 B.C.[49] This clearly shows that the copper Hoard OCP culture represents the late Ṛgvedic culture, and the Āryans practised image-worship. Moreover, the idolatry has a hoary past in India, where it commenced sometimes in the Early Stone Age and continued till the Modern times.

Notes and references :

1. A.K. Sharma, 'Prehistoric Mansar', *Puramanthana*, 1, 2003, pp. 4-5, Pl. I

1a. F. Max-Mullar, Chips from a German workshop, I, p.98

2. H.H. Wilson, *'Preface'* in *Viṣṇu-Purāṇa*, Calcutta, 1961, p. ii

3. R.P. Chanda, 'The Beginnings of Art in Eastern India', Memoir of the Archaeological Survey of India, 30, 1927, p.2

4. Bollansen in J. Muir, Original *Saṃskṛta* Texts, London, 1980, V. pp. 553-54
5. S.V. Venkateshwara, 'Vedic Iconography', Ruptam, 42-44, 1930, pp. 21-27
6. A.C. Das, Ṛgvedic India, Calcutta, pp. 145-46
7. O.C. Gangoly, 'Īndra Cult Versus Kṛṣṇa Cult', Journal of the Gangānāth Jhā Research Institute, Allahabad, VII, 1, November, 1949, p.4
8. B.C. Bhattacharya, Indian Images, I, Calcutta, 19221, pp. xix-xix.
9. *Ṛgveda*, IV, 24, 10
10. Ibid., VIII, 1, 5
11. Ibid., X, 69, 15-16
12. Ibid., VI, 28, 6
13. Ibid., IV, 17, 4
14. *Taittirīya Saṃhitā*, V, 2, 6-9
15. R.P. Chanda, op.cit., p. 2
16. C. Kulkarni, Vedic Foundations of Indian Culture, Bombay, 1973, p. 246
17. A.A.Macdonell. Vedic Mytholgy, Delhi, 1974, p.155
18. Krishna Kumar, 'Ṛeligion and Authorship of the Copper Hoard/ OCP Culture', Journal of the Ganganatha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, XLII, January-December, 1987, pp.61-66; `the Copper Hoard Culture in the Mid-Ganga Valley: An Appraisal in the Light of New Discoveries', In C. *Margabandhu* et al (eds.) Indian Archaeological Heritage (K.V. Soundarapar Rajan Festscrift), I, Delhi, 1991, pp. 155-62; `Late Ṛgvedic Aryans and Archaeology' In R.K.Sharma and R.C. Agrawal (eds), Krishna Smṛti (Prof. K.D. Bajpai Commemoration Volume), New Delhi,. 1995, pp. 46-52
19. S. R. Rao, Lothal and Indus Civilization, Bombay, 1973, pp. 82, 182-94, fig. 20, 21
20. Stuart Piggott, 'Prehistoric Copper Hoards in the Ganges Basin Antiguity, 72, 1944, p. 182
21. R.C. Gaur, 'One More Copper Hoard from the Ganga Basin, and an Reassessment of the Problem', in M.S. Nagarajarao (ed.) Madhu : Recent Researches in Indian Archaeology and Art History, Delhi, 1981, pp. 73-76, fig. 15, pl. xv, B
22. B.B. Lal, 'A Note on Excavations at Saipai', *Purātattva*, 5, 1971-72, pp. 46-49, fig. 22.
23. V.A. Smith, 'The Copper Age and the Prehistoric Implements of India-Supplement', Indian Āntiquary, XXXIV, 1905, pp. 234-38. pl. II

24. Indian Archaeology, 1966-67 – A Review, P. 81, pl. LV.
25. B.B. Lal, 'Further Copper Hoards from the Gangetic Basin and a Review of the Problem', Ancient India, 7. 1951, p. 25, pls. IX & X, A
25a. D.V. Sharma et al, 'A Report on Excvation at Madarpur, A Copper Hoard Site', *Purātattva*, 32, 2001-2002, pp. 33-42, Pl. 3-5
25b. M.P. Joshi, 'New Horizon of the Ganga Valley Copper Hoard Archaeology', Bulletin of Museum and Archaeology in U.P., 45-46, 1990, pp. 2-3, Pl. II
26. P.K. Agrawal, 'A Prehistoric Bronze Anthropomorph in the Patna Museum and Its Identification', *Purātattva*, 1, 1967-68, pp. 96-98 98, pl. XI
26a. Shri Joseph Manuel, Archaeological Survey of India, Bhopal Circle has kindly drawn my attention to the copper anthropomorph from Jagatpur in Nepal
27. Krishna Kumar, 'The Protohistoric Copper/Bronze Anthropomorphs from Northern India : Their Identification with Late Ṛgvedic Images of Indra In S.C. Bhattarcharya et al (eds) Peeping through the Past (Prof. G.R. Sharma Memorial Volume), Allahabad, 2000, pp. 86-123
28. Smith op. cit., p. 238; Krishna Kumar, 'The Copper Hoard Implements in the National Museum, New Delhi : A Typological Study', Journal of he Ganganath Jha Research Institute, Allahabad, X, 1-4, January-December, 1984, p. 176
29. D.H. Gordon, The Prehistoric Background of Indian Culture, Bombay, 1958, pp. 137-38
30. Stalla Kramrisch, The Art of India, London 1965, p. 198, pl. 3
31. D.P. Agrawal, The Archaeology of India, London, 1982, p. 205
32. P. Mitra, Prehistoric India, Calcutta, 1927, p. 288; K. Deva, 'Comments', in *Purātattva*, 5, 1971-72, p. 13
33. P.K. Agarwal, op.cit., pp. 96-98
34. T.K. Das Gupta, Der Vajra, Wiesbaden, 1975, pp. 71-81
35. K. N. Dīkshit, 'The Copper Hoards in the Light of Recent Discoveries', Bulletin of Ancient Indian History and Archaeology, 2, 1968, p. 50, P. Yule, 'Prehistoric Copper Hoard Artefacts in the State Museum, Lucknow'. Bulletin of Museum and Archaeology in U.P., 33-34, 1984, pp. 5-6
36. R.C. Gaur, op. cit., pp. 73-76
37. B. & R. Allcin, The Rise of Civilization in India and Pakistan, New Delhi, 1983, p. 256

38. R.C. Agrawala, 'Unique Copper Anthropomorph from Sheorajpur, Ranpur', Bulletin of Museum and Archaeology in U.P., 33-34, 1984, p. 10
39. B.B. Lal (1951) op. cit. p. 24
40. Indian Archaeology, 1969-70 – A Review, p. 39, pl. LI, A
40a. Krishna Kumar 'Studies in the Ochre Coloured Pottery Culture, Unpublished D. Phil. Thesis, University of Allahabad, 2001, p. 183.
41. Indian Archaeology, 1963-64 – A Review, p. 56
42. I.bid., p. 56
43. Indian Archaeology, 1969-70 – A Review, p. 39, pl. LII, B.
44. R.C. Gaur, Excavations at Atranjikhera, Delhi, 1983, p. 69, pl. XIV, B. 2 & 3
44a. R.C. Gaur, 'Excavations at Daulatpur (District Bullandshahr) – A Camp Site of the OCP Period', In Purushottam Singh et al (eds)
44b. B.B. Lal and K.N. Dikshit, 'Sringaverapura : A Key Site-for the Proto-history of the Central Ganga Valley', *Purātattva*, 10, 1978-79, pp. 1-7
45. Krishna Kumar, 'The Copper Hoard / OCP Culture : A Review of the Problem in the Light of Recent Discoveries', *Pragdhava*, 8, 1997-98, pp. 39-56; 'The Typology and Identification of Protohistoric Copper / Bronze Anthropomorphs : An Assessment in the Light of New Evidence', *Pragdhava*, 12, 2001-2002. pp. 127-32
46. Krishna Kumar, 1997-1998, op. cit., p. 50; 'Studies in the Ochre Coloured Pottery Culture', Unpublished D. Phil. Thesis, University of Allahabad, 2001, p. 263
47. J.G. Shaffer, 'Indo-Aryan Invasions : Cultural Myth and Archaeological Reality' In John R. Lucas (ed.), "The People of South Asia", New York, 1984, p. 88
48. Krishna Kumar, *'Ṛgvedic Ārya Samskṛti kā Udbhava, vikāsa evaṃ vistār : Ek Purātāttvik Vivechan'*, Sammelan Patrika (Hindi Sahitya Sammelan, Allahabad), 77, 1, *Pauṣa-Phālguna, Śaka* 1913 (1992 A.d.), pp. 14-15; 1997-1998, op.cit., p. 51
49. Ibid. pp. 14-15; 1997-98, op.cit., p. 51

❑❑

वेद-शास्त्रीय पर्यावरण-चिन्तन

नरसिंह चरण पण्डा

आज पर्यावरण एक प्रमुख विश्व-समस्या है। विश्व में हर मानव पर्यावरण को लेकर चिंतित है। अत्यधिक विवेकशील इस मानव की अतिशय भोगवादी, अविवेकशील एवं दुराचार कर्म के कारण प्रदूषण की समस्या सुरसा की भांति मुँह फैलाये सम्पूर्ण जगत् को निगल जाने के लिए आतुर सी दिखाई देता है। यही कारण है कि आज समग्र विश्व मानवता के अस्तित्व के आगे खड़े विकट संकट को देखकर पर्यावरण-संरक्षण के प्रति चिन्तित दिखाई देता है। अत्यन्त विलक्षण मेधासंपन्न मानव भी इस पर्यावरण समस्या से अपने आपको वचा नहीं सकता। अतः वह इस गंभीर समस्या से मुक्ति पाने के लिए सतत प्रयत्नशील है।

'पर्यावरण' यह शब्द 'परि + आवरण' के योग से बना है। 'परि' का अर्थ है 'चारों ओर' एवं आवरण का अर्थ है 'घेरना ढकना, छिपाना, बन्द करना' आदि। अतः पर्यावरण शब्द का अर्थ है 'चारों ओर से ढका हुआ या घिरा हुआ'। प्राचीनतम संस्कृत-ग्रन्थों में 'पर्यावरण' शब्द का उल्लेख नहीं है। किन्तु इससे मिलते-जुलते प्रचलित शब्द अवश्य उपलब्ध हैं, यथा परिवेश, मण्डल एवं परिधि आदि। अर्थात् आस-पास का घेर जिससे मानव चारों ओर से घिरा या आवद्ध हुआ है, जैसे पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इस पञ्च महाभूत से यह शरीर बना है एवं जब तक ये सब शुद्ध रहेंगे तब तक मानव स्वस्थ एवं प्रसन्न रह सकता है। आज विश्व में पर्यावरण शुद्धि के लिए करोड़ों रूपये खर्च किये जा रहे हैं एवं पर्यावरण-संरक्षण एवं शुद्धि को प्रोत्साहित करने के लिए श्रेष्ठ नोवेल पुरस्कार आदि नानाविध पुरस्कार भी प्रदान किये जा रहे हैं। इसके साथ संगोष्ठियों, रेडियो, दूरदर्शन एवं अखबार आदि के माध्यम से भी पर्यावरण को शुद्धि के लिए यथार्थ उपदेश दिये गये हैं, जिस का पालन करके हम इस समस्या से बच सकते हैं। फलस्वरूप समग्र प्राणी-जगत् सुरक्षित रह पायेगा अन्यथा नहीं। पर्यावरण का आधार सत्य एवं ऋत है, जिसका उल्लेख हमारे अथर्ववेद के भूमिसूक्त में किया गया है। मन्त्र निम्न प्रकार है –

सत्यं वृहत् ऋतमुग्रं दीक्षा ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।।[1]

अर्थात् – यह विश्व बृहत् सत्य (ऋत), दीक्षा (अनुशासन), यज्ञ आदि पर टिका हुआ है। सत्य और ऋत में ब्रह्माण्ड का उन समस्त शाश्वत तत्त्वों का परिगणन होता है जिसमें सूर्य-चन्द्र आदि ग्रहों के साथ-साथ समग्र मानव-जगत्, पशु-पक्षी-जगत्, वनस्पति-(वृक्ष) जगत् एवं दृश्यमान सभी प्राकृतिक तत्त्व हैं। सृष्टि की उत्पत्ति ही इन दो तत्त्वों से प्रारम्भ हुई है। जैसे ऋग्वेद (10.190.1) में कहा गया है –

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।

सृष्टि में जो कुछ भी चराचर दिखाई दे रहा है वह ईश्वर द्वारा ही निर्मित है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।[2]

अर्थात् – सृष्टि में (संसार में) जो कुछ भी चलायमान वस्तु है, वह सब ईश्वर के द्वारा निर्मित है। वेद के अनेकों मन्त्रों से यही प्रमाणित होता है कि परमेश्वर ने ही सृष्टि की प्रत्येक वस्तु को लोक-कल्याण के लिए बनाया है। सृष्टि में एक भी वस्तु निरर्थक नहीं है।

पर्यावरण की समस्या तभी पैदा होती है, जब हम उक्त तथ्य को भुला बैठते हैं। साथ ही यजुर्वेद के निम्न मन्त्र को चिन्तन में नहीं लाते।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति।।[3]

अर्थात् जो भी विद्वान् समस्त भौतिक पदार्थों को विश्वात्मा परमेश्व में आश्रित देखता है और सब भौतिक पदार्थों में व्याप्त परमात्मा को देखता है, फिर वह संशययुक्त नहीं रहता है। इस सृष्टि का श्रेष्ठ प्राणी मनुष्य है। उसको ईश्वर ने न केवल अपनी सुरक्षा के लिए अपितु अन्य प्राणियों का सम्यक् रूप से ध्यान देने के लिए विशेष अवसर प्रदान किये हैं। मनुष्य अपनी बुद्धि के कारण, उद्योगीकरण की प्रगति तथा विकास के लिए भी सक्षम है, पर उसकी अत्यधिक लोभ की लालसा के कारण प्राकृतिक सम्पदा का उनसे अवांछित एवं असीम लाभ उठाया है, जिस कारण सर्वत्र प्रदूषण फैला है, घने जंगल कटे हैं तथा साधारण पशुओं की हत्या हुई है। अतः भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने, प्राकृतिक संपदा को हानि पहुँचाने के लिए उन लोगों को कारण माना है, जिनके सोचने एवं विचार करने का ढंग सदैव अनैतिक है। गीता के अनुसार –

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं य जना न विदुरासुराः।

न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।[4]

अर्थात् जो मनुष्य अनैतिक वृत्ति के स्वामी है, वे नहीं जानते कि उन्हें क्या करना है और क्या नहीं करना है। उनमें न पवित्रता, न सदाचार और न सत्यता होती है और न ही वे अन्तिम सुख मानते हैं।[5] मनुष्य को सदैव प्रकृति का अंग बनकर उसकी आवश्यकतानुसार लाभ उठाना चाहिए, पर उसको हानि नहीं पहुँचानी चाहिए। ऐसे लोग प्रकृति के संहारक हैं। गीता के अनुसार जिस व्यक्ति ने अपनी कामनाओं को वश में कर अनैतिक कार्य को करना बन्द कर दिया है, वही व्यक्ति प्रसन्न है एवं शान्ति प्राप्त करने में सक्षम है।[6] इस प्रकार अपने मन तथा इन्द्रिय को संयम कर, निष्काम कर्म, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, अद्रोह, निरहंकार आदि श्रेष्ठ गुणों से युक्त होकर नैतिक संयम कर, निष्काम कर्म, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, अद्रोह, निरहंकार आदि श्रेष्ठ गुणों से युक्त होकर नैतिक कार्य करता है जिससे पर्यावरण में सामंजस्य रहता है।[7] पुनः जिसका मन अनुशासित हो गया है, और जो सभी जीवों के साथ मित्रता का व्यवहार करते हैं, वे दैवस्वरूप को प्राप्त करते हैं। उसके कार्य अब पर्यावरण के साथ मित्रता वाले होते हैं।[8]

पर्यावरण-प्रदूषण मुख्यतया निम्निलिखित प्रकार के होते हैं। यथा- 1. वायु-प्रदूषण, 2. जल-प्रदूषण, 3. ध्वनि-प्रदूषण तथा 4. भूमि-प्रदूषण।

वायु-प्रदूषण की समस्या सर्वाधिक कष्टदायी बनी हुई है। ग्रामों का तेजी से हो रहा नगरीकरण और भारत की आर्थिक उन्नति का प्रमुख आधार कृषि की उपेक्षा की तेजी से हो रहा औद्योगीकरण वायु-प्रदूषण

का प्रमुख कारण है। हमारे देश में हर प्रान्त में औद्योगीकरण के नाम पर बने असंख्य कारखाने वायु को प्रदूषित करने में और मृत्यु दर को बढ़ाने में सहायक हुए हैं। इस वायु-प्रदूषण का समाधान वेद में अनेकों स्थान पर मिलता है। सर्वप्रथम वेद में बार-बार कृषि करने पर जोर दिया गया है। कृषि-कार्य गौरव का कार्य माना जाता था, अत एव इन्द्र एवं अन्य देवों को कृषि कार्य में लगाया गया है।[9] ऋग्वेद में कहा गया है कि द्यूत आदि दुर्गुणों को छोड़कर सुख पाने के लिए कृषि करें।[10] ईश्वर ने हमें कृषि के लिए उत्पन्न किया है। अतः हमें कृषि कर्म करना चाहिये। यजुर्वेद में कहा गया है – *सुसस्याः कृषीस्कृधि।*[11] ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में कृषि कार्य से सम्बद्ध अनेक सूक्त उपलब्ध है।[12] उसमें पर्यावरण को स्वच्छ रखने के लिए एवं शुद्ध अन्न प्राप्त करने के लिए नानाविध उपाय बताया गया है। यथा बीज बोने से पहले खेत को समुचित ढ़ग से स्वच्छ करें, कृषि-कार्य हेतु बैल, हल आदि उत्तम हों, अनुकूल ऋतु में उत्तम बीज बोवें, समयानुसार सिंचाई करें आदि। वेदों में प्राकृतिक ढ़ग से सिंचाई का उल्लेख मिलता है। सिंचाई के मुख्य साधन थे वर्षा जल, नहरों से, नदियों से, कुएँ एवं तालाब के जल से सिंचाई। आज कल आधुनिक उपाय से भूमि का कर्षण किया जा रहा है जैसे- ट्रैक्टर से। इसके साथ-साथ सिंचाई के लिए भी डीजल पम्प आदि का इस्तेमाल किया जा रहा है। इन सबके धूम्र से प्रदूषण फैलता है। यह एक गम्भीर समस्या है। अतः वेद के उपदेशानुसार प्राकृतिक उपाय से कृषि कार्य सम्पादन करना चाहिए।

सुसंस्कृत कृषि के लिए वेद ने अनेक उपादेय उपाय बताये हैं। हमारे अन्न शुद्ध होने चाहिये। अन्न शुद्ध होने से शरीर एवं मन स्वस्थ एवं प्रसन्न रहेगा। यदि हम दूषित अन्न भोजन करेंगे, उससे हमारे शरीर एवं मन के संस्कार भी दूषित हो जायेंगे। बुद्धि भी निश्चित रूप से दूषित हो जाती है, जिससे हम उत्तम विचार देने में एवं ग्रहण करने में असमर्थ होंगे। अतः आधुनिक खाद (Chemical fertilizer) एवं कीटनाशक (Pesticdes) से उत्पन्न किया हुआ अन्न एवं शाक-सब्जियों से बचना चाहिये, अन्यथा यह शरीर दूषित होकर रोग से नष्ट हो जायेगा। अतः वेद में कृषि के साथ-साथ यज्ञ का भी संपादन करने के लिए उपदेश दिया गया है

कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च म ऽऔद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।[13]

मन्त्र का भावार्थ है – उन्नत कृषि के लिए भूमि को उपयोगी बनाते समय यज्ञ का प्रयोग करो। पृथिवी समर्थ एवं शक्तिशाली बनेगी। पृथिवी की उत्पादन-शक्ति एवं सामर्थ्य को बढाने के लिए यज्ञ करना चाहिए। असमर्थ पृथिवी को समर्थ बनाने के लिए सदा यज्ञ करें, उससे पृथ्वी उर्वरा बन जायेगी। इसलिए यजुर्वेद में कहा गया है –

पृथिवी च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।[14]

ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि के सैकड़ों मन्त्रों में यज्ञ के द्वारा वायुमण्डल की शुद्धि की चर्चा है। बार-बार अग्नि से प्रार्थना की गई है कि अनेकों रोगों से हमें मुक्त करें। अग्नि हमारे लिए भेषज कार्य को करें, अर्थात् अग्नि चिकित्सा का कार्य सम्पादन करें। अतः वेद उपदेश देता है –

अग्निष्कृणोतु भेषजम्।[15]

अग्नि के माध्यम से चिकित्सा-कार्य में यज्ञ-पद्धति अति श्रेयस्कर है। इसमें अग्नि, सूर्यरश्मि, ध्वनि, ओषधि, ओषधियुक्त वात, ओषधि युक्त रसादि का शरीर में श्वास-प्रश्वास क्रिया द्वारा, ताप द्वारा एवं लेपन तथा शरीर के अन्दर ग्रहणादि के द्वारा क्रियाएं सिद्ध होती हैं, जिससे आरोग्यता प्राप्त होती है।[16]

यज्ञ के उष्ण परन्तु स्निग्ध वातावरण का ताप समस्त शरीर को तापित एवं स्वेदयुक्त कर देता है जिससे अंग-प्रत्यंगों में नव स्फूर्ति जाग्रत हो जाती है। वेद में दीर्घायु की प्राप्ति की कामनाएँ हैं और उसकी पूर्ति के लिए यज्ञ-संपादन करने का आदेश है, जो निम्न प्रकार है –

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय।।[17]

अर्थात् – यज्ञ से आयु की वृद्धि होती है एवं उसको यदि चिकित्सात्मक रूप से प्रयोग करें तो विविध प्रकार के रोगों से बच सकते हैं।

यह यज्ञ सृष्टि का मुख्य आधार है। यजुर्वेदानुसार यज्ञ सृष्टिचक्र का नाभि है।[18] इस यज्ञ के द्वारा द्युलोक को प्रसन्न किया जाता है एवं द्युलोक वृष्टि के द्वारा पृथ्वी को तृप्त करता है। अर्थात् यज्ञ से मेघ बनते हैं एवं परिणामतः मेघ से वर्षा होती है। अतः ऋग्वेद में कहा गया है –

भूमिं पर्यन्या जिवन्ति, दिवं जिन्विन्त्यग्नयः।[19]

यज्ञ की प्रक्रिया से वृष्टि संभव है – यह उपदेश यजुर्वेद में (स्पष्टतया) दिया गया है – *'वृष्टिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्'*।[20] श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार यज्ञ-कर्म सें बादल बनते हैं – *'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः'*।[21] अतः यज्ञ की सुगन्ध से पर्यावरण शुद्ध, शान्त एवं रोगविनाशक बन जाता है। यज्ञ के प्रभाव से हानिकारक रोगाणु और भिन्न कीटों का भी नाश होता है। यज्ञ के धुएँ से चेचक, हैजा आदि बीमारियों के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। यह बात हमारे वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। अतः वैज्ञानिकों के अनुसार 'यज्ञ' प्रकृति के संतुलन को बनाए रखने में अत्यन्त सहायक है।

ध्वनि-प्रदूषण भी आज एक प्रमुख समस्या है। एक ओर कल-कारखानों और मशीनों का कोलाहल, दूसरी ओर बस, ट्रक, ट्रैक्टर, स्कूटर, आदि के अधिक प्रयोग के कारण उत्पन्न कर्कश ध्वनि, ध्वनि-प्रदूषण का प्रधान कारण है। यह प्रदूषण पागलपन, मस्तिष्क-रोग, कर्ण-रोग आदि को जन्म दे.कर संसार के सामने एक महान् संकट के रूप में उपस्थित है। जनसंख्या-वृद्धि के कारण यह समस्या और बढ़ रही है। इस समस्या से मुक्ति क़ेवल निरन्तर यज्ञ-संपादन से सम्भव है। यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्र का उदात्त, अनुदात्त, स्वरित के अत्यन्त सुमधुर उच्चारण, घनपाठ, जटापाठ आदि के द्वारा यज्ञादि में अथवा किसी न किसी प्रसंग से चलने वाला मधुर-पाठ, संगीत-ध्वनि को अवश्य जन्म देता है। सुमधुर संगीत के द्वारा भी मनुष्य का चित्त रहता है, जिससे मानसिक बीमारियाँ समयानुसार ठीक हो जाती हैं। वैदिक मंत्रों में वह अलौकिक शक्ति है, जिसके श्रवण से, या पाठ करने से मनुष्य शरीर स्वस्थ रह सकता है। इस प्रकार नित्य वेद-मन्त्रों का पाठ ध्वनिप्रदूषण को रोकने में समर्थ है।

पर्यावरण एवं वृक्ष का अभिन्न सम्बन्ध है। पर्यावरण को शुद्ध रखने के लिए वनस्पतियों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। क्योंकि पर्यावरण एवं वनस्पति एक-दूसरे के पूरक हैं। वैदिक ऋषियों को शायद भविष्य का ज्ञान था, अतः वे वृक्ष को श्रेष्ठ स्थान प्रदान किये थे। आज भी वृक्ष को देवता के रूप में लोग पूजते हैं। इसका मुख्य कारण है वृक्ष को बचाना, जिससे संपूर्ण जीव-जगत् आराम से रह सकता है। वेद में वनस्पति-जगत् की रक्षा का बार-बार आदेश दिया गया है। अथर्ववेद में कहा गया है कि धरती पर जो हरे-भरे पर्वत, जंगल आदि हैं, वह सब का कल्याण करने वाली है

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवीस्योनमस्तु।[22]

पुनश्च अथर्ववेद में कठोर शब्दों में कहा गया है कि जो ओषधियों या वनस्पतियों को मारकर पृथिवी को सताता है, उन्हें पृथिवी हिला देती है, नष्ट कर देती है। सम्बद्ध मन्त्र निम्न प्रकार है :

मन्दाग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम्।[23]

अतः वनस्पति को बचाने के लिए ऋग्वेद में स्पष्ट कहा गया है :

मा काकम्बीरमुद् वृहो वनस्पतिमशस्तीर्वि हि नीनशः।[24]

अर्थात् – वृक्ष, काकादि पक्षियों के मुख्य आश्रय स्थल हैं। पशुओं, पक्षियों व समस्त जीव–जगत् के खाद्य–सामग्री के स्रोत हैं। वर्षा का हेतु हैं और प्रदूषण के अवशोषक हैं। अतः ऐसे नित्य कल्याणकारी वृक्षों को नष्ट मत करो।

आज मनुष्य अपने हित के लिए वन–जंगल को नष्ट कर रहा है। अतः वनों की कमी से वर्षा की कमी हो रही है। पुनश्च वनस्पतियों से आरोग्य बढ़ता है, अतः इनके कटने या नष्ट होने से रोगों की सदैव वृद्धि हो रही है। वृक्ष एवं वनस्पति के विषय में वेद में अनेक मन्त्र मिलते हैं। कुछ मन्त्र निम्न प्रकार द्रष्टव्य हैं –

वृक्षाणां पतये नमः।।[25] वनानां पतये नमः।।[26]

अरण्यानां पतये नमः।।[27] नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्तारय।।[28]

ओषधे त्रायस्व।।[29] आदि.......

यजुर्वेद के संपूर्ण 16 वें अध्याय में पर्यावरण को बचाने के लिए विशेष बल दिया गया है। इस प्रकार वैदिक ऋषि बारम्बार पर्यावरण–सुरक्षा हेतु वनस्पत्ति–संरक्षण की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहा है –

पृथिवी देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिँ सिषम्।।[30]

अर्थात् – देवों की यज्ञस्थली हे पृथिवी ! मैं तुम्हारी ओषधियों के मूल को नष्ट न करूँ। अतः इससे यह स्पष्ट हो रहा है कि मनुष्यों को सदा कल्याणकारी कार्य करना चाहिये। वनस्पतियों की जड़ें उनके विकास के लिए परम आवश्यक है, अतः पृथिवीस्थ वनस्पतियों की मूल को नष्ट नहीं करना चाहिये।

जल–प्रदूषण

विश्व पर्यावरण समस्या में जल प्रदूषण अत्यन्त घातक और विनाशकारी है। यह समस्या अनेक बिमारियों को जन्म दे रही है। विश्व के तीन भाग में जल है। अतः यदि जल शुद्ध एवं पवित्र नहीं होगा, तो हमारा शरीर स्वस्थ नहीं रहेगा। इसलिए मनुस्मृति में मनु ने 'वस्त्रपूतं जलं पिबेत्' का उपदेश अनेक वर्ष पूर्व दिया था। हमारे अथर्ववेद में भी अनेक जलों का वर्णन उपलब्ध है

शं त आपो हैमवतीः शमु ते सन्तूत्स्याः।

शं ते सनिष्यदा आपः शमु ते सन्तु वर्ष्याः।।

शं त आपो धन्वन्याः शं ते सन्त्वनूप्याः।

शं ते खनित्रिमा आपः शं याः कुम्भेभिराभृताः।।[31]

अर्थात् – पर्वतीय जल, झरने आदि से निकाले गये जल, बहने वाले जल, वर्षा–जल, खोदकर निकाले गये जल, सभी कल्याणकारी हों।

आज हमारी नदियों में शुद्ध जल प्रवाहित नहीं हो रहा है। शुद्ध जल में औषधीय तत्त्व या गुण होते हैं। यह कहा गया है कि यदि मनुष्य नित्य शुद्ध प्रवाहित जल में स्नान करता है तो वह पूर्ण स्वस्थ एवं कर्मठ रहता है। परन्तु आज गंगा, यमुना आदि बड़ी-बड़ी नदियों के किनारे स्थित विशाल कारखानों से निकलता गंदा पानी एवं गंदे पदार्थों को नदियों में बहा देते हैं, जिससे जल प्रदूषित हो रहा है। इस अशुद्ध जल का पान करने से भिन्न–भिन्न बिमारियाँ उत्पन्न हो रही हैं। पुनश्च आज आवश्यकता की उपेक्षा करके अनावश्यक रूप से विशाल जल में बाँधों के द्वारा जल रोकना और उस रुके पानी का पूरा उपयोग न करना, निरन्तर सडने देना आदि जल–प्रदूषण के कारण हैं। प्राणी–जगत् और वनस्पति–जगत् दोनों के लिए जल का महत्त्व है। जल की शुद्धता न रखना, उसकी स्वाभाविकता को समाप्त करना आदि एक ओर प्राणी-जगत् दूसरी ओर वनस्पति–जगत् को नष्ट कर देता है। इसका नित्य समाधान वेद में अनेक रूप में विद्यमान है। अथर्ववेद में कहा गया है कि जिस भूमि पर निरन्तर बहने वाले जल परिचर समान घूमते हैं वह भूमि समस्त कामनाओं को पूर्णता प्रदान करने वाली है। वह दूध और वर्चस्व प्रदान करती है।

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा।।[32]

उपर्युक्त मन्त्र के अनुसार जल का निरन्तर एवं अबाध प्रवाहित होना जल–प्रदूषण का समाधान है। इसी 12वें सूक्त के मन्त्र 30 में शुद्ध एवं निरन्तर गतिवान् जल की अनिवार्यता पर विशेष बल दिया गया है।

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुशप्रिये तं निदध्मः पवित्रेण पृथिविमोत् पुनामि।[33]

अर्थात् – शुद्ध एवं पवित्र जल समस्त रोगों का नाशक एवं समस्त जीवन–व्यवहार को शुद्ध करने वाला है। उपर्युक्त मन्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि उपलब्ध सभी प्रकार के जलों को प्राकृतिक रूप में रखा जाय। वही जलप्रदूषण को रोककर पर्यावरण की समस्या के समाधान में साधक होगा।

यह निर्विवाद सत्य है कि जल में भेषज का तत्त्व है।[34] जैसे यजुर्वेद में कहा गया है –

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्।[35]

अर्थात् जल में अमृत तत्त्व एवं आरोग्य (भेषज) तत्त्व विद्यमान है। जल स्वयं औषधि है। अतः वेद के अनेक स्थलों में जल–चिकित्सा का उल्लेख है, यथा –

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शं योरभिस्त्रवन्तु नः।[36]

अपि च :

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे।।[37]

यजुर्वेद के 1.23 तथा 4.12 आदि मन्त्रों में जल में रोगनाशक शक्ति एवं औषधि की विद्यमानता का

उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट है कि जल दिव्य गुण वाले हैं। अतः जल को शुद्ध रखने से हमारी समस्त विमारियाँ स्वतः दूर हो जायेंगी। फलतः समस्त प्राणी-जगत् जल-प्रदूषण से मुक्त होकर निरोग एवं सुखपूर्वक रह सकता है।

निष्कर्ष

भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र अहिंसा है। हमारे वेदादि-शास्त्रों में अहिंसा के ऊपर विशेष बल दिया गया है। यदि हम अहिंसा के मार्ग पर चलें तब तो पर्यावरण की रक्षा हो सकती है। पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पतियों को नष्ट न करके इन सबकी विधिवत् रक्षा करनी चाहिए। वैदिक मन्त्र हमें निरन्तर (सदैव) प्रकृति की रक्षा के लिए उपदेश दे रहा है। अतः यह हमारा परम कर्तव्य है कि हम वैदिक ऋषियों के उपदेश को अक्षरशः पालन करके पर्यावरण-समस्या को हमेशा के लिए दूर करें, जिससे समग्र मानव-समाज सुख एवं स्वस्थ रह सकती है।

सन्दर्भ

1. अथर्ववेद, द्वादशकाण्ड, सूक्त 1, मन्त्र 1
2. यजुर्वेद, अध्याय 40, मन्त्र 1
3. वही, 40.6
4. भगवद्गीता, 16.7
5. वही, 16.11
6. वही, 5.23, 25, 29
7. वही, 16.3
8. वही, 2.71-72
9. इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु। न पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्। अथर्ववेद, 3.17.4
10. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व। ऋग्वेद, 10.34.7;
    तुलनीय-यस्यामन्नं सम्बभूवुः। अथर्ववेद, 12.1.4
11. यजुर्वेद, 4.10
12. ऋग्वेद, 4.57; 10.101; यजुर्वेद, 12.67-71; अथर्ववेद, 3.17.1-9
13. यजुर्वेद, 18.9
14. वही, 18.22
15. अथर्ववेद, 6.106.3
16. सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः समृषीणां स्तुतेन।
    सं प्रियेण धाम्ना समहमायुषा सं वर्चसा सं प्रजया सं रायस्पोषेण ग्मिषयि।। यजुर्वेद, 3.19

17. अथर्ववेद, 19.63.1
18. अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। यजुर्वेद, 23.62
19. ऋग्वेद, 1.164.51
20. यजुर्वेद, 18.9
21. गीता, 3.14
22. अथर्ववेद, 12.1.11
23. वही, 12.1.57
24. ऋग्वेद, 6.48.17
25. यजुर्वेद, 16.19
26. वही, 16.18
27. वही, 16.20
28. वही, 16.40
29. वही, 4.1
30. वही, 1.25
31. अथर्ववेद, 19.2.1-2
32. वही, 12.1.9
33. वही, 12.1.30
34. आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम।
    ज्योक् च सूर्यं दृशे।। ऋग्वेद 1.23.21
    अपि च –
    अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
    अग्निं च विश्वाशम्भुवमापश्च विश्वाभेषजीः।। ऋग्वेद, 1.23.20
35. यजुर्वेद, 9.6
36. वही, 36.12
37. वही, 36.14

□□

Further observations on the use of *Kṛ*

Satya Vrat

The phenomenon represented by a segment of Sanskrit roots in denoting a variety of meanings is brilliantly summed up by Patañjali in the pithy sentence *'bahvarthā api dhātavo bhavanti'*. The dictum is, however, to be taken with a modicum of caution. The so-called homonymity of the roots in question is circumscribed by strict grammatical formulations. For all practical purposes, it is confined to the meanings prescribed for them in the *dhātupāṭha*. Minor exceptions apart, they are not known to denote a sense that is not assigned to them or that belongs to other roots. *Kṛ*, however, towers above the entire corpus of roots in unfolding a spectrum of meanings that are otherwise denoted independently by other specific roots. There is hardly any conceivable meaning that it is not found to convey in the vast domain of literature, both sacred and profane. In view of the plethora of meanings that it yields, *Kṛ* may well be treated to form a class by itself. What has been said of the word *sarve sarvārthavācakāḥ śabdāḥ* is equally true of *Kṛ*. However, the rationale behind the queer phenomenon is not hard to divine. *Kṛ.*, as is well known, basically denotes an action in general (*ḍukṛñ karaṇe*). This *karaṇa* (action in general) turns out to be a magic lamp to conjure up the whole range of meanings that *Kṛ* denotes with a vengeance. In the true spirit of the *Sāṃkhya* theory of causation (*satkāryavāda*), the specific meanings in which *Kṛ* has been used by the successive generations of writers, are laten in its general sense, and unravel themselves in given situations and contexts. Rather, the specific is not wholly divorced from the general (*na nirviśeṣam sāmānyam*). The whole range of the specific meanings of *Kṛ* thus emanates from its general sense, which, on its part knows no inhibitions. Besides those noted elsewhere, the present note turns focus on a number of peculiar meanings of *Kṛ* which we have been able to identify in the course of our sustained investigations to the functioning of the root.

It is a measure of the virility of *Kṛ* that it has yielded a wide variety of meanings with amazing regularity. The Vedic language has equal fascination for the root. The *Ṛgveda* highlights infinite nuances of its import that it unravelled in its semantic march.

While waxing eloquent on the sanctity of the *Prācī Sarasvatī Tīrtha*, located at *Pṛthūdaka*, the *Vāmana-purāṇa* (VP.); assures one, in its *Saromāhātmya* (*SM*),

of its efficacy to purge evil of all hues :

प्राची सरस्वती पुण्या अपि दुष्कृतकर्मणाम्।
त्रिरात्रं ये करिष्यन्ति प्राचीं प्राप्य सरस्वतीम्।।
न तेषां दुष्कृतं किञ्चिद् देहमाश्रित्य तिष्ठति।[2]

The phrase त्रिरात्रं ये करिष्यन्ति sounds somewhat enigmatic. *Kṛ* seems to have been used by the author of the *Purāṇa* in a highly uncommon sense, which, on contextual evidence, can only be `to stay', `to live'. `Those who stay for three nights at the sacred *Prācī Sarasvatī* are absolved of all their sins.' The VP is not alone in using the root in this sense. Its antiquity goes back to the time of *Rgveda*. It denotes much to same sense in the ṛc : बह्वीः समा अकरमन्तरस्मिन्[3]. *Akaram* here evidently means *avasam*. The excerpt चक्रुस्ते नाभ्यनुज्ञाता दश वर्षाणि पञ्च च serves to lend added support to the meaning. *Cakruḥ* in the verse cannot mean any thing but *ūsuḥ*. `Permitted by him, they lived there for fourteen years'. Obviously the general sense of *Kṛ* has climaxed here in the specific act of living, though it is far removed from it. Far more removed from its root is, however, the act of slaying which *Kṛ* strangely connotes in the *Bhāgavatapurāṇa* :

व्यभिचारं मुनिर्ज्ञात्वा पत्न्याः प्रकुपितोऽब्रवीत्।
घ्नतैनां पुत्रकाः पापामित्युक्तास्ते न चक्रिरे।।[4]

The perfect plural form *cakrire* poses some difficulty here. Left to itself it may slide into isolation. However, *Kṛ* seems to be intended to be a counterpart of the root *han* in *ghnata*. If so, *cakrire* can only mean *jaghnuḥ* here. And this is the only sensible interpretation that can be put on it. *Kṛ* is seldom, if ever, used in this sense. `The sons, though bidden by their father, did not kill their mother.'

Rarer still is the sense `to sing' that has been sought to be extracted from *Kṛ* The credit for preserving this meaning goes to the *Pañcatantra*. In sentences तदहं गीतं करिष्यामि। तत्कथय कतमेन रागेण करोमि[5] and त्वं पुनस्स्वेच्छया गीतं कुरु[6], *gītaṃ kariṣyāmi* or *gītaṃ kuru* by themselves may be odd expressions, but it is the proximity of *Kṛ*. to *gītaṃ* that enables one to determine the meaning of the root with a degree of certainity. It is evident from the context that *Kṛ* in the aforesaid excerpts is synonymous with *gai*. The rather blunt question `I will sing a song, but tell me in which *rāga* should I sing it', evokes the apt response `you may sing the number of your choice.'

Of the meanings that *Kṛ* has been denoting since the Vedic times, `to give' (*dāne*) stands out prominently. कृधि रत्नं यजमानाय त्वं हि रत्नधा असि[7] purports to be an excellent illustration of the use of *Kṛ* in this sense. Here *kṛdhi* assuredly stands for *dehi*. `Bestow riches upon us, O Indra, because you are a repository of riches'. So does *kṛdhi* mean *dehi* in अस्मभ्यमिन्द्र वरिवः सुगं कृधि[8]. `Bestow joy and good luck on

us, O Indra.' *Sāyaṇa*, however, chooses to interprete the verse otherwise. The *Atharvaveda* has been equally tenacious in using the root in this sense. *Ṛcs* like त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोतु[9] and यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु यशसं द्यावा पृथिवी उभे इमे[10] amply bear out the sages fondness for the root. *Kṛṇotu* here clearly means *dadātu*.

The root evoked wide popularity with the classical writers. The *Ādikāvya* furnishes several instances of *Kṛ* in this sense. *Kṛtam* in अवज्ञया कृतं हन्याद् दातारं नात्र संशयः[11] unmistakbly stands for *dattam*. `A thing given with disrespect to the suppliant spells doom for the donor.' The meaning is inherent in the desiderative form *cikīrṣavaḥ* compounded with *tapaḥphala* in अभ्यागच्छन्सुराः सर्वे तपःफलचिकीर्षवः[12]. It is doubtless synonymous with *ditsavaḥ*, तपः फलं दातुमिच्छवः, as the *Śiromaṇi* puts it. `The deities floched there wishing to bestow on them the reward for their penance.' A very interesting use of *Kṛ* preceded by the prefix *upa* in this sense is met within Manu. *Kullūkas* rendering of *paropakṛtam* used in the verse क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपकृतमेव[13] as अन्येन वा केनाप्यानीय दत्तम् cracks the hard nut that otherwise seemed abstruse. The commentator had the vision to identify the correct meaning of the root in the context (*Kṛtam dattam*). Another verse from Manu makes the sense all the more clear.

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा।।[14]

Here कृतदण्डाः obviously means दत्तदण्डाः i.e. 'punished'. `The people who have been punished for thier sins by the king, go to heaven like pure souls,' purged of their vices.'

Though the two are denoted by the Sanskrit root *dā* `paying' is a trifle different in import from `giving', though they are not wholly detached from each other. As evidenced by यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे[15], *Kṛ* had come to mean `to pay' in the Vedic period itself. Kauṭilya furnishes some more uses of the root in this sense. The two instances that merit attention are reproduced here :

(i) ध्वजमूलमतिक्रान्तानां चाकृतशुल्कानां शुल्कादष्टगुणो दण्डः।[16]

`Those who cross the toll-post without paying the toll tax, are to be punished with a fine eightfold more than the usual tax.'

(ii) कृतशुल्केनाकृतशुल्कं निर्वाहयतः ... तच्च तावच्च दण्डः।[17]

`He who smuggles the goods on which tax has not been paid with those on which it has been paid, should have them confiscated and an equal amount of fine be imposed on him.'

The *Śrīmūlā* is beyond, reproach in rendering *kṛtaśulkena* and *akṛtaśulkam* as *dattaśulkena* and *adattaśulkam* respectively.

The general sense of `giving' culminated in the specific sense of `giving libation

to the manes'. As borne out by the following verses, *Kṛ* is frequently used in this sense as well :

(i) भगीरथस्तु राजर्षिः कृत्वा सलिलमुत्तमम्।
यथाक्रमं यथान्यायं सागराणां महायशाः।।[18]

(ii) एवं स कृपणं तत्र पर्यदेवयता सकृत्।
तथोक्त्वा कर्तुमुदकं प्रवृत्तः सह भार्यया।।[19]

(iii) कृष्णेन भरतस्त्रीभिर्ये च पौराः समागताः।
उदकं चक्रिरे चैव गाङ्गेयस्य महात्मनः।।[20]

`To give name', `to name' is the meaning which also seems to be an extension of the basic sense of `giving'. The meaning is preserved in a large number of works, some of which are pretty early. Some of the notable examples may be reproduced here to drive home the point :

(i) वसिष्ठः परमप्रीतो नामानि कुरुते तदा।[21]

(ii) तस्याहं सोमशर्मेति नाम करिष्यामि।[22]

(iii) नामधेयं दशम्यां द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्।[23]

It is a testimony to the resilience of *Kṛ* that it voices effectively the different shades of the basic sense of *grah*. It is thus found to mean `to receive, to accept, to attain, to borrow' in various contexts. While commenting on the *Vārtika* दृशेश्च, S. Ray remarks सूत्रे बुद्धिरिति ज्ञानमात्रं, न च चक्षुरादिभिः कृतं विशिष्टज्ञानम्. [24] *Kṛtam* here undoubtedly means *gṛhītam*, i.e. *prāptam* `attained'. `The word *buddhi* in the *sūtra :* गति–बुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ (I.4.52) denotes knowledge in general, not the specific knowledge attained through eyes etc.

The *Rāmāyaṇa*-verse 'कुरु नो याचनां पुत्र सीता तिष्ठतु भामिनी[25]' brings out another aspect of the root *grah* which is brilliantly denoted by *Kṛ*. It obviously means `to accept' here. `Accept our request, son. Sitā may stay back here in *Ayodhyā*'. It is almost in the same sense that *Kṛ* is used in the *Ṛgveda*. इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम्[26]. *Kṛṣva* in association with *antaram* is rendered by *Sāyaṇa* as `*āsannam kuru*' `receive'. `Receive in your heart, i.e. 'accept this land of mine as that of a friend'. Receiving is but a prelude to accepting.'

Yājñavalkya has been instrumental in focussing on a rare sense of *Kṛ*, though in ultimate analysis, that too represents an aspect of the basic meaning of *grah*. As used by him in the following verses, it means `to borrow', `to incur' : `

(i) अविभक्तैः कुटुम्बार्थे यदृणं तु कृतं भवेत्।
दद्युस्तद्रिक्थिनः प्रेते प्रोषिते वा कुटुम्बिनि।।[27]

The debt incurred for the undivided family should be paid back by the head, or his heirs after he is dead or gone on (long) journey.

(ii) न योषित्पतिपुत्राभ्यां न पुत्रेण कृतं पिता।

दद्याद् ऋते कुटुम्बार्थान्न पतिः स्त्रीकृतं तथा।।[28]

The famous line from the *uttararāmacarita* न खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा[29] is all that is generally reproduced to illustrate the use of *Kṛ* in the sense of `creating', `producing', `generating'. The meaning, however, seems to have been quite popular with the ancient authors. While dilating upon the advantages of the study of philosophy, Kauṭilya remarks प्रज्ञावाक्यक्रियावैशारद्यं च करोति[30]. *Kṛ* here clearly means `to produce'. `The study of philosophy produces sharpness of intellect, expression and action.' The *Jātakamālā* throws up a very interesting use of the root in this sense. In view of its somewhat philosophical overtones, the verse in question merits reproduction.

यदि पद्मनालरचनादि च यत्तदहेतुकं ननु सदैव भवेत्।

सलिलबीजादिकृतमेव तु तत्, सति तत्र सम्भवति न ह्यसति।।[31]

`If the lotus-stalk etc. were to spring up without any cause, it should have been always there. That however, is produced by seed, water etc. So when they are there, the lotus-stalk is produced, otherwise not.'

The meaning is met within some of the *smṛtis* as well. The *Bṛhaspati-smṛti* provides an interesting illustration :

अनेकधा कृताः पुत्राः ऋषिभिश्च पुरातनैः।

न शक्यन्ते तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः।।

Kṛtāḥ in the verse means *utpāditāḥ*, and *kartum* is synonymous with *utpādayitum*. `The ancient sages produced many sons, but the present-day sages, being shorn of virility, are not able to procreate them.'

Interestingly, the Vedic seer also pressed the root into service to convey this sense. *Kṛṇoti* in ज्योतिष्कृणोति सूनरी[32] brings out the meaning with telling effect. `The delightful dawn produces light.'

Closely related to the above is the sense (to cause) in which it is used by *Kālidāsa* in रतिमुभयप्रार्थनां कुरुते[33] `Mutual longing causes pleasure to both the partners.' *Kālidāsa* is ably supported by such celebrities as *Āryaśūra* and *Śaṇkarācārya*. In his analysis of the power of God, the former remarks दासतैव च सा स्याद्या क्रियते परेण[34] `That lordship is but slavery which is caused by an extraneous consideration.' *Śaṅkara's* observation : प्रसिद्धं चार्थित्वसामर्थ्यादिकृतमधिकारितारतम्यम् in his *Bhāṣya* on Brahma*sūtra* I.IV is equally illuminating.

`To manifest', `to display' is a sense that *Kṛ* has been denoting since the Vedic

time. सूर्यो रूपं कृणुते द्योरूपस्थे[35] forms a worthy illustration of the use of *Kṛ* in this sense. *Kṛṇute* in the *ṛc* cannot but mean आविष्करोति. The wise-saying नहि सौरमणिः स्वभावकान्तिं रविपादैरनधिष्ठितः करोति[36] joins the Vedic verse in highlighting the meaning. `Unless covered by the solar rays, the sun-gem does not manifest its inherent briliance'. कृत्वातिसिंहस्थाम्[37] represents a slightly different aspect of `manifesting'. *Kṛtvā* here means *pradarśya*. Thus, the expression denotes displayed valour that surpassed that of a lion.'

Kṛ is known to mean `to place', `to put', the sense that is generally conveyed by *ni+dhā* or *sthāp* with or without a prefix. The meaning seems to have enjoyed a measure of popularity with the ancient writers. *Vālmīki* has palpable fondness for this sense of the root. While speaking of Hari's *Yoganidrā*, he purposefully used *Kṛ* to denote the intended sense : पर्वतं पृष्ठतः कृत्वा शिश्ये तत्रोदधौ हरिः[38], serves well to illustrate the meaning. The verse प्लवे कठिनकाजं च रामश्चक्रे समाहितः[39] underscores the sense with more clarity : `Rāma calmly put the spade and basket in the boat.' *Vālmīki* is ably supported by the author of the *Viṣṇupurāṇa* in putting this meaning on *Kṛ*. The expression : स च तं स्मयन्तकमणिमात्मनिवेशने चक्रे[40] leaves little doubt about the true import of *cakre*. As borne out by the excerpt कृत्वा करे वक्त्रमुपोपविष्टा, चिन्तानदीं शोकजलां ततार[41], the meaning percolated down to *Aśvaghoṣa*. करे आननं कृत्वा surely means आननं हस्ते निधाय. The author of the *Bhāgavatapurāṇa* seems to use the root in a slightly different sense. In spelling out the procedure of the Yogic practices, he lays down हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः[42]. *Kṛtekṣaṇaḥ* here evidently means *nihitekṣaṇaḥ*, i.e. *baddhacakṣuḥ* `with sight fixed on the tip of nose.'

`To fix', `to decide', `to lay down' are other interesting meanings that *Kṛ* is known to denote since early times. It has evoked ready approbation from stalwarts like Vyāsa, Manu and Kauṭilya. Sugrīva lays down a strict schedule for the monkey-hordes, sent in search of Sitā, to return. सर्वेषां च कृतः कालः मासेनागमनं पुनः[43]. `I have fixed time for them all to return in a month.' कृतः here obviously stands for निश्चितः. The author of the *Arthaśāstra* has invested the meaning with technical overtones. He favours the adjudication of the judicial matters by a panel of ministers and judges. धर्मस्थास्त्रयस्त्रयोऽमात्याः... व्यावहारिकार्थान् कुर्युः[44]. The commentator unerringly renders व्यावहारिकार्थान् कुर्युः as व्यवहारयोग्यान् पदार्थान् निश्चिनुयुः. It is the past participle form of *Kṛ* that has been used to convey the meaning in Kauṭilya's warning to the traders to sell the royal merchandise at a predecided price : बहुमुखं वा राजपठ्यं वैदेहकाः कृतार्थं विक्रीणीरन्[45A] *Kṛtārtham* here means *niścitamūlyam*.

The expression प्र वो नपातमपां कृणुध्वम्[46] is rather abstruse. What one has to do with *apām napāta*, defies imagination. Obviously *Kṛ* has been employed in the verse in a sense that is hardly met with elsewhere. The credit for unravelling the

true import of कृणुध्वम् rests with *Sāyaṇa*. He rightly believes that the root *Kṛ* which denotes a general action has graduated to convey here the specific act of `extolling' : करोतिरत्र क्रिया सामान्यवाची क्रियाविशेषे स्तोत्रे पर्यवस्यति। प्रकर्षेण स्तुवध्वमित्यर्थः।

We owe it to Mammaṭa that *Kṛ* at some point of time meant `to use' also. The *Kāvyaprakāśa* provides an illuminating illustration of the meaning. Justifying the use of *sañcārībhāvas* by name in a specific situation, Mammaṭa observes : उत्सुकत्वानुभावस्य सहसा प्रसरणादिरूपस्य तथा प्रतिपत्तिकारित्वाभावादुत्सुकमिति कृतम्.[47] *Kṛtam* in the excerpt without doubt means *prayuktam*. `The fleeting feeling *utsukam* has been used in the verse as its manifestations like quick movement are unable to convey Pārvatī's impatience with cogence.'

The root has been used in the following verse aso :

हविराज्यं पुरोडाशः कुशाः यूपाश्च खादिराः।
नैतानि यातयामानि कुर्वन्ति पुनरध्वरे।।[48]

Here the root denotes different from its preceding meaning. As paraphrased by the commentator : कुर्वन्ति विनियुञ्जते, *Kṛ* in the verse denotes *viniyoga*, though that too is expressed by the English word `used'. `State or time-worn oblation, ghee, offering, *kuśa*-grass and sacrificial posts made of the *khadira* wood are not to be used in a sacrifice.

The use of *kāritāḥ* in the *Bhāgavata*-verse : प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः[49] defies comprehension. It does not mix well with क्रीडनवत्, though this precisely is the phrase that holds key to resolving the meaning of the root in the excerpt. *Kṛ* denotes here the highly uncommon sense of `dancing'. क्रीडनवत् कारिताः, therefore, mean here क्रीडनवत् नर्तिताः, `mode to dance like a puppet.'

An equally uncommon but highly interesting sense of the root is preserved in the *Atharvaveda*. The present participle form कृण्वन् used in यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्[50], poses some difficulty. But it is clear from the context that *Kṛ* cannot mean here anything else but `to raise' e.g. कृण्वन् = उत्थापयन्. `The above expression denotes the strong wind blows, raising dust and bringing down the trees.'

The verse from *Vālmiki*, इति पुत्रस्य शेषाश्च कृत्वा शिरसि भामिनी[51], is open to question so far as the meaning of *kṛtvā* is concerned. The way the commentator seeks to interprete it, leaves one cold. शेषान् क्षतान् शिरसि शिर एकदेशे मस्तके इत्यर्थः। कृत्वा अक्षतैरलङ्कृत्य इत्यर्थः, this is how he resolves the text. He seems to be convinced that *Kṛ* has been used here in the sense of `adorning.' Kauśalyā adorned a part of Rāma's head with rice, as he was poised to leave for the forest. This is hardly convincing. There was no point for her to decorate his head or forhead at that traumatic hour. Nor is it

rational to render शिरसि as शिर एकदेशे. He has failed to pin-point the exact meaning of *Kṛ* in the context. The root seems to have been used here in the sense of `throwing'. Kauśalyā threw rice on Rāma's head to bid him farewell. This practice is still current in the country. It would, therefore, be better to paraphrase शेषाश्च कृत्वा शिरसि as शिरसि अक्षतान् प्रक्षिप्य.

A modicum of ambiguity likewise sticks to the root in the following expressions from *Kādambarī* :

(i) तन्न युक्तमेनमेकाकिनं कर्तुम्.[52]

(ii) भगवन्, सकलत्रिभुवनदर्शनाभिरामायास्तवाकृतेरस्या सदृशोऽयमलङ्कारः क्रियताम्.[53]

The commentator smugly renders *kartum* in the former as *vidhātum*, and *kriyatām* in the latter as *vidhīyatāṃ*. This is quaint, if not reckless. Synonyms hardly serve to unravel the import of the Original. The so-called interpretation leaves us in the dark about the precise meanings of the root in the two sentences. It is evident from the tenor of the expressions that *Kṛ* has been used in the sense of `leaving' and `putting on' respectively. It accords with their spirit to render *kartum* as *tyaktum*, and *kriyatām* as *dhāryatām*. While the latter sense of the root is not unknown, the former is unique in a way.

Karomi in राजपुत्र ! न ते दोषं करोमि[54] is not amendable to a coherent interpretation. As *doṣam* and *karomi* do not mix well, the whole expression is reduced to a tangled jumble of words. The situation is saved in case *Kṛ* is taken here to mean `to find'. `Prince, I do not find fault with you seems to be the only sensible interpretation that can be put on the verse.

The note, though fairly detailed, does not exhaust the meanings of *Kṛ*. Patient investigations are sure to bring out a plethora of peculiar meanings of the root. Thus, *Kṛ* is a vertual *Kāmadhenu*.

References

1. Satya Vrat, On Some Meanings of *Kṛ*, Journal of Oriental Research Institute, Baroda, Vol. 43, Pts. 1-2, P. 7-13
2. *Vāmanapurāṇa* (SM), XXI. 20-21
3. *Ṛgveda* (RV.), Vaidika Saṃśodhan Maṇḍal, Poona, 1933, X. 124-4
4. *Bhāgavatapurāṇa*, Gita Press, V.S. 2059, IX. 16.1
5. *Pañcatantra*, ed. Jwala Prasad Mishra, Bombay, 1923, P. 484
6. Ibid., P. 493
7. *Ṛgveda*, Vaidika Saṃśodhan Maṇḍal, Poona, 1933, VII.16.6
8. Ibid., I. 102-4

9. *Atharvaveda*, VI. 53-3
10. Ibid., VI. 57-1
11. *Rāmāyaṇa*, Gujrati Printing Press, I. 13.34
12. Ibid., I. 63.1
13. *Manusmṛti*, Niranya Sagar Press, IV-54
14. Ibid., VIII.318
15. *Atharvaveda*, III. 29.3
16. *Arthaśāstra*, ed. Udayavira Shastri, Delhi, 1970, II. 21.22
17. Ibid., II. 21-24
18. *Rāmāyaṇa*, op.cit., I. 44-17
19. Ibid., II. 64-46
20. Mahābhārata (Gitā Press), *Anuśāsanaparva*, 169-20
21. *Rāmāyaṇa*, op-cit., I. 18-22
22. *Pañcatantra*, op.cit., P. 493
23. *Manusmṛti*, op.cit., II.30
24. *Siddhānta-kaumudī*, Vol. II, Calcutta, 1920, P.25
25. *Rāmāyaṇa*, op.cit., II. 37-19
26. *Ṛgveda*, op.cit., I. 10-9
27. *Yājñavalkya-Smṛti*, ed. Narayan Ram Acharya, Nirnay Sagar Press, 1949, II. 45
28. Ibid., II. 46
29. *Uttararāmacarita*, ed. M.R. Kale, Gopal Narayan and Company, Bombay, 1924, II.4
30. *Arthaśāstra*, op.cit., I. 2.12
31. *Jātakamālā*, ed. Surya Narayan Chaudhari, Moti Lal Banarsi Dass, Delhi, 1991, XXIII.26
32. *Ṛgveda*, op.cit., I. 48-8
33. *Abhijñanaśākuntalam*, ed. M.R. Kale, Gopal Narayan and Company, Bombay, 1934, II.1
34. *Jātakamālā*, op.cit., XXIII.39
35. *Ṛgveda*, op.cit., I. 115-5
36. *Mahāsubhāṣitasaṅgrahaḥ*, ed. L. Sternbach, Vol. VIII, Verse 13093 (Under print)
37. Hammīra-mahākāvya, Oriental Research Institute, Jodhpur, 1968, IV. 63

38. *Rāmāyaṇa*, op.cit., I. 45-3
39. Ibid., II. 55.17
40. *Viṣṇupurāṇa*, Gita Press, V.S. 2041, II. 13-24
41. *Saundarānanda*, ed. Surya Narayan Chaudhari, Moti Lal Banarsi Dass, Delhi, V.S. 2026, VI. 10
42. *Bhāgavatapurāṇa*, op.cit., XI. 14-32
43. *Mahābhārata* (Gita Press), *Vanaparva*, 282.18
44. *Arthaśāstra*, op.cit., III. 1.1
45. Ibid., II. 16-10
46. *Ṛgveda*, op.cit., I. 122-4
47. *Kāvyaprakāśa*, ed. Āchārya Viśveśvara, Jñāna maṇḍal Limited, Kashi, V.S. 2024, P. 366
48. *Rāmāyaṇa*, op.cit., II. 61-107
49. *Bhāgavatapurāṇa*, op.cit., X. 22-22
50. *Atharvaveda*, XII. 1-51
51. *Rāmāyaṇa*, op.cit., II. 25
52. *Kādambarī*, ed. Kashi Nath Pandurang Parab, Nirnaya Sagar Press, Bombay, 1932, P. 285
53. Ibid., P. 273
54. *Māhābhārata* (Gita Press), *Vanaparva*, 291.22

❑❑

विश्ववल्लभ में कृषिविज्ञान

हेमलता बोलिया

भारत वर्ष कृषि-प्रधान देश है। अतः कृषिविज्ञान का यहाँ से अधिक प्रचार-प्रसार कहाँ हो सकता है? प्राचीन काल से ही यहाँ कृषि-विज्ञान को विषय बनाकर ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं। यथा – वेदों में अथर्ववेद, वराहमिहिर की बृहत्संहिता, विष्णुपुराणम्, विष्णुधर्मोत्तरपुराणम्, अग्निपुराणम्, पराशर का कृषिपाराशर, सुरपाल का वृक्षयजुर्वेदः, शाङ्र्गधर की शाङ्र्गधर-पद्धतिः, पं. चक्रपाणि का विश्ववल्लभः आदि ग्रन्थों के प्रणयन की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। उन ग्रन्थों के अध्ययन का आज विशेष महत्त्व है जब कृषि में रासायनिक खाद एवं कीटनाशक प्रयोग से जनस्वास्थ्य की हानि का प्रश्न कृषिवैज्ञानिकों के लिए एक चुनौती बन गया है। यद्यपि आधुनिक तकनीक से खेती करने से उत्पादन अधिक होने लगा है तथापि स्वाभाविक स्वाद (मधुरता) नष्ट हो गया। भूमि की उर्वरता भी प्रभावित हो रही है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित विधि से कृषि-कार्य करने से न तो स्वास्थ्य को हानि है और फल-शाकादि भी मधुर प्राप्त होते हैं। उनमें विहित उपायों से कोई भी कृषि-कार्य में निपुण हो सकता है। उसके लिए किसी विद्यालय में उपाधि प्राप्त करने की आवश्यकता भी नहीं है।

पं. चक्रपाणि मिश्र ने महाराणा प्रताप (सम्वत् 1600) की प्रेरणा से मेवाड़ की तत्कालीन परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए इसका प्रणयन किया तथापि प्रस्तुत कृति का आज भी उतना ही महत्त्व है। यह ग्रन्थ विज्ञान की नाना विधाओं का पोषक ग्रन्थ है। इसमें मिश्र जी ने क्रमशः भूगर्भ, जलविज्ञान, वास्तु-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान और कृषिविज्ञान आदि का सम्यक् निरूपण किया है। 'विश्ववल्लभः' में नौ उल्लास और 351 श्लोक हैं, जिनमें से तृतीय से लेकर नवम उल्लास पर्यन्त मिश्रजी ने 251 श्लोकों में केवल कृषि-विज्ञान का ही सांगोपांग विवेचन किया है। इन उल्लासों में चक्रपाणि ने कृषिकर्म से सम्बन्धित छोटी से छोटी बात का सटीक निरूपण किया है। कृषिकर्म से सम्बन्धित कोई भी पहलू उनकी पारखी दृष्टि से अछूता नहीं रहा। जिससे ज्ञात होता है कि पं. चक्रपाणि मिश्र कवि, विद्वान् ज्योतिषी, कर्मकाण्डी, भूगर्भजलवेत्ता, वास्तुशास्त्री होने के साथ-साथ कृषि-विज्ञान के मर्मज्ञ ज्ञाता थे अर्थात् अच्छे कृषि-वैज्ञानिक थे और उनके द्वारा प्रणीत 'विश्ववल्लभः' एक वैज्ञानिक कृति है।

कृषिकर्म के ध्यातव्य नियम, विधि और उपयोगी सामग्री आदि का विवेचन अधोलिखित है –

1. भूमि-परीक्षा / चयन-विधि

पं. चक्रपाणि मिश्र के मत में एक अच्छे कृषक को सर्वप्रथम भूमि का चयन कर तदनुकूल वृक्ष / बीज का रोपण / वपन करना चाहिए, जिससे कम श्रम से अधिक फल / उत्पादन प्राप्त हो।

क्षितिस्वभावादचिरेण वृद्धिं प्रयान्ति ते पुष्पफलानि दध्युः।।[1]

इनके विचार में वल्मीकयुक्त, गड्ढे वाली, अधिक पत्थरों वाली, ऊसर (बंजर), जिसमें पानी बहुत दूर हो, शर्करिला, विषयुक्त भूमि, वृक्षारोपण / कृषियोग्य नहीं है अर्थात् वृक्षारोपण आदि की दृष्टि से अशुभ है तथा सफेद अभ्रक, खड़ी या धातुयुक्त भूमि वृक्षारोपण के लिए किसी भी दृष्टि से प्रशस्त नहीं है।

वल्मीकगर्तपाषाणबहुला दूषराऽशुभा।
दूरोदका शाक्र्वरिला (शाकरिला) सविषा तरुरोपणे।।
श्वेताभ्रका या खटिकादियुक्ता, धरा प्रशस्ता च न धातुयुक्ता।।[2]

कृषियोग्य भूमि या वृक्षारोपणयोग्य भूमि कोमल और समीप जल वाली होनी चाहिए[3]। ऐसी भूमि यदि तप्त स्वर्ण के समान हो तो वहाँ पुन्नाग, राजादन और चम्पा के वृक्ष बिना प्रयत्न के ही शीघ्र उत्पन्न हो जाते हैं।[4] इन्होंने जाङ्गल, आनूप (अधिक जल वाली) और सामान्य के भेद में भूमि तीन प्रकार की मानी है।[5] यह भूमि छः (मीठे, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय) रसों से युक्त होती है और रसों का ज्ञान उसके रंग से होता है[6]। इन्होंने दृष्टान्त रूप में कतिपय वृक्षों का नामोल्लेखपूर्वक निर्देश किया कि कौन-सा वृक्ष किसी भूमि पर लगाना चाहिए।

(क) जाङ्गल – इस भूमि में धौ, खैर, पलाश (ढाक, केसुला), बाँस, धाय, इंगुरी, शिव, निकर, मशाका, शल्लकी, सप्तपर्णी, देवदारु, हल्दी, तिन्दु जाति आदि वल्लरी विटप-वृक्षों का रोपण करना चाहिए[7]।

(ख) आनूप – इस भूमि पर मुचुकंद, जाति (चमेली), श्रीखण्डिका, केतकी, कोतकाम्बु, कदली, चमारोल, कुच, जामुन, मधूक और अन्य वृक्ष-लताएं लगानी चाहिए[8]।

(ग) सामान्य-भूमि – इसमें चम्पक, गुलाब, आम्र, वकुल, अशोक, कोल, गूलर, नीम, पीपल, बड़, चिञ्चा, अक्षोट (अखरोट), महुआ, काशीगुक, महानीम, अर्जुन आदि तथा दाडिम आदि फलप्रधान वृक्ष और पुष्प-लताएँ लगानी चाहिए[9]।

2. वृक्षोत्पत्ति-प्रकार

एक अच्छे कृषक को यह भी ज्ञात होना चाहिए कि कौन-सा वृक्ष / लता बीजोद्भव है? कौन सा काण्डारभव है? कौन सा कंदोद्भव है? कौन सा बीज और डाली दोनों से लगता है, आदि। पं. चक्रपाणि मिश्र ने उपर्युक्त सभी प्रकारों का नामोल्लेखपूर्वक विस्तृत निरूपण किया है, जो अधोलिखित सारणी से स्पष्ट है –

क्र.सं.	वृक्षोत्पत्तिप्रकार	वृक्ष के नाम
1.	बीजोद्भव	चिञ्चा, आम, चम्पक, महुआ, कैथ, जामुन, पुन्नाग, बिल्व, शन, काञ्चनार, क्षीरीवृक्ष, आम, पनस, अक्षक, नारिकेल, ताल, तिलक, जम्बीर, नीम्बू, सदाफल, आतुलिंग (बीजोरा), सेव, कर्मदक, चम्पक, कर्णी, बादाम, कमल, पाण्डुराग, श्यामति आदि।[10]
2.	काण्ड (डाली / शाखा) उद्भव	चमेली, गुलाल, तरुणी, नवमल्लिका, मल्ली, जया, तरल,

		कुन्द, शिखण्डी, कुब्जक, ताम्बूलिका (नागरबेल) जलकेतकि आदि।[11]
3.	बीजकाण्डोद्भव	बिम्बाहा (चिञ्चा) स्नेही, चन्द्रक, सिन्दुवार, श्रीखण्डिका, पीपल, बड़, पलाश, दाडिम (अनार) प्लाक्ष (पाकड़), अगस्त, बांस, द्राक्षा (अंगूर) आदि।[12]
4.	कन्दोद्भव	कुंकुम, श्रृंगेवर (अदरक), विदारिका, सूरण, पीतिका (हल्दी) आदि।[13]
5.	बीज-कन्दोद्भव	एला (इलायची), कमल[14]।
6.	कन्द-काण्डोद्भव	रम्भा (कदली) आदि[15]।

3. वृक्षारोपण-दिशा

करमर्दक, वंशादि-वृक्षों को पूर्व दिशा में तथा द्राक्षाबेल, परावत को दक्षिण में और कपित्थ को पश्चिम दिशा में लगाना चाहिए[16]। उत्तर दिशा में सौम्यवर्ग के वृक्षों को तथा वायव्य कोण में जंगली वृक्षों को छोड़कर श्रेष्ठ, मध्यम और अधम कोई भी वृक्ष लगाए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त पुर के दक्षिण आग्नेय कोण में और नैर्ऋत्य कोण में वाटिका नहीं लगानी चाहिए। पश्चिम, उत्तर और वायव्य कोण तथा पुर मध्य वाटिका (उद्यान) बनाना (लगाना) प्रशस्त है[17]। दुर्ग में मान और स्थान के अनुसार वाटिकाएँ बनानी चाहिए तथा उसमें जंगली और ग्रामीण सभी तरह के वृक्ष लगाए जा सकते हैं[18]।

4. बीजवपन / वृक्षारोपण-समय (काल)

चक्रपाणि मिश्र ने सभी प्रकार के बीजों के वपन और वृक्षों के रोपण का सर्वोत्तम समय वर्षाऋतु (आकाश में जब बादल हों) को माना है और शरद् वसन्त ऋतु को मध्यम। यद्यपि कतिपय आचार्य ज्येष्ठ (जेठ) बीजवपन कहते हैं, तो भी ग्रीष्म ऋतु बीजवपन और वृक्षारोपण दोनों ही दृष्टियों से निषिद्ध है। इसके अतिरिक्त मिश्रजी के मत में यदि सिंचाई की व्यवस्था अच्छी हो तो बीजवपन के लिए सारी ही ऋतुएँ उत्तम हैं अर्थात् कभी भी बीज बोए जा सकते हैं, खेती की जा सकती है[19]।

पं. चक्रपाणि के मत में गर्मी के अंत में जब वर्षा-ऋतु समीप हो तो जिन पौधों के पत्ते निकल आये हैं, उन्हें लगाना चाहिए। वर्षा-ऋतु में शाखायुक्त पौधे और बसन्त में तने वाले पौधे लगाने चाहिए। शरद् ऋतु में भी पौधे लगाए जा सकते हैं। अर्थात् शरद्-ऋतु भी पौधारोपण की दृष्टि से उपयुक्त ऋतु है[20]।

5. रोपण-विधि

भूमि-चयन के पश्चात् भूमि को रोपण योग्य बनाया जाता है। रोपणयोग्य बनाने से अभिप्राय यह है कि घास-फूस की सफाई करना। यदि दीमक, कीट, पतंगादि की आशंका हो तो उनके शमन का प्रयास करना, गड्ढा खोदकर उसमें पहले आग जलाकर मिट्टी भरना और बकरी की मगनी, शहद आदि डालकर खाद देना आदि। तत्पश्चात् उपचरित बीजों की बुवाई (वपन) करना चाहिए। उपचरित से अभिप्राय है कि बीजों को गोबर, राख, अंड्कोल के तैल से भली-भाँति उपचरित कर बोना चाहिए। उपचरित बीज पुराना

होने पर भी शीघ्र लग जाता है[21]। उपर्युक्त रोपण-विधि का चतुर्थ उल्लास में विस्तृत निरूपण है।

6. पुनर्रोपणविधि

कुछ वृक्ष / पौधों का स्वभाव होता है कि वे एक स्थान से निकाल कर / उखाड़कर पुनः रोपित किए जाने पर ही बढ़ते हैं। उन पौधों को जड़ और मिट्टी सहित उखाड़ कर विडङ्ग घृत, शहद का लेप कर गड्ढे में रोपण करना चाहिए[22]। इसके अतिरिक्त गोबर का लेप कर पौधों के स्कन्ध (तने) का रोपण भी किया जा सकता है[23]।

7. रोपित वृक्षों का प्रमाण

पं. चक्रपाणि ने एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष को कितनी दूरी रख कर रोपित करना चाहिए इसका भी विस्तार से प्रतिपादन किया है। इन्होंने प्राचीन मत का उल्लेख करते हुए कहा कि एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष की बीस हाथ की दूरी, उत्तम, सोलह हाथ की दूरी मध्यम और बारह हाथ की दूरी अधम है। तृण, गुल्म और लताएँ चार, तीन और दो-दो हाथ की दुरी पर वीथिका (गली) में लगाई जा सकती है[24]। इतना ही नहीं कौन सा वृक्ष कितने हाथ की दूरी पर लगाना चाहिए, इसका भी विशद वर्णन किया है। यथा – इमली, आम्र, राजदान के पेड 12 या 14 हाथ की दूरी पर, चम्पादि वृक्ष क्रमशः 7, 10 और 12 हाथ की दूरी पर, कर्णिकार, आमलक, कुचा, बीजपुर दाडिम के पौधे 7, 5 हाथ की दूरी पर, अशोक, पुन्नाग, शिरीष और सीम 6 हाथ की दूरी पर और इनके समीप कोमल चमेली आदि लताएँ लगाना शुभ है[25]।

8. सेचन-विधि

कृषि-विज्ञान में सेचन-विधि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके ज्ञानाभाव में वृक्ष सूख जाते हैं, पौधे मर जाते हैं, अधिक सेचन से जड़ गल जाती है आदि। अतः सेचन-विधि के अन्तर्गत कौन सी ऋतु में किस पेड़ को, कितनी मात्रा में और किस प्रकार जल देना चाहिए इसके सम्यक् ज्ञान की महती आवश्यकता है? अतः मिश्रजी ने इसी महत्त्व को दृष्टिगत रखते हुए एक पृथक् उल्लास ही सेचन-विधि के नाम से लिख दिया। इनके अनुसार वृक्ष को सिंचन करने से पूर्व उसके चारों ओर जमीन खोदकर आलवाल (थाला / क्यारी) बनानी चाहिए। तदुपरान्त उस आलवाल में इतना जल डालें कि वह एक प्रहर तक न सूखे। शीघ्रता में इससे कम अन्तराल पर जल-सिंचन न करें, इसकी विशेष सावधानी रखें अन्यथा पेड़ों की अजीर्ण जैसी स्थिति हो जाएगी। बिना गर्मी के यदि वृक्ष के पत्ते क्लांत दिखाई दें तो उसे भूखा समझें और जल सींच कर उसे तृप्त करें। वर्षाकाल में वृक्षों को प्रातः, शीतकाल में दोपहर, बसन्त में और ग्रीष्म में सायंकाल जल सिंचना चाहिए[26]। इन्होंने सेचन-विधि के साथ सेचन-विधि की सावधानियों का भी निरूपण किया है। वृक्षों में कूलथी के क्वाथ का जल कभी नहीं देना चाहिए। इससे उसके फल और पुष्पों का नाश हो जाता है। ऐसा ही प्रभाव, लवण, अर्जुन की छाल, कर्करिका, किंशुक के जल आदि के सिंचन से भी होता है[27]।

9. वृक्षरक्षाविधि/उपाय

मिश्रजी ने षष्ठ उल्लास में वृक्ष की कब रक्षा करनी चाहिए और कैसे करनी चाहिए, की विधि का सम्यक् निरूपण किया है? इनके अनुसार एक अच्छे कृषक को समय रहते ही वृक्षों की रक्षा के उपाय करने

चाहिए। वृक्ष को हवा के प्रचण्ड वेग से बचाने हेतु आधार, परित, सहायक काष्ठ, ट्रीगार्ड आदि लगाने चाहिए। बर्फबारी, धूम्र से बचाने के लिए छाया–मण्डप, तृणघर की रचना करनी चाहिए तथा जाली / जाल लगाना चाहिए। कृमि आदि से रक्षा करने हेतु वृक्षों पर औषधि चूर्ण का छिड़काव और मूल के आसपास भस्म बिखेरनी चाहिए। वृक्षों की रक्षा के लिए पत्थरों या कंटकों की जाली भी बनाई जा सकती है। कहीं–कहीं खाई भी खोदी जा सकती है। छोटे पेड़ों के बीच में शतपुष्पा, कुबेर का रोपण भी कीटनाश का उपाय है। कृमि–निवारण में मन्त्र–तन्त्र–प्रयोग भी लाभदायक है। अतः मिश्रजी ने तत्संबंधी मन्त्रादि–प्रयोग-विधि का भी निरूपण किया है।

'ॐ स्वस्ति किष्किन्धास्थितप्रकटपशक्रमान्तर्हिता रुण्डुलोपजीवितस्य हनूमानाज्ञापयति मूषक–पतङ्ग–पीपलिका–शलभकरभान्वककीट – गन्धिकाविम्विभि–रहैवन् स्यात् व्यङ्क्रममाणस्य शरीरः निग्रहसमावर्त्त-पतितस्य वानरासिंहस्य वानरः सिंहस्य क्रममाणस्य सागर–कक्षान्तर–गतो वायु जीमूतदवनन्दति हुँ फट्[28]।'

उक्त मन्त्र को कीटग्रस्त पेड़ के तीन पत्रों पर लिखकर उसी स्थान या खेत में खड्डा खोदकर गाड़ दें। इससे कीट–पतंगे, पिपलिका, टिड्डी आदि का नाश हो जाता है और पौधे की सुरक्षा हो जाती है।

10. वृक्षपोषणविधि

पं. चक्रपाणि ने सप्तम उल्लास के 41 श्लोकों में वृक्षपोषण–विधि का निरूपण किया है। इन्होंनें वृक्षों की दृष्टि में 'कुणप' जल के महत्त्व का प्रतिपादन ही नहीं किया अपितु उसको बनाने की विधि एवं सामग्री का विवेचन भी किया है। भेड़, बकरी, सारंग, मछली आदि की मेदा, मांस, वसा, चर्म, मज्जा, रक्त में जल डालकर आग पर पकाएँ। पक जाने पर उसमें ठंडा दूध और जल मिश्रित करें। तत्पश्चात् तिलों की खल, मधु और देशी घी बर्तन में रखकर किसी गर्म स्थान में एक पक्ष (15 दिन) तक रखें। इसके बाद उस कुणप जल से वृक्षों को सींचने से वृक्षों की वृद्धि होती है तथा यह जल वृक्षों के लिए हितकारी भी माना गया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि किन–किन वृक्षों को किनका चूर्ण (खल) देना चाहिए, किनको घी–दूध–शहद–मिश्रित जल का सींचन आदि करना चाहिए तथा इनके क्या–क्या फल हैं आदि

जम्ब्वाम्राशोकधात्रीककमलखलकुचालेरवपित्वाथ शश्वत्
जम्बालक्षीररोध्रः समधुवृततिलै मूलदेशे च विप्त्वा
पश्चात्संसेचयेत्तान् दशादिवसमथो क्षौद्रदुग्धाम्बुभिर्वै
तेषां पीयूषतुल्यं भवति खलु फलं वन्ध्यतागतानाम्[29]।।

अर्थात् जामुन, आम्र, अशोक, धात्री, कमल, कुचाल को नींबू का रस और लोध्र के साथ पीस कर जड़ में लीप दें। तत्पश्चात् दस दिन तक शहद, दूध और पानी से सींचे। इस प्रयोग से वन्ध्यता को प्राप्त वृक्षों के फल भी अमृत तुल्य आने लगते हैं।

सिद्धार्थक के फल से नित्य सेवित वृक्ष सभी प्रकार के रोगों से रहित और पत्र–पुष्प और फल से आच्छादित होते हैं :

सिद्धार्थैः फलसंयुक्ताः सेविताः गदवर्जिताः।
जायन्ते तरवो नित्यं पत्रपुष्पफलान्विताः[30]।।

कोई भी कृषक विहित विधि के आलोक में कृषि करे, वृक्षों का भली प्रकार पोषण करें तो उसे अवश्य ही अच्छी फसल और फल-फूल आदि की प्राप्ति होगी।

11. वृक्षचिकित्सा / आयुर्वेद

मिश्रजी वृक्ष आयुर्वेद के अच्छे ज्ञाता थे। यह अष्टम उल्लास के अध्ययन से ज्ञात होता है। इन्होंने 251 श्लोकों में से 79 श्लोकों में वृक्षरोग के कारण एवं रोगोपचार के विभिन्न उपायों का विस्तृत विवेचन किया है।

❑ **रोग-कारण** – पण्डित चक्रपाणि मिश्र ने रोग के कारणों पर प्रकाश डालते हुए निरूपित किया कि जिस प्रकार मनुष्यों में वात, पित्त और कफ की विषमता से रोग होते हैं, इसके अतिरिक्त कीटादि के खाने से वृक्ष क्षत होते हैं, शीत और अग्निदाह तथा बिजली के गिरने से भी वृक्ष आहत होते हैं, हवा के टूटने से, वृद्धावस्था के कारण, मर्दन करने, एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने, प्राणियों के निवास से, आश्रय विहीन होने से, उपचारादि से निपीड़ित होने से, अनुचित औषध आदि दोष के कारण से भी वृक्ष अस्वस्थ होते हैं[31]।

❑ **रोग-लक्षण** – मिश्र जी ने रोग के कारण के साथ उसके लक्षणों का भी निरूपण किया है जिससे रोग को पहचान कर चिकित्सा करना सरल हो गया है। इनके अनुसार तिक्त, रुक्ष और कषाय से वृक्षों में वात, कटु, उष्ण और लवण के सेवन से पित्त तथा मधुर, अम्ल और स्निग्ध रस के सेवन से कफ की अधिकता होती है[32]। वात-रोगग्रस्त वृक्ष को वातल कहते हैं। वातल का लक्षण है ऐसा वृक्ष रूखा, छोटा, कमजोर और लम्बा निद्रालु, कम चेतना वाला, कम फूल और पत्तों वाला होता है।[33] पित्तज रोग से ग्रस्त वृक्ष को पैत्तिक कहते हैं। इसका लक्षण है – वृक्षों के पत्तों का पीला पड़ना, शाखाओं का सूख जाना, धूप का सहन न करना और बिना समय के फल आना।

> **पाण्डुपत्रः कृशपत्रश्शुष्कशाखा सपैत्तिकः।**
> **आतपासहनोऽकाल फलपाकी द्रुमः स्मृतः[34]।।**

कफपीडित वृक्ष की पहचान है – चिकने पत्ते, विशद छाल के समान पुष्प पिच्छल (लसलसी) और रसविहीन लताओं से आवृत्त परिमण्डल वाला चिरप्रवाली वृक्ष[35]।

❑ **वृक्ष में कृमि के लक्षण** – बिना दोष के वृक्ष के पत्तों की हानि, शाखा के अग्रभाग का सूखना, छाल का गिरना, पत्तों का विवर्ण होना और ग्लानि की अधिकता हो तो भी पेड़ में कृमि प्रभाव है, ऐसा समझना चाहिए। कृमि दो प्रकार के होते हैं – 1. बाह्य और 2. आभ्यन्तर। बाह्य कृमि पेड़ की छाल के आश्रय में होते हैं और आभ्यन्तर कृमि पुष्प और फल के भीतर। काण्डारक नाम का कृमि वृक्ष के मूल और शाखा में रहता है। इसके कारण सम्पूर्ण वृक्ष नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त जलदोष, भूमिदोष और दोहद के कारण भी कृमि हो जाते हैं[36]।

❑ **रोगोपचार** – पं. चक्रपाणि मिश्र ने रोग-लक्षण के अनन्तर उसके विधिवत् उपचार की विभिन्न पद्धतियों / औषधोपचारों का सम्यक् निरूपण किया है। चतुर पुरुष को स्वविवेक से रोग के लक्षण के आलोक में वृक्ष की चिकित्सा करनी चाहिए। यदि वृक्ष वात-रोगग्रस्त हो तो रास्ना, अश्वगंधा पवनारिनाग और कणा के कषाय (काढ़े) से सिंचन करना हितकर है तथा पौधों की जड़ में बकरी की मेंगनी और खल

का खाद, तिल की खल देना चाहिए। सौंफ का अर्क डालने से भी प्रबलवात पर विजय प्राप्त की जा सकती है। कुणप का जलसिंचन भी उपयोगी है[37]। पित्तरोग ग्रस्त वृक्ष के लिए प्लक्ष, अर्जुन, गूलर, सप्तवर्ण, नीम की छाल से बना काढ़ा उपचार की दृष्टि से हितकर है। इसके अतिरिक्त व्याघ्री (जवासा) के रस में शहद और कायफल मिलाकर वृक्ष के पत्तों पर लेप करने से एक सप्ताह में कफज व्याधियों पर नियंत्रण हो जाता है[38]। वृक्ष में जलसेक की अधिकता से भी अजीर्ण हो जाता है। अतः ऐसे वृक्ष को अच्छे परशु द्वारा थोड़े-थोड़े प्रहारों से वृक्ष की जड़ को गोद कर दोष निकालें फिर विडङ्ग, शहद, घी व तेल मिलाकर पेड़ पर लेप कर दें। आलवाल की मिट्टी को दूध के जल से अल्पमात्रा में भरें। इसके अतिरिक्त प्लक्ष और अर्जुन की छाल की भस्म आस-पास बिखेर कर कम पानी से सिंचित करना चाहिए[39]।

वृक्षों को शक्कर और गुग्गुल की धूप से भी रोग शान्त होते हैं और धूपित वृक्ष के पत्तों और छाल की शोभा बढ़ जाती है[40]। वृक्ष के कृमि ग्रस्त होने पर गोशृंग, भिलावा, नाम, मोंथा, वच, विडङ्ग, अतिविषा, करञ्ज, सर्ज, सिद्धार्थक और सिनृदुवार की धूप देनी चाहिए, इससे कृमि बाहर निकल जाते हैं और वृक्ष कृमिमुक्त हो जाता है। इङ्गुदी फल की छाल, गुड़ और जल सिंचन के साथ दूध, घृत, गुड और इङ्गुदी के लेप और धूप से भी कृमि नष्ट होते हैं[41]।

मिश्र जी ने कटे वृक्ष की[42], अग्नि से जले वृक्ष की[43], विद्युत से आहत वृक्ष की[44], वात से टूटे वृक्ष की[45], वृद्धावस्था से पीड़ित वृक्ष की[46], स्थानान्तरित वृक्ष की[47], पशुओं से दूषित वृक्ष की[48], संसर्ग से दूषित वृक्ष की[49], उपचार से दूषित वृक्ष की[50], शीत से जले हुए वृक्ष की[51] चिकित्सा-विधि का सम्यक् प्रतिपादन किया है।

इनके मतानुसार सुगन्धित तृण, विडारीकंड, पद्मक, उशीर (खश), हरड़, तगर, हल्दी, कुष्ठ, श्रीवृक्ष, जतुंनाशक लौघ्र, देवदारु का जल, प्रस्थमात्र दूध में और तिल के तैल में पकाएँ। यह तैल सभी वृक्षों के लिए रोगनाशक है[52]।

12. वृक्षचित्रीकरण-विधि

अन्तिम नवम उल्लास के 51 श्लोकों में मिश्रजी ने द्रुमचित्रीकरण की विविध विधियों एवं तत्संबंधी सामग्री का निरूपण किया है। चित्रीकरण से अभिप्राय उन उपायों से है जिनके प्रयोग से वृक्ष सामान्य से विलक्षण हो जाता है और लोक में आश्चर्य उत्पन्न करता है।

मध्वाज्यालुलितं विशोष्य किरणैः सूर्यास्तवार्ताकजं,
बीजं वल्लियुते विधाय सुषिरकुष्माण्डके कोमले।
क्षिप्त्वा गो विलिप्य सहसा पक्वे समुद्धुत्य,
तच्चाप्तं स्वसमये फलं वितनुते कुष्माण्डतुल्यं फलम्[53]।।

अर्थात् वार्ताक (बैंगन) के बीज को शहद और घी में भिगोकर सूर्य की धूप में सुखा दें तथा बेल पर लगे हुए कोमल कुष्माण्ड को सुषिर (पोलाकर) उसमें उरा बीज को डाल दें। उसे गोबर से बंद कर फल को पकने दें। फल के पकने पर उस बीज को निकालकर बोएँ तो समय पर उसमें काशीफल (कद्दू) जैसे बड़े बैंगन लगते हैं।

इस प्रकार विचित्र फल-पुष्प उत्पन्न करने की अनेक विधियों का विशद विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ में

उपलब्ध है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'विश्ववल्लभः' आज से लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व के कृषि-विज्ञान के इतिहास को प्रस्तुत करने के साथ-साथ कृषिविज्ञान की समुन्नत स्थिति का परिचायक भी है। जिसमें मिश्रजी ने कृषिकर्म के लोकप्रचलित उपायों का सुन्दर विन्यास किया है। इस प्रकार 'विश्ववल्लभः' कृषिविज्ञान की जानकारी कराने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है। उपर्युक्त विवेचन से वर्तमान में इसकी उपयोगिता स्वतः सिद्ध है।

सन्दर्भ :

1. विश्ववल्लभः 3/11
2. वही, 3/4, 4/6
3. मृदुः समासन्नजला हिता भूस्तरुरोपणे। वही, 3/6
   मृद्वि च साधारणभूः प्रशस्ता सर्वाह्निपारोपणबीजवापे। वही, 4/3
4. वही, 3/7
5. जाङ्गलानूप-सामान्य-स्वभावत् त्रिविधा धरा।
   रसैश्च षड्भिः साभिन्ना ज्ञेयास्तद्वर्णतो रसाः।। वही, 3/1
6. मलिना पाण्डुरा भूमि श्यामला धवलारुणा।
   पीतामिष्टाम्ललवणा कटु-तिक्त-कषायिका।। वही, 3/2
7. धवखदिरपलाशा वंशधात्रींगुन्दिका
   शिवनिकरमशाका शल्लकीसप्तपर्ण्यौं।
   सुरतरुजनीकास्तिन्दुकी जातिकाद्या
   व्रतति-विटपवृक्षा जाङ्गले ये प्रशस्ताः।। वही, 3/10
8. आनूपजाः स्यु मुचकुन्दजाती श्रीखण्डिकाकेतकिकेतकाम्बु।
   रम्भाश्वमारोल कुचोऽपि जम्बूमध्वादिचान्ये द्रुमवल्लिगुल्माः।। वही, 3/8
9. वही, 3/9
10. चिञ्चाम्रचम्पक-मधुककपित्थजम्बू, पुन्नागबिल्वबकुलाशनकाञ्चनाराः।
    सक्षीरिकाम्रपनसाक्षकतालिकेरी, तालादिकाः सतिलकाः खलु बीजजाः स्युः।।
    जम्बीरनिम्बुकसदाफलबीजपुर, नारिङ्गसेवकरमर्द्दकचम्पकाद्याः।
    कर्णीबिदामकमलाख्यकपाण्डुरागाः, श्यामतिमक्तकमुखाद्यबीजजाः स्युः।।
    वही, 3/14-15
11. जाति-गुलाल-तरुणी-नवमालिकाश्च, मल्लिकाश्च, मल्लीजया-तरलकुन्द-शिखण्डि-कुब्जाः।

ताम्बुलिका सलिलकेतकिकेतकाद्याः काण्डोद्भवाः इहमया कथिताः कियन्तः।। वही, 3/16

12. विम्बहास्नुही चन्द्रकसिन्दुवार श्रीखण्डिकाश्वत्थवटाः पलाशाः।
 सदाडिमप्लक्षमुनिन्द्रवंशा द्राक्षादिकाः काण्डजवीजजा स्युः।। वही, 3/17
13. कन्दाद्भवा कुङ्कुम श्रृग्वेरविदारिका सूरण-पीतिकाद्याः। वही, 3/18
14. एलाम्बुजानीति च बीजकन्द-समद्भवानीति वदन्ति धीराः। वही, 3/18
15. रम्भादिकाः सन्ति च कन्दकाण्ड जातास्तथास्नेऽपि समूहनीयाः। वही, 3/19
16. करमर्दकवशादीन् प्राच्यां वै रोपयेद्रुमः।
 द्राक्षा पारावतान् याम्यां कपित्थाश्च पश्चिमे।। वही, 4/33
17. अग्नियाम्यनैरऋत्ये निषिद्धवाटिका पुरात्।
 सर्वापश्चिमसौम्येषु शुभा मध्ये स मारुतः।। वही, 4/27
18. वही, 4/28
19. पयोदकालेऽखिलबीजवापे वृक्षादि-संरोपणके प्रशस्तः।
 तत्राम्बुदे वर्षति रोपणीया शरद्वसन्तो भवतीह मध्यमौ।।
 ग्रीष्मे उभौ निषिद्धौ वापेऽथ ज्येष्ठः कथितश्च कश्चित्।
 सर्वेऽपि कालाः विहितास्तदानीं यदातियत्नो जलसेचने स्यात्।। वही, 4/1-2
20. ग्रीष्मे सपत्रा निकटेऽभ्रकाले सञ्जातशाखा खलु रोपणीयाः।
 वर्षासु सुस्कन्धयुताः वसन्ते रोप्या द्रुमा अन्यमत् घनान्तम्।। वही, 4/7
21. बीजमङ्कोल-तैलाक्तं जीर्णमप्याशु रोहति।
 भवन्ति द्विदलास्तद्वदेत्काहलेन च सर्जवः।। वही, 4/12
22. समूलमृतिका युक्तांह्निपाश्च समुद्धरेत्।
 विडङ्गघृतमाक्षीकालिप्तान् गर्ते निवेशयेत्।। वही, 4/16
23. वही, 4/17
24. वही, 418-19
25. वही, 4/21-23
26. वही, 5/2-5
27. वही, 9/23, 25
28. वही, 6/4
29. वही, 7/21

30. वही, 7/38
31. वही, 8/2-5
32. वही, 8/1
33. रुक्षोऽल्पो द्रुमः कृशो दीर्घो निद्रालुः स्वल्पचेतनः।
फलपुष्पाणि नो धत्तेऽथवाल्पानि च वातलः।। वही, 8/9
34. वही, 8/16
35. वही, 8/19
36. वही, 8/35-38
37. वही, 8/12-15
38. वही, 8/20-24
39. वही, 8/26-27
40. सिताज्यगुग्गुलकृतात्धूपाच्छाम्यन्ति वै रज्जः।
चारुपल्लव–त्वक्शोभा जायते तस्य शाखिनः।। वही, 8/34
41. वही, 8/43-44
42. वही, 8/46-48
43. वही, 8/51
44. वही, 8/53-55
45. वही, 8/56
46. वही, 8/57
47. वही, 8/58
48. वही, 8/60-61
49. वही, 8/65
50. वही, 8/66
51. वही, 8/49
52. वही, 8/74
53. वही, 9/7

□□

Mahābhārata's Exposition on *Prāṇavidyā : A* Bridge between the *Upaniṣads* and *Yogasūtras*

Paramba Shree Yogamaya

Introduction :

All our sense-organs are active due to the presence of vital energy. In latter period all the *indriyas* including *manas* as the representatives of conscious life, were separated from *prāṇa.* Due to its different functions in the body, it is named differently, viz. in-breathing *(prāṇa),* with-breathing *(samāna),* off-breathing *(apāna),* up-breathing *(udāna)* and through-breathing (*vyāna*)

Prāṇavidyā means proper knowledge of inhalation, exhalation and retention and different aspects of *prāṇa.* The *Mahābhārata (Mbh)* describes, how these airs make a person active. We find most of the discussions about *prāṇa* in *Āraṇyaka* and *Śāntiparva.* Besides these different bodily airs, *prāṇa* is also identified with spirit; *Puruṣa,* intellect, *buddhi* and egoism. Because it is said that "all is established upon breath".[1] It is also known as vital flame which is related with all our activities. There is a deep affinity between *prāṇa* and mental force, between mental force and intellect, between intellect and soul, and between soul and the Supreme Being. The purpose of prāṇic exercise is to inspire, motivate, regulate and balance the vital force *(prāṇa)* pervading the body and the *prāṇavidyā* is considered as one of the efficacious means of attaining *Yoga.* The great epic *Mbh* presents a vivid and many-sided significance and importance of *prāṇa.*

The Exposition of *prāṇnavidyā* in Mbh :

A very clear and general form of *prāṇa* is wind. In the *Āraṇyakaparva* of *Mbh,* it is said that wind is created from the breath of the great fire which is the result of awful penance of the five, named as *kāśyapa, vaśiṣṭha' prāṇa (prāṇaśca prāṇaputrakaḥ), cyavana* and *trivarcā.*[2]

It is very interesting and thought-provoking point to note that the place *of prāṇa* is stated as head or *murdhā* in *Mbh.* In *Mbh* it is depicted that for protecting the body the fire like *prāṇa* resides in the head and energises the human being for all types of efforts.[3] Here, we can suppose the *prāṇa* in head as the *mukhya-prāṇa* which gets it's division in different parts of the body differently due to their various functions.

The division of *prāṇas* and their function in the body :

The description of five *prāṇas* in *Mbh,* is found in the *Āraṇyakaparva, Śāntiparva* and in *Āśvamedhikaparva* also. In the *Āraṇyakaparva* of *Mbh* it is said that all creatures are protected by *prāṇa.* Latter, that main *prāṇa takes* the form of *samāna* etc. along with their functions accordingly.[4] Describing the series of five *prāṇas,* it is said in the same *parva* that *prāṇa,* which resides in the lower belly, in the genital organ, in the anus and in the digestive fire of stomach through which one excretes, is known as *apāna.* Similarly [5] which helps in all efforts, actions and strengthens us is known as *udāna* by the spiritual scientists.[6] The air which moves through the joint places of the body, is known as *vyāna.*[7]

The *prāṇa*-fire instigated by air moves all through the body. It is presented in the flesh, in the marrow and in the secretions making them strong. The body gets strength through the conjunction of *prāṇas.* Fire is warm and it digests the food.[8] Within *apāna* and *udāna, prāṇa* and *vyāna* reside; they make the body capable and the fire digests the food.[9] Very copiously the *Āraṇyakaparva* of *Mbh,* describes the functions of the five *prāṇas* in our body.

Again it is said that the digestive fire can enter upto *apāna* whose residing place is the anus. Through this, all the *prāṇas* have got their moving way and instigated by the speed of fire, *Prāṇa* goes upto the anus and it strucks the digestive fire being beaten there.[10]

The abdomen is below to the navel and the receptacle of undigested food is above it. All the *prāṇas* reside within the navel. All the tubular organs of the body are commenced from the heart in oblique direction, in upright direction and from the lower region of heart also. Being instigated by the ten *prāṇas* they carry the essence of food all through the body.[11]

The *Śāntiparvan* of *Mbh.* also describes the five *prāṇas.* The sub- *parva i.e. Mokṣadharma* of *Śānti parva* says that because of the *prāṇa* the human being is *prāṇī. Vyāna* pervades all through the body, *apāna* has downward motion in the body and *samāna* resides in the heart. Because of *udāna* one exhales and from it's division one speaks. Thus, these are the five airs which activate the bodily beings (especially human-beings who has only the ability to be aware of these airs).[12]

In the *Āśvamedhikaparva* of *Mbh,* the manifestation of speech or *Vāgdevī* is depicted very nicely. The *Vāgdevī* manifests herself in the body with the help of the air *prāṇa,* from *prāṇa* she gets *apāna,* then she gets the form of *udāna* and leaves the body, then she gets the form of *vyāna* and covers the whole space and then she resides in *samāna...*[13].

The Yogic Technique for acquisition of *prāṇavidyā* in *Mbh* :

Each and every branch of spiritualism has a disciplined path. One cannot go according to his own wish. The very subtle parts of the body and mind are examined

by the seers to make them perfect as the means for attaining *Yoga*. In *Mbh*, we find so many instances of this yogic technique.

As mind is directly related to *prāṇa*, holding the fickle mind within *prāṇa* and holding the *prāṇa* on the Supreme Being, one reaches the state of *nirvāṇa*. In the state of *nirvāṇa* with thoughtlessness one becomes liberated. In this way, the person who knows *Brahman*, attains the Highest Bliss. It is described by Bhṛgu in the *Mokṣadharmaparva* of the *Śāntiparva*.[14]

Before attaining this state of *nirvāṇa* the accomplisher maintains purity in body and mind, has a good conduct and becomes compassionate for all beings. These are the symptoms of his differenciation.[15] The process of meditation or *dhyānakriyā* is also elaborately discussed in six verses of the *Śāntiparva*. Because of the resting of all collected strength, the pure-minded *sādhaka* who is free from hatred and desire and tamed with penance actually meditates. He is in the state of position, free of passion, delusion and doubt. He has no sorrow and joy. He has nothing to do and perform. The next verse describes the state of egolessness. When the ego will be vanished mind will not run anywhere. Neither he engages himself in collecting matters nor dejected nor inactive.[16]

The epic describes certain paths and goal of *Yoga*. The very next verse in this context describes that the *sādhaka* certainly attains the goal who is meditative *(dhyānakriyāparo)* and meditates in proper way. He attains absorption in meditation and again can give it up step by step slowly if he wants. In the state of absorption he is in Bliss by giving up everything. The innocent *sādhaka* gives up the *prāṇas*, and resides in the Supreme Being. If he does not want the resting of his body in the *Brahman*, in that very moment he can come back to the previous stage in proper way.[17]

In another chapter of the *Mokṣadharmaparva* of the *Śāntiparva* Bhīṣma describes the spiritual enlightenment of the *Brāhmaṇa* to king Yudhiṣṭhira. In this regard it is said that in the prāṇic process all the five *prāṇas* should be concentrated in mind and mind in *prāṇa* and *apāna*. This description of the *Mokṣadharmaparva* of *Śāntiparva* is very clear and quite significant. It is said that below the two eyebrows one should concentrate upon the tip of the nose with both the *prāṇas* i.e. *prāṇa* and *apāna*. One should hold them in *kuṅkuṇī* slowly through mind. Then with the help of the motionless body, with concentrated and fixed visions, with stable position, which means very calm and quiet in the sitting position by controlling all the limbs and holding the *Ātmā* in the topmost position of head i.e. *sahasrāra*, the dazzling brightness of *Brahmajyoti* comes out from the palate and goes to the heaven of the high-souled knower of *Brahman*. Then there becomes a loud wailing in all the directions and the Blessed flash entered into the worshipped *Brahman*.

Then *Brahman*, welcomes to that *jyoti* by rising towards it which is indeed the *puruṣa* of the span of the thumb and fore-finger. The *Pitāmaha* Brahmā says some more words in sweetness that there is no doubt that who mutters the prayer of the *Yoga* also obtains the same result.[18] All the verses in this regard are in past tense though it is described in respect of the *Brāhmaṇa* who became liberated through the yogic process. Thus, these are the direct visible result of *Yoga*. The speciality of the persons with muttered prayer is that, they get ultimate upliftment in the form of absorption.[19]

The technical process of *prāṇavidyā* explained by *Yājñavalkya* in *Mbh* :

After describing the *sāṃkhya*- theories to Janaka, *Yājñavalkya* describes the doctrine of *Yoga* in the 304[th] chapter of the *Śāntiparva*. According to him, *Yoga* has eight qualities[20] which is interpreted either as *aṣṭasiddhis* i.e. *āṇimā, mahimā, garimā, laghimā, prāptiḥ, prākāmya, īśitvam, vaśitvam* or the eight-fold path of *Yoga* i.e. *yama, niyama, āsana, prāṇāyāma, pratyāhāra, dhyāna, dhāraṇā* and *samādhi*. Again it is said that the practices of *Yoga* are of two-folds as *saguṇa* or *sabīja* and *nīrguṇa* or *nīrbīja*. To hold the mind alongwith the *prāṇa* in the sixteen spots of location, is known as *saguṇa* or *sabīja* practice. Similarly, the concentration of mind with functionlessness *(nirvṛttikamanaḥ)* and *prāṇāyama* are *nirguṇa* or *nirbīja* practice.[22]

In this very scientific process of *Yoga* with the control *of prāṇa* to hold the mind in the sixteen senses of location is the first step. These sixteen senses of location are described in *Śivayoga*. They are ten toes of the foot, two heels, the tarsus and both the eye locations.[23] In this state, the restraint of all the *prāṇas* or sense-organs is known as *prāṇāyāma*. When the senses, mind, intellect and knowledge 'become one and the meditator, meditable and meditation become divisionless then that is known as the state of Ultimate Bliss.[24] It is said by Yogi *Yājñavalkya* to Janaka that *prāṇāyāma* is *saguṇa* and the vacantness of mind is *nirguṇa*. It is so because both *saguṇa* and *nirguṇa* practice of *Yoga* depends on each other. Rather it seems to be a contradictory statement by saying *prāṇāyama* as both *saguṇa* and *nirguṇa*. In a fixed mind only *prāṇāyāma* is possible. When air releases from the invisible releasing places, then it indicates that there is excessive air in our body. While practising *pūraka, kumbhaka* and *recaka* if one meditates visualizing different deties in the places of navel, heart and forehead, then only he succeeds.[25] It is also quoted in the commentary that the proper practice of *prāṇāyāma* releases the practiser from all diseases and the improper practice creates fatal diseases.[25]

In this way the yogic techniques are very scientific and practical which are described clearly in *Mbh* basically in *Āraṇyakaparva, Āśvamedhikaparva* and in the *Mokṣadharmaparva* of *Śāntiparva*.

III. Conclusion :

Here my little effort in the form of discussing *prāṇa,* aims towards its control for a balanced life in general and absorption in case of accomplishment which is the ultimate aim of all *Yogaśāstras.* From the very beginning of the yogic path of prāṇic process one certainly enjoyes the serenity of isolation. Breath-control comes under the eight-fold path of *Yoga*[27] which previously existed in *Upaniṣad* and *Mbh.* It is eight-fold in *Mbh,*[28] and six-fold in *Maitrāyaṇī Upaniṣad.*[29]

According to E.W. Hopkins, this particular *Upaniṣad* is reflected in 213th chapter of the *Āraṇyakaparva* of *Mbh* and later in the twelfth book also. The order followed, is in general that of the *Upaniṣad.*[30] So, *Maitrāyaṇi Upaniṣad* seems to be later than *Mbh.* The very word *prāṇāyāma* comes first in *Maitrāyaṇi Upaniṣad* followed by *Mbh.* The knowledge about *prāṇa* and its various aspects are there in the whole Vedic literature which is taken forward through this great epic as the pious flow of knowledge and flourished in a systematic way by producing the *Yoga*-texts i.e. *Yogasūtram, Haṭhayogapradīpikā* etc. So, this great epic abridges the age-old indigenous technical treasure of *prāṇavidyā* for the betterment of mankind which is essential to lead a healthy and happy life and to get enlightenment with the great hope to go through the path of ultimate upliftment.

References :

1. ....*Bhūtaṃ bhavyaṃ bhaviṣyañca sarvaṃ prāṇe pratiṣṭhitam //*
   (Mbh. HI/203/15)
2. *Kāśyapo hyatha vāśiṣṭha prāṇaśca prāṇaputrakaḥ /*
   agniraṅgirasaścaiva chyavanastriṣu varcakaḥ // (Mbh. HI/210/1)
3. *Mūrdhānamāśrito vahniḥ śarīraṃ paripālayan /*
   prāṇo mūrdhani cāgnau ca vartamāno viceṣṭate // (Mbh. HI/203/15)
4. *Evaṃ tviha sa sarvatra prāṇena paripālyate /*
   pṛṣṭhatastu samānena svāṃ svāṃ gatimupāśritaḥ / / (Mbh. HI/203/17)
5. *Bastimūle gude caiva pāvakaḥ samupāśritaḥ /*
   vahan mūtraṃ purīṣaṃ cāpyapānaḥ parivartate // (Mbh. HI/203/18)
6. *Prayatne karmaṇi bale ya ekastriṣu vartate /*
   udāna iti taṃ prāhuradhyātmaviduṣo janāḥ // (Mbh. HI/203/19)
7. *Sandhau sandhau saṃniviṣṭaḥ sarveṣvapi tathānilaḥ /*
   śarīreṣu manuṣyāṇāṃ vyāna ityupadiśyate // (Mbh. 111/203/20)
8. *Dhātuṣvagnistu vitataḥ* sa *tu vāyusamīritaḥ /*
   rasāndhātuṃśca doṣāṃśca vartayan paridhāvati //

prāṇānām saṃnipātāttu saṃnipātaḥ prajāyate /
ūṣmā cāgniriti jñeyo yo'nnam pacati dehinām // (Mbh.. III/203/21, 22)

9. *Apānodānayormadhye prāṇavyānau samāhitau /*
samanvitasvadhiṣṭānaṃ samyakpacati pāvakaḥ // (Mbh. 111/203/23)

10. *Tasyāpi pāyuparyantastathā syādagudasaṃññitaḥ /*
srotāṃsi tasmājjāyante sarvaprāṇeṣu dehinām //
agnirvegavahaḥ prāṇo gudānte pratihanyate /
sa ūrdhvamāgamya punaḥ samutkṣipati pāvakam // (Mbh. 111/203/24, 25)

11. *Pakvāśayastvadho nābhyā ūrdhvamāmāśayaḥ sthitaḥ /*
nābhimadhye śarīrasya prāṇāḥ sarve pratiṣṭhitāḥ //
pravṛttā hṛdayātsarvā stiryagūrdhvamadhastathā /
vahantyannarasannāḍyo daśa prāṇapracoditāḥ // (Mbh. 111/203/26, 27)

12. *Prāṇāt praṇīyate prāṇī vyānād vyāyacchate tathā /*
gacchatyapāno'vākcaiva samāno hṛdyavasthitaḥ //
udānāducchvasiti ca pratibhedācca bhāṣate /
ityete vāyavaḥ pañca ceṣṭayantīha dehinām // (Mbh. Xll/ 177/24, 25)

13. *Prāṇena yā saṃbhavate śarīre prāṇādapānaṃ pratipdyate ca /*
udānabhūtā ca visrujya dehaṃ vyānena sarvaṃ divamāvṛṇoti //
tataḥ samāne pratitiṣṭhatīha ityeva pūrvaṃ prajajalpa cāpi /
tasmānmanaḥ sthāvaratvādviśiṣṭaṃ tathā devī jaṅgamatvādviśiṣṭa //
(Mbh. XIV/21/20, 21)

14. *Manaḥ prāṇe nigṛhṇīyāt prāṇaṃ brahmaṇi dhārayet /*
nirvāṇādeva nirvāṇa na ca kiṃcid vicintayet //
sukhaṃ vai brāhmaṇo brahma sa *vai tenādhigacchati // (Mbh.* XII/182/16)

15. *Śaucena satataṃ yuktastathācārasamanvitaḥ /*
sānukrośaśca bhūteṣu tadvijātiṣu lakṣaṇam // (Mbh. XII/18*2/ 17)

16. *Dhyānamutpādayatyatra saṃhitābalasaṃśrayāt /*
śuddhātmā tapasā dānto nivṛttadveṣakāmavān //
ạrāgamoho nirdvando na śocati na sajjate /
na karttā karaṇiyānāṃ na kāryāṇāmiti sthitiḥ //
na cāhaṃkārayogena manaḥ prasthāpayet kvacit /
na cātmagrahaṇe yukto nāvamānī na cākriyaḥ // (Mbh. XII/ 189/15, 16, 17)

17. *Dhyānakriyāparo yukto dhyānavān dhyānaniścayaḥ /*

dhyāne samādhīmutpādya tadapi tyajati kramāt //
sa vai tasyāmavasthāyāṃ sarvatyāgakṛtaḥ sukhī /
nirīhastyajati prāṇān brāhmīṃ saṃśrayate tanum //
atha vā necchate tatra brahmakāyaniṣevaṇam /
utkrāmati ca mārgastho naiva kvacana jāyate // (Mbh. XII/189/18, 19, 20)

18. *Prāṇāpānau tathodānaṃ samānaṃ vyānameva ca/*
evaṃ tān manasi sthāpya dadhatuḥ prāṇayormanaḥ //
upasthitakṛtau tatra nāsikāgramadho bhruvau /
kuṅkuṇyāṃ caiva manasā śanairdhārayataḥ sam tau //
niśceṣṭābhyāṃ śarīrābhyāṃ sthīradṛṣṭi samāhitau /
jitāsanau tathādhāya mūrdhanyātmānameva ca / /
tāludeśamathoddālya brāhmaṇasya mahātmanaḥ /
jyotirjvālāṃ sumahatī jagāma tridivaṃ tadā //
hāhākārastato dikṣu sarvāsu sumahānabhūt /
tajjyotiḥ stūyamānaṃ sma brahmāṇaṃ prāviśat tadā //
tataḥ svāgatamityāha tat tejaḥ saḥ pitāmahaḥ /
prādeśamātraṃ puruṣaṃ pratyudgamya viśāṃpate //
bhūyaścaiva paraṃ prāha vacanaṃ madhuraṃ sma saḥ /
jāpakaistulyaphalatā yogānāṃ nātra saṃśayaḥ // (Mbh. XI]/ 1.93/ 16-22)

19. *Yogasya tāvadetebhyaḥ phalaṃ pratyakṣadarśanam /*
jāpakānāṃ viśiṣṭaṃ tu pratyutthānaṃ samādhikam// (Mbh. XII/193/23)

20. *Vedeṣu cāṣṭaguṇināṃ yogamāhurmaṇīṣiṇaḥ /*
sūkṣmamaṣṭaguṇaṃ prāhur netaraṃ nṛpasattama / (Mbh. XII/304/17)

21. *Dviguṇaṃ yogakṛtyaṃ tu yogānāṃ prāhuruttamam /*
saguṇaṃ nirguṇaṃ caiva yathā śāstranidarśanam // (Mbh. XII/304/8)

22. *Dhāraṇaṃ caiva manasaḥ prāṇāyāmaśca pārthiva /*
ekāgratā ca manasaḥ prāṇāyāmastathaiva ca// (Mbh. XII/304/9)

23 *.......te ca śivayoge proktāḥ / 'atha te śoḍaśādhārān kathayāmi viśeṣataḥ' ityādinā pādāṃguṣṭhapārṣṇimūlaprabhrutayo netrādhāraṃ ṣoḍaśaṃtvityaṃtāḥ/*
(Mbh. XII/304/9, the *Bhāratabhāvadīpa* Commentary of Nīlakaṇṭha*)*

24. *Ekameva dhyātṛdhyeyadhyānavibhāgaśunyaṃ vastvagre yasya tadekāgraṃ nirvṛttikaṃ tasya bhāvasattā manaso buddheḥ prāṇā indriyāṇi*

samanaskāni teṣāmāyāmo nigrahaḥ prāṇāyāmaḥ tathā ca śrutiḥ 'yadā pañcāvatiṣṭhante jñānāni manasā saha /
buddhiśca na niceṣṭati tāmāhuḥ paramāṃ gatiḥ//
iti (Mbh. XII/304/9, the *Bhāratabhāvadīpa* (Commentary of Nīlakaṇṭha*)*

25 ...... *yuktena devatādhyānayuktena devatāśca yājñavalkyoktāḥ*
'nilotpaladalaśyāmaṃ nābhimadhye vyavasthitam /
caturbhujaṃ mahātmānaṃ pūrakeṇa vicintayet /
kumbhakena hṛdi sthānaṃ dhyāyettu kamalāsanam /
brahmāṇam raktagaurāṅgaṃ caturvaktraṃ pitāmaham/
recakeneśvaraṃ viddyāllalāṭasthaṃ maheśvaram/
śuddhasphaṭikasaṃkāśaṃ nirmalaṃ pāpanāśanam// ityādinā / /
(Mbh. XII/ 304/ 10, *the Bhāratabhāvadīpa* [Commentary of Nālakaṇṭha]

26. *Dhyānavarjitaṃ tvabhyasyannavaśyaṃ bādhyata iti yathoktaṃ pavanayogasaṃgrahe /*
"prāṇāyāmena yuktena sarvarogakṣayo bhavet /
ayuktābhyāsayogena mahārogasamudbhavaḥ" iti//
(Mbh. XII/304/10, The *Bhāratabhāvadīpa* Commentary of Nīlakaṇṭha*)*

27. *Yamaniyamāsanaprāṇāyāmapratyāhāradhāraṇādhyāna-samādhayo'-ṣṭāṅgāni / (Pātañjalayogadarśanam.* 11/29)

28. *Mbh.* XII/304/7

29. *Tathā tatprayogakalpaḥ prāṇāyāmaḥ pratyāhāro dhyānaṃ dhāraṇā tarkaḥ samādhiḥ ṣaḍaṅga ityucyate yogaḥ / (Mai.Up.* VI/18)

30. Hopkins, E.W., *The Great Epic of India,* p. 33

Bibliography :

1. *Amarakoṣaḥ* with the Commentary *Vyākhyāsudhā* or *Rāmāśramī* ed. M.M. Pandit Sivadatta Dadhimatha, Choukhamba Sanskrit Pratisthan, Delhi, 3rd ed., 1997
2. *Īśādi nau Upaniṣad* (*Śāṅkarabhāṣyārtha*), Gita Press, Gorakhpur, 2nd ed., Sam *2060*
3. *Chāndogyopaniṣad* (*Sāhuvāda Śāṅkarabhāṣyasahita*), Gita Press, Gorakhpur, 9th ed Sam. 2055
4. *Pātañjalayogadarśana* with the Commentary of Vyāsa, Swāmi Sri Brahmalīna Muni (Hindi Trans.), Chaukhamba Sanskrit Sansthan, Varanasi, 5th ed., 2000
5. *Mahābhāratam* (Part-III), Translator, editor & commentator

Paramahaṃsa Swāmi Jagadiśvarānanda Sarasvati, Govindaram Hasananda, Nai Sarak, Delhi-6. 1991

6. *Mahābhārata, Anuśāśanaparva,* chief ed. Pandit Sripada Damodar Satvalekar, Swādhyāya Maṇḍala, Poona, 1978
7. *Mahābhārata, Ādiparva,* Oriya trans, by Smt. Sorojini Bhuyan, pub. with the Financial Assistance of Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi, 1st ed., 1999
8. *Mahābhārata, Āraṇyakaparva* (Part-I & II), chief ed. Pandit Śripāda Damodar Satvalekar, Svādhyāya Maṇḍala, Poona, 1969
9. *Mahābhārata, Āśvamedhikaparva* (14), *Āśramavāsikaparva* (15), *Mausalaparva* (16), *Mahāprasthānikaparva* (17), *Svargārohaṇaparva.* (18), chief ed. Pandit Śripāda Damodar Satvalekar Svādhyāya Maṇḍala, Poona, 1977
10. *Mahābhārata, Bhīṣmaparva,* chief ed. Pandit Sripada Damodar Satvalekar, Svadhyaya Mandala, Poona, 1972
11. *Śriman Mahābhāratam,* Part-VI, *Śāntiparva* (with the Bhāratabhāvadīpa Commentary of Srimannīlakaṇṭha), Nag Publication, New Delhi, reprint, 1988
12. *The Anuśāsanaparvan,* Critically ed. by R.N. Dandekar, BORI, Poona, 1966
13. *The Ādiparvan,* Part-I, Critically ed. by V.S. Sukthankar; BORI, Poona, 1933
14. *The Āraṇyakapravan,* Part. I-III, Critically ed. by V.S. Sukthankar..., BORI, Poona
15. *The Bhīṣmaparvan,* Critically ed. by S.K. Belvalkar, BORI, Poona, 1947
16. *The Śāntiparvan,* (Part. I-III), critically ed. by S.K. Belvalkar, BORI, Poona, 1961
17. The Thirteen *Principal Upaniṣads,* S.L. Seru (Eng. Trans.) Nag Publishers, Delhi, 1st ed., 1997
18. Hopkins, E.W. *The Great Epic of India,* MLBD, Delhi, 1st Indian ed., 1993
19. Nagendra, H.R. *Prāṇāyāma,* Swāmi Vivekānanda Yoga Prakashana, Bangalore, reprint, April 2003

□□

काव्य-बिम्ब और संस्कृत-साहित्य-शास्त्र

सन्तोष कुमार मिश्र

कविता कवि की अनुभूतियों का कलात्मक पुनः सृजन है। कलात्मक होने के नाते यह ब्रह्मा की सृष्टि से विलक्षण है। कवि अपनी अनुभूतियों का यथावत् चित्रांकन ही नहीं करता, वरन् वह काव्य-कला के विविध रंगों की सहायता से उसमें इतना आकर्षण भर देता है कि वे अनुभूतियाँ सहृदय के मानस-पटल पर चिरकाल तक स्थायी बनी रहती हैं। कविता अपने इसी वैशिष्ट्य के कारण आलोचकों का केन्द्र-विन्दु रही है, जिसका परिणाम साहित्य के विभिन्न सिद्धान्तों के रूप में दृष्टिगत होता है। इन्हीं सिद्धान्तों में एक सिद्धान्त है बिम्ब-विधान, जो नितान्त पाश्चात्त्य साहित्य शास्त्र की देन है। बिम्बवाद का प्रारम्भ प्रतीकवाद की अस्पष्टता, रहस्यात्मकता, स्वच्छन्दता आदि के विरोध में तथा काव्य में स्पष्टता एवं ग्राह्यता लाने के उद्देश्य से बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में हुआ था। यह एक आन्दोलन के रूप में उभरा, जिसमें कवियों ने बिम्बपरक रचनाएँ लिखीं तथा आलोचकों ने बिम्ब के सिद्धान्तों के सन्दर्भ में कविताओं की समीक्षा की।

बिम्बवाद के प्रणयन का श्रेय टी.ई.ह्यूम को दिया जाता है। उनके बिम्ब-विषयक संकेत उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'स्पेकुलेशन्स' में दिखायी देते हैं। उन्होंने कविता में ऐन्द्रियता, चित्रात्मकता एवं भावाभिव्यञ्जकता को प्रमुख स्थान दिया। वे लिखते हैं कि "कविता कोई बोलचाल की भाषा नहीं है, प्रत्युत एक मूर्त भाषा है। यह सहजाभिव्यञ्जक भाषा का समञ्जन है, जो ऐन्द्रिय-संवेदना प्रदान करती है।"[1] ह्यूम के विचारों से अभिप्रेरित होकर अमरीकी कवि एजरा पाउण्ड ने बिम्बवाद के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इनके अतिरिक्त एमी लावेल (अमरीकी कवियत्री), एफ.एस. क्लिष्ट, रिचर्ड एलिङ्गटन, ह्यूफर, इलियट आदि का बिम्बवाद के प्रचार-प्रसार में विशेष योगदान रहा है।

बिम्ब शब्द अंग्रेजी के इमेज (Image) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। इसकी व्युत्पत्ति लैटिन के इमेगो (Imago) अथवा इमैजिनम (Imaginum) से हुई है। अंग्रेजी के प्रामाणिक शब्दकोशों के अनुसार 'इमेज' शब्द का अर्थ 'किसी पदार्थ का मनःचित्र', ऐन्द्रिय-अनुभव का पुनर्जागरण, ललित-कल्पना द्वारा अंकित चित्र, किसी व्यक्ति अथवा पदार्थ की प्रतिकृति है। 'इमेज' के समानार्थी 'बिम्ब' शब्द के भी प्रायः यही अर्थ हैं। संस्कृत एवं हिन्दी शब्दकोशों के अनुसार बिम्ब 'सूर्य एवं चन्द्रमा के गोले', 'प्रतिबिम्ब', 'मण्डल', 'कुन्दरुफल', 'प्रतिमा', 'छाया', 'उपमित-पदार्थ', 'मनोमूर्ति', 'किसी पारदर्शी पदार्थ में पड़ने वाली झलक', 'लक्षणा एवं व्यञ्जना-शक्तियों से निकले अर्थ' इत्यादि के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। इस प्रकार अंग्रेजी के 'इमेज' शब्द हेतु 'बिम्ब' शब्द का प्रयोग उचित है तथा काव्यालोचन के लिए प्रयुक्त 'बिम्ब' शब्द अपने मूल अर्थ को अक्षुण्ण रखता है।

काव्य-बिम्ब का स्वरूप

बिम्बवाद के प्रवर्तन के साथ ही पाश्चात्त्य-काव्यशास्त्रियों ने काव्य-बिम्ब के सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्त करने शुरू कर दिये थे। सी.डे. लेविस ने अपनी पुस्तक 'दी पोयटिक इमेज' में बिम्ब का विशद रूप से विवेचन किया है। उनके अनुसार "काव्य-बिम्ब थोड़ी-बहुत मात्रा में इन्द्रियपरक शब्द-चित्र होता है, वह कुछ सीमा तक रूपात्मक होता है, वह कुछ मानवीय भावनाओं से युक्त होता है तथा पाठकों को काव्यात्मक भावना और आवेग से आबद्ध भी करता है।"[2]

स्टीफन जे.ब्राउन ने 'दी वर्ल्ड ऑफ इमेजरी' में बिम्ब को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "बिम्ब किन्हीं अन्य भावों या विचारों के लिए लाया गया ऐन्द्रिय-गुणों से युक्त वह वस्तुविधान है, जो शब्दों या वाक्यांशों में प्रकट होता है"[3]। कतिपय पाश्चात्त्य आलोचकों ने तो बिम्ब को कविता का सर्वस्व ही मान लिया। इन आलोचकों में ब्लिस पेरी, लारेंस जॉन जिलमैन, ड्राइडन, हरबर्ट रीड आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रकार पाश्चात्त्य आलोचकों के अनुसार काव्य-बिम्ब में ऐन्द्रियता, भावों के मूर्तीकरण का सामर्थ्य एवं सहजाभिव्यञ्जकता आदि विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं।

बिम्बवादी आन्दोलन का प्रभाव तत्कालीन हिन्दी साहित्यकारों एवं समीक्षकों पर भी पड़ा। हिन्दी-समीक्षा जगत् में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'बिम्ब' शब्द के प्रथम प्रयोक्ता हैं। उन्होंने बिम्ब को कविता का मुख्य धर्म माना है। वे लिखते हैं कि "काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब (Images) या मूर्तभावना उपस्थित करना' बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं।[4]" डॉ. नगेन्द्र ने काव्य-बिम्ब को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "काव्य-बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है, जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।[5]" वस्तुतः काव्य बिम्ब सार्थक शब्दों के माध्यम से ही मूर्त रूप धारण करता है और यही मूर्तता काव्य-बिम्ब की प्रमुख विशेषता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं कि "बिम्ब का विषय अनिवार्यतः मूर्त ही होता है। अतः बिम्ब में रूप-तत्त्व का प्राधान्य रहता है। शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध के भी अपने-अपने बिम्ब होते हैं, पर प्रायः उन्हें भी रूप का आधार लेना पड़ जाता है।[6] डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी बिम्ब को कविता की भाषा का केन्द्रीय-तत्त्व माना है, किन्तु उन्होंने बिम्ब की दृश्यता की अपेक्षा संश्लिष्टता को अधिक महत्त्व दिया है। वे लिखते हैं कि बिम्ब में चित्र का भाव आता जरूर है, पर चित्र का दृश्य-भाव यहाँ प्रधान नहीं है, वरन् चित्र का संश्लिष्ट रूप – "कम्पोजीशन' होना प्रमुख बात है।[7]" वस्तुतः संश्लिष्टता ही काव्य-बिम्ब में गतिशीलता एवं स्थायित्व लाती है।

इस प्रकार बिम्ब कविता का वह धर्म है, जिसके माध्यम से कवि की अनुभूतियाँ सहृदय-पाठक के मानस-पटल पर साकार हो उठती हैं तथा वह उन अनुभूतियों के साथ तादात्म्य स्थापित करता हुआ परमानन्द की अनुभूति करता है।

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में बिम्ब का स्थान

साहित्य-सौन्दर्य की कसौटी है – साहित्य-शास्त्र। कवि साहित्य की रचना करता है, आलोचक उसकी परीक्षा। एक ओर जहाँ आलोचना के आधार-स्तम्भ पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों पर टिके होते हैं, तो दूसरी ओर नये कवियों के लिए आलोचना की सीमाओं का अतिक्रमण वरेण्य नहीं होता। साहित्य-शास्त्र में

कविता के विभिन्न पक्षों पर विचार किया जाता है। कविता का शरीर, उसकी आत्मा, उसके शोभाधायक धर्म, उसकी शोभा में कमी लाने वाले तत्त्व इत्यादि। इन्हीं बातों पर विचार करते हुए संस्कृत-समीक्षा-प्रणाली में विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित हुए जिनमें प्रमुख हैं रस-सिद्धान्त, ध्वनि-सिद्धान्त, वक्रोक्ति-सिद्धान्त, अलङ्कार-सिद्धान्त, गुण या रीति-सिद्धान्त तथा औचित्य-सिद्धान्त।

काव्य-बिम्ब पाश्चात्त्य समीक्षा-पद्धति का आधुनिक एवं प्रचलित सिद्धान्त है। काव्य भावोद्वेलित हृदय का उद्‌गार है। इसकी प्रकृति समस्त साहित्य में लगभग समान है। अतः इसको परखने के तरीके अलग हो सकते हैं, किन्तु परखा जाता है उसका सौन्दर्य ही। काव्य-बिम्ब के विषय में संस्कृत-समीक्षा पद्धति में भी यही बात है। भले ही संस्कृत-समीक्षापद्धति में काव्य-बिम्ब जैसी समीक्षा-प्रणाली विकसित नहीं है, तथापि उसकी लगभग समस्त पद्धतियों में काव्य-बिम्ब जैसे सङ्केतों की समीक्षा प्रचलित है। अलङ्कार, ध्वनि एवं वक्रोक्ति तो इसके बिल्कुल समीप हैं। अब संस्कृत के प्रमुख सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में काव्य-बिम्ब की समीक्षा की जा रही है –

अलङ्कार-सिद्धान्त और काव्य-बिम्ब

'अलङ्‌क्रियतेऽनेनेति अलङ्कारः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कविता-कामिनी की शोभा में वृद्धि करने वाले तत्त्व अलङ्कार कहे जाते हैं। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में अलङ्कार को परिभाषित करते हुए लिखा है –

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्‌गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्‌कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।।[8]

अर्थात् जो धर्म अङ्‌गभूत शब्द और अर्थ के द्वारा विद्यमान रहने पर अङ्‌गी (रस) का 'हार' इत्यादि के समान कभी-कभी उपकार करते हैं वे अनुप्रास, उपमादि अलङ्कार कहे जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि अलङ्कार काव्य में रस की स्थिति होने पर भी उसके उपकारक होते हैं। अर्थात् नीरस या चित्रकाव्य में अलङ्कार शोभावर्द्धक नहीं होते। इसी प्रकार ये विद्यमान रस के सदैव उपकारक भी नहीं होते। जैसे ग्रामीण अलङ्कार किसी सुकुमार नायिका की सौन्दर्य-वृद्धि नहीं करते।

अलङ्कार के तीन भेद हैं – शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार तथा उभयालङ्कार। जो अलङ्कार शब्दपरिवृत्त्यसह हैं, वे शब्दालङ्कार, जो शब्दपरिवृत्तिसह हैं, वे अर्थालङ्कार तथा जो शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित हैं, उभयालङ्कार कहे जाते हैं। बिम्ब की प्रमुख विशेषता मूर्तिमत्ता का सम्बन्ध अलङ्कारों से है। "भाषा-बिम्बों को स्थापित करने के लिए शब्दालङ्‌कारों एवं अर्थालङ्‌कारों को अपनाती है। बिम्ब के निर्माण में विशेषकर अर्थालङ्‌कारों का (जिनमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, मानवीकरण, प्रतीक अन्तर्निहित हैं), विशेष महत्त्व है।[9]" वस्तुतः अलङ्‌कारों में जो सादृश्यमूलक अलङ्‌कार है, वे अधिकतर बिम्बमय ही होते हैं। डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है कि "भारतीय अलङ्‌कार-शास्त्र में सादृश्यमूलक अलङ्‌कार अप्रस्तुत विधान पर निर्भर करते हैं। अप्रस्तुत विधान में प्रस्तुत तथ्य अथवा अभीष्ट अर्थ को प्रभावी रीति से व्यक्त करने के लिए कल्पनात्मक साम्य पर आधृत अप्रस्तुत उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। .... इस प्रकार यह अप्रस्तुत विधान सादृश्य मूलक होने के कारण प्रायः बिम्बात्मक ही होता है।[10]" यहाँ प्रायः शब्द से स्पष्ट है कि सादृश्यमूलक अलङ्‌कार भी सदैव बिम्बात्मक नहीं होते। जैसा कि डॉ. रामकृष्ण अग्रवाल

लिखते हैं कि "जो अलङ्कार केवल बाह्य चमत्कार के लिए लाया जाता है, वह बिम्ब से दूर रहता है, किन्तु जो अलङ्कार भाव से प्रेरित होकर उसको मूर्तित करने के लिए काव्य में निबद्ध होता है, वह बिम्ब रूप होकर आता है, चाहे वह उत्प्रेक्षा हो, उपमा हो, रूपक हो अथवा कोई अन्य सादृश्यमूलक अलङ्कार।[11]" अप्रस्तुताश्रित अलङ्कारों के अतिरिक्त "बालक आदि (पदार्थों) की स्व-आश्रित क्रिया तथा रूप आदि के वर्णन रूप" स्वभावोक्ति अलङ्कार[12] में भी बिम्ब के दर्शन होते हैं। इसी आधार पर डॉ. जगदीश शर्मा ने बिम्ब का मूल अलङ्कार को ही माना है। वे आचार्य दण्डी के अलङ्कारसम्बन्धी दृष्टिकोण में बिम्ब के दर्शन करते हैं। वे लिखते हैं कि "भाषा शब्द और अर्थ के बल पर रूप सृष्टि करती है। शब्द या वर्ण ध्वनि की बिम्बात्मकता के रूप में काव्य-सङ्गीत-तत्त्व का अपने लिए उपयोग करता है, जिसमें छन्दाश्रित लय भी कवित्व की उपकारी बन जाती है। अर्थ के साथ अनेक आकृतियों की सृष्टि और उनका संगुम्फन काव्य में होता है। इन्हीं आकृतियों में कवि का कथ्य मूर्त होकर सम्प्रेष्य बनता है। ये अर्थाश्रित बिम्ब प्रस्तुत और अप्रस्तुत दो रूपों में सहृदय तक कवि कथ्य का सम्प्रेषण करते हैं। इसी आधार पर दण्डी ने स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के रूप में अलङ्कारभेद की परिकल्पना की है। आचार्य दण्डी की इस व्यापक अलङ्कार परिकल्पना से यह प्रकट होता है कि उनकी दृष्टि में अलङ्कार रूपसर्जना का वाचक है।[13]"

ध्वनि-सिद्धान्त और काव्य-बिम्ब – ध्वनि-सिद्धान्त आनन्दवर्द्धन की देन है। इस सिद्धान्त के विषय में डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है कि "अब तक जो सिद्धान्त प्रचलित थे, वे प्रायः सभी एकाङ्गी थे। अलङ्कार और रीति तो काव्य के बहिरङ्ग को ही छूकर रह जाते थे, रससिद्धान्त भी ऐन्द्रिय आनन्द को ही सर्वस्व मानता हुआ और कल्पना के आनन्द के प्रति उदासीन था, ... ध्वनिकार ने इन त्रुटियों को पहचाना और सभी का उचित परिहार करते हुए शब्द की तीसरी शक्ति व्यञ्जना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया।[14]"

आचार्य आनन्दवर्द्धन के अनुसार "जहाँ अर्थ अपने स्वरूप को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस (प्रतीयमान) अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, वह काव्य-विशेष विद्वानों के द्वारा 'ध्वनि' कहा जाता है।[15]" इसी को मम्मटाचार्य ने 'उत्तम काव्य' कहा है।[16]

इस ध्वनि का बिम्ब के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। काव्य के मूल तत्त्व के रूप में ध्वनि शब्द की स्थापना से लेकर अभिधा तथा लक्षणा शक्तियों की पीठ पर आधारित समस्त ध्वनिकाव्य में बिम्बात्मकता के दर्शन होते हैं।

काव्य की आत्मा के रूप में 'ध्वनि' शब्द के प्रयोग के प्रति आचार्य आनन्दवर्द्धन वैयाकरणों के द्वारा प्रयुक्त 'स्फोट' शब्द के ऋणी हैं। स्फोट अर्थ को प्रस्फुटित करता है तथा उसके आधार पर परिकल्पित ध्वनिकाव्य में भी नये अर्थों की व्यञ्जना होती है। इस प्रकार ये दोनों भाव के बिम्बन में समर्थ है।

काव्य की अभिधा वृत्ति पर आधृत वाच्य अर्थ से युक्त रचना को आनन्दवर्द्धन ने चित्रकाव्य कहा है। यह चित्रकाव्य भी बिम्बन से परिपूर्ण है। चित्रकाव्य के दो भेद हैं – शब्दचित्र और अर्थचित्र। डॉ. भवानीदत्त काण्डपाल ने आचार्य मम्मट द्वारा निर्दिष्ट शब्दचित्र के उदाहरण 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छ' इत्यादि को उल्लिखित करते हुए उसकी बिम्बता को इस प्रकार स्पष्ट किया है – "इस वर्णन में नेत्रेन्द्रिय के लिए पर्याप्त सामग्री है। इसको पढ़ते ही विशाल गिरि-गह्वरों में बड़े वेग से उछल-उछलकर तटवर्ती वृक्षों

को धराशायी करती हुई गङ्गा नदी का एक दृश्य नेत्रों के सामने उभर आता है। बिम्बवादी आचार्य इस प्रकार के वर्णनों को गत्यात्मक चाक्षुष बिम्ब वर्ग के अन्तर्गत रखते हैं।[17]"

इस प्रकार शब्दचित्र का काव्य-बिम्ब के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, किन्तु अलङ्कार के वैचित्र्य से बोझिल रचना, जिसमें भाव का समंजन नहीं होता, शब्दचित्र को भी काव्य-बिम्ब से दूर कर देती है।

अर्थचित्र भी बिम्बात्मक होते हैं। आचार्य मम्मट द्वारा दिये गये अर्थचित्र के उदाहरण – *'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्'* इत्यादि में भयभीत अमरावती के लिए निमीलितनयना नायिका का बिम्ब सृजित किया गया है।

शब्द की दूसरी शक्ति 'लक्षणा' में बिम्ब-निर्माण का स्वाभाविक गुण निहित है। रूढ़ि की अपेक्षा प्रयोजनवती लक्षणा बिम्बन में अधिक समर्थ है। सादृश्य-सम्बन्ध से होने वाली गौणी लक्षणा के सारोपा एवं साध्यावसाना भेदों से सुन्दर बिम्बों का निर्माण होता है। डॉ. जगदीश शर्मा ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "उपलक्षित बिम्ब सर्जना में लक्षणा शक्ति का योग रहता है। गौणी लक्षणा सादृश्यविधान के लिए बहुत उपयोगी है। कई बार मुहावरों में भी गौणी लक्षणा का सूक्ष्म योग रहता है। जैसे 'भामिनि भइहु दूध कै माखी' में लक्षणा सादृश्यमूलक ही है।[18]

अभिधा एवं लक्षणा के अलावा व्यञ्जना भी बिम्ब-निर्माण में सहायक है, किन्तु व्यञ्जना द्वारा निर्मित बिम्ब श्रोता की कल्पनाशक्ति पर अधिक निर्भर होते हैं। साथ ही सभी व्यङ्ग्यार्थ बिम्बपरक नहीं होते, क्योंकि बिम्ब के लिए ऐन्द्रियता अनिवार्य है, जबकि व्यङ्ग्यार्थ इससे रहित भी हो सकता है। जैसे रस-ध्वनि अनुभूतिपरक होने से बिम्बमय नहीं होती।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त और काव्य-बिम्ब -

भारतीय काव्य-सिद्धान्तों की परम्परा में कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त विशिष्ट महत्त्व रखता है। यह एकमात्र ऐसा सिद्धान्त है, जिसमें काव्य के स्वरूप, प्रयोजन से लेकर उसके निर्माण की प्रक्रिया तथा समस्त अवयवों की व्यापक चर्चा की गई है। कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है, जिसका स्वरूप निर्धारित करते हुए वे लिखते हैं –

'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।[18]'

अर्थात् 'वैदग्ध्यपूर्ण शोभायुक्त अभिधान'। वृत्ति में इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि "प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र कथन ही वक्रोक्ति है, जो वैदग्ध्य कविकर्म की निपुणता की शोभा पर आश्रित उक्ति है।"[19]

कुन्तक का यह सिद्धान्त भी काव्य-बिम्ब के साथ अधिक साम्य रखता है। कुन्तक द्वारा निर्दिष्ट वक्रोक्ति के कई भेद-प्रभेदों के साथ बिम्ब का सम्बन्ध है। उदाहरण के रूप में रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता को ही लें, जिसमें कवि अपनी प्रतिभा से रूढ़ या वाच्य अर्थों को नये सन्दर्भों में प्रयोग करता है, वह बिम्ब रूप ही होता है। जैसे 'रामोऽस्मि सर्वं सहे'। में कवि ने राम के रूढ़ अर्थ (दशरथ पुत्र राम) से भिन्न सभी कुछ सहन करने वाले कठोरहृदय राम' का अर्थ लिया है, जो एक दृढ़ व्यक्ति का बिम्ब उपस्थित करता है। डॉ. अयोध्या प्रसाद द्विवेदी बिम्ब के साथ वक्रोक्ति-सिद्धान्त का साम्य प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं कि "कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त तो प्रकारान्तर से काव्य की सम्मूर्तन प्रक्रिया का ही आख्यान करता है।"[20]

डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है कि "भारत के देहवादी अथवा रूपवादी काव्य-सम्प्रदायों में कुन्तक ने वक्रोक्ति-सिद्धान्त के माध्यम से कवि-व्यापार का अत्यन्त सूक्ष्म एवं गम्भीर वर्णन किया है। वक्रोक्ति विवेचन में बिम्ब-विधान के नाना रूपों और प्रणालियों का समावेश स्वभावतः हो गया है, क्योंकि व्यापक अर्थ में हम यह मान सकते हैं कि कविव्यापार एक प्रकार से बिम्ब-विधान का ही वृहत्तर रूप है।[21]"

रस-सिद्धान्त और काव्य-बिम्ब

भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित 'रस-सिद्धान्त" सर्वप्रमुख एवं सर्वमान्य सिद्धान्त रहा है। भरतमुनि ने रस को नाटक का प्राणतत्त्व माना था, जिसके बिना कोई भी नाट्याङ्ग प्रवर्तित नहीं हो सकता।[22] उनके अनुसार "विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभावों का जब रति आदि स्थायी भावों के साथ संयोग होता है तो रस की निष्पत्ति होती है।"[23] आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित नाट्य-रस बाद में श्रव्य-काव्य में भी गृहीत हो गया।

भारतीय काव्यशास्त्र में प्रमुखता से वर्णित इस रस का भी बिम्ब के साथ गहरा सम्बन्ध है। बिम्ब की प्रमुख विशेषता, ऐन्द्रियता का नाट्य के साथ सम्बन्ध होना, इसका प्रबल प्रमाण है। आचार्य वामन ने इसी विशेषता के कारण प्रवन्ध-काव्यों में नाटक को ही श्रेष्ठ माना है।[24]

अभिनवगुप्त ने जो यह कहा है कि अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक के 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' इत्यादि वाक्यों से होने वाली वाक्यार्थों की प्रतीति के बाद उन वाक्यों में गृहीत कालादि के विभागों की उपेक्षा करने वाला (साधारणीकरण रूप) साक्षात्कारात्मक मानस अनुभव होता है[25], यह भी रस की बिम्बमयता को ही द्योतित करता है।

वस्तुतः रस-प्रतीत काल में चित्रण (बिम्बन) का अवकाश नहीं रहता, किन्तु उसकी पूरी प्रक्रिया इसी बिम्बन शिल्प पर आधारित है। आलम्बन एवं उद्दीपन विभाव, अनुभाव, सञ्चारीभाव-ये सभी बिम्ब रूप ही होते हैं। इस प्रकार बिम्ब रसानुभूति के माध्यम सिद्ध होते हैं।

रीति-सिद्धान्त और काव्य-बिम्ब

कवि अपने भावों को व्यक्त करने के लिए शब्दों का विशिष्ट विन्यास करता है। प्रायः प्रत्येक कवि अलग अलग ढंग से शब्दों का विन्यास करता है, किन्तु कुछ कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों की पद्धति का ही अनुसरण करते हैं। इसे ही 'रीति' के नाम से पुकारा जाता है। आचार्य वामन ने इसे विशेष महत्त्व देते हुए काव्य की आत्मा घोषित किया।[26] उन्होंने रीति का लक्षण 'विशिष्ट-पदरचना'[27] करते हुए विशिष्ट का अभिप्राय माधुर्यादि गुणों से समन्वित बताया।[28] इस प्रकार वामन के अनुसार 'गुणों से समन्वित विशिष्ट पद-विन्यास' काव्य है। आचार्य वामन के अनुसार रीतियाँ तीन हैं – वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली।[29]

इन रीतियों का भी बिम्ब के साथ सम्बन्ध है। रीतियाँ गुण पर अवलम्बित होकर रस को व्यक्त किया करती हैं। माधुर्यादि-गुणों से समन्वित विशिष्ट पदरचना के प्रयोग से बिम्बों में परिष्कार आता है, वह अधिक चित्रमय एवं ग्राह्य बनता है।

औचित्य-सिद्धान्त और काव्य-बिम्ब

शब्दार्थों का कल्पनात्मक प्रयोग काव्य कहलाता है, किन्तु शब्दार्थों का यह कल्पनात्मक प्रयोग तब तक प्रसिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता, जब-तक उसके अन्दर आये हुए सभी घटक औचित्य समन्वित न हो। कविता में अलङ्कारादि का उचित अभिनिवेश ही उसे कविता कहलाने का अधिकारी बनाता है। कविता में इस तत्त्व की ओर ध्यान दिलाने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को है। उन्होंने औचित्य को रससिद्ध-काव्य का स्थिर (अचल) जीवन घोषित किया।[30] औचित्य शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा कि "जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसे उचित कहा जाता है, और उचित का भाव औचित्य कहलाता है।[31]" उन्होंने काव्य की विषयवस्तु तथा उसकी शैली – दोनों को ही ध्यान में रखते हुए काव्य के प्रत्येक अवयवों में औचित्य की स्थिति स्वीकार कर इसके पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण इत्यादि 28 भेद किये हैं।

औचित्य का भी सम्बन्ध बिम्ब के साथ अनिवार्य रूप से है। कविता के भाव को सहृदय के मानस-पटल पर चित्रित कर उनके हृदय को चमत्कृत करना बिम्ब की प्रमुख विशेषता है। बिम्ब का यह चमत्कार-सम्पादन औचित्य समन्वित ही होता है। औचित्य के अभाव में कविता में उस मनोज्ञता का जन्म ही नहीं हो सकता, जो सहृदयों को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। उदाहरणार्थ अभिज्ञान-शाकुन्तलम् नाटक में महाकवि कालिदास द्वारा कृष्णसार मृग का पीछा करते हुए, धनुष पर बाण चढ़ाये हुए, दुष्यन्त में यज्ञरूपी मृग का पीछा करते हुए भगवान् शङ्कर की उत्प्रेक्षा के लिए 'पिनाकी' शब्द का प्रयोग किया गया[32] यह सुन्दर बिम्ब सृष्टि का हेतु है। यदि कवि इसके स्थान पर भगवान् शङ्कर के पर्यायवाची किसी अन्य शब्द का प्रयोग करता, तो यह बात न रहती।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि पाश्चात्त्य आलोचनाशास्त्र का बिम्ब-सिद्धान्त संस्कृतसाहित्यशास्त्र में प्रचलित समस्त सिद्धान्तों के निकट है। वस्तुतः 'बिम्ब' कविता का एक ऐसा तत्त्व है, जो सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक है।

सन्दर्भ

1. "It (poetry) is not a counter language but a visual concrete one, it is a compromise for language of intuition which would hand over sensations bodily."
   – `Speculations', T.E. Hulme, Routledge and Kegan paul, London, 1960, P. 135
2. `The Poetic Image', C. Day-Lewis, Jonthan Cape, Thirty Bedford Square, London, 1968, p. 22
3. `The world of Imagery', Stephen J. Broun, Routledge and Kegan Paul, London, 1927, p. 2
4. 'चिन्तामणि' भाग एक, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, 1939, पृ. 309
5. 'आस्था के चरण' भाग एक, डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली, 1980, पृ. 155
6. वही, पृ. 155
7. 'काव्य भाषा पर तीन निबन्ध', डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002,

पृ. 8

8. 'काव्यप्रकाश', 8/67, मम्मट, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1998, पृ. 409

9. 'काव्य-बिम्ब स्वरूप एवं संरचना', पी. आदेश्वर राव, कालिन्दी कावेरी प्रकाशन, इलाहाबाद, 1978, पृ. 43-44

10. 'आस्था के चरण', डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली, 1980, पृ. 168

11. 'प्रसाद काव्य में बिम्ब, योजना' – डॉ. रामकृष्ण अग्रवाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1979, पृ. 28

12. "स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्"।

– 'काव्यप्रकाश', 10.168, मम्मट, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1998, पृ. 542

13. 'काव्य-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र', डॉ. जगदीश शर्मा, भारतीय शोध संस्थान, गुलाबपुरा, राजस्थान 1968, पृ. 11

14. ध्वन्यालोक, भूमिका भाग, आनन्दवर्द्धन, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1998, पृ. 1

15. "यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ, व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।"

– 'ध्वन्यालोक', 1.13, आनन्दवर्द्धन, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1998, पृ. 37

16. "इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।"

– 'काव्यप्रकाश', 1.4, मम्मट, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1998, पृ. 23

17. 'कालिदास के साहित्य में बिम्ब-विधान, डॉ. भवानीदत्त काण्डपाल, शब्दश्री प्रकाशन, आगरा, 1985, पृ. 14

18. 'काव्य-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र', डॉ. जगदीश शर्मा, भारतीय शोध-संस्थान, गुलाबपुरा, राजस्थान, 1968, पृ. 80

18.1. वक्रोक्तिजीवित 1.10

19. "वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।

कीदृशी – वैदग्ध्यभङ्गी भणितिः। वैदग्ध्यं, विदग्धभावः कविकर्म कौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः, तया भणितिः विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।"

– वक्रोक्तिजीवित, कुन्तक, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 45

20. 'कालिदास का बिम्ब-विधान', डॉ. अयोध्या प्रसाद द्विवेदी, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, 994, पृ. 32

21. 'आस्था के चरण', डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली, 1980, पृ. 170

22. "न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।"

– 'नाट्यशास्त्र', भरत, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1996, पृ. 33

23. "तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

-- वही, पृ. 34

24. "सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः" -- 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति', वामन, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1954,पृ. 41

25. तस्य च "ग्रीवाभङ्गाभिरामम्" इति (शाकु. अं. 1) "उमापि नीलालक" इति (कुमा. 3.62) "हरस्तु किञ्चित्" (कुमा. 3.67) इत्यादि वाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते।"

– अभिनवभारती टीका, नाट्यशास्त्र, पृ. 59 से उद्धृत।

26. "रीतिरात्मा काव्यस्य" – काव्यालङ्कारसूत्र, वामन, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, सं. 2033, पृ. 14

27. "विशिष्ट–पदरचना रीतिः" – वही, पृ. 15

28. "विशेषो गुणात्मा" – वही, पृ. 15

29. वही, पृ. 16

30. "औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्" – 'औचित्यविचारचर्चा', क्षेमेन्द्र, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1982, पृ. 6

31. "उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते।।"

– वही, पृ. 12

32. "कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके।
मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम्।।"

– 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', कालिदास साहित्य संस्थान, इलाहाबाद, 1979, पृ. 15

□□

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में राधा

लिलि अग्रवाल

वैष्णव–भक्तिधारा में राधा के आविर्भाव का प्रश्न ऐतिहासिक दृष्टि से सदैव अध्ययन का एक रोचक विषय रहा है। के.एम. मुंशी ने राधा को हमारी राष्ट्रीय परिकल्पना में `Problem-Child' माना है।[1] कृष्णभक्ति–शाखा के प्रत्येक वैष्णव–सम्प्रदायों ने अपने मत के अनुरूप राधातत्त्व को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है।[2] वैष्णव–धर्म के मेरुदण्ड माने जाने वाले ग्रंथ श्रीमद्भागवत में राधा नाम की अप्राप्ति ने राधा के आविर्भाव के प्रश्न को और भी जटिल बना दिया है। विविध साहित्यिक, आभिलेखिक, कलागत एवं अन्य साक्ष्यों के आधार पर भारतीय संस्कृति में राधातत्त्व के विकास पर प्रकाश डाला जा सकता है।

साहित्यिक साक्ष्यों का जब प्रश्न उठता है तो इस संदर्भ में सर्वप्रथम वैदिक वाङ्मय की ओर ध्यान जाता है। कुछ विद्वानों ने वैदिक वाङ्मय में राधा की उत्पत्ति संबंधी प्रसंगों को ढूँढने का अथक प्रयास किया है।[3] वेदों में कई स्थलों पर 'राधस्' शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में एक स्थल पर 'स्तोत्रं राधानां पतये गिवाहों वीरयस्तते' पद का प्रयोग हुआ है।[4] कुछ विद्वानों ने इस पद का अर्थ राधा से लगाया है किन्तु यहाँ राधा शब्द नामवाचक संज्ञा के रूप में न होकर इंद्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[5] राधा शब्द का प्रयोग यहाँ धन, अन्न, पूजा, नक्षत्र आदि अर्थों में किया गया है, न कि किसी आराध्य / धार्मिक देवी के रूप में।[6]

बलदेव उपाध्याय ने वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त 'राधा' शब्द के अर्थ की विवेचना करते हुए अपना मत प्रस्तुत किया है। बलदेव उपाध्याय का कथन है कि राधा शब्द की व्युत्पत्ति बृद्ध्यर्थक 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक 'राध्'[7] धातु से की जाती है। राधा आराधना की प्रतीक है और आराधना की उदात्तता उसके प्रेमपूर्ण होने में है। दूसरे शब्दों में जो आराधना उदात्त प्रेम के साथ सम्पन्न नहीं की जाती है, वह सही अर्थों में आराधना नहीं कहलाती। इस प्रकार राधा शब्द के साथ प्रेम के प्राचुर्य एवं भक्ति की विपुलता का भाव जुड़ता गया और जिसे कालांतर में राधा के स्वाभाविक गुण के रूप में स्वीकार किया गया। इस प्रकार राधा उदात्त प्रेम की साकार प्रतिमा के रूप में धर्म में प्रतिष्ठित हुई जिसका प्रभाव साहित्य, कला एवं अन्य ललित कलाओं के क्षेत्र में जीवन्त दृष्टिगत होता है।[8] अतः परवर्ती राधा को वैदिक राधा का व्यक्तिकरण माना जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि यदि 'राधानां पतये' शब्द को ऋग्वैदिककाल में इन्द्र के लिए प्रयुक्त मान भी लिया जाय तो इतना निश्चित है कि कालांतर में जब इन्द्र का महत्त्व कम होने लगा और विष्णु की प्रधानता[9] बढ़ने लगी होगी तो पूर्व प्रचलित इन्द्र से संबंधित समस्त कथाएँ भी विष्णु से संबद्ध हो गई होंगी और विष्णु ही 'भुवनस्य राजा' और 'राधानां पतिः' हो गये होंगे।[10] आगे चलकर जब कृष्ण का विष्णु के साथ सामंजस्य स्थापित किया गया तो कृष्ण का 'राधानां पतिः' होना स्वाभाविक था।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल में 'राधा' शब्द का प्रयोग भले ही व्यक्तिवाची आराध्या राधा के लिए प्रयुक्त न हुआ हो किन्तु कालांतर में संभवतः इसका संबंध राधा देवी से कर दिया होगा। मन्त्रभागवत नामक ग्रन्थ में टीकाकार नीलकंठ चतुर्धर ने ऋग्वेद[11] में वर्णित एक मंत्र को राधा-विषयक सूचना प्रदान करने वाला बताया है। इस मंत्र में 'सुराधा' शब्द प्रमुख / सर्वश्रेष्ठ गोपी के रूप में राधा के लिए एवं 'शीभ' शब्द कृष्ण के लिए प्रयुक्त किया गया है। किन्तु मन्त्रभागवत का रचनारकाल 17 वीं शती का उत्तरार्द्ध एवं लगभग 18 वीं शती का आरम्भ माना जाता है और तब तक वैष्णव-धर्म में राधा एवं राधा-सम्प्रदाय पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुका था, अतः इसे ऐतिहासिक दृष्टि से राधातत्त्व के विकासानुक्रम की प्रामाणिकता को ठहराने में उचित मानना दुरूह प्रतीत होता है। इसी प्रकार राधोपनिषद् एवं राधिकातापनीयोपनिषद् में राधा का कृष्ण की परम अन्तरङ्गभूता, आह्लादिनी शक्ति एवं सर्वश्रेष्ठ नायिका के रूप में वर्णन प्राप्त होता है किन्तु उपरोक्त उपनिषदों का अविर्भाव-काल 17 वीं शती के बाद का माना जाता है, अतः इन्हें भी ऐतिहासिक दृष्टि से उचित नहीं ठहराया जा सकता।

भारत के दक्षिणी अंचल से प्राप्त प्राचीन तमिल-साहित्य से भी संबंधी अनेक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। तोलकाप्पियम्, शिलप्पदिकारम्, मणिमेकलै, परिपाडल्, जीवकचिन्तामणि आदि प्रमुख तमिल ग्रन्थों में कण्णन् (कृष्ण) की नायिका के रूप में नैप्पिन्नै का वर्णन प्राप्त होता है।[12] ऐसा प्रतीत होता है कि तमिलवासी कृष्ण को प्रेमवश कण्णन् नाम से सम्बोधित करते थे जो ब्रज के कान्हा या कन्हैया का समानार्थी था। ए.के. मजूमदार[13] ने भी कण्णन् की पत्नी के रूप में नैप्पिन्नै का उल्लेख किया है। यहाँ नैप्पिन्नै का तादात्म्य राधा से किया गया है जिसे उत्तर-भारत के साहित्य में इसी नाम से जाना जाता है।[14] तमिल-साहित्य के इन ग्रन्थों का रचनाकाल लगभग ई.पू. चतुर्थ शती से लेकर द्वितीय शती ई. के बीच निर्धारित किया जाता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि लगभग इसी समय दक्षिण-भारत में कृष्ण संबंधी कथायें प्रचलित थीं और इसी बीच राधा का नैप्पिन्नै के रूप में उद्भव हुआ होगा। कालांतर में वैष्णव आलवारों ने लगभग सातवीं से नवी शती के बीच कृष्ण-नैप्पिन्नै प्रसंग को एक सम्प्रदाय के रूप में विकसित किया।[15]

लगभग प्रथम-द्वितीय शती ई. के 'राधा' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम श्रीकृष्ण की प्रेयसी एवं विशेष गोपी के रूप में प्राकृत-साहित्य के विश्रुत काव्यग्रन्थ गाथासप्तशती में हुआ, ऐसा माना जाता है।[16] इस काव्यग्रंथ की रचना सातवाहन नरेश 'हाल' ने की थी। गाथासप्तशती में राधा-कृष्ण के शृंगारिक रूपवर्णन में राधा नाम का स्पष्टतः उल्लेख प्राप्त होता है जो इस प्रकार है –

मुहमारूएण तं कह्म गोरअं राहिआएँ अवणेन्तो।
एतांण वल्लवीणं अण्णाणं वि गोरअं हरसि।।[17]

अर्थात्, हे कृष्ण! तुम अपने मुखमारुत अर्थात् मुँह की फूँक से राधा के मुँह में लगे गोरज (धूल) को दूर कर रहे हो। इस कार्य-व्यापार द्वारा तुम अन्य गोपियों का गौरव भी हरण कर रहे हो। इस कृति में वर्णित प्रसंग में राधा के प्रति कृष्ण की विशिष्ट आसक्ति एवं प्रेम का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि श्रीकृष्ण की प्रेयसी राधा का मांसल रूप में साहित्यिक आविर्भाव उस समय तक हो चुका था।

अब प्रश्न उठता है कि एक आदर्श, भाव, प्रेम, और भक्ति की साकार प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठित राधातत्त्व का विकास कब और कैसे एक स्थूल व्यक्तित्व में रूपांतरित हो गया, विचारणीय तथ्य है। गाथासप्तशती में राधा नामोल्लेख प्राप्त होने से जहाँ एक ओर राधा के अविर्भाव संबंधी प्राचीनता निश्चित होती है वहीं दूसरी ओर यह प्रश्न भी उठता है कि जब प्रथम शती ई. में राधा और कृष्ण की प्रेम-गाथाएँ प्रचलित थीं तो अवश्य इनका प्रादुर्भाव ई. सन् के पूर्व में हुआ होगा। इस संबंध में आर.जी. भण्डारकर द्वारा वर्णित तथ्य को प्रस्तुत किया जा सकता है। भण्डारकर महोदय ने राधा को सीरिया प्रदेश से आये आभीरों की ही जाति की इष्टदेवी एवं कृष्ण को आभीर जाति का बालदेवता माना है। कालांतर में संभवतः यही आभीर देवता आर्यजाति के सात्वत् धर्म के देवता कृष्ण के रूप में सम्मिलित हो गया और आभीरों की देवी राधा को भी आर्यजाति के रूप में स्वीकार कर लिया गया होगा।[18] मुंशीराम शर्मा ने 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' में आभीरों को भारत का मूल निवासी माना है। आभीरों के विषय में इतना स्पष्ट है कि वे ई. सन् के पूर्वभारत में निवास कर रहे थे। काठियावाड़ से प्राप्त एक लिपि से भी पता चलता है कि शक 102 में आभीर यहाँ राज्य कर रहे थे। वायुपुराण, जिसे प्राचीन पुराण माना जाता है, में भी आभीर राजाओं की वंशावली प्राप्त होती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आभीर ई. सन् के पहले भारत में आकर बस गये थे। अतः राधा की प्राचीनता को ई. सन् के पूर्व मानना उचित प्रतीत होता है और राधा का प्रादुर्भाव स्थल उत्तर-भारतीय लौकिक-साहित्य के अन्तर्गत ढूँढना न्यायसंगत है।

कृष्ण की प्रेयसी के रूप में राधा नाम का प्रथम बार प्रयोग संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ पञ्चतन्त्र में प्राप्त होता है। इस ग्रंथ में राधा को गोपालकुल में उत्पन्न एवं नारायण (श्रीकृष्ण) की भार्या होने की लोकप्रसिद्ध कथा उल्लिखित मिलती है।[19] अल्टेकर महोदय ने पञ्चतन्त्र को गुप्तकालीन रचना बताया है। विजयेन्द्र स्नातक एवं एस.सी. मुकर्जी ने भी इस ग्रंथ का रचनाकाल पाँचवी-छठी ई. माना है। इससे स्पष्ट होता है कि पाँचवी शती तक राधा ने संस्कृत-साहित्य में स्थान प्राप्त कर लिया था।

पुराणों में भी राधासंबंधी अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं। विष्णुपुराण, हरिवंशपुराण, भागवतपुराण में राधा नामोल्लेख नहीं प्राप्त होता है किन्तु मत्स्यपुराण, पद्मपुराण एवं ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में राधा नाम व तत्संबंधी अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं। भागवतपुराण जिसे वैष्णव-साधना का मेरुदण्ड माना जाता है, में राधा एवं कृष्ण संबंधी अनेक ललित एवं मधुर लीलाओं का तो वर्णन मिलता है, किन्तु संपूर्ण पुराण में कहीं भी राधा का स्पष्टतः नामोल्लेख प्राप्त नहीं होता है।[20] भागवतपुराण[21] में एक स्थल पर रासलीला संबंधी वर्णन मिलता है। इस प्रसंग में वर्णित श्लोक में आये 'अनया राधिता' पद का विद्वानों ने अनेक अर्थ निकालकर राधा के अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान होने का संकेत प्रदान किया है। भागवतपुराण का रचनाकाल आर.सी. हाजरा के अनुसार 600 ई. 1000 ई. के मध्य निर्धारित किया जा सकता है और इसकी अधिक संभावना 800 ई. से 1000 ई. के बीच निर्धारित किया जा सकता है।[22] स्पष्ट है कि 8 वीं से 10 वीं सती के बीच राधा और कृष्ण की लीलाएँ वैष्णव ग्रन्थों में अवश्य प्रचलित हो गई थीं और इससे राधा की प्राचीनता को भी नकारा नहीं जा सकता है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण में राधाशब्दोत्पत्ति, राधाप्रादुर्भाव, राधाकृष्ण की लीलाएँ एवं तत्संबंधी अनेक प्रसंगों का विशद अंकन मिलता है। यद्यपि यह पुराण राधा के विकासात्मक स्वरूप पर स्पष्ट प्रकाश डालता है किन्तु इस पुराण का रचनाकाल अत्यधिक परवर्ती होने (लगभग 10 वीं से 16 वीं शती ई. के बीच)[23] के

कारण इसमें वर्णित तथ्यों को ऐतिहासिकता की कसौटी पर परखना दुरूह प्रतीत होता है। फिर भी इतना स्पष्ट होता है कि 10 वीं शती के बाद राधा का वर्णन स्पष्ट रूप से वैष्णव–पुराणों में प्राप्त होने लगा था। इसके साथ ही साथ यह भी संभावना व्यक्त की जा सकती है कि यदि राधा-संबंधी प्रसंगों का ब्रह्मवैवर्तपुराण के रचनाकार ने इतना विशद वर्णन किया है तो जनमानस में राधा के प्रादुर्भाव संबंधी आख्यान पहले से अवश्य विद्यमान रहे होंगे।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में राधास्वरूप संबंधी अध्ययन के संदर्भ में साहित्यिक साक्ष्यों के साथ-साथ अभिलेखिक साक्ष्यों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस संदर्भ में धार के शासक वाक्पति मुंज का ताम्रपत्र अभिलेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसे राधा के संबंध में प्रथम आभिलेखिक साक्ष्य माना जाता है। इस अभिलेख में कृष्ण द्वारा राधा के प्रति किये गये उदात्त प्रेम की अभिव्यंजना व्यक्त की गई है, जो इस प्रकार है – ''लक्ष्मी के वदनेन्दु द्वारा जिसे सुख नहीं प्राप्त था और जिसे स्वयं की नाभि से उत्पन कमल से परिपूर्ण सरोवर भी शांत करने की शक्ति नहीं रखते। इसके अतिरिक्त जो शेषनाग के हजार फणों की मधुर सांस से भी आश्वासित नहीं हुआ, ऐसे राधा–विरहातुर मुररिपु की कंपित देह तुम्हारी रक्षा करें।''[24] इस श्लोक में आये राधा–विरहातुर शब्द का प्रयोग राधा के वियोग में कृष्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है। अभिलेख में वर्णित राधा–कृष्णप्रसंग से इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि इस अभिलेख की तिथि से पूर्व लोकमानस में राधाकृष्ण से जुड़े अनेक प्रेम–कथानक व्यापक रूप से प्रचलित रहें होंगे। उपरोक्त अभिलेख की तिथि विक्रम संवत् 1031 या 974 ई. बताई गई है।[25] कालान्तर में इसी अभिलेखिक पद्य को धार–शासक के अन्य आभिलेखों में कुछ परिवर्तित तिथि, जैसे–विक्रम संवत् 1036 और 1046 (तदनुसार 980 ई. और 986 ई.), आदि में वर्णित किया गया है।

मंडोर (राजस्थान) से प्राप्त एक प्रतिहारकालीन शिलालेख को राधा संबंधी सूचना प्रदान करने वाला एक महत्त्वपूर्ण अभिलेख माना जाता है।[26] इसका समय लगभग आठवी–नवीं शती के आस–पास है। इस अभिलेख में विष्णु के लिए प्रयुक्त अनेक विशेषणों जैसे–केशव, हरि, वासुदेव, शौरि के साथ-साथ उनके वामन और नृसिंह अवतार का भी वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त इसमें कृष्ण की अनेक क्रीड़ाओं का उल्लेख राधा व उनकी अन्य गोपियों के साथ मिलता है। इस अभिलेख की एक पंक्ति में कहा गया है–

> गोपी गिरौ गोकुले श्रुत्वा (?) राधिकया स्वभूषणः विधिः शौरेः,
> कृतः .... रूपं हरेः पातु वः।[27]

प्रस्तुत पंक्ति राधा की प्राचीनता के लिए निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रयुक्त 'शौरि' शब्द 'कृष्ण' तथा 'गोकुल' उनके स्थान के लिए प्रयोग हुआ है किन्तु 'स्वभूषणः विधिः' जैसे शब्दों का स्पष्टतः अर्थ नहीं पता चलता है कि ये राधा के लिए प्रयोग हुआ है अथवा कृष्ण (शौरि) के लिए। किन्तु इतना स्पष्ट है कि अभिलेख की इस पंक्ति में राधा और कृष्ण के विरह का कहीं संकेत नहीं किया गया है, बल्कि उन दोनों के प्रेम एवं लीलाओं की अद्‌भुत प्रस्तुति की गई है।

उपरोक्त आभिलेखिक साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 8वीं –9वीं शती से लेकर 10 वीं शती तक लोकमानस में निश्चित रूप से राधा और कृष्ण के प्रेम कथानकों के संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों का प्रचार–प्रसार हो गया था। इससे राधा उद्‌भव को और भी प्राचीन माना जा सकता है। के.एम.

मुंशी के अनुसार भी राधा की उत्पत्ति प्रेमभक्ति के कारण 800 ई. के पहले अवश्य हो चुकी थीं। 8 वीं - 9वीं शती में राधा जनमानस में एक श्रृङ्गारिक नायिका के रूप में आर्विभूत हो चुकी थी जिसके प्रभाव से साहित्य–जगत् एवं कला–जगत् भी अछूता नहीं रह सका।

कला–जगत् में 8वीं शती के लगभग पहाड़पुर से पालवंशीय शासक धर्मपाल द्वारा निर्मित बौद्धस्तूप के उत्खनन से प्राप्त सामग्री से मिली राधाकृष्ण की युगल मूर्ति[28] एवं लगभग इसी समय का पल्लववंशीय शासक नरसिंहवर्मन् प्रथम के कृष्ण–मंडप में कृष्ण के साथ नैप्पित्रै (राधा) का उत्कीर्णन[29] इस बात को द्योतित करता है कि राधा का कृष्ण के साथ अंकन 8 वीं शती तक हो चुका था। इसी आधार पर 800 ई.- 1000 ई. के बीच रचित ग्रन्थ भागवतपुराण में वर्णित राधाकृष्णलीला को भी नकारा नहीं जा सकता है। यह बात अवश्य है कि इसमें राधा का स्पष्टत: नाम नहीं मिलता है। इस संवंध में कुछ विद्वानों ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि श्रीमद्भागवत में किसी भी गोपी का नामोल्लेख नहीं किया गया है तो उससे श्रीमद्भागवतकार की शैली स्वयं स्पष्ट होती है कि वे जान–बूझकर किसी गोपी या राधा का नाम नहीं लिखना चाहते रहे होंगे और इसी कारण उन्होंने भागवतपुराण में राधा को 'विशेषगोपी' कहकर सम्बोधित किया हो। जे.एन. फर्कुहर ने भी भागवतपुराण में राधा के उद्भव एवं राधाभक्ति के प्रारम्भ को मानते हुए कहा है कि इसी समय से राधा का भक्ति में प्रवेश हो गया था।[30] सी.वी. वैद्य ने भी अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि ईसा की छठी–सातवीं शताब्दी तक राधा–भक्ति का उदय भले ही नहीं हुआ हो किन्तु इसके बाद ही प्रेमलक्षणा भक्तिपद्धति के प्रचारित हो जाने के बाद राधा का भक्तिक्षेत्र में प्रवेश अवश्य हुआ होगा।[31] इस आधार पर कहा जा सकता है कि 8 वीं शती से लेकर 10 वीं शती के बीच राधा–सम्प्रदाय का बीज भक्ति–क्षेत्र में प्रस्फुटित हो चुका था। साथ ही साथ कृष्ण की नायिका के रूप में राधा को समस्त भारत में मान्यता प्राप्त होने लगी थी।

अनेक साहित्यिक ग्रंथों जैसे आनन्दवर्धन कृत ध्वन्यालोक[32] (850 ई.), क्षेमेन्द्र रचित दशावतारचरित[33] (1066 ई.), बिल्हणकृत विक्रमांकदेवचरित[34] (1076-1127 ई.), जयदेव रचित गीतगोविन्द (1179-1203 ई.) इत्यादि में राधा का स्पष्ट रूप से उल्लेख प्राप्त होता है। राधा संबंधी अनेक विवरण यद्यपि गीतगोविन्द से पूर्व अवश्य प्राप्त होते हैं किन्तु वह राधा के गोपी–रूप को प्रस्तुत करते हैं। गीतगोविन्द में राधा का कृष्ण की नायिका के रूप में एक स्वतंत्र चरित्र प्राप्त होता है।[35] जयदेव ने तो अपने काव्य का आरम्भ भी राधा एवं कृष्ण की शृंगारिक प्रेम–लीलाओं से किया है।[36] जयदेव बंगाल के सेनवंशीय शासक लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि थे। अत: यह स्पष्ट है कि 12 वीं शती में बंगाल में वैष्णववाद के विकास में कृष्ण के साथ राधा के स्वरूप ने भी संयुक्त होकर महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

उपरोक्त अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि राधा का 8 वीं शती से पूर्व साहित्यिक पटल पर आविर्भाव हो चुका था। 8वीं शती के पश्चात् प्राप्त राधा संबंधी अनेक साहित्यिक एवं आभिलेखिक साक्ष्यों के आधार पर राधा के विकासात्मक स्वरूप की ऐतिहासिकता पर संदेह नहीं किया जा सकता है। यह बात अवश्य है कि 10वीं शती तक राधा को एक स्वतंत्र नायिका के रूप में स्वीकार नहीं किया गया था। इस संबंध में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवत: अब तक कृष्ण को भी जनमानस में एक स्वतंत्र देवता के रूप में मान्यता न मिली हो। कालांतर में बौद्धों से प्राप्त शृंगारी प्रवृत्ति को पौराणिक धर्म में ग्रहण करने के लिए जब कृष्ण के शृंगारी नायक रूप की कल्पना की जाने लगी तो उनकी नायिका के रूप में राधा को स्थान दिया जाना स्वाभाविक हो गया होगा।

स्पष्ट है कि 12 वीं शती तक लोकमानस में राधा का एक स्वतंत्र नायिका के रूप में विकास हो गया था और भक्ति के क्षेत्र में भी उन्हें धार्मिक देवी के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त होने लगी थी। इस प्रकार धार्मिक-क्षेत्र में राधा-सम्प्रदाय के अस्तित्व को एक निश्चित आधार प्राप्त हुआ। उदाहरणार्थ निम्बार्क-सम्प्रदाय (12 वीं शती ई.) में राधा को प्रथम बार धार्मिक देवी के रूप में प्रस्तुत करते हुए श्रीकृष्ण की पत्नी के रूप में स्वीकार किया गया। कालान्तर में चैतन्य-सम्प्रदाय, राधावल्लभ-सम्प्रदाय आदि में राधा का स्पष्ट रूप से स्वरूप दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त मध्यकाल में मंदिर, मूर्ति, साहित्य विशेषतः चित्रकला के क्षेत्र में राधा का जो स्वरूप प्राप्त होता है, उससे उसकी ऐतिहासिकता को नैरन्तर्य प्राप्त होता है। इस प्रकार 'राधा' व उसका स्वरूप सदैव से ही कलावेत्ता, धर्मवेत्ता, इतिहासवेत्ता आदि के लिए एक सतत अध्ययन का विषय रहा है।

सन्दर्भ-सूची

1. मुंशी के.एम.: 'कृष्णावतार खण्ड I, 'दि मैजिक फ्लूट' मुंबई, तृतीय संस्करण, 1972, पृ. 108
2. स्नातक, विजयेन्द्र : राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, दिल्ली, सं. 2014 वि., पृ. 173
3. मुकर्जी, एस.सी. : ए स्टडी ऑव वैष्णविज्म इन एन्शियन्ट एण्ड मैडिवल बंगाल, कोलकत्ता, 1966, पृ. 184
4. ऋग्वेद, 1.30.5
5. स्नातक, विजयेन्द्र : पूर्वोक्त, पृ. 174; लोढ़ा, कल्याणमल, भारतीय साहित्य में राधा, दिल्ली, 1988 पृ. 4
6. स्नातक, विजयेन्द्र : पूर्वोद्धृत, लोढ़ा, कल्याणमल, पूर्वोद्धृत
7. (सं), आप्टे वामन शिवराम - संस्कृत-हिन्दी कोश, 1997, पृ. 854
8. उपाध्याय, बलदेव : भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा, पृ. 31; (सं) इलियड, मर्शिया, द इनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन, खण्ड 12, पृ. 195-96
9. शतपथ ब्राह्मण 1.9.3.10
10. (सं.) अग्रवाल, वासुदेवशरण : पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, मथुरा, पृ. 265
11. ऋग्वेद 3.33.12 अतारिषुर्भरता गव्यवः समभक्त विप्रः सुमतिं नदीनाम्।
प्रपिन्वध्वमिषयन्ती सुराधा आवक्षाणाः पृणध्वं यात शीभम्।
12. उपाध्याय, बलदेव : पूर्वोद्धृत, पृ. 365 ; आयंगर, पी.टी. श्रीनिवासन्, हिस्ट्री ऑव द तमिलस्, नई दिल्ली, 1989, पृ. 465-542
13. मजूमदार, ए.के., 'ए नोट ऑन डेवलपमेंट ऑव राधा कल्ट', एनल्स ऑव दि भंडारकर ओरिएन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, खण्ड 36, पृ. 231; मुकर्जी, एस.सी.: ए स्टडी ऑव वैष्णविज्म इन एन्शियन्ट एण्ड मैडिवल बंगाल, कोलकत्ता, 1966, पृ. 185-86
14. बनर्जी, पी : द लाइफ ऑव कृष्ण इन इंडियन आर्ट, दिल्ली, 1978, पृ. 114
15. चम्पकलक्ष्मी, आर. : वैष्णव आइकनोग्राफी इन द तमिल कन्ट्री, पृ. 47; हूपर, जे.एस.एम.: हिम्नस् ऑव द अलवारस्, पृ. 31; दीक्षितार, वी.वी.आर.: स्टडीज इन तमिल लिटरेचर एण्ड हिस्ट्री 1928, पृ. 103

16. उपाध्याय, बलदेव : पूर्वोद्धृत, पृ. 360; बसाक, आर.जी. : गाथासप्तशती (बंगाल अनुवाद), इन्ट्रोडक्शन, 1956, पृ. 19-20; मुकर्जी, एस.सी., पूर्वोद्धृत, पृ. 186-187
17. गाथासप्तशती, 1.29
18. भंडारकर, आर.जी. : वैष्णविज्म, शैविज्म, एण्ड अदर रेलीजस सिस्टम्स, पृ. 38
19. विष्णु शर्मा, पञ्चतन्त्रम्, प्रथम तन्त्रम्, कथा-5
20. भट्टाचार्य, सुनील कुमार : कृष्ण कल्ट, दिल्ली, 1978, पृ. 20; मुंशी, के. एम., पूर्वोद्धृत, पृ. 108
21. अनयाराधिता नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
    यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः।। भागवतपुराण, 10.30. 28
22. हाजरा, आर.सी.: स्टडीज इन द पौराणिक रिकार्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, दिल्ली, 1987, पृ. 180
23. पूर्वोक्त, पृ. 188
24. बर्गेस, जे.ए.एस.: इण्डियन एन्टिक्वैरी, खंड VI, दिल्ली, 1877, पृ. 51
    यल्लक्ष्मीवदनेन्दुना न सुखितं यन्नाऽऽर्द्रितम्वारिधेर्त्वारा यत्र निजेन नाभिसरसीपद्मेन शान्तिगतं।
    यच्छेषाहिफणासहस्रमधुरश्वासेन चाऽऽश्वासितं तद्राधाविरहातुरं मुररिपोर्व्वेल्लद्वपुः पातु वः।।
25. बर्गेस, जे.ए.एस. : पूर्वोद्धृत, पृ. 51; मुकर्जी, एस.सी., पूर्वोद्धृत, पृ. 189
26. बनर्जी, पी. : पूर्वोद्धृत, पृ. 156
27. अग्रवाल, आर.सी. : प्रोसीडिंग ऑव हिस्ट्री ऑव कांग्रेस, 1954, पृ. 163; बनर्जी, पी., पूर्वोद्धृत, पृ. 156
28. मीतल, प्रभुदयालः ब्रज की कलाओं का इतिहास, मथुरा, 1975, पृ. 244-245; दासगुप्त, चारुचंद्र : पहाड़पुर एण्ड इट्ज मॉन्यूमेन्ट्स, 1961, पृ. 26, चित्रफलक, VIII (b)
29. गोस्वामी, ए. : द आर्ट ऑव पल्लवस्, पृ. 17-18, चित्रफलक 22
30. फर्कुहर, जे.एन. : एन आउटलाइन ऑव दि रेलीजस् लिटरेचर ऑव इंडिया, लंदन, 1920, पृ. 230-50
31. वैद्य, सी.वी. : हिस्ट्री ऑव मैडिवल हिन्दू इंडिया, खंड III, पूना, 1921-26, पृ. 415
32. ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत, कारिका 5, पृ. 129 तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहः साक्षिणाम्।
33. दशावतारचरित, श्लोक, 83
34. विक्रमाङ्कदेवचरित, 1.5
35. (सं) वात्स्यायन, कपिला : गीतगोविन्द, इलाहाबाद, 1983, पृ. 10; भट्टाचार्य, सुनील कुमार, पूर्वोद्धृत, पृ. 22; आर्चर, डब्ल्यू. जी., द लव्स ऑव कृष्ण इन इंडियन पेन्टिंग एण्ड पोएट्री, लंदन, 1957, पृ. 76
36. गीतगोविन्दकाव्यम्, प्रथम सर्ग, श्लोक 1

□□

भगवद्गीता में प्रबन्धन-विद्या : एक विमर्श

अनिता सेनगुप्ता

श्रीमद्भगवद्गीता प्रबन्धन की शिक्षा के लिए एक उपयोगी ग्रन्थ है। श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व की प्रबन्धकीय विशेषताओं तथा नेतृत्व के नैसर्गिक गुणों के कारण प्रबन्धन के पाठ्यक्रम में गीता के प्रसंगों का यदि प्रयोग किया जाए तो निश्चित रूप से यह अध्ययन अत्यन्त लाभप्रद तथा रुचिकर होगा, क्योंकि भारतीय संस्कृति से जुड़े हुए उदाहरणों के द्वारा पाठकों को या विद्यार्थियों को तथ्यों से भली भाँति अवगत कराया जा सकता है।

'प्र' उपसर्ग पूर्वक √ 'बन्ध्' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न 'प्रबन्धन' शब्द का अर्थ है प्रकृष्ट बन्धन या जोड़। सांसारिक विषयों के प्रबन्धन में प्राय: हम सभी कुशल हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रबन्धन की आवश्यकता होती है। एक माता-पिता के रूप में, एक विद्यार्थी के रूप में, एक शिक्षक के रूप में तथा एक राष्ट्र के सभ्य नागरिक के रूप में तथा अन्य भी कई रूपों में प्रबन्धन की उपयोगिता है। किन्तु गीता में हम जिस प्रबन्धन की चर्चा करने जा रहे हैं वह है इस कालिमायुक्त संसार में रहते हुए जीवन के अंतिम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति का प्रबन्धन। गीता मन के प्रवाह को बाँधने का कार्य करती है।

प्रबन्धन की कुछ मुख्य कसौटियाँ हैं जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि गीता प्रबन्धन का एक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। वे मुख्य कसौटियाँ इस प्रकार हैं –

1. ध्येय (Vision)
2. मूल्य (Values)
3. प्रोत्साहन (Motivation)
4. श्रेय (Credit)

1. ध्येय (Vision) :

प्रबन्धन के लिए कार्य का ध्येय सुस्पष्ट होना चाहिए। गीता का मूल ध्येय है कर्मयोग के द्वारा अधर्म का नाश तथा धर्म का उत्थान। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।[1]

जब संसार पाप के भार से आक्रान्त होता है तब भगवान् मानो अपने कर्तव्य पालन के उद्देश्य से धर्म की ग्लानि दूर करने के लिए अवतीर्ण होते हैं। अधर्म का तो मूल कारण 'मोह' होता है। इसी मोह ने ही राष्ट्र को धारण करने वाले धृतराष्ट्र को राष्ट्र का विध्वंसक बनाया। परिणामस्वरूप महाभारत का युद्ध हुआ।

गीता के माध्यम से भगवान् अर्जुनरूपी जीव के मोह को दूर करना चाहते हैं। तभी तो 18 वें अध्याय के अन्त में भगवान् ने अर्जुन से पूछा –

> कच्चिदेतत्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
> कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जय।।[2]

अर्थात् हे पार्थ ! क्या तूने मेरी बात एकाग्रचित्त से सुनी ? हे धनञ्जय ! अज्ञान से उत्पन्न तेरा मोह नष्ट हुआ ? अर्जुन इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं –

> नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
> स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।[3]

हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हुआ और मुझे स्मृति प्राप्त हुयी। अब मैं संशयरहित हो गया हूँ।

यहाँ पर हम देखते हैं कि अर्जुन का मोह नष्ट हुआ तथा मोह के दूर होने से अर्जुन को स्मृति प्राप्त हुई। जब मोह चित्त में प्रवेश करता है तब सर्वप्रथम हमारी स्मृति को आच्छादित करता है। हम उचित-अनुचित, कर्तव्य–अकर्तव्य का भेद भूल जाते हैं और जीवन के द्वन्द्वों के शिकार होते हैं। भगवान् इसी मोह का निरसन करना चाहते हैं ताकि जीव अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाए और जान ले कि उसका कर्तव्य क्या है, जिससे वह धर्म का उत्थान कर सके।

2. मूल्य (Values) :

प्रबन्धन का ध्येय स्पष्ट हो जाने के पश्चात् ये सुनिश्चित करना अत्यन्त आवश्यक होता है कि किन मूल्यों के सहारे इस ध्येय को कार्यान्वित करना है। गीता में तीन ऐसे मूल्यों का उल्लेख प्राप्त होता है जिनके द्वारा जीव अपने ध्येय की प्राप्ति कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य में तीन प्रकार की शक्तियाँ होती हैं – एक विचार की शक्ति, दूसरी भावना की शक्ति और तीसरी है क्रिया की शक्ति। विचार की शक्ति के द्वारा मनुष्य तर्क और चिन्तन करता है, भावना की शक्ति के सहारे वह स्नेह और प्यार करता है तथा क्रिया की शक्ति के माध्यम से वह कर्म करता है। जब इन तीनों शक्तियों को ईश्वराभिमुखी कर देता है, तो वह ज्ञानयोगी, भक्तियोगी तथा कर्मयोगी कहलाने लगता है। हम जैसे साधारण जीव जिसमें विवेक–वैराग्य नहीं है, यथार्थ भक्ति भी नहीं है कर्मयोग के द्वारा ही अपनी ध्येय (परमतत्व) को प्राप्त कर सकते हैं।

कर्मयोग और योगाभ्यास – गीता में प्रबन्धन का मूल मन्त्र यही है –

> नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
> शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः।।[4]

अर्थात् शास्त्रविहित धर्मानुकूल कर्तव्य (कर्मरूपी स्वधर्म) का पालन करो। क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है।

राजा जनकादि केवल कर्म के द्वारा ही उत्तम सिद्धि प्राप्त कर सके थे –

> कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
> लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि।।[5]

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं – हे जीव! तू कर्म तो कर परन्तु फल में अपना अधिकार मत रख –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।[6]

गीता में मनुष्य को कर्म करने का विधान भी बताया गया है

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।[7]

अर्थात् सिद्धि या असिद्धि दोनों को समान मानते हुए योग में स्थित होकर कर्म करना चाहिए।

कर्मयोग से मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है ? गीता कहती है –

कर्मयोग से चित्तशुद्धि होती है, ऐसे शुद्ध चित्त से ज्ञाननिष्ठा के धारण की क्षमता आती है, तब ज्ञाननिष्ठा उत्पन्न होती है, उससे ज्ञान आता है, और उस ज्ञान से मोक्ष पद प्राप्त होता है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।[8]

स्वधर्मपालन : गीता जिन मूल्यों के सहारे मनुष्य को उस परमतत्त्व की प्राप्ति का उपदेश देती है वह है स्वधर्म-पालन। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी के अपने स्वाभाविक कर्म हैं। गीता में स्वाभाविक कर्म को सहज कर्म, स्वकर्म, स्वधर्मादि नामों से संबोधित किया गया है। स्वधर्म का अर्थ है अपने वर्ण तथा आश्रम के योग्य धर्म। जीवन के चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) में से अर्थ तथा काम जीवन के लिए अनिवार्य तो हैं किन्तु उनका समुचित लाभ प्राप्त करने के लिए इन पर धर्म का अंकुश लगाना अत्यन्त आवश्यक है। अर्थ तथा काम पर अंकुश लगाने के लिए भगवान् ने अर्जुनरूपी जीव को स्वधर्म का उपदेश दिया। प्रत्येक वर्णों के स्वाभाविक कर्मों का उल्लेख गीता के अष्टादश अध्याय के 41-45 श्लोकों में प्राप्त होता है। स्वाभाविक कर्मों को करने का अधिकार चाण्डाल पर्यन्त सभी मनुष्यों को है। स्वाभाविक कर्म करने से किसी को पाप नहीं लगता। जैसे – जीव-हिंसा ब्राह्मण के लिए पाप होने पर भी निषाद के लिए पाप नहीं होता है। क्योंकि स्वकर्म में लगा हुआ व्यक्ति स्वकर्म के द्वारा भी सिद्धि अर्थात् ज्ञान की योग्यता प्राप्त करता है। स्वकुलोचित कर्मों को करते हुए यदि ईश्वर में निष्ठा बनी रहे तो मनुष्य को नरक का भय नहीं रहता, अपितु वह सिद्धि को प्राप्त करता है –

"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः"।[9]

कोई भी कर्म ईश्वरार्पित चित्त से करने पर निष्फल नहीं होता और न बन्धन का कारण बनता है। जिस प्रकार पद्मपत्र जल में रहते हुए भी जल द्वारा लिप्त नहीं होता।[10]

निस्वार्थ कर्म : हम जैसे सांसारिक जीव स्वार्थरहित होकर कर्म नहीं कर सकते, तो गीता कहती है "स्वार्थबुद्धि से ही करें, किन्तु कर्म अवश्य करें। कर्म न करना कपटाचरण है और कपटाचारी को धर्म की प्राप्ति नहीं होती।[11]

संसार में कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कर्म को बन्धन का हेतु मानते हैं। अत एव उनके लिए सभी कर्म त्याज्य है। इस आपत्ति का खण्डन करते हुए भगवान् कहते हैं –

''यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।[12]

यज्ञ, दान और तप पुरुषों के चित्त को शुद्ध करते हैं।

त्यागरूप यज्ञ ही कर्म है – मनुष्य को परोपकारार्थ कर्म करना चाहिए। इस प्रकार के कार्यों से सात्त्विकता की वृद्धि के साथ–साथ जीवन को भगवद् अभिमुख करने के लिए आग्रह उत्पन्न होगा और उस आग्रह के बढ़ने पर मनुष्य की कर्मचेष्टा भक्ति के रूप में परिणत हो जाएगी। इस अवस्था में सर्व कर्म ब्रह्मार्पित हो जाते हैं, इसे ही ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। इस स्थिति को प्राप्त कर जीव पुनः मोहग्रस्त नही होता। इस प्रकार कर्म के द्वारा जीव जीवन की परम सार्थकता को प्राप्त कर सकता है[13]।

3. प्रोत्साहन (Motivation) :

जिस प्रकार एक प्रबन्धक अपने कर्मचारियों को कर्म के लिए प्रोत्साहित करता है वैसे ही गीता में भगवान् श्रीकृष्ण, जो कि एक प्रबन्धक का दायित्व निर्वाह कर रहे हैं, वे अपने शिष्य (जो कि ज्ञान का अभिलाषी है) की व्यामोह के कारण स्वधर्म पालन से निवृत्ति रूपी बुद्धि को जानकर उसे प्रोत्साहित करने के लिए कहते हैं –

''क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।।[14]''

एक कुशल प्रबन्धक होने के कारण भगवान् अर्जुनरूपी जीव की मनःस्थिति को समझ जाते हैं। उन्हें उनके कर्तव्यों के प्रति जागरूक बनाने के लिए इस प्रकार की धिक्कार भरी वाणी का प्रयोग करते हैं। एक ओर अर्जुन भगवान् से उपदेश की याचना करता है – 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वं प्रपन्नम्', तो दूसरी ओर स्पष्ट रूप से कह देते हैं कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। अर्जुन के निषेधात्मक उत्तर को सुनकर भगवान् कृष्ण न क्रोधित हुए, न क्षुब्ध हुए अपितु उनके अधरों पर मन्द हास्य का पुट था। जो उनके कुशल प्रबन्धकत्व को सिद्ध करता है।

भगवान् अर्जुन को युद्धरूपी कर्म में संयुक्त करने के लिए प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं – हे अर्जुन! तू जिनके लिए शोक कर रहा है, उनके लिए शोक करना उचित नहीं है, क्योंकि आत्मा देह से अतिरिक्त है –

न जायते म्रियते वा कदाचित् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।[15]

अर्जुन के लिए इस आत्मस्वरूप का उपदेश अत्यन्त आवश्यक हो गया था क्योंकि भीष्म पितामह, गुरु द्रोणाचार्य को युद्धभूमि में देखकर वह अत्यन्त शोकाकुल होकर युद्ध की अपेक्षा भिक्षा माँगना ही

श्रेयस्कर समझने लगता है, तब भगवान् अर्जुन को प्रोत्साहित करते-हुए कहते हैं – "हे अर्जुन! तुम क्षत्रिय हो, युद्ध करना तुम्हारा धर्म है, स्वधर्म में यदि कोई दोष भी दिखे तो उस दोष का मार्जन करते हुए उसका अनुष्ठान करना चाहिए। संसार में ऐसा कोई कर्म नहीं है जो पूर्णरूप से निर्दोष हो[16]। अतः अर्जुन! तुम युद्ध के लिए तत्पर हो जाओ।

हे धनञ्जय! स्थावर जङ्गमात्मक समस्त भूतों का बीज मैं ही हूँ। सूत्र में जिस प्रकार मणिगण ग्रथित होते हैं, समस्त भूतों के अधिष्ठानस्वरूप मुझमें यह जगत् ग्रथित होकर अवस्थित हो रहा है[17]। इसलिए तुम अपने सभी कर्म मुझ को अर्पण कर दो –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।[18]

इससे तुम्हारे अन्दर जो गुरुजनों के वधरूप पाप का भय है, उससे तुम मुक्त हो जाओगे। ईश्वर में आत्मसमर्पण ही योगप्राप्ति का उपाय है। यही "योगः कर्मसु कौशलम्" अर्थात् कर्मविषयक कुशलता या क्रियायोग है। इस क्रियायोग द्वारा क्लेश क्षीण होता है, ध्यान प्रगाढ़ होता है, प्रगाढ़ ध्यान के द्वारा मन की वृत्ति क्षीण होती है। जब तक मनोवृत्ति है, तब तक पाप क्षय नहीं होता। इसलिए भगवान् कहते हैं –

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।[19]

इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता मनुष्य के दुराग्रह को, उसकी हठवादिता को दूर करने का प्रयास करती है। समस्त कर्मों को छोड़कर जङ्गल में जाने का प्रयोजन नहीं है, संन्यास लेने से कर्म नहीं छूटते। संसार हमसे बाहर नहीं है, वह हमारे मन में है। जब तक मन संसार में लिपटा रहता है, तब तक किसी भी उपाय से संसार से मुक्ति नहीं मिल सकती। इसके लिए गीता हमें कर्मयोग रूपी रसायन प्रदान कर हमें कर्मों को करने के लिए प्रेरित करती है, जिससे हम संसार में रहकर भी उसके पाशों में नहीं बँधते।

4. श्रेय (Credit) :

जिस प्रकार प्रबंधक अपने सहयोगी बन्धुओं को उनके उत्तम कार्य के लिए श्रेय देते हैं, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी गीता का पूर्ण श्रेय अर्जुन को देते हैं। जब अर्जुन महाभारत के युद्ध में विजय के पश्चात् एक बार पुनः भगवान् श्रीकृष्ण से गीता सुनाने का आग्रह करते हैं, तब भगवान् कहते हैं –

"हे अर्जुन! उस समय मैंने योगयुक्त अन्तःकरण से उपदेश दिया था। अब संभव नहीं है कि मैं ऐसा उपदेश कर सकूँ। वस्तुतः कृष्ण एक कुशल प्रबन्धक हैं, क्योंकि वे अर्जुन से यह नहीं कहते हैं कि "हे अर्जुन! आज तुझमें गीता सुनने की पात्रता नहीं है, इसलिए नहीं सुना रहा हूँ', अपितु ये कहते हैं कि "मुझमें सुनाने की पात्रता नहीं है, आज मेरा चित्त योगयुक्त नहीं है।" वे अपने शिष्य के दोष का स्वयं वहन कर लेते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गीता न केवल एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है, अपितु प्रबन्धन का भी एक उपयोगी ग्रन्थ है।

सन्दर्भ :

1. भगवद्गीता, 4.7
2. वही, 18.72
3. वही, 18.73
4. वही, 3.8
5. वही, 3.20
6. वही, 2.47
7. वही, 2.48
8. वही, 2.51
9. वही,
10. वही, 5.10
11. वही, 3.61
12. वही, 18.5
13. वही, 3.19
14. वही, 2.9
15. वही, 2.20
16. वही, 18.48
17. वही, 10.39
18. वही, 9.27
19. वही, 18.65

□□

WATER IN THE COSMOGONIC LEGENDS OF *VEDAS*

Mitali Deb

Śatapatha-Brāhmaṇa XI 1.6.1. ff reads : "Verily in the beginning this (universe) was water, nothing but a sea of water. The waters desired, 'How can we be propagated ?' They toiled and performed fervid devotion, when they were becoming heated, a golden egg was produced. The year, indeed, was not then in existence; this golden egg floated about for as long as the space of a year. In a year's time a man, the *Prajāpati*, was produced therefrom; and hence a woman, a cow, a mare bring forth within the space of a year, for Prajāpati was born in a year. He broke open this golden egg, bearing him floated about for as long as the space of a year. At the end of a year he tried to speak. He said *'bhūḥ'*, this word became this earth, *'bhuvaḥ'* this became air, *'svar'* this became yonder sky.

This is how the *Śatapatha-Brāhmaṇa*, a work belonging to the later period of the production of the *Brāhmaṇas*, begins to describe the creation of the universe. This legend is full of many details which are stale and unnecessary to quote here. But, however, the question as to how this world came into existence has been eternal everywhere with man. "The cosmogony or the creation of the world has puzzled philosophers of all ages", pronounced the Vicar of Wakefield's learned acquaintance[1]. Human mind has ever been busy answering this query according to its capacities, and various cosmic elements have been regarded as the first principle of Creation or Evolution of the universe.

Water, as already introduced in the legend, quoted from the *Śatapatha-Brāhmaṇa*, has regularly been considered the first principle of the universe in many mythologies. According to the legend just referred to, there were waters in the beginning; from waters the mundane-egg was produced, thence Prajāpati and from him the three worlds, five seasons, gods, *asuras*, day and night. That is how the priest of the *Brāhmaṇa* thinks about the origin of the universe.

In the ŚB. XL 1.6.16 too, waters have been considered the most important and first element of nature. 'Water is everywhere here'. In many instances waters are identified with breaths *(prāṇāḥ)*[2] and all gods[3]. Whatever is thought to be the highest principle in the *Brāhmaṇas* is called *'amṛta'*. *Prajāpati*[4] and waters[5] are also identified with *'amṛta'* which sustains and is the life principle.

At another place[6], it has been said that water is support; in water these worlds are resting. ŚB. XIV. 8.6.1 (*Bṛhadāraṇyaka Up*. I. 2): "In the beginning waters alone formed this universe. These waters created truth. Truth created Brahman. Brahman created Prajāpati and Prajāpati the gods"[7].

In this legend truth is the first creation of waters. Brahman is produced by truth. Prajāpati who is created by Brahman is yet the creator of the gods and rest of the universe.

Reference to the primeval waters is to be found in the *Ṛgveda* -

तम आसीत्तमसा गूल्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम् ।।[8]

('Darkness was in the beginning hidden by darkness; indistinguishable, this all was water. That which coming into being, was covered with the void, that one arose through the power of heat'.)

The above verse of the ṚV has beautifully epitomized the conception of the entire Brāhmanic legend. Even the very first verse of the aforesaid hymn asks:

अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ।

Elsewhere, too, the *Ṛgveda* refers to the Primeval Oceans:

गौरीर्मिमाय सलिलालि तक्षति[9]

'The dark She-Bison has by her rambling fashioned the waters into manifold forms. The creative process is further attributed to the descending of the flood waters from the Primeval Oceans:

तस्याः समुद्रा अधि विक्षरन्ति[10]

The sun was, according to the *Ṛgveda*, hidden in the Ocean. Gods brought the sun forward and like ascetics caused the world to grow with their regulated dance movements:

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रासमुद्र आ गूल्हमा सूर्यमजभर्तन।।[11]

Waters have been called the great waters or *bṛhatī āpaḥ*, in the *Ṛgveda*.

In the *Taittirīya-Samhitā* V. 6.4.2 and VII. 1.5.1 it is said that in the beginning there was nothing but the waters, and Prajāpati as wind went over them or floated on a lotus leaf. The idea is quite compatible with those expressed in the *Purāṇas* except the fact that Viṣṇu instead of Prajāpati is the creator god who lie on the ocean of waters.

In the *Purāṇas* waters are said to be the first creation of *Svayambhūr Bhagavān*. It is the material out of which God creates the universe.

ततः स्वयंभूर्भगवान् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
आप एव ससर्जादौ तासु विश्वमवासृजत् ।।
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयमेव तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः[12]।।

Curiously enough in many a cosmogony water appears as the basal principal[13]. Among Babylonians the primal element of the universe was water symbolized and ruled by Tiamat, the personification of Chaos[14]. Similar is the case in Egyptian legend of creation. In Greek cosmogony Hieronymus and Hillanicus attribute the creation to water and earth which existed in the beginning. According to Thales, too, water was the first principle. Athengoras, however, regards water and slime as the source of the creation of the universe.

Among North Americans, the Muskhogean family, which is confined chiefly to the Gulf of States east of the Mississipi believes that there was in the beginning a great body of water alone above which two pigeons flew to and fro. Esaugetuh Emisses, the "Master of Breath", moulded the first man from the clay that surrounded him, and directed the waters to their present place. Pueblo Indians of New Mexico believe that creator Awonawilona 'the maker and container' who existed in the beginning took the form of sun and fecundated the sea with his seed.

Not only this, but after dissolution also the whole universe is supposed to turn into one ocean of waters. This is what the *Purāṇas* call *'Ekārṇavavidhi'*, i.e. one ocean or *'yugānta-toya'*, the waters emerging at the end of millennia. Further, in this case only Brahmā is said to exist in the form of Nārāyaṇa, and sleep on the water and hence the name Nārāyaṇa :

एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नारायणात्मकः।
भोगिशय्यागतः शेते त्रैलोक्यग्रासबृंहितः।।

Here cosmic serpent called *Ananta Śeṣa* creeps into the cosmogonic conceptions. Brahmā and Nārāyaṇa become identical deities. This state of Viṣṇu resting or sleeping on Śeṣa, the *Ananta* or Infinite One expresses, according to Dr. Agrawal,[15] the relationship between relative and absolute aspects of Divinity. And water or *Āpaḥ* is "equivalent to all the possibilities of Existence which are withdrawn into their primal source when dissolution takes place. In terms of modern psychology this may be compared to the humidum redicle, the root moisture, the spirit of life, not only in dwelling in all living things but immanent in everything that exists".[16]

References :

1. Quoted by A.R. Hope, Moncrieff in Classic Myth and Legend, p. 14
2. "आपो वै प्राणाः" (ŚB. III. 8.2.4); "प्राणा वै आपः" (Tait. Br. III. 2.5.2)
3. "आपो वै सर्वा देवताः" (ŚB. X. 5.4.14; Ait. Br. II. 16; KB. XI.4; TB. III. 2.4.3. 3.4.5)

4. "प्रजापतिर्वा अमृतः" (ŚB. VI. 3.1.17).
5. "अमृतं वा आपः" (ŚB. I. 9.3.7. IV. 4.3.15); "अमृतं ह्यापः" (Ait. B. VIII.20) "अमृतत्वं वा आपः" (Kausit. B. XII. I).
6. ŚB. VI, 7.1.17 "तस्याप एव प्रतिष्ठा। अंप्सु हि इमे प्रोकाः प्रतिष्ठिताः", cf. ŚB. IV. 5.2.14; VI. 8.2.2
7. आप एवेदमग्रे आसुः। ता आपः सत्यमसृजन्त, सत्यं ब्रह्मन्, ब्रह्मा प्रजापतिं, प्रजापतिर्देवान्।
8. R.V. X. 129.3
9. R.V. 1. 164.41
10. R. V. 1. 164. 42
11. R. V. X. 72. 7
12. W. Kirfel, Das *Purāṇapañcalakṣaṇa*, p. *3.* vv. 10, 11; Cf. *Agni-Purāṇa*. 17.6; 7a, *Brahmapurāṇa* 1.37, *Harivaṃśa* 35, *Bhāgavata* I. 2.15, etc.
13. Ibid
14. ERE, Vol. IV. p. 125 ff on Cosmogony and Cosmology
15. Sparks from the Vedic Fire, p. 17
16. Ibid; p. 16

□□

बौद्धयानेषु जीवन्मुक्तेः अवधारणा

सुरेन्द्र पाल सिंहः

बौद्धग्रन्थानुसारेण त्रिविधयानेषु[1] जीवन्मुक्तेः अवधारणा पृथक् पृथगेवास्ति। श्रावकबोधिः, प्रत्येकबुद्धबोधिः सम्यक्-सम्बोधिश्चेति। तदनुसारं प्रत्येकस्य लक्ष्यम् अर्हत्पदे, प्रत्येकबुद्धपदं बोधिसत्त्वपदञ्च अस्ति।

श्रावकबोधिः

बुद्धसकाशे ये धर्मश्रवणं कुर्वन्ति ते श्रावकाः। श्रावकबोधेः आदर्शः हीनयानेन मतः। एतद् बुद्धमतमस्ति यद् जीवः परमुखापेक्षी भवेद् इति आवश्यकता नास्ति। सः स्वयमेव आष्टाङ्गिकमार्गम् अनुसृत्य राग-द्वेष-मोह-रूपविषयवागुरायाः मुक्तिं प्राप्तुं शक्नोति। डॉ. बलदेव-उपाध्यायस्य मतमस्ति यत् श्रावकाय चतसृणाम् अवस्थानां वर्णनं महालिसुत्ते कृतं वर्तते। ताश्च सन्ति-सोतापन्न-सकदागामी-अनागामी-अहरन्त-अवस्थाः[2]।

सोतापन्नसाधकस्य चित्तं प्रपञ्चमार्गाद् दूरे गत्वा निर्वाणरूपस्रोतसः प्रवाहे सम्भूय आध्यात्मिक-उन्नतिमार्गे अग्रेसरं भवति। व्यासभाष्ये उक्तं यत् चित्तनदी उभयतोवाहिनी अस्ति - पापं प्रत्यपि प्रवहति कल्याणं प्रत्यपि च - **'चित्तनदी नाम उभयतोवाहिनी, वहति कल्याणाय वहति पापाय च।[3]'**

अतः कल्याणगामिप्रवाहे चित्तक्षेपणमेव प्रथमावस्थायाः मूलमन्त्रः। त्रिसंयोजनानां सत्कायदृष्टि-विचिकित्सा-शीलव्रतपरामर्शानां क्षयानन्तरं पुनः अपतनशीलः नियतसम्बोधिपरायणः जनः महालिसुत्तेन सोतापन्नः कथितः।[4] अस्य चत्वारि अङ्गानि सन्ति बुद्धानुस्मृतिः, सङ्घानुस्मृतिः, धर्मानुस्मृतिः, अखण्ड-अनिन्दित-समाधिगामि-कमनीयशीलानां सम्पादनं च। सोतापत्तेः अङ्गैः युक्ते सति अदत्तादान-काममिथ्याचार-मृषावाद-मद्यपानेभ्यः मुक्तिः प्राप्यते। सार्धमेव च प्रीतिप्रामोद्य-प्रश्रब्धि-समाधीनां वृद्धिर्भवेद्। तथा च अनित्यानुपश्यना-दुःख-अनात्म-प्रहाण-विराग-निषेधरूप-षड्विद्याविभागीयधर्माणां भावना करणीया। चतुर्णाम् आर्यसत्यानां ज्ञानेन सोतापत्तिः पूर्णतया निष्पद्यते।[5] महाव्युत्पत्तिशास्त्रे श्रावकचर्यायाः प्रकारभेदः सोतापन्न-सप्तकृद्भव-परम-कुलङ्कुल-सकदागामी-एकवीचिक-अनागामी अन्तर्परिनिर्वापी अभिसंस्कारपरिनिर्वापी ऊर्ध्वस्रोतकार्यसाक्षी-श्रद्धानुसारी-धर्मानुसारी-श्रद्धाविमुक्त-दृष्टिप्राप्त-समयविमुक्त-प्रज्ञाविमुक्त उभयतोभागविमुक्तरूपनामभेदैः सह वर्णितोऽस्ति। एतदतिरिक्तं महाव्युत्पत्तिशास्त्रे सप्तश्रावकभूमीनाम् उल्लेखः प्राप्यते। शुक्लविदर्शनाभूमिः, गोत्रभूमेः अवस्था कुत्रचित् पृथग्जनस्य कुत्रचिच्च आर्यस्य अवस्था उक्ता। तृतीया चतुर्थी च भूमी सोतापत्तेः मार्गौ फले च स्तः। सकदागामिनी अवस्था एव रागद्वेषमोहानां तनुभूमिः। अनागामिनी अवस्था वीतरागभूमिः, तथा च अर्हतः अवस्था कृतावी भूमिरस्ति।[6]

सारांशतया वक्तुं शक्यते यत् सोतापन्न-अवस्थायां साधकस्य चित्तवृत्तिः संसाराद् विरक्ता सती

निर्वाणगामिचित्तभूमौ सम्मिलिता भवति या तां सम्बोधिं यावत् अनिवार्यतः नेष्यति। अत एव सोतापन्नावस्था अविनिपातधर्मनियतसम्बोधिपरायणाभ्यां शब्दाभ्याम् उच्यते।

'सकदागामी' इत्यस्य तात्पर्यमिदमस्ति यत् तादृशः प्राणी यः एकवारं संसारे आगमिष्यति, भूमावस्याम् इन्द्रियलोलुपतां परिहितविघातेच्छां च विनाशयन् साधकः सन् लक्ष्यपदप्राप्त्यर्थम् अग्रेसरति। मार्गस्य अस्य साधकाः पुनः एकवारं संसारे आगच्छन्ति।

अनागामीइत्यस्य भूमौ साधकः उपर्युक्तबन्धनाभ्यां विमुक्तः सन् जीवति। मरणानन्तरं च पुनः संसारे नागच्छति। जन्ममरणाभ्यां मुक्तः सन् जीवन्मुक्तः इव भवति।

अर्हत्त्वपदप्राप्तिकर्त्ता साधकः रूपराग-अरूपराग-मान-औद्धत्य-अविद्यारूपबन्धनानि नाशयित्वा क्लेशेभ्यः मुक्तिं प्राप्नोति। अस्यां भूमौ गत्वा साधकः तृष्णायाः शान्तिं प्राप्नोति। धम्मपदे उक्तं वर्तते यत् -

गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सब्बधि।
सब्बगन्थपहीनस्स परिणाहो न विज्जति।।

अर्थात् - उत्पत्तिविनाशरूपसंसारात् निवृत्तः, शोकसन्तापरहितः, भवबन्धन-आशाधर्मविमुक्तः, तृष्णारूपजालत्रोटकः च यः तादृशः अर्हत् कदापि दुःखितो न भवति। डॉ. हरदयालमहोदयेन उक्तं यद् द्वादशनिदानानां मापकज्ञाता, आश्रवत्रयस्य नाशकः, सप्तविधबोधेः अभ्यासकर्ता तथा च पञ्चनिर्वाणेभ्यः मुक्तः जनः अर्हत् इति कथ्यते।[7]

मिलिन्देन नागसेनः पृष्टः - "कारणं किं यत् अर्हत् शारीरिकवेदनाम् अनुभवति किन्तु मानसिकवेदनां नानुभवति? अर्हत् मानसिकानुभवानामिव शारीरिकानुभवानां नियन्त्रकः नास्ति वा"? नागसेनेनोत्तरितं यत् उष्णत्व-शैत्ये, अशनापिपासे, मूत्रशौचे, श्रान्ति-वार्द्धक्ये, रोग-मृत्यू चैते दश गुणाः जन्मान्तरेण सह शरीरसंसक्ताः भवन्ति। शरीरजेषु एतेषु अनुभवेषु अर्हत् जनस्य वशः न भवति। तस्य चित्तं शरीरस्य आधारेण प्रवर्त्तते किन्तु तस्य शरीरस्योपरि अधिकारो न भवति। यद्यपि सामान्यजनाः वेदनाद्वयमेव अनुभवन्ति। यतो हि तेषां चित्तं भावनायाः वशीभूतं न भवति। अभावितचित्तं वेदनया शीघ्रमेव चञ्चलायते। चित्तचाञ्चल्येन शरीरं व्याकुलं भवति। परन्तु अर्हत्-जनः शारीरिकवेदनामनुभवति न मानसिकीं, यतो हि निरन्तरम् अभ्यासेन सः सर्वथा मनः वशीकरोति। यदि किमपि दुःखमनुभवति तदा संसारस्य असारतायाः दृढतापूर्वकं विचारं करोति। मनः समाधिरूपदण्डेन योजयति। चित्तं चञ्चलतायाः वारयति। पीडया व्याकुलितशरीरेऽपि मनः प्रभावितं न भवति। अर्हत्-जनस्य अन्तिमं जन्म भवति। एतदनन्तरमसौ जन्मग्रहणं नैव करिष्यति इति जानाति। जन्मग्रहणस्य यदि हेतुप्रत्ययाः भवन्ति ते विनष्टाः जाताः।[8] हीनयान-बौद्धानां मुख्यलक्ष्यम् अस्यैव पदस्य प्राप्तिः अस्ति।

प्रत्येकबुद्धबोधिः

डॉ. बलदेव उपाध्यायस्य तथा च डॉ. उमेशमिश्रस्य चैतदभिमतमस्ति यत् प्रत्येकबुद्धस्य कल्पना अर्हत्-बोधिसत्त्वयोः मध्यगतसाधनायाः सूचिका। गुरोः उपदेशं विनैव यः स्वतः बुद्धत्वलाभं करोति सः प्रत्येकबुद्धः। बुद्धत्वलाभे सत्यपि तस्मिन् परकल्याणसामर्थ्यं न भवति। द्वन्द्वात्मक-जगतः दूरे एकान्ते वसन्नसौ विमुक्तिसुखस्य प्रत्यक्षलाभं करोति।[9]

बुद्धघोषेणोक्तं[10] यत् पिटकपरम्परानुसारं बुद्धाः द्विविधाः भवन्ति–सम्यक् सम्बुद्धः प्रत्येकबुद्धश्च। सम्यक् सम्बुद्धपदस्य व्याख्यानं कुर्वता उक्तं यत् 'सम्मासामञ्च सब्बधम्मानं बुद्धत्ता पन सम्मासम्बुद्धो'[11]। अर्थात् ते सम्यक्–सम्बुद्धाः उच्यन्ते यतो हि समस्तधर्माः तैः विज्ञाताः।[12] ते भगवान्, अर्हत्, विद्याचरणसम्पन्नः, सुगतः लोकविदुः, देवमनुष्याणां शास्तारः उच्यन्ते।[13] ते तीर्णाः तथा च प्राणिमात्रस्य तारणार्थं मार्गं प्रतिपादयन्ति। सम्बोधिप्राप्ताः ते बहुजनहिताय बहुजनसुखाय धर्मम् उपदिशन्ति।

प्रत्येकबुद्धः आधुनिकविद्वद्भिः मौनबुद्धः इति कथितः। यतो हि एतादृशाः बुद्धाः अनाचर्यकभावेन प्रत्येकसम्बोधिप्राप्ताः भवन्ति।[14] ये परधर्मोपदेशं न कुर्वन्ति ते तीर्णाः भवन्ति किन्तु जनसमूहस्य तारणार्थं मार्गं न निर्दिशन्ति। चुल्लनिर्देशग्रन्थे प्रत्येकबुद्धानां चर्चाप्रसङ्गे ते नवकारणैः एकान्तविहारिणः इति उक्ताः। प्रव्रज्या–अद्वितीयविहार–तृष्णाप्रहाण–एकान्तक्लेशरहितता–एकान्तवीतरागता–एकान्तवीतद्वेषता–एकान्तवीतमोहता–एकमात्रमार्ग–गमनता–अनुत्तरप्रत्येकसम्बोधि–अधिगमनतानां दृष्ट्या एकाकिनः भवन्ति। अतः ते एकान्तविहारिणः। द्वि–असंखेय्य–एककल्पपर्यन्तं पारमितापरिपूर्तिं कृत्वा प्रत्येकसम्बोधिं प्राप्नुवन्ति। किन्तु ते नैव सर्वज्ञाः न च बलेषु तेषां वशिभावः। तेषाम् ईर्यापन्थाः एवं विज्ञजनेभ्यः देशना भवति। ते अन्यसम्यक्–सम्बुद्धकाले अपि जायन्ते किन्तु तादृशाः प्रसङ्गाः न दृश्यन्ते यत् अन्यबुद्धैः सह तेषां साक्षात्कारः जातः।[15]

सम्यक्–सम्बोधिः

तृतीयबोधिः सम्यक् सम्बोधिः इति यस्य प्राप्तिकर्ता बुद्धः तथा च बुद्धत्वस्य साधकः अधिकारी बोधिसत्त्वः इति उच्यते। बोधिसत्वस्य कल्पना महायानधर्मस्य अद्भुतवैशिष्ट्यम्। अर्हत्–प्रत्येकबुद्धयोः लक्ष्यम् अतिसीमितं भवति। वैयक्तिककल्याणसाधनम् एव तयोः चरमोद्देश्यं किन्तु बोधिसत्वः संसारस्य समग्रप्राणिनां दुःखानि नाशयित्वा तान् निर्वाणं प्रापयितुम् इच्छति।[16]

एवं सुस्पष्टं वर्तते यत् श्रावकबोधेः लक्ष्यम् अस्ति 'निर्वाणम्' किन्तु बोधिसत्त्वस्य लक्ष्यमस्ति पूर्णबोधिः। तथ्यद्वयं स्पष्टं वर्तते यत् बोधिसत्वः जीवानां निर्वाणप्राप्तिम् एव नेच्छति अपितु सांसारिक-सुखकल्याणप्राप्तौ अपि साहाय्यं करोति।

तृतीयं तथ्यमिदमस्ति यत् बोधिसत्वः सर्वजीवानां मुक्तिम् इच्छति। अतः स्वयं निर्वाणं न इच्छति यतो हि निर्मुक्तेः अनन्तरम् असौ जीवानां सर्वविधसेवायाः वञ्चितः भवितुं न इच्छति।[17] हीनयाने सोतापन्न–एकदागामी–अनागामी–आरहन्त इति चतस्रः भूमयः मताः किन्तु महायाने दश भूमयः मताः। असङ्गेन 'दशभूमिकशास्त्रे' एतासां विशदवर्णनं कृतम्। ताः सन्ति–मुदिता–विमला–प्रभाकरी–अर्चिष्मती–सुदुर्जया–अभिमुक्ति–दूरंगमा–अचला–साधमती–धर्ममेधसः इति। एतासु उत्तरोत्तरम् उच्चस्तराः याः निर्वाणप्राप्तौ साधकानां सहायिकाः बुद्धत्वस्य प्रापिकाः वा।

सारांशतः इदं वक्तुं शक्यते यत् मुमुक्षूणाम् आदर्शत्रये पूर्वापेक्षया परपदम् उत्कृष्टतरम्। श्रावकस्य आदर्शः सापेक्षतया न्यूने सत्यपि पृथग्जनात् उत्कृष्टतरः। द्वयोरेव वैयक्तिक–दुःखनिवृत्तिरूपे समानलक्ष्ये सत्यपि पृथग्जनाः उपायज्ञाः नासन्, यद्यपि श्रावकाः एतस्माद् अतीताः आसन्। श्रावकेषु केषाञ्चिद् दुःखनिरोधः पुद्गलनैरात्म्यज्ञानेन केषाञ्चिच्च प्रतीत्यसमुत्पादस्य ज्ञानेन भवति स्म। धर्मनैरात्म्यस्य ज्ञानं कस्यचिदपि श्रावकस्य न भवति स्म।

प्रत्येकबुद्धस्य आदर्शः श्रावकाद् उत्कृष्टतरः। आधारशुद्धिकारणादेव दुःखनिवृत्तेः उपायज्ञानार्थं तेभ्यः उपदेशज्ञानस्य आवश्यकता नासीत्। योगशास्त्रे यद् अनौपदेशिकं प्रातिभज्ञानं वा उच्यते तेन प्रत्येकबुद्धस्य ज्ञानं प्रायशः समानम्। प्रत्येकबुद्धः स्वबुद्धत्वस्य प्रार्थी भवति तच्च प्राप्नोति किन्तु सर्वबुद्धत्वहेतवे तस्य प्रार्थना नास्ति। श्रावकस्य प्रत्येकबुद्धस्य च ज्ञानेऽपि भिन्नता। श्रावकानां ज्ञानं पुद्गलनैरात्म्यस्य अवबोधरूपम्। श्रावकानां क्लेशावरणं न भवति। अतः एतेषां ज्ञानं सूक्ष्मम्। प्रत्येकबुद्धे ज्ञेयावरणस्य एकदेशः अर्थात् ग्राह्यावरणमपि न भवति। अतः तद् इतोऽपि सूक्ष्मतरम्। श्रावकानां ज्ञानं परोपदेशहेतुकम्। अतः षोडशाकारेण प्रभावितमस्ति। अतः तद् गम्भीरम्। प्रत्येकबुद्धस्य ज्ञानं स्वयंबोधरूपम्, तन्मयतायाः समुद्भूतमस्ति, अतः पूर्वस्मात् गम्भीरतरम्।

सम्यक्-सम्बुद्धस्यैव आदर्शः श्रेष्ठः। सम्यक्-सम्बुद्धः एव भगवान् बुद्धः। क्लेशावरणस्य ज्ञेयावरणस्य च निवृत्तिमात्रेणैव बुद्धत्वलाभो न भवति। एतत् सत्यं यत् श्रावकस्य द्वैतबोधः खण्डितः न भवति प्रत्येकबुद्धस्य चापि द्वैतबोधः तथैव खण्डितः न भवति। केवलं सम्यक्-सम्बुद्धः एव अद्वैतभूमौ प्रतिष्ठितो भवति। एतदपि सत्यमेव यत् ज्ञेयावरणस्य निवृत्तिं विना अद्वैतभावस्य उदयः न भवति। पतञ्जलिना उक्तं यत् 'ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्'। अर्थात् ज्ञानम् अनन्तम्। अतः ज्ञेयमल्पमेवास्ति। बुद्धावस्था अनन्तज्ञानस्यावस्था। अतः आचार्यैः ज्ञानमेतद् 'बोधिः' न अपि तु 'महाबोधिः' इति कथितम्। अनेन अनन्तज्ञानेन सह अनन्तकरुणाऽपि सम्पृक्ता भवति। सत्त्वार्थक्रिया परार्थापादनस्य भावो वा बुद्धत्वस्य बीजम्।

अत्रैतदवधेयं वर्तते यत् शुद्धबोधिद्वारा महाबोधिलाभो न भवति। तया सह भगवत्तायाः योगः आवश्यकः। पारमितासम्भारस्य परिपूर्तेः पूर्वं भगवत्तायाः उदयो न भवति। बोधिसत्त्वः परमजन्मनि पारमितापरिपूर्ति-द्वारा भगवान् भवति किन्तु बुद्धः न भवति। भगवत्तया सह बुद्धत्वमेव भगवान् बुद्धः इति। सेवाकर्म चर्याऽस्ति, बोधिभावः प्रज्ञा। आश्रये एकस्मिन् द्वयोरेव युगपत् अवस्थानेन बुद्धत्वस्य भगवत्तायाः च अभेदेन प्रकाशः भवति। एष एव मानवजीवनस्य परमादर्शः। एषः एव बुद्धस्य इयत्ता। श्रीमद्भागवते एष एव ब्रह्मत्वमिति भगवत्त्वं वेति उक्तम् –

वदन्ति यत्तत्त्वविदस्तत्त्वं तज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।

निर्गुणं निराकारं निश्शक्ति ब्रह्म। परमात्मा सगुण; सशक्तिः ज्ञानाकारः। भगवान् सगुणः सशक्तिः साकारः। त्रयाणाम् एषः लक्षणभेदः, किन्तु त्रयः एव एकमेव तत्त्वम्। भागवतस्य अद्वयज्ञानवर्णनं वज्रयानसम्प्रदायस्य 'अद्वयवज्रसिद्धि' नामके ग्रन्थे अपि अस्ति –

यस्य स्वभावो नोत्पत्तिर्विनाशो नैव दृश्यते।
तज्ज्ञानमद्वयं नाम सर्वसङ्कल्पवर्जितम्।।

भागवते शक्तेः यत्स्थानं बौद्ध-आगमे, करुणायाः तदेव स्थानम्। प्रज्ञापारमितायाः करुणायाश्च सामरस्यस्य तात्पर्यमस्ति यत् प्रज्ञाप्रभावेन साश्रवधातूनाम् अतिक्रमणं भवति। करुणायाश्च प्रभावेन एषां निर्वाणे प्रवेशः न भवति, अपितु जगत्कल्याणार्थं अनाश्रवधातौ स्थितिः भवति –

प्रज्ञया न भवे स्थानं कृपया न शमे स्थितिः।

अर्थात् प्रज्ञया संसारदर्शनं न भवति। कृपया च निर्वाणः न भवति। सत्त्वार्थकरुणरूपपारतन्त्र्यस्य प्रभावेन बोधिसत्त्वगणः भवे शमे वा कस्मिंश्चिदपि अवस्थानं न करोति।

सन्दर्भाः

1. श्रावकयानं प्रत्येकबुद्धयानञ्च द्वयमेव हीनयाने संगृहीतम्। (Encyclopaedia of religion and ethics, Vol. 8, p. 331
2. धर्म और दर्शन, पृ. 12
3. योगसूत्रम् 1.2
4. दीघनिकायः, षष्ठः सुत्तः
5. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पादटिप्पणी, पृ. 130
6. डॉ. उमेशमिश्र, भारतीयदर्शन, पृ. 139
7. This *Arhat* was also supposed to comprehend the formula of twelve *Nidānas* – He got rid of 5 *Nirvāṇas* sensuality, Malic-sloth and torpor, worry and excitement and doubt, Bodhisattva Doctrine, p. I
8. भारतीयदर्शन और मुक्तिमीमांसा, पृ. 376
9. डॉ. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ. 130, डॉ. उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन, पृ. 140
10. निदानकथा, पृ. 26
11. "इधेकच्चो पुग्गलो पुब्बे अननुस्सुत्तेसु धम्मेसु सामं सच्चानि अभिसम्बुज्झति, तत्थ च सब्बञ्ञुतं पापुणाति बलेसु च वासीभावं। अयं वुच्चति पुग्गलो सम्मासम्बुद्धो। ... इधेकच्चो पुग्गलो पुब्बे अनुस्सुत्तेसु धम्मेसु सामं सच्चानि अभिसम्बुज्झति न च तत्थ सब्बञ्ञुतं पापुणाति न च बलेषु वासीभावं। अयं वुच्चति पुग्गलो पच्चेकबुद्धो।" – पुग्गलपञ्ञत्ति।
12. "जरामरणं दुःखसच्चं, जातिसमुदयसच्चं उभिन्नपि निस्सरणं निरोधसच्चं निरोधपजाननापटिपदा मग्गसच्चं ति एवं एकेकपदुद्धारेन सब्बधम्मे सम्मासामञ्च बुधो अनुबुद्धो पटिबुद्धो।" विशुद्धिमग्ग
13. "इति सो भगवा अरहा सम्मासम्बुद्धो विद्याचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदु अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथी सत्था देवमनुस्सान।" मज्झिमनिकाय, 2.376
14. "एवं सो पच्चेकबुद्धो एको अनुत्तरं पच्चेकसम्बोधि अभिसम्बोधि ति एको।" चुल्लनिद्देशः
15. निदानकथा, अनु. डॉ. महेश तिवारी, पृ. 70
16. एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयासादितं शुभम्।
    तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्।। बोधिचर्यावतारः

17. "Here we find two remarkable ideas : (a) Bodhisattva helps all beings not only to obtain the spiritual good or *Nirvāṇa* but also to obtain more material advantages of happiness and welfare in the world; (b) A Bodhisattva wishes to help all beings to obtain *Nirvāṇa*. He must, therefore, refuse to enter *Nirvāṇa* himself as he cannot apparently render any services to the living being of the world after his own *nirvāna*." The Bodhisattva doctrine, p. 17.

Vedic Concept of Academic Freedom

Suchitra Mitra

The idea of freedom is usually associated in *vedas* with joy or less pain or sometimes with inaction, but in connection with higher education the term academic freedom is used in the sense of liberty in education,[1] that enables a student to become self reliant and persistent.

But it does not mean that education imparted to the pupil was superficial. It was deeply academic as well as practical[2] provided that was acceptable by the pupil.

Teacher deemed it that his primary duty was to make his disciple happy and satisfied (शान्त हृदय). He made his subject matter easy by an 'Upavākya' or simple explanation where it was needed. As it is stated in chan U.P that the desire for 'Vidyā' (knowledge) was quenched in the mind of Krishna after listening to the instruction of his Guru Ghora Angiras.[3]

Teacher was strict and stern at the time of imparting knowledge,[4] but he was also careful to see that students were not afraid of him.[5] Pupil was free to clear up all misunderstandings.[6] According to 'Śaṅkrācārya' "snubbing for misunderstandings is not the way to arouse enthusiasm."[7] Vedic teacher believes that no ill-feeling should spring up between them due to either defects in one who imparts or one who receives the instruction.[8] It is said in *veda* that perfect mutual amity alone ensures efficient teaching and thorough understanding.[9]

In vedic period teacher prepared their students in such a way so that when they entered for higher education they would then be in better position to develop their latent faculties and dignify their profession.[10] Because students were given some responsibilities to organize meetings to explain the precept of the scriptures and instructing others. Enacting such procedure they were capable to acquire self reliance and ability for right thinking.[11] Teachers, no doubt inspired their pupil, but it is equally true that students enhanced academic proceedings by their own effort intellectual and enthusiasm.[12]

Vedic teacher realised that every student must have freedom to grow according to his mental capacity. Every new coming student in vedic period wishes to be developed mentally or intellectually by saying "Do thou, O Intelligence, come to us with the profusion of kine, the vigour of steeds and brilliance of Sun's rays."[13] Teacher was cautious enough that his pupil's intellectual freedom is not to be curbed,

but he was also sensible that academic freedom should not degenerate into license which hampered mental development. As it is said in Taitt Up : "Let there be no neglect of your (daily) reading. Let there be no neglect of study and teaching." [14]

So vedic teacher taught some concealed[15] discipline to his student like controlling the mind and contemplation, so that he was capable to conquer over passions, release himself from evil bondage like pride and ego and fill his mind with love, sympathy and consideration for fellow pupil.

Although interaction between teacher and student is essential in teaching and in education but it is also said in *Vedas* that pupil should gather knowledge from various sources. For instance in the case of *Satya Kama* and Upakosala, their teacher did not directly instruct them. They got preliminary instruction from super natural sources, subsequently confirmed by the teacher. [s16]

Teacher was not guided by any government. He himself established the school and governed it. He was free from all fascinations. He was above the charms of worldly wealth. He was not always professional instructor. With Utmost reverence student himself went to beg food for his master. It is said in Upanishad that real teacher should not be eager for temporal wealth (mānuṣam vittam).[17]

Teachers were progressive in their thinking not only in the field of education but in religion and culture as well.The hymns of four *Vedas* which were composed by them give us a glimpse in to the religious beliefs, social ideas and the mythological traditions of the times prior to the *Ṛgveda*.

Teacher belonged highly moral class. Kings used to take advice from their gurus. Teacher was regarded as God[18] as it is said – "गुरुस्साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः". In vedic period teacher is said to have moral and spiritual worth, so he was praised as 'कृतात्मा' By his power and meditation he attained greatness.

Not only men, but women also in vedic period were free to educate themselves in the spiritual as well as temporal subjects. A score of names of women (according to *Anukramaṇi* of Ṛgveda), had shown their eligibility in literature could compose vedic hymns. For instance, Ṛṣikā Ghoṣā, the wife of great seer Kakṣivan, has been mentioned several times in Ṛgveda. While two long hymns 39 and 40 of the tenth maṇḍal also stand to her Credit. Apālā invokes Agni in thehymn 91 of tenth maṇḍal. Sūrya was a remarkable Ṛsi who narrated the incidents of her own wedding with Soma, the moon. Indrāṇi, the powerful consort of Indra, was the speaker of several verses.[19]

With the exception of śūdras education was free and accessible to all. There is an evidence in *veda*, that even a Kṣatriya instructed a brāhmaṇa. Ṛsi Gautam asked the king Pravahaṇa to give him the knowledge of Kṣatriyas. Because the knowledge which was lineally obtained by Kṣatriyas was not to be obtained by the brāhmaṇas. Aśvapati Kaikeya is another example of a wise, learned and spiritual

ruler, who taught philosophic doctrines to brāhmaṇa aspirants.[20]

It is stated in *veda* that true education is not the amount of information imparted to students and stuffed in their brain, which is rather depressing and suppress mental reasoning of the students. The real freedom in education (whether it was given fo.:mally or informally in vedic period) was to realize the significance of nature and its laws in relation to man and his existence. Because a student when perceives the beauty of nature, his inner feeling of joy and pleasure arises spontaneously.[21] For instance having studied all the *Vedas*, ŚvetaKetu was taught by his father (teacher) ᵃsi Āruni, about the nature and its 'Creator'. How He produces the fire, sky, air, water, rain, food and other living beings? Every thing is being produced by the Lord himself. By this realisation the feeling of Unity in diversity was inspired. This realisation of oneness awakened among the studentes the feeling of brotherhood and profuse love towards his fellow pupil. It is considered in *veda* that this type of knowledge is real knowledge which led to emancipation 'सा विद्या या विमुक्तये'. Through this realisation of knowledge every thing is known. This spiritual vision encounters the absolute realty as a friend and beloved and obtains real freedom in life.

1. अथातः स्वाध्यायप्रशंसा-युक्तमविक्षिप्तं एकाग्र मनो यस्य स युक्तमनाः पराधीनो न भवति। शत० ब्रा० o11/5, 7/1
2. ŚvetaKetu was told by his father (teacher) the theory on the chemistry of food, that every body is supported by food अन्नं हीदं सर्वं प्रतिष्ठितम्. He was made that subject of an experimental demonstration. He was put on fasting for 15 days, with permission to drink water (chan UP. VI/7/2).
3. तद्धैतद्घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वो वाचापिपास एवं स बभूव. . . . chan UP. III/17/6
4. Chan UP; Taitt. UP; Bṛhadāraṇyakopaniṣad Āpastamba Dharmasūtra.
5. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः Atharva II/5/3 The Ācārya performs for the disciple the part of a spiritual second mother; and by the initiation ceremony the youth is regenerate of born a new Commentry by R. T. H. Griffith.
6. शिष्याचार्य प्रशनप्रतिवचनरूपेण कथनं तु सूक्ष्मवस्तु विषयत्वात् सुखप्रतिपत्ति कारणं भवति (keno. UP. I). The time illustrates that there should be full scope for free discussions between teacher and pupil.
7. The chan. UP. Commentary by Swāmi Swāhānanda, Introduction page XXXVI.
8. 'तेजस्विनावधीतमस्तु' 'May our study be vigorous and effective.' Taitt. UP. chapter II lesson I by Swami Brahmānanda's Commentry.
9. Ibid.
10. आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापदिति। The knowledge directly learnt from one's

own teacher becomes most beneficial. Chan UP. 4/9/3

आचार्यो ब्रह्मचारी The pupil is the master, Atherva 11/5/16; ब्रह्मचारीं ब्रह्मभ्राजद् विभर्ति. The Brahmacāri wields the radiant Brahma (knowledge), Atharva 11/5/25

12. ब्रह्मचारी आचार्य तपसा पिपर्ति Brahmacāri satisfied his master by religious austerity and fervenent devotion, Ibid 11/5/1
13. Ibid 6/108/1
14. Taitt UP. I/11/1-4
15. ता एताः संहिता न अनन्तेवासिने प्रब्रूयात् न असंवत्सरवासिने न अपंवक्त्रे इत्याचार्याः. The whole doctrine of the Saṁhitās is deemed secret and it is not to be imparted to him who not a resident pupil, who has not lived with the teacher for one year, and who is not to become a teacher. Aitareyopaniṣad commentary by Swami Sharvananda, page 25.
16. Chan. UP 4/5/1
17. तमानुषां वित्तम्– When Ṛṣi Gautam was requested by Pravahaṇa Jaivali to accept some wealth that belongs to the human world, then Ṛṣi Gautam replied "O king ! let the wealth belonging to the human world to be yours." (chan UP.) 5/3/6
18. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ :– (Sveta. UP 6/23)
19. 2, 4, 7, 9, 10, 15, 18, 22 and 23 of the hymn 86 of the tenth mandal. (Ṛgveda)
20. Chan UP.
21. मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः, माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। मधुनक्त. . . . . . . नः पिता।।

    Ṛgveda I/90/7, 8 – sweet be the night, and sweet the dawns, sweet the terrestrial atmosphere; sweet be our father Heaven to us. Vanaspati be full of sweet for us; and full of sweet the sun, translated by A. C. Clayton The Ṛgveda and Vedic Religion, Page 20.

ABBREVIATIONS

Ait. UP	--	Aitareyopaniṣad
Athar	--	Atharvaveda
Chan. UP	--	Chāndogyopaniṣad
Keno. UP.	--	Kanopanishad
Śat. Brā	--	Śatpatha Brhāhmaṇa
Taitt. UP.	--	Taittiriyopaniṣad

ऋचाओं की आन्तरिक संरचना के नियम

कालिन्दी पाठक

ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है। विश्व का सब से प्राचीनतम यह साहित्यिक ग्रन्थ श्रवण-परम्परा से ही अद्यावधि सुरक्षित रहा है। इस साहित्य को इश्वरकृत माना जाता है। फिर भी इस अपौरुषेय ऋचाओं की संरचना के विज्ञान का ऋग्वेद-प्रातिशाख्य के साहाय्य से उद्‌घाटित करना प्रस्तुत शोध-आलेख का प्रतिपाद्य है।

ऋचाओं में प्राप्त सन्धि, नति, प्लुति, उदात्तादि स्वरधर्म, छन्द आदि अनेक विषयों की विवेचना ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में मिलती है। अतः ऋग्वेद-प्रातिशाख्य को 'वर्णनात्मक-व्याकरण' के रूप में देखा जा सकता है। न केवल व्याकरण किन्तु शिक्षा, छन्द आदि वेदाङ्गों के विषयों का भी विवेचन यहाँ किया गया है। परन्तु ऋचाओं की आन्तरिकी संरचना को एक स्वतन्त्र अभ्यास के विषय के रूप में कदाचित् देखा नहीं गया है। प्रस्तुत शोध-आलेख में सन्धि, स्वर, छन्द, आदि विषयों की विवेचना के आधार पर हम ऋचाओं की आन्तरिकी संरचना को दर्शाने का प्रयास करेंगे।

(1) चौबीस अक्षरों में उपनिबद्ध पदावली से लेकर एक सौ चार अक्षर के भाषारूप को गायत्री से लेकर (उत्कृति) अतिच्छन्दसादि संज्ञाभिधान करने का रहस्य यही है कि विश्व के प्रथम साहित्य का स्वरूप ही पद्यात्मक है। पादों के समायोजन से विविध व्यावर्तक यति एवं लय के संतुलन की भी साधना की गई है।

(2) ऋचाओं में प्रत्येक वर्ण उदात्तादि-स्वरधर्म से युक्त है अर्थात् ऋचाओं में प्रयुक्त प्रत्येक पद पूर्वनिर्धारित उदात्तादि-स्वरधर्म से नियन्त्रित है। पादारम्भ में 'उ' कार से अन्य अनुदात्त पदों के निषेध के द्वारा ऋचाओं में पदक्रम का नियन्त्रण भी किया गया है।

अब हम ऋचाओं की आन्तरिकी संरचना के नियामक तथ्यों का विस्तार से अध्ययन करेंगे –

(1) ऋग्वेद-प्रातिशाख्य के अन्तिम तीन पटलों में छन्दों की विस्तृत चर्चा हुई है। सोलवें पटल में अक्षरसंख्या के आधार पर वैदिक छन्दों को प्रमुख सात भेदों में विभाजित किया गया है – जैसे कि गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुभ्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुभ् और जगती। भिन्न-भिन्न अक्षरसंख्या वाले पादों के आधार पर इस प्रमुख सात छन्दों के यवमध्या, पिपीलिकामध्या, वर्धमाना जैसे कई उपभेद बनते हैं। इन छन्दों की रचना पादों से होती है और ये पाद ही वैदिक छन्दों का आधार है। जैसा कि ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में दर्शाया गया है-

पादौ गायत्रवैराजावष्टाक्षरदशाक्षरौ।

एकादशिद्वादशिनौ विद्यात् त्रैष्टुभजागतौ।।[1]

अर्थात् गायत्र पाद आठ अक्षर का, वैराज पाद दश अक्षर का, त्रैष्टुभ पाद ग्यारह अक्षर का और जागत पाद बारह अक्षर का है।[2] ये सभी छन्द चार प्रकार के पादों से युक्त हैं। इसके सिवा अन्य पादों से बने छन्द ऋग्वेद में बहुत कम है। अन्य पाद भी इन चार पादों के विकृत स्वरूप होने से मूल तो इन चार प्राकृत पाद के ही भेद होते हैं। अलग–अलग पाद के समायोजन से कुल सात छन्द एवं इनके अनेक उपभेद चाहे बनते हों फिर भी घटकतत्त्व के रूप में चार प्राकृतपाद में से ही कोई न कोई होंगे।[3]

जैसे कि ऋग्वेद–प्रातिशाख्य में कहा गया है :

गायत्री स चतुर्विंशत्यक्षरा

अष्टाक्षरस्त्रयः पादाश्चत्वारो वा षडक्षराः।।[4]

इस कारिका के अनुसार गायत्री छन्द चौबीस अक्षर का होता है जिसमें आठ अक्षर के तीन पाद या तो छह अक्षर के चार पाद होते हैं। यहाँ प्राकृतपाद तो आठ अक्षर का गायत्रपाद ही रहता है :

अग्निमीळे पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम्[5] ।

यह त्रिपदा गायत्री का उदाहरण है। छह अक्षर के पाद वाले गायत्री छन्द का उदाहरण अधोलिखित है–

इन्द्रः शचीपतिर् बलेन वीळितः ।

दुश्च्यवनो वृषा समत्सु सासहिः ।।[5]

यहाँ छह अक्षर के पाद होने पर भी इसे आठ अक्षर के गायत्रपाद की विकृति ही माना जायेगा। इसी तरह उष्णिक् छन्द गायत्र एवं जागतपाद के समायोजन से, पंक्ति और अनुष्टुभ् गायत्रपाद से, बृहती छन्द गायत्र एवं जागतपाद से तथा त्रिष्टुभ् छन्द त्रैष्टुभ् पाद से और जगती छन्द जागतपाद से बनते हैं।

1.1 छन्दों के घटकतत्त्वरूप चार प्राकृतपादों के विभाग का निर्णय अधिकार, अर्थ एवं वृत्त के आधार पर होता है। ऋग्वेद–प्रातिशाख्य में पादों के विभाग एवं प्रकार के विषय में मार्गदर्शक सूत्र हैं –

'प्रायोऽर्थो वृत्तमित्येते पादज्ञानस्य हेतवः'[7]

इस सूत्र के अनुसार अधिकार, अर्थ एवं वृत्त के आधार पर पाद का निर्णय होता है।

1.1b : इस सूत्र के 'प्रायः' अर्थात् अधिकार से पाद का निर्णय :

सूक्त के आरम्भ में ही जिस छन्द का अधिकार किया गया होता है [8] वही छन्द सूक्त की ऋचाओं का होता है। जैसे कि ऋग्वेद 1.61 के प्रारम्भ में ही ऐसा अधिकार मिलता है कि 1.61.12 में त्रैष्टुभ् पाद से बना हुआ त्रिष्टुभ् छन्द है। किन्तु त्रैष्टुभ्पाद में ग्यारह अक्षर होते हैं।[9] ग्यारह अक्षर के त्रैष्टुभ् पाद से बने हुए त्रिष्टुभ् छन्द में 11–11 अक्षर के चार पाद और कुल अक्षर 44 होते हैं।[10] परन्तु 1.61.12 के उत्तरार्ध में दोनों पाद 9–9 अक्षर के ही बने हैं।

गोर्नपर्वविरदातिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपांचरध्यै । 10.61.12

इसका व्यूह[11] करने पर भी ये 10–10 अक्षर के होते हैं। जैसे कि –

गोर्न पर्व वि रद तिरश्चा ईष्यन् । 10.61.12

अर्णांसि अपाम् चरध्यै । 10.61.12

सूक्त के आरम्भ में ही त्रैष्टुभ् पाद का अधिकार है। इसी वजह से दस–दस अक्षर के पाद को भी वैराज नहीं परन्तु त्रैष्टुभ् ही माना जाता है। उपोत्तम अक्षर के गुरु होने से वृत्तसम्पादन भी हो जाता है। इस प्रकार अधिकार के कारण (और वृत्तसम्पादन हो जाने से भी) 10.61.12 में त्रैष्टुभ पाद ही होगा।

1.1a : 'अर्थ' अर्थात् 'अन्वय' से पाद का निर्णय :

अर्थ भी पाद के निर्णय में ज्ञापक हेतु है। 'अर्थ' शब्द से 'अन्वय' अभिप्रेत है। और अन्वय अर्थात् ऋचा में जहां भी एक पूर्ण विचार या विचारांश की प्राप्ति हो जाए वहाँ पाद की समाप्ति कर सकते हैं। जैसे कि–

स गृणाना अद्भिर्देववानिति सुबन्धुर्नमसासूक्तैः ।

वर्धदुक्थैर्वचोभिराहि नूनं व्यध्वैति पयस उस्रियायाः ।।[12]

इस ऋचा के तीसरे चरण के प्रारम्भ में 'वर्धत्' क्रियापाद में सम्पूर्ण अर्थ की प्राप्ति होती है और साथ में अधिकार में दर्शाये गये ग्यारह–ग्यारह अक्षर के दो त्रैष्टुभपाद की समाप्ति भी होती है। इस प्रकार यहाँ

स गृणानो अद्भिः देववान् इति। सुबन्धुर्नमसा सूक्तैः वर्धत।

उक्थैः वचोभिः आ हि नूनं। वि अध्वा एति पयस उस्रियायाः।

(परमबन्धु वरुणदेवों के साथ उत्तमोत्तम स्तोत्र एवं नमस्कार करके वृद्धि प्राप्त करें। गौ के दूध की धारा उनके यज्ञ के लिए बहें।)

इस ऋचा के चारों पादों में से पहले तीन पाद मिलकर एक वाक्य पूर्ण होता है और चौथे पाद में भी एक वाक्य पूर्ण हो जाता है। तदुपरान्त प्रत्येक पाद में भी अर्थ की इकाई या विचारांश तो पूर्ण होता ही है। ऋचा में 'नमसा सूक्तैः' से दूसरे पाद को पूरा कर लेने पर भी अर्थ की दृष्टि से 'वर्धत्' क्रियापद से दूसरे पाद की पूर्ति होगी।

पाद के निर्णय के लिए अर्थ को ज्ञापक हेतु मानने से लगता है कि जहाँ पूर्ण अर्थ या तो अर्थ की इकाई की पूर्ति होती है वहाँ पाद पूर्ण होता है। कई ऋचाओं में यह भी दिखाई देता है कि ऋषि को 'पादान्तं वाक्यम्' की व्यवस्था अभिप्रेत है। जैसे कि

इन्द्रो अस्माँअरदद्वज्रबाहुरपोहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम् ।

देवो नयत्सवितासुपाणिस्तस्य वयं प्रसवेयाम उर्वीः ।।[13]

नदी–विश्वामित्र सूक्त की कई ऋचाओं के उपरान्त अन्य भी कई स्थलों पर पादान्त वाक्य वाली रचना देखी जा सकती है।[7] परन्तु सर्वत्र वाक्य[8] में ही पादपूर्ति की व्यवस्था ऋग्वेद में नहीं है।

भिन्न-भिन्न अक्षरसंख्या वाले पादों के समायोजन के आधार पर प्रमुख सात वैदिक छन्दों के भी यवमध्या, पीपिलिकामध्या, प्रस्तार जैसे कई उपभेद किए गए हैं। इस से लगता है कि वहाँ भी अर्थ ही पादज्ञान का ज्ञापक है। अर्थात् यथाशक्य अर्थ की इकाई का ध्यान करके ही (मुख्य चार प्राकृत पादों के समायोजन से) छन्दों के विभिन्न उपभेद बनते हैं। जैसे कि – 'आठ अक्षर के गायत्रपाद के आधार पर ही पाँच अक्षर वाले पाँच पादों से पदपंक्ति गायत्री छन्द बनता है।'

अधा ह्यग्ने । क्रतोर्भद्रस्य। दक्षस्य साधोः। रथी ऋतस्य।

बृहतो बभूथ।।[16]

इस ऋचा में प्रत्येक पाद में एक वाक्य है, ऐसा नहीं है अर्थात् 'पादान्तं वाक्यम्' की रचना नहीं है परन्तु प्रत्येक पाद में अर्थ की इकाई रहती ही है।

प्रत्येक पाद में दो पदों के बीच में व्यपेक्षाभावरूप सामर्थ्य है। पाद की व्यवस्था या अर्थ की इकाई को ध्यान में रखकर रचित पाद में विश्व की इस प्रथम भाषा में (विविध समास आदि प्रयोगों की) कितनी क्षमता है।

छन्दों के विभिन्न प्रकारों से भाषा की क्षमता का प्रदर्शन किया गया है।

अब हम भाषा की क्षमता का उपयोग करके बनाये गए विभिन्न पाद वाले विविध छन्दों का अवलोकन करेंगे–

(1) यवमध्या गायत्री[17] : 7 +10+7

स सून्वे यो वसूनां। यो रायामानेता य इळानाम् । सोमो यः सुक्षितीनाम्। (ऋग्वेद 9.108.13)

(2) पाद के अनुसार अनुष्टुभ् और अक्षरों की दृष्टि से उष्णिक् 7+7+7+7

मंसीमहि त्वा वयम्, अस्माकं देवपूषन् ।

मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवम् ।[18]

(3) तुनशिरा उष्णिक्[19] : 11+11+6

प्र या घोषे मृगबाणे न शोभे।

ययो वाचा यजति पज्रियोवाम् । प्रैषयुर्न विद्वान्।[20]

(4) पिपीलिका-मध्यमा अनुष्टुभ्[21] 12+8+12

पर्यूषु प्रधन्ववाजसातये । परिवृत्राणिसक्षणिः।

द्विषस्तरध्या ऋणयान इयसे।।[22]

(5) विष्टरबृहती[23] 8+10+10+8

युवं हि आस्तं महो रन्

युवं वा यन्निरततंसतम् ।

ता नो वसू सु गोपास्यातं

पातं नो वृकादधायोः।[24]

(6) पंक्ति, सतोबृहती पंक्ति[25] : 12+8+12+8, (ऋ. प्रा. 16.57)

मा ते राधांसि मा ते ऊतयो वसो

अस्मान्कदाचनादभन

विश्वाचन उपमिमीह मानुष

वसूनि चर्षणिभ्य आ।[26]

(7) विराटस्थाना त्रिष्टुभ् : 9+10+10+11

9+9+10+1

9+10+10+11

श्रुधीहवमिन्द्र मा रिषण्यः स्यामते दावने वसूनाम्

इमा हि त्वामूर्जो वर्धयन्ति, वसूयवः सिन्धवो न क्षरन्तः।।[27]

(8) महापंक्ति जगती : 8+8+7+6+10+9=48[28]

सूर्ये विषमा सजामि, दृतिं सुरावतो गृहे।

सोचिन्नुनमराति, नो वयं मरामा, ऽऽरे अस्य योजनं हरिष्ठा।

मधु त्वा मधुला चकार ।।[29]

ऋग्वेद-प्रातिशाख्य के अठारवें पटल के 46, 47, 48, 49, 50, 51, 52 सूत्रों में पाद के अवसान-विषयक चर्चा भी अर्थ की इकाई को ध्यान में रखकर ही की गई है।

मुख्य सात छन्दों के उपभेदों से यह ज्ञात होता है कि छोटे-छोटे पादों की रचना वाले उपछन्दों का प्रयोग करके ऋषि ने भाषा की क्षमता का भी प्रदर्शन किया है।

1.1.c वृत्त के आधार पर पादनिर्णय

चार प्राकृत पादों में वर्तमान वृत्तव्यवस्था पाद का प्रकारनिर्णय करने में महत्त्व-ज्ञापक हेतु है। इस वृत्तव्यवस्था या पादवृत्ति का सम्पादन सामवश सन्धि से होता है।[30] सामवश सन्धि से उपधा दीर्घ होता है तथा सानुस्वर और संयुक्ताक्षर का पूर्व ह्रस्व अक्षर भी गुरु बन जाता है।[31] आठ, दस, ग्यारह और बारह अक्षर के चार प्राकृतपादों में सामवश सन्धि से इस प्रकार वृत्तव्यवस्था बनती है।

(1) ग्यारह अक्षर के त्रैष्टुभपाद में और बारह अक्षर के जागतपाद में आठवां अक्षर दीर्घ होता है,[32] यदि संहितापाठ में इस के पर में लघु अक्षर हो तो। यहाँ त्रैष्टुभ और जागत पाद में आठवाँ अक्षर गुरु और नौवाँ अक्षर लघु होने की सामान्य व्यवस्था का नियन्त्रण है।

(2) ग्यारह और बारह अक्षर के पादों में दसवां अक्षर गुरु हो जाता है यदि संहितापाठ में इसके पर मं लघु अक्षर हो तो।[33] यहाँ दसवाँ अक्षर गुरु और ग्यारहवां अक्षर लघु होने की सामान्य व्यवस्था का नियन्त्रण है।

(3) आठ अक्षर वाले गायत्रपाद में छठा अक्षर गुरु होता है यदि इसके पर में संहितापाठ में लघु अक्षर हो तो[34]। यहाँ गायत्रपाद में छठा अक्षर गुरु और सातवां अक्षर लघु होने की सामान्य व्यवस्था का नियन्त्रण है।

(4) उपर्युक्त वृत्तव्यवस्था से फलित होता है कि 'आठ अक्षर के गायत्रपाद का सातवाँ अर्थात् उपोत्तम अक्षर लघु होता है। ग्यारह अक्षर के त्रैष्टुभपाद का दसवाँ अर्थात् उपोत्तम अक्षर गुरु होता है। जबकि, बारह अक्षर के जागतपाद का ग्यारहवाँ अक्षर अर्थात् उपोत्तम अक्षर लघु होता है। दस अक्षर के वैराज पाद के लिए कोई नियम ध्यान में नहीं आया है। ऋग्वेदप्रातिशाख्य के आधार पर ही इस के उपोत्तम अक्षर को गुरु मानना पड़ता है।[35]

चार प्राकृतपादों के वृत्तनियन्त्रण का इस प्रकार निदर्शन किया जा सकता है –

गायत्रपाद	1	2	3	4	5	6	7	8			
वैराजपाद	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	
त्रैष्टुभपाद	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
जागतपाद	1	2	3	4'	5	6	7	8	9	10	11

इस वृत्तव्यवस्था को देखने से ज्ञात होता है 'कि गायत्र और जागतपाद का उपोत्तम अक्षर लघु होने की वजह से ही इसका परवर्ती अर्थात् पाद का अंतिम अक्षर समानाक्षर ही होगा'। इन दो पादों में अंतिम अक्षर कभी भी संयुक्ताक्षर नहीं हो सकता।

इस प्रकार चार प्राकृत-पादों में, संहितापाठ में, अन्तिम अक्षरों में वृत्तव्यवस्था नियमाधीन है। प्रतिपदपाठ से ही इसका ज्ञान हो सकता है। पाद के सभी अक्षरों में लघु-गुरु की व्यवस्था करने वाला कोई सामान्य नियम नहीं है। कुछ पदों के नियत पूर्वपरयोग से प्राप्त प्लुति का ऋग्वेदप्रातिशाख्य के (सातवें आठवें और नौवें) पटलों में दर्शाए गये उदाहरणों से ही पता चलता है। इस स्थिति में ज्ञात होता है कि वृत्तव्यवस्था programmed अर्थात् अनुयोजित है। इतनी सुदृढ़, व्यवस्थित एवं सूक्ष्म व्यवस्था युगों पर्यन्त उच्चरित रूप में सुरक्षित रही है।

ब्राह्मण-जाति ने युगों पर्यन्त इस programmed language का संक्रमण अनेकों पीढी तक किया है। इस से ज्ञात होता है कि 'जो कुछ भी श्रेष्ठ और सम्पूर्ण होता है उसे ईश्वरीय मानने की मानसिकता के कारण ऋचाओं को अपौरुषेय माना गया है।'

१.१.१ : पाद (रचना एवं प्रकार) के निर्णायक हेतुओं में बलाबल भाव :

विविध छन्दों में प्रयुक्त चार प्राकृतपादों का निर्णय अधिकार अर्थ एवं वृत्त-व्यवस्था के आधार पर कर सकते हैं। इस दृष्टि से इन तीनों को पाद का निर्णायक हेतु मानते हैं। इन तीनों के बीच विप्रतिषेध का निर्माण होने पर किस हेतु को सब से ज्यादा बलवान् मानना चाहिए ? इस विषय में ऋग्वेद-प्रातिशाख्य का मार्गदर्शक सूत्र है कि *'विशेषसंनिपाते तु पूर्वं पूर्वं परं परम्।'*[36] अर्थात् प्रायः अर्थ एवं वृत्त इन तीनों विशेषों में परवर्ती विशेष से पूर्ववर्ती विशेष ज्यादा समर्थ है। बलाबल-भाव का सूक्ष्मता से अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि 'अर्थ और वृत्त पाद की संरचना के नियामक तत्त्व हैं, जब कि अधिकार पादविभाग का नियामक तत्त्व है।'

(1) वृत्त और अर्थ- इन दोनों में अर्थ की बलवत्तरता का प्रतिपादन :

[A]	[B]
अर्थानुसारी पादरचना	वृत्तानुसारी पादरचना
यदग्ने स्यामहं त्वा	*यदग्ने स्यामँहं*
1 2 3 4 5 6 7	1 2 3 4 5 6
	(उपोत्तम लघु)

इन दोनों में से विभाग – A ही अधिक स्वीकार्य है।

(2) अधिकार एवं वृत्त के बीच बलाबलभाव :

अधिकार और वृत्त में विप्रतिषेध का निर्माण होने पर अधिकार को ही बलवत्तर माना गया है। जैसे कि निम्नलिखित वेद-मन्त्र में देखा जा सकता है –

प्रत्यग्रभीष्म नृतमस्य नृणाम्।[37]

1 2 3 45 6 7 89 10 11 भाग – 4

इस सूक्त के प्रारम्भ में त्रिष्टुभ् छन्द का अधिकार होने से 5.30.12 में उपोत्तम गुरु वाले 11-11 अक्षर के चार पाद होते हैं। यहाँ चौथे चरण में उपोत्तम लघु है। परन्तु इसका व्यूह करके उपोत्तम लघु वाले जागतपाद में परिवर्तित नहीं किया जायेगा, क्योंकि इस ऋचा में त्रिष्टुभ् छन्द का अधिकार है।[15]

(3) अधिकार और अर्थ के बीच बलाबलभाव:

जब अधिकार और अर्थ के बीच में विप्रतिषेध का निर्माण होता है तब अधिकार को ही बलवत्तर माना जाता है। इस के लिए ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में यह उदाहरण प्रस्तुत किया गया है –

त्वं चकर्षे मनवे स्योनान् पथो।[39]

परन्तु इस ऋचा में अर्थ और अधिकार के बीच में विप्रतिषेधभाव है ही नहीं। सूक्त के प्रारम्भ में जिस छन्द का अधिकार है इस छन्द के पाद की पूर्ति के साथ अर्थ की भी पूर्ति होती है। ऋग्वेद में कहीं भी अर्थ एवं अधिकार में विप्रतिषेध का उदाहरण मिलता नहीं है।

(4) पाद की रचना भी अर्थ को ध्यान में रखकर ही की गई है। इस विधान को ऋग्वेद-प्रातिशाख्य 17.24[40] से समर्थन मिलता है। यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि अधिकार में निर्देशित छन्द के सम्पादन के लिए पादविभाग करते समय किसी भी पद का विभाग नहीं किया जा सकता। जैसे कि ऋग्वेद – 8.37 के प्रारम्भ में 'महापंक्ति छन्द' का अधिकार है।[41] इस के अनुसार 8 × 6 ऐसी पादव्यवस्था है किन्तु पूरे सूक्त में तीसरे और चौथे चरण की ध्रुवपंक्ति आती है।

माध्यन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्नेद्य पिबा सोमस्य वज्रिवः।

1 2 3 4 5 6 7 81 23456 78

यहाँ तीसरे पाद में – माध्यन्दिनस्य सवनस्य – में 8 × 6 के अनुसार आठ अक्षर के पाद को पूर्ण करने के लिए – माध्यन्दिनस्य सवनस्य –

1 2 3 4 5 678

ऐसा विभाग (पद का विभाग) करना पड़ेगा। परन्तु पादपूर्ति के लिए कभी भी पद का विभाग नहीं किया जा सकता। इसलिए इस पाद को 8 अक्षर के बदले 9 अक्षर का माना जाता है। इस प्रकार पदविभाग का निषेध यह भी सूचित करता है कि 'पादरचना में अर्थ ही सबसे बलवान् नियामक तत्त्व है। क्योंकि पद तो अर्थ की सबसे छोटी इकाई है और इसे तोड़ने से स्वाभाविक रूप से ही अर्थप्राप्ति नहीं होगी।

(5) पाद, वृत्त और अक्षर की दृष्टि से सन्दिग्ध ऋचाओं के छन्द का निर्णय करने के लिए ऋचाओं के अक्षरों को ही सर्वाधिक बलवान् निमित्त माना है। जैसे कि –

अक्षराण्येव सर्वत्र निमित्तं बलवत्तरम्।

विद्याद्विप्रतिपन्नानां पादवृत्ताक्षरै ऋचाम् ।।[42]

इससे यह फलित होता है कि प्राकृतपादों में अक्षरसंख्या एवं वृत्त की एक सामान्य व्यवस्था होने पर भी सभी ऋचाओं में हमेशा इस व्यवस्था के अनुसार ही पाद नहीं मिलते हैं, क्योंकि अक्षरसंख्या को सर्वाधिक बलवत्तर मानकर भी सभी ऋचाओं में पादविभाग संभव नहीं है और अर्थ की ही सूक्ष्मतम इकाई को ध्यान में रखकर पादरचना की गई है। वेद की यह भाषा उदात्तादि स्वरधर्म से युक्त है। यह स्वरधर्म भी अर्थतत्त्व के नियामक है। इसलिए पाद[43] एवं वृत्त[44] की दृष्टि से सन्दिग्ध ऋचाओं में कुल अक्षर ही छन्द के निर्णायक बनते हैं।[45]

ऋचाओं के अध्ययन से फलित होता है कि 'कोई विचार या विचारांश को केन्द्र में रखकर ही प्राकृत एवं वैकृत पादों की रचना की गई है।' ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में 17.26 में अधिकार को सर्वाधिक बलवत्तर मानने का रहस्य यह है कि :

(1) वैदिक भाषा में अनेक अर्थ को अभिव्यक्त करने की क्षमता है। अर्थतत्त्व ही सर्वाधिक बलवान् है, किन्तु अर्थतत्त्व को ही सर्वाधिक बलवत्तर निर्णायक विशेषरूप में स्वीकार करने से यह आपत्ति हो सकती है कि भविष्य में अभिप्रेत अर्थ के अनुसार पादविभाजन होने लगेंगे। जिससे चार प्राकृत पाद, वृत्त एवं स्वरधर्म की व्यवस्था का विज्ञान भी संरक्षित नहीं रह पायेगा। इसलिए अधिकार को ही पाद-विभाग का सर्वाधिक बलवत्तर निर्णायक विशेष माना है। जिससे ऋचा का दृष्ट अभिप्रेत अर्थ सुरक्षित रह सके।

वास्तविकता तो यह है कि अधिकार भी भाषा की क्षमता दिखाने वाले विविध अर्थों से प्रेरित है।

इस प्रकार अधिकार पादविभाग का निर्णायक हेतु है। जब कि अर्थ पादरचना का मुख्य नियामक तत्त्व है। अर्थ को हानि पहुंचाए बिना ही वृत्त भी लय बनाता है।

(2) अर्थ का अनुसरण करने वाले नियत अक्षर गणना में बद्ध चार प्राकृत पादों का नियन्त्रण स्वरधर्मों से भी होता है। ऋचाएँ सस्वर होने के कारण प्रत्येक अक्षर कोई न कोई स्वरधर्म वाला तो होगा ही। तभी स्वरधर्मों को भी पाद का नियामक तत्त्व बनाया है। जैसे कि निम्नलिखित सूत्रों में कहा गया है–

अनुदात्तं तु पादादौ नोवर्जं विद्यते पदम्।

अर्थात् अनुदात 'उ' कार के सिवा अन्य कोई अनुदात्त पद ऋचाओं में पाद के आरम्भ में नहीं आते।

जैसे कि– *बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम।*[16]

इस ऋचा में अर्थानुसारी पादविभाजन करने से 'बतो बतासि यम नैव' – में प्रथम पाद पूर्ण होता है। जब कि, दूसरा पाद 'ते मनो हृदयं चाविदाम' – से शुरू होता है परन्तु 'ते' पद अनुदात्त होने से पाद के आरम्भ में नहीं आ सकता। इसलिए प्रथम पाद– 'बतो बतासियम नैव ते' माना जायेगा और दूसरे चरण में व्यूह करने पर भी दस अक्षर का होगा। यहाँ यह पता चलता है कि अनुदात्त 'उ' कार ही पाद के आरम्भ में आ सकता है, अन्य कोई अक्षर या पद नहीं। जैसे–

उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रे ह तत आगहि।[17]

यहाँ यह ज्ञात होता है कि अर्थ की सूक्ष्मतम इकाई (पद) का विभाग किये बिना ही यथासंभव अधिकार के मुताबिक पादविभाग करने में स्वरों का भी ध्यान रखना जरूरी है। अनुदात्त 'उ' कार के उपरान्त ऋग्वेद–प्रातिशाख्य में जो भी पादादि अनुदात्त पदों का परिगणन किया गया है,[48] वहाँ पर वही अनुदात्त पद पादारम्भ में पाये जाते हैं। परन्तु एक यह भी स्थिति है कि जिन–जिन पादों के प्रारम्भ में अनुदात्त पदों की गणना की गई है वे सभी पदों के अक्षर स्वरूप की दृष्टि से अनुदात्त है परन्तु वास्तव में ये अक्षर उदात्तश्रुति हैं। अर्थात् ऋग्वेद–प्रातिशाख्यकार पादारम्भ में जो अपवादरूप अनुदात्त पदों का परिगणन करते हैं वे सब प्रचयस्वर ही है जिसका उच्चारण उदात्तवत् होता है।[49] इन अपवादों के उपरान्त सिर्फ अनुदात्त 'उ' कार ही पादारम्भ में आ सकता है।

ऋचाओं को श्रुति भी कहा जाता है। ऋग्वेद युगों तक श्रवण–परम्परा से ही सुरक्षित रूप से संक्रमित हुआ है। इसलिए इसकी संरचना में स्वरधर्म या उच्चारण पक्ष महत्त्वपूर्ण नियामक तत्त्व बनता है। अर्थानुसारी पादविभाग के समय पदरचना एवं पदक्रम भी स्वरधर्मों को ध्यान में रखकर किया जाता है। जिस से पादारम्भ में 'उ' कार के सिवा कोई अनुदात्त स्वर नहीं आये। भाषा में कुछ पदों के स्वरधर्म निश्चित होते हैं। जैसे – बहुव्रीहि समास आद्युदात्त होता है और तत्पुरुष समास अन्तोदात्त होता है।[50] वाक्य का मुख्य क्रियापद एवं सर्वनाम के वैकल्पिक रूप सर्वानुदात्त होते हैं। स्वरभेद से अर्थभेद होने के कारण से स्वरधर्म अर्थतत्त्व को सब से अधिक प्रभावित करते हैं। और पाद की संरचना में पदचयन भी स्वरधर्मों का ध्यान रखकर किया जाता है। इसलिए पादारम्भ में अनुदात्त 'उ' को पाद–विभाग का सबसे प्रभावक निर्णायक तत्त्व माना है।[51] स्वरधर्म या उच्चारण पक्ष, पाद की संरचना के प्रमुख निर्णायक तत्त्व हैं।

(3) ऋचाओं की संरचना में पदरचना स्वरधर्म के उपरान्त ध्वनिविज्ञान को भी ध्यान में रखते हुए हुई है। ऋ, लृ, अः, क, प, अं, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण इत्यादि वर्ण पदारम्भ में नहीं पाये जाते।[52] इससे फलित होता है कि – अ, आ, ऋ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ, क, ख, ग, घ, च, छ, ज, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स – इतनी वर्णध्वनियाँ पदान्त में प्रयुक्त हुई हैं।[53] पादान्त वर्णों के प्रयोग में भी यह दिखाई देता है कि – ह, श, ष, स, क, प, अं और य, व, र, ल ये चार अन्तःस्थ वर्णों ऋकार, ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ, भ, च, ज, ञ वर्णध्वनियाँ कभी भी पदान्त में प्रयुक्त नहीं होते हैं।[54] 'ङ' वर्ण कहीं पर भी पदादि में प्रयुक्त नहीं हुआ है।[55]

ऋग्वेद–प्रातिशाख्य के इन निरीक्षणों से प्रतीत होता है कि 'संस्कृत–भाषा की सन्ध्यात्मक विशेषताओं को लक्ष्य में लेते हुए वैदिक पदों की संरचना ध्वनिविज्ञान से नियन्त्रित है।

इस प्रकार निश्चित अक्षरगणना में बद्ध ऋचाओं में अर्थतत्त्व के उपरान्त चरण के अंतिम अक्षरों में मात्राओं का ध्यान रखना अनिवार्य है जिससे वृत्तसम्पादन हो सके। इस प्रकार –

(1) अर्थतत्त्व पाद का नियामक तत्त्व है।

(2) वृत्त पादान्त में पदरचना एवं पदक्रम का नियामक तत्त्व है।

(3) स्वरधर्म समग्र पाद में पदरचना एवं पदक्रम का नियामक तत्त्व है।

(4) संहिता–पाठ को लक्ष्य में रखते हुए पदों की रचना ध्वनिविज्ञान से नियन्त्रित होती है

(5) ऋचाओं की संरचना में वैदिक भाषा की सन्ध्यात्मक विशेषता का नियन्त्रण होता है।

इस प्रकार अर्थ, स्वरों की मात्राएँ, स्वरधर्म, ध्वनिविज्ञान जैसे कई पहलू ऋचाओं की संरचना में नियामक तत्त्व बनते हैं। अत्यंत सूक्ष्मता से सुनियोजित– भाषा को हम programmed language कह सकते हैं। विश्व के प्रथम भाषारूप को समझने के सामान्य प्रयास से ही इतना सानन्दाश्चर्य होता है कि 'इसे अपौरुषेय कहे बिना नहीं रहा जाता।'

अत्यंत सूक्ष्मता से सुनियोजित इस भाषारूप (ऋचाओं) को इसी स्वरूप में सुरक्षित बनाये रखने का गाम्भीर्य शायद तभी आता यदि इसे अपौरुषेय माना जाये और इसीलिए धार्मिक श्रद्धा के कारण इन ब्राह्मणों ने साहित्य को युगों–युगों तक श्रवण–परम्परा से सुरक्षित रखा।

सन्दर्भ

1. ऋ. प्रा. 17–38

2. "एवं क्लृप्तप्रमाणानां छन्दसामुपदिश्यते", ऋ. प्रा. 17.1

3. "एतैच्छन्दांसि वर्तन्ते सर्वाप्यन्यैरतोऽल्पशः। एतद्विकारा एवान्ये सर्वे तु प्राकृता समाः।।" – ऋ.प्रा. 17.40

4. ऋ. प्रा. 16–16

5. ऋग्वेद 1.1.1

6. ऋ.प्रा. 16.17

7. ऋ. प्रा. 17.25

8 "अस्मा इ दु प्रतवस इति षोडशचँचतुर्थं सूक्तं नोधसआर्षभैन्द्रं त्रैष्टुभं अनुक्रान्तं च।" ऋग्वेद, भाग – 1

9. एकादशिद्वादशिनौ विद्यात् त्रैष्टुभजागतौ। ऋ. प्रा. 17.38

10. चतुश्चत्वारिंशत् त्रिष्टुभक्षराणि चतुष्पदा एकादशाक्षरैः पादैः। ऋ. प्रा. 16.6

11. व्यूहेदेकाक्षरीभावान्पादेषूनेषु संपदे। ऋ. प्रा. – 17.22

12. ऋग्वेद 10.61.26

13. ऋग्वेद 3.33.6

14. वैश्वदेव सूक्त 7.35, 6.48.22, 10.151.1 व ....
15. एकतिङ् वाक्यम्। व्याकरण-महाभाष्यम्। क्रियापद से ही वाक्य की पूर्ति होती हो ऐसी व्यवस्था।
16. ऋग्वेद 4.10.2
17. ऋग्वेद 9.108.13
18. ऋग्वेद 10.26.4
19. ऋ.प्रा. 16.35
20. ऋग्वेद 1.120.5
21. ऋ.प्रा. 16.39
22. ऋग्वेद 1.110.1
23. ऋ.प्रा. 16.49
24. ऋग्वेद 10.120.7
25. ऋ.प्रा. 16.57
26. ऋग्वेद 1.84.20
27. ऋग्वेद 2.11.1
28. ऋ.प्रा. 16.17
29. ऋग्वेद 1.191.10
30. सामवशा इति चैवापवादान्। कुर्वन्ति चे संपदं पादवृत्तयोः। ऋ. प्रा. 1.60 इत्यत्र उवट-भाष्यम्-पादस्य वृत्तौ? गुर्वक्षरप्रपञ्चो लघ्वक्षरप्रपञ्चश्च। ताभ्यां हि प्रपञ्चाभ्यां गायत्र्यादयः पादा वर्तन्ते, अतः पादस्येतौ वृत्तौ। पादवृत्तयोः संपदं कुर्वन्ति, नार्थान्तरं कुर्वन्ति। ऋ. प्रा. 1.60
31. ऋ. प्रा. 18, 37, 38, 39, 41
32. एकादशिद्वदशिनोर्लघावष्टाक्षरम्। उदये संहिताकाले। ऋ.प्रा. 1.60
33. दशमं चैतयोरेव। ऋ. प्रा. 8.36,
34. षष्ठं चाष्टाक्षरेक्षम्। ऋ. प्रा. 8.39
35. वर्षिष्ठाणिष्ठोरेषां लघुपोत्तममक्षरम्।

    गुर्ववेतरयोर्ऋक्षु तद् वृत्तं छन्दसां प्राहुः।। ऋ. प्रा. 17.39

    इस कारिका 8.36, 8.38, 8.39 से निष्पन्न हुई हो ऐसा लगता है।
36. ऋ.प्रा. 17.26
37. ऋग्वेद 5.30.12
38. कस्य वीर इति पञ्चदशचँषोडशं सूक्तं अत्रानुक्रमणिका ... बर्भुऋषिः अनुक्त्वा

इन्द्रो देवता ऋणं चयनामराजापि क्वचित्स्तूयते। ऋग्वेदः 5.30,

39. ऋग्वेद 10.73.7

40. पदाभेदेन पादानां विभागोऽभिसमीक्ष्य तु। छन्दसः संपदं तां तां यां यां मन्येत पादतः।। ऋ. प्रा. 17-25

41. प्रेदं ब्रह्मेति सप्तर्चं सप्तमं सूक्तमात्रेयस्यश्यावाश्वस्यार्षम् आद्या द्वापञ्चाशदक्षरा अतिजगतं शिष्टाः षड्ऋचः षडष्टका महापक्तयः। .....ऋग्वेद 8.37

42. ऋ.प्रा. 17.21

43. यथा सूर्ये विषमा सजामि। ऋग्वेद 1.191.10, भाग-2
पादैविप्रतिपन्नास्तिऽक्षरैर्जगत्योऽध्यवसीयन्ते। यथा नवानां नवतीनाम् .... ऋ. वे. 1.191.13

44. यथा च 'अभ्रप्रुषो न वाचा प्रुषा वसु....' ऋ. वे. 10.77.1 इति वृत्तैविप्रतिपन्नाक्षरैस्त्रिष्टुबध्यवसीयते।
यथा - यास्ते प्रजा अमृतस्य ... ऋ.वे. 1.43.9 इत्यनुष्टुप्। ऋ. प्रा. - 17.21 इत्यत्र उवटभाष्यम्

45. यथा च ये नः सपत्ना अप ते भवन्तु... (ऋ. वे. 10.128.9) इति त्रिष्टप्प्राये चाक्षरैरेव जगत्यध्यसीयते ऋ. प्रा. 17.21 इत्यत्र उवटभाष्यम्।

46. ऋग्वेद 10.10.13

47. ऋग्वेद 3.37.11

48. 17.28 से 17.30 में परिगणना किये गये - 8.46.17, 10.4.4, 4.10.4, 4.10.5, 4.10.6, 7.34.14, 7.34.17, 7.56.10, 1.2.8, 4.10.6, 8.37.1, 8.37.3 - इ. ऋचाओं में पादारम्भ अनुदात्त है परन्तु स्वरूप से अनुदात्त स्वर उदात्तश्रुति है।

49. उभाभ्यां तु परं विद्यात्ताभ्यामनुदात्तमक्षरम्। अनेकमप्यनुदात्तम् 3.9 ऋ. न चेत्पूर्वतथागतात् ऋ. प्रा.. - 3.10

50. समासस्यान्तोदात्तः। एवं बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्। ऋ. प्रा. - 16.2.1

51. अयमपि पादान्तज्ञाने हेतुरेव सर्वहेतुभ्यो बलवत्तमः। ऋ. प्रा. - 17.27

52. ऋकारलकारौ परमर्धमूष्मणां नादि तकारादवरे च सप्त ।। ऋ. प्रा. - 12.2

53. ऋ.प्रा. 12.2

54. ऊष्मान्तस्थ सोंष्म चकारवर्गा नान्तं यान्त्यन्यत्र विसर्जनीयात् ऋ. प्रा. - 12.1

55. ङ वर्ण किसी भी पद के आदि में नहीं आया है इस तथ्य की ओर न तो सूत्रकार ने संकेत किया है और न भाष्यकार ने। ऋ.प्रा. 12.2 पर श्री सिद्धेश्वरवर्मा की विवेचना

❑❑

शब्दार्थतर्कामृतम् में आलोचित न्याय-वैशेषिक दर्शन की पदार्थमीमांसा : एक अनुशीलन

ललित कुमार त्रिपाठी

सारांश

मौनिश्रीकृष्णभट्ट के द्वारा विरचित व्याकरणदर्शन का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ शब्दार्थतर्कामृतम् तार्किकों के सिद्धान्त को पूर्वपक्ष के रूप में स्थापित कर व्याकरणदर्शन के अनुसार प्रमाण एवं प्रमेय मीमांसा प्रस्तुत करता है। अप्रकाशितपूर्व यह ग्रन्थ रा. स. स., गङ्गानाथ झा परिसर के जर्नल आफ् केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, 2007, 63 वें अंक 2009 में गैर्वाणीगौरवग्रन्थमाला 24 के रूप में प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत शोधलेख इस ग्रन्थ के पदार्थमीमांसा पक्ष को प्रस्तुत करता है। शब्दार्थतर्कामृतम् में वैशेषिकों की पदार्थमीमांसा, जिसे नैयायिकों ने भी स्वीकार किया है, का तार्किकमत के रूप में उल्लेख करते हुए खण्डन किया गया है तथा व्याकरणाभिमत पदार्थमीमांसा का निरूपण किया गया है। यह ग्रन्थ अभिधेयत्व को ही पदार्थ का लक्षण मानते हुए भाषिक जगत् से ही वस्तु-जगत् की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। इस ग्रन्थ में तार्किकों के सप्त पदार्थ के सिद्धान्त का खण्डन है। द्रव्य एवं अद्रव्य के भेद से पदार्थद्वय का प्रतिपादन है। द्रव्य के अन्तर्गत वस्तुसत् द्रव्य के रूप में पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश की स्वीकृति है, किन्तु दिक्, काल तथा मन को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में मान्यता नहीं दी गयी है। यह ग्रन्थ वैयाकरणों द्वारा स्वीकृत सांव्यावहारिक द्रव्य की परिभाषा से ही वस्तुसत् द्रव्य तथा सांव्यावहारिक द्रव्य दोनों की गतार्थता मानता है। इसी प्रकार द्रव्य से भिन्न होता हुआ कृतिसाध्यत्वासाध्यत्वरूपेण गुण को परिभाषित करता है। फलनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकताश्रयत्व के रूप में कर्म को परिभाषित करते हुए वैयाकरणों की क्रिया की परिभाषा को महत्त्व देता है। इसमें तार्किकों के पञ्चधा कर्म विभाजन का खण्डन भी किया गया है। इसमें सामान्य को पृथक् वस्तु-सत् पदार्थ न मानकर शब्दस्वरूप को ही अवच्छेदक के रूप में स्वीकार करने का प्रस्ताव किया गया है। विशेष पदार्थ का खण्डन तथा अभाव के स्वतन्त्र पदार्थत्व की भी अस्वीकृति है। यह तार्किकों की पदार्थमीमांसा का खण्डन करते हुए वैयाकरणों के अनुसार पदार्थमीमांसा का निरूपण करता है। इस लेख में वैशेषिकों की पदार्थ मीमांसा, जिसे तार्किकों ने भी स्वीकार किया है, के विवेचन के साथ मौनिश्रीकृष्णभट्ट के द्वारा उसके खण्डन एवं खण्डन में प्रयुक्त युक्तियों का निरूपण करते हुए शब्दार्थतर्कामृतम् के आधार पर व्याकरणसिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

1. व्याकरणदर्शनपरम्परा में शब्दार्थतर्कामृतम् का स्थान एवं महत्त्व

1.1 पाणिनीय व्याकरण जहाँ एक ओर पदशास्त्र[1] होने के कारण पदसाधुत्व का निरूपण करता है वहीं दूसरी ओर वह शब्दार्थजगत् का दार्शनिक विश्लेषण भी करता है,[2] क्योंकि पदसाधुत्व का निरूपण भी अर्थ पर विचार किए विना नहीं हो सकता है।[3] इसीलिए व्याकरणशास्त्र का एक पक्ष भाषा तथा उसके अर्थ का दार्शनिक विश्लेषण भी हो जाता है। अतः व्याकरणशास्त्र के दो प्रमुख कार्य कहे जा सकते हैं- एक तो पदसाधुत्वविचार, जिसके अन्तर्गत शब्दों का प्रकृति-प्रत्ययादि के रूप में विश्लेषण कर उसके साधुत्व का निरूपण करना तथा दूसरा शब्द एवं अर्थ के स्वरूप पर विचार करते हुए वाक्यविश्लेषण से प्राप्त पदार्थ का विश्लेषण करना।[4] ऐसा करते हुए व्याकरणशास्त्र प्रासंगिक रूप से पदार्थ के तत्त्वमीमांसीय विश्लेषण से भी अपने को सर्वथा मुक्त नही रख पाता है। इसके साथ ही वह ज्ञानमीमांसा के विषयों पर भी गहन विचार करता हैं ।[5] ये विषय भले ही व्याकरण के मुख्य प्रतिपाद्य न हों, किन्तु जब कोई भी शास्त्र किसी भी विषय पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करता है तो एक विषय का दूसरे विषय के साथ गहन सम्बन्ध होने के कारण वह उस सम्बद्ध विषय के विचार से विमुख नहीं हो सकता है। अतः व्याकरण दर्शन ने भाषा एवं उसके अर्थ पक्ष पर दार्शनिक विमर्श करते हुए अन्य सम्बद्ध दार्शनिक विषयों पर भी गहन विचार किया है,[6] जिसके कारण व्याकरणशास्त्र का दार्शनिक पक्ष भी सुविचारित रूप में स्थापित हो सका है।[7]

1.2 प्राचीन भारत में व्याकरण के दार्शनिक बिन्दुओं पर विस्तृत विचार करने वाली व्याडिरचित लक्षश्लोकात्मक कृति 'सङ्ग्रह[8] अत्यन्त प्रसिद्ध थी जो अब उपलब्ध नहीं है। सम्प्रति व्याकरणदर्शन के स्रोतग्रन्थ के रूप में महर्षि पतञ्जलि का महाभाष्यम्[9] एवं भर्तृहरि का वाक्यपदीयम्[10] महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठित कृतियाँ हैं। इन पर विभिन्न टीकाग्रन्थ भी लिखे गए हैं[11] जो स्वयं भी मौलिक विचारों के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त व्याकरण दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में भट्टोजिदीक्षित का वैयाकरणमतोन्मज्जनम्[12] तथा उस पर महत्त्वपूर्ण तीन टीकाग्रन्थ - वनमालिमिश्र की वैयाकरणमतोन्मज्जनटीका[13], कौण्डभट्ट का वैयाकरणभूषणम्[14] तथा वैयाकरणभूषणसारः[15] व्याकरणदर्शन के महत्त्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। कौण्डभट्ट के पश्चाद्वर्ती वैयाकरण दार्शनिकों में नागेशभट्ट का नाम व्याकरण दर्शन के क्रान्तिदर्शी विद्वान् के रूप में लिया जाता है। व्याकरणदर्शन के क्षेत्र में नागेशभट्टविरचित वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा[16] तथा वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा[17] का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

1.3 नागेशभट्ट के उपरान्त भी अनेक वैयाकरण दार्शनिक हुए हैं, जिनमें मौनिश्रीकृष्णभट्ट अपने क्रान्तिकारी विचारों के लिए उल्लेखनीय हैं। मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने व्याकरणशास्त्र के क्षेत्र में अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिनमें -१. स्फोटचन्द्रिका २. लघुविभक्त्यर्थनिर्णयः ३. वृत्तिदीपिका ४. आख्यातवादः ५. शब्दार्थतर्कामृतम् ६. तर्कचन्द्रिका ज्ञात हैं। इनमें स्फोटचन्द्रिका लघुविभक्त्यर्थनिर्णयः, वृत्तिदीपिका, शब्दार्थतर्कामृतम् का प्रकाशन हो चुका है।[18] शब्दार्थतर्कामृतम् २००९ तक अप्रकाशित ही था। इसके हस्तलेख के उपलब्धता के अभाव में इसका प्रकाशन अब तक नहीं हो सका था। लघुविभक्त्यर्थनिर्णयः के सम्पादक महादेवशर्मा बाक्रे तथा वृत्तिदीपिका के सम्पादक भारद्वाजगङ्गाधर शास्त्री ने अपनी अपनी प्रस्तावना में शब्दार्थतर्कामृतम् के हस्तलेख प्राप्त न होने का उल्लेख किया है।[19] सौभाग्यवशात् शब्दार्थतर्कामृतम् का सम्पूर्ण हस्तलेख राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के गङ्गानाथ झा परिसर में

प्राप्त हो गया है।[20] इसके अपूर्ण हस्तलेख सरस्वतीभवन पुस्तकालय, वाराणसी से प्राप्त हुए हैं।[21] इस ग्रन्थ का इदम्प्रथमतया सम्पादन एवं प्रकाशन राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के गङ्गानाथ झा परिसर, इलाहाबाद से किया गया है।[22] तर्कचन्द्रिका का प्रकाशन भी गंगानाथ झा परिसर के द्वारा ही किया जा रहा है।[23]

1.4 व्याकरणदर्शन के क्षेत्र में मौनिश्रीकृष्णभट्ट का शब्दार्थतर्कामृतम् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके पूर्ववर्ती व्याकरणदर्शन ग्रन्थों में प्रमाण एवं प्रमेयविषयक विचार बिखरे हुए हैं, जिनके आधार पर यह व्याकरण दर्शन की पदार्थमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा का सूक्ष्म निरूपण करता है।[24] ग्रन्थकार ने प्रमाण एवं प्रमेय विषय को केन्द्रबिन्दु बनाकर अपनी इस कृति की रचना की है जो सम्भवतः व्याकरणदर्शन के लिए अपूर्व कार्य है।[25] इस कृति में आए हुए अनेक सिद्धान्त व्याकरणदर्शन के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में पाए जाते हैं, किन्तु कुछ सिद्धान्त मौनिश्रीकृष्णभट्ट द्वारा पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों के आधार पर स्वयं संवर्धित किए गए प्रतीत होते हैं। शब्दार्थतर्कामृतम् में मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने प्रमाण एवं प्रमेय से सम्बद्ध विषयों पर न्याय-वैशेषिक मत का खण्डन करते हुए व्याकरणदर्शन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।[26] व्याकरणदर्शन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार ने अनेक स्थलों में अपने मौलिक विचार भी रखे हैं। ग्रन्थकार ने शब्दार्थतर्कामृतम् के प्रतिपाद्य विषयों का प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द निरूपण के अन्तर्गत निरूपण किया है। प्रत्यक्षनिरूपण के अन्तर्गत ही व्याकरणदर्शन के अनुसार पदार्थविचार भी किया गया है।[27] इस शोधलेख के माध्यम से इस न्याय-वैशेषिकदर्शन की पदार्थमीमांसा का निरूपण करते हुए मौनिश्रीकृष्णभट्ट द्वारा उसकी की गयी आलोचना एवं व्याकरणदर्शन के अनुसार पदार्थमीमांसा का प्रतिपादन करना अभीष्ट है। वैशेषिकों की पदार्थमीमांसा, जिसे नैयायिकों ने भी स्वीकार किया है, मौनिश्रीकृष्णभट्ट की आलोचना का विषय है। अतः लेख में न्याय-वैशेषिक दोनों का उल्लेख किया गया है।

2. पदार्थस्वरूप एवं भेद - न्याय-वैशेषिक एवं व्याकरणदर्शन की दृष्टि से

एक ओर जहाँ व्याकरणशास्त्र पदों (शब्दों) के साधुत्व के विषय में विचार करता है वहीं दूसरी ओर वैशेषिक दर्शन जागतिक पदार्थों की मीमांसा करता है। इस प्रकार व्याकरणशास्त्र जहाँ पदशास्त्र है वहीं वैशेषिक दर्शन पदार्थशास्त्र है। ये दोनों ही शास्त्र सभी शास्त्रों के उपकारक माने गए हैं।[28] प्रश्न हो सकता है कि क्या व्याकरणशास्त्र पदों के साधुत्व का विचार उनके अर्थविचार के बिना करता है ? नहीं। व्याकरणशास्त्र भी पदों के अर्थविचार की अपेक्षा रखता है। अब यह प्रश्न भी स्वाभाविक है कि क्या व्याकरणशास्त्र वैशेषिकों की पदार्थमीमांसा को अपनाकर ही पदसाधुत्व का विधान करता है ? इस प्रश्न का उत्तर हाँ या न में नहीं दिया जा सकता है। पाणिनि का व्याकरणशास्त्र सर्ववेदपारिषद है[29]। ऐसा शास्त्र न किसी एक दर्शन पर आत्यन्तिक रूप से आश्रित है, न किसी दर्शन का विरोधी है। वह निरर्थक रूप से किसी दर्शन का न खण्डन करने में विश्वास रखता है न किसी दर्शन के मत का अन्धानुकरण करने में। अतः इस दर्शन में एक मार्ग का आश्रयण सम्भव नहीं है।[30] व्याकरणदर्शन तो भाषा-जगत् का विश्लेषण करता है।[31] भर्तृहरि भी ऐसा मानते हैं कि यह दर्शन किसी मतविशेष को स्थापित करने के लिए नहीं है। न ही किसी सम्प्रदायविशेष के सिद्धान्त को स्थापित करने का साधन है। अतः वे इसे सर्वदर्शनसाधारण के रूप में भी स्वीकार करते हुए सर्वदर्शन समन्वय पर बल देते हैं।[32] सभी दर्शन भाषा पर आश्रित हैं। भाषाप्रयोग केवल दार्शनिक ही नहीं करते, अपितु जनसाधारण भी करता है तथा

कविसहृदय भी करते हैं। व्याकरणशास्त्र भाषाविश्लेषण करते समय सामान्यतः लोकप्रचलित धारणाओं का अनुगममन करता है। किन्तु यदि किसी शास्त्र की प्रचलित अवधारणा भाषा के विश्लेषण में सहयोगी हो तो वह इसे सहजतया स्वीकार करता है।[33] इतना ही नहीं आवश्यकतानुसार वह भाषाविश्लेषण के लिए स्वयं के सिद्धान्त विकसित करने में संकोच नहीं करता।[34] ऐसा करते समय यह स्वाभाविक है कि उसका किसी दर्शन से साम्य दिखायी दे या किसी दर्शन से वैषम्य हो । ऐसी स्थिति में यह विचारणीय हो जाता है कि पदशास्त्र जब पदार्थ पर विचार करता है तो पदार्थशास्त्र से वह कहाँ तक सम्मत हो पाता है तथा कितने अंश में विमत। प्रस्तुत लेख इन्हीं विषयों पर मौनिश्रीकृष्ण के विचारों का अनुशीलन प्रस्तुत करता है।

2.1 वैशेषिकदर्शन में पदार्थ का स्वरूप

2.1.1 'पदार्थ' शब्द का अर्थ है पद का अर्थ।[35] प्रमुख कोश-ग्रन्थों में पदार्थ शब्द का यही अर्थ मिलता है।[36] वैशेषिक दर्शन में सूत्रकार कणाद ने यद्यपि पदार्थ का कोई लक्षण नहीं दिया है, किन्तु वैशेषिक सूत्र में एक बार पदार्थ शब्द का प्रयोग हुआ है।[37] वैशेषिकसूत्रकार ने द्रव्य,गुण एवं कर्म के लिए अर्थ शब्द का भी प्रयोग किया है।[38] प्रशस्तपाद ने पदार्थसामान्य के तीन साधर्म्य बताए हैं - अस्तित्व, अभिधेयत्व तथा ज्ञेयत्व।[39] ये पदार्थ के लक्षण के रूप में भी प्रयुक्त हैं।[40] अस्तित्व से तात्पर्य पदार्थ के स्वरूप से है ।[41] विभिन्न आचार्यों ने इसे विभिन्न शब्दों से प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है।[42] अभिधेयत्व से तात्पर्य अभिधान योग्यता से है। अर्थात् पदार्थ किसी न किसी शब्द से व्यक्त किया जा सकता है। कुछ आचार्यों ने इसे पदार्थ के लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया है।[43] ज्ञेयत्व का तात्पर्य उसकी ज्ञानयोग्यता से है। अर्थात् जो पदार्थ है वह जाना जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है जिस वस्तु का अस्तित्व है वह ज्ञेय भी है। कुछ आचार्यों ने ज्ञेयत्व को पदार्थ का लक्षण माना है।[44] वैशेषिक दर्शन के अनुसार पदार्थ के उक्त धर्म उसके स्वरूप ही हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार पदार्थ का अस्तित्व होता है। अर्थात् पदार्थ का अपना स्वरूप होता है या वह वस्तुसत् होता है। वह ज्ञेय होता है अर्थात् वह ज्ञान का विषय होता है। उसे जाना जा सकता है। पदार्थ अभिधेय होता है अर्थात् वह शब्द के द्वारा कहा जा सकता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसके स्वरूप की वस्तुगत सत्ता न हो वह जाना न जा सके या शब्द के द्वारा व्यक्त न किया जा सके। अभाव पदार्थ के अस्तित्व के विषय में वैशेषिक दर्शन के आचार्यों में मतभेद देखने को मिलता है। उदयनाचार्य, सर्वदेव, अन्नम्भट्ट ने पदार्थ लक्षण में अभिधेयत्व को महत्त्व दिया था तथा शिवादित्य ने ज्ञेयत्व को।[45] अस्तित्व को प्राचीन वैशेषिक आचार्य पदार्थ के लक्षण के रूप में प्रस्तुत नहीं करते। इसका कारण यह हो सकता है कि प्राचीन वैशेषिक आचार्य अभाव नामक पदार्थ के अस्तित्वसाधर्म्य को स्वीकार नहीं करते। वे भावपदार्थों के साधर्म्य के रूप में ही अस्तित्वरूप साधर्म्य को स्वीकार करते हैं।[46] विश्वनाथप्रभृति परवर्ती ग्रन्थकारों ने सातों पदार्थों के साधर्म्य के रूप में अस्तित्व को स्वीकार किया है।[47] वस्तुतः अभाव की पदार्थ के रूप में मान्यता के बाद उसके साधर्म्य के रूप में अस्तित्व को न मानना अभाव पदार्थ के स्वरूप को ही नकारना हो जाएगा क्योंकि न्याय-वैशेषिक दर्शन की यह दृढ मान्यता है कि प्रत्येक प्रतीति किसी न किसी बाह्य पदार्थ या सद्-वस्तु पर आश्रित होती है। [48] अतः न्यायवैशेषिक दर्शन में अभाव पदार्थ को भी सद्रूप ही माना गया है। भले ही वह भावात्मक न होकर अभावात्मक है। अतः अस्तित्वरूप साधर्म्य को अभाव का भी साधर्म्य मानना समुचित है।

2.1.2 न्याय-वैशेषिक दर्शन में पदार्थ के स्वरूपविचार में वस्तुवादी दृष्टि

वैशेषिक एवं न्याय दर्शन वस्तुवादी दर्शन हैं। अत एव पदार्थ के साधर्म्य या लक्षण के रूप में इन तीनों बिन्दुओं को महत्त्व देने के पीछे उसकी दार्शनिक दृष्टि कारण है। वह पदार्थ के अस्तित्व से उसकी वस्तु-जगत् में सत्ता को अनिवार्य मानता है। वह पदार्थो के अस्तित्व का प्रतिपादन कर शून्यवाद का तथा विज्ञानवाद का खण्डन करता है। नैयायिकों एवं वैशेषिकों के अनुसार वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा स्वरूपतः है, हमारी कल्पना से नहीं।[49] वहीं दूसरी ओर वह अस्तित्ववान् पदार्थ को ज्ञान का विषय बताकर वस्तु-जगत् के पदार्थ तथा ज्ञानविषय पदार्थ को अभिन्न दर्शाना चाहता है।[50] अस्तित्व वाले पदार्थ को अभिधेय बताकर वह भाषिक-जगत् तथा यथार्थ-जगत् के बीच भी एकरूपता दिखलाना चाहता है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शन पदार्थ की व्याख्या वस्तुवादी दृष्टि से करते हैं।

2.2 व्याकरणदर्शन में पदार्थ का स्वरूप एवं न्याय-वैशेषिक के पदार्थस्वरूप से मतभेद का कारण

2.2.1 वैशेषिकों ने पदार्थ के स्वरूप में अस्तित्व, अभिधेयत्व तथा ज्ञेयत्व को पदार्थ का लक्षण या साधर्म्य कहा है।[51] वैयाकरण भी इसका निषेध नहीं कर सकता है। वैयाकरण पद के या शब्द के अर्थ को पदार्थ कहने में विप्रतिपन्न नहीं हो सकता। न ही वह उसके ज्ञेयरूपता पर विमत हो सकता है, किन्तु न्याय-वैशेषिक दर्शन की अस्तित्वविषयक धारणा से वैयाकरणों का कुछ पार्थक्य अवश्य है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित अस्तित्व उसके वस्तुजगत् के स्वरूप पर आधारित है,[52] जबकि वैयाकरणों ने अस्तित्व को दो प्रकार का माना है- वस्तु-जगत् में अस्तित्व तथा बुद्धि-जगत् में अस्तित्व । जिसे हम वैयाकरणों के अनुसार वस्तु-सत् तथा बुद्धि-सत् कह सकते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने भी अर्थ के दो प्रकार माने हैं। 'तदस्त्यस्मिन्निति मतुप्'[52.1] सूत्र में 'अस्ति' पद की सार्थकता पर चर्चा करते हुए भाष्यकार कहते हैं - पदार्थ तो सर्वदा सत्ता युक्त है। उसकी सत्ता का अभाव तो होता ही नहीं है, फिर अस्ति पद की क्या आवश्यकता है ? महर्षि पतञ्जलि ने इस आक्षेप को स्वीकार कर सूत्र में प्रदत्त 'अस्ति' पद के प्रयोजन का निरूपण करते हुए यह माना है कि पदार्थ बुद्धिसत्ता से कभी भी व्यभिचरित नहीं होता है। अतः उसे 'अस्ति' पद से विशेषित करने की आवश्यकता नहीं है, फिर भी पाणिनि के द्वारा 'अस्ति' पद से विशेषित करना इस बात को दर्शाता है कि सम्प्रति सत्ता वाले पदार्थ के वाचक प्रातिपदिक से मतुबर्थीय प्रत्यय हों, भूत तथा भविष्यत् सत्ता वाले पदार्थ के वाचक प्रातिपदिक से मतुबर्थीय प्रत्यय न हों।[53] भाष्यकार को यहाँ सम्प्रति सत्ता से बाह्य सत्ता अभिप्रेत है, ऐसा कैयट ने स्पष्ट किया है।[54] इस प्रसंग से हम कह सकते हैं कि महाभाष्यकार के अनुसार पाणिनि को भी दो प्रकार की सत्ता स्वीकार्य है। भर्तृहरि ने महाभाष्य के इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए बाह्य सत्ता से बौद्ध सत्ता का भेद माना है।[55] यद्यपि शब्दार्थ की दृष्टि से बौद्ध सत्ता की ही प्रधानता है, तथापि लोकव्यवहार की दृष्टि से बाह्य सत्ता की मुख्यता है। भर्तृहरि ने इसी बात को ध्यान में रखते हुए बाह्य सत्ता को मुख्य सत्ता[56] तथा बौद्ध सत्ता को औपचारिक सत्ता कहा है[57]। कैयट ने बाह्य सत्ता को मुख्य सत्ता तथा बौद्ध सत्ता को औपचारिक सत्ता कहे जाने का कारण 'सत्ता' शब्द की व्याकरणशास्त्रीय व्युत्पत्ति को माना है। [58] महाभाष्यकार ने बौद्ध सत्ता को भूत एवं भविष्यत् सत्ता कहा है तथा बाह्य सत्ता को वर्तमानकालिकी सत्ता कहा है, इसका

तात्पर्य यह नहीं है कि बौद्ध सत्ता वर्तमानकालिकी नहीं होती। क्योंकि यदि ऐसा मानेंगे तो महाभाष्यकार का यह कथन कि पदार्थ कभी भी सत्ता से व्यभिचरित नहीं होता, असंगत हो जाएगा। अतः यह मानना चाहिए कि बौद्ध सत्ता तीनों कालों में है। इस बात को भर्तृहरि ने स्पष्ट रूप से कहा भी है।[59] वैयाकरणों ने बुद्धिस्थ अर्थ, जिसकी बुद्धि में सत्ता स्वीकार किया है, उसे मानने की अनिवार्यता भी सिद्ध की है।[60] भर्तृहरि ने दोनों सत्ता को मानने के कारण का भी उल्लेख किया है। भर्तृहरि का कहना है कि यदि बाहय सत्ता का अभाव ही माना जाएगा तो उसका भाव नहीं हो सकता है तथा यदि उसका भाव ही मानें तो उसका अभाव नहीं हो सकता है। अत एव भाव एवं अभाव दोनों ही एक आत्मा के दो भिन्न स्वरूप हैं।[60.1] इसीलए भर्तृहरि ने शाब्दबोध में ज्ञान तथा अर्थ की बुद्धिस्थ व बाहय सत्ता दोनों का उल्लेख किया है।[60.2] भर्तृहरि ने अर्थ की बुद्धिगत सत्ता न मानने पर अनेक आक्षेपों का उल्लेख किया है। इन आक्षेपों में कुछ प्रमुख आक्षेप इस प्रकार हैं- यदि बाहय अर्थ मात्र ही माना जाएगा तो 'नहीं' शब्द का ही प्रयोग मिट जाएगा।[60.3] बौद्ध अर्थ मानने पर ही बाह्य सत्ता के निषेध के लिए 'नहीं' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार 'अंकुरो जायते' इस प्रकार के प्रयोग भी नहीं हो सकेंगे।[60.4] 'अस्ति' पद का भी प्रयोग नहीं हो सकेगा। जिन पदार्थों की बाहय सत्ता नहीं है, उनका वाक्यप्रयोग भी नहीं हो सकेगा।[60.5]

इस प्रकार वैयाकरणों के अनुसार पदार्थ, अर्थात् पद या शब्द का अर्थ, बुद्धि-सत् तथा वस्तु-सत् दोनों हो सकता है। वैयाकरणों के अनुसार पदार्थ का ज्ञेय स्वरूप बुद्धि-सत् होना तो अनिवार्य पर वस्तु-सत् होना आवश्यक नहीं है। किन्तु पदार्थ की वस्तु-सद्रूपता का वैयाकरण निषेध नहीं करता है। वैयाकरणों ने पदार्थ के बुद्धि-सत् स्वरूप को बौद्धार्थ कहा है, जिसका अर्थ होता बुद्धि में रहने वाला अर्थ। वैयाकरणों का यह बौद्धार्थ बौद्ध विज्ञानवादियों के विज्ञान से अलग है।[61]

2.2.2 व्याकरणदर्शन मुख्य रूप से भाषिक जगत् की व्याख्या करता है। वस्तु-जगत् भी भाषा-जगत् का अङ्ग बनता है, किन्तु वस्तु-जगत् की व्याख्या मात्र से भाषा-जगत् की व्याख्या नहीं हो जाती है। इसके लिए कुछ अतिरिक्त यत्न भी करणीय हो जाता है। महर्षि पतञ्जलि एवं भर्तृहरि दोनों ही यह मानते हैं कि वैयाकरण का मुख्य उद्देश्य भाषा-जगत् के पदार्थों की व्याख्या करना है।[62] किन्तु वह वस्तु-जगत् का सर्वथा अपलाप करके भाषा-जगत् की व्याख्या नहीं करता । किन्तु भाषाजगत् की व्याख्या का आधार केवल वस्तुजगत् नहीं हो सकता है[63], जबकि वैशेषिक एवं नैयायिक भाषा-जगत् की व्याख्या का आधार भी वस्तु-जगत् मात्र मानते हैं।[64] यही कारण है कि वैयाकरणदार्शनिकों का न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों से मतभेद हो जाता है। यह मतभेद उनके पदार्थनिरूपण में, पदार्थभेद में, शाब्दबोधनिरूपण में, कारकविचार में तथा पद, प्रकृति एवं प्रत्यय के अर्थ निरूपण में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।[65]

2.2.2 जैसा कि पूर्व में कहा गया कि वैयाकरणों के अनुसार पदार्थ की द्विविध सत्ता है। एक है बौद्ध सत्ता तथा दूसरी है बाह्य सत्ता। पदार्थ का बुद्धि में होना बौद्ध सत्ता है तथा बाहरी जगत् में होना बाह्य सत्ता है। वैयाकरणों के अनुसार कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो बुद्धि में भी हैं तथा बाहर भी हैं। कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो केवल बुद्धि में हैं, बाहर नहीं हैं।[66] जबकि वस्तुवादी न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार पदार्थ के ज्ञेय तथा अभिधेय होने के लिए बहिर्जगत् में होना आवश्यक है। विज्ञानवादियों ने विज्ञान के अतिरिक्त बहिर्जगत् में पदार्थ के अस्तित्व का सर्वथा निषेध ही कर दिया है।[67] वस्तुवादियों एवं विज्ञानवादियों के सिद्धान्त में अलग-अलग कठिनाई है। नैयायिक-वैशेषिकों के अनुसार जिस पदार्थ का बहिर्जगत् में अस्तित्व

नहीं है वह न तो ज्ञेय हो सकता है, न ही वाच्य हो सकता है। विज्ञानवादियों के अनुसार ज्ञेय पदार्थ ज्ञान के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। जिसकी हम बाहर सत्ता कहते हैं वह हमारे ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

2.2.3 वैयाकरण दार्शनकों ने दोनों प्रकार के दर्शनों की इन कठिनाइयों को समझा है । वैयाकरण दार्शनिकों ने निराग्रह भाव से वस्तुतत्त्वमीमांसा की दृष्टि से तथा ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से विचारणीय पदार्थों को विविक्त किया है।[68] न्याय-वैशेषिक दर्शन तथा विज्ञानवादी दर्शन पदार्थों के वस्तुतात्त्विक रूप एवं ज्ञानमीमांसीय रूप को विविक्त करके नहीं देखते। न्याय-वैशेषिक दार्शनिक उसके वस्तुस्वरूपता का आग्रह उसके ज्ञानमीमांसीय रूप के साथ भी जोड़े रखते हैं, वहीं विज्ञानवादी पदार्थ के ज्ञानमीमांसीय रूप के अतिरिक्त वस्तुरूपता को स्थान ही नहीं देते हैं। वैयाकरणों ने अपने दर्शन में इस समस्या को दूर करने का प्रयत्न किया है। वैयाकरणदार्शनिकों का कथन है बुद्धिस्थ पदार्थ मुख्यतः हमारे ज्ञान का विषय बनता हैं। ऐसा नहीं है कि बाह्य पदार्थ हमारे ज्ञान का विषय नहीं बनता। प्रत्यक्षादि में बाह्य एवं बुद्धिस्थ दोनों पदार्थों का उपयोग होता है। जबकि शब्द के द्वारा होने वाले ज्ञान में मुख्यतः बुद्धिस्थ पदार्थ ही बोध्य होता है। इसीलिए बहिर्जगत् में अत्यन्त असत् अर्थ का भी शब्द से बोध होता है। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि वैयाकरण दार्शनिकों ने पदार्थ के विषय में बहुत ही सूक्ष्म चिन्तन कर वस्तुतत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से विविध समस्या का समाधान किया है।[69]

2.2.4 वैयाकरण दार्शनिकों ने विभिन्न स्थलों में पदार्थ के सन्दर्भ में दार्शनिकों के द्वारा कुछ मान्य सिद्धान्तों को स्थान दिया है किन्तु भाषातात्त्विक दृष्टि से विचार करते समय पदार्थविषयक कुछ नूतन अवधारणाएँ भी विकसित की हैं, जिसकी आवश्यकता महाभाष्यकार ने 'कश्चित् स्वकृतान्तः आस्थेयः' यह कहते हुए व्यक्त की है।[70] महाभाष्यकार के वचनों के आधार पर ही वैयाकरणों के सिद्धान्तों का भर्तृहरि ने वाक्यपदीयम् में विस्तार से निरूपण किया है।[71]

2.2.5 मौनिश्रीकृष्णभट्ट के शब्दार्थतर्कामृतम् के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके अनुसार वैयाकरणों के द्वारा भाषा-जगत् के विकसित सिद्धान्तों से ही वस्तुजगत् की व्याख्या हो सकती है वस्तु-जगत् की व्याख्या के लिए पृथक् सिद्धान्त आवश्यक नहीं हैं।[72] पदार्थविवेचन क्रम में यह भी एक प्रबल पक्ष सामने आता रहा है कि जागतिक पदार्थों की व्याख्या कहीं न कहीं से भाषा-जगत् की ही एक प्रकार से व्याख्या है। अर्थात् शब्द के अर्थ की ही व्याख्या है। वस्तुतः पदार्थ शब्द भी इसी बात को कहता है। इसलिए मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने पदार्थ का लक्षण अभिधेयत्व करना ही उचित माना है।[73] अनेक वैशेषिक दार्शनिकों ने भी पदार्थ का लक्षण अभिधेयत्व ही किया है।[74] अतः मौनिश्रीकृष्णभट्ट ऐसा मानते हैं कि वस्तुजगत् की व्याख्या भाषा-जगत् के लिए स्वीकृत सिद्धान्त से हो सकती है। अतः वस्तु-जगत् के लिए पृथक् सिद्धान्त मानने की आवश्यकता नहीं है।[75]

2.2.6 वैयाकरणों द्वारा इस विषय पर विचार-विमर्श करते समय यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वैयाकरणों को पदार्थविचेन करने की क्या आवश्यकता है। क्योंकि व्याकरणशास्त्र तो पदशास्त्र है। इसका कार्य पदों की व्युत्पत्ति दर्शाना है। इसे पदार्थविवेचन से क्या लेना-देना है। इस प्रकार की आशङ्का का समाधान करते हुए मौनिश्रीकृष्णभट्ट का स्पष्ट कथन है कि वैयाकरणों के द्वारा पदार्थ के सन्दर्भ में विमर्श करना अनुचित नहीं है, क्योंकि पदार्थ-चिन्तन के बिना प्रयोगसिद्धि नहीं की जा सकती है। अतः वैयाकरणों के द्वारा पदार्थ के विषय में विचार-विमर्श करना तथा अन्य मतों की परीक्षा करते हुए स्वाभिमत प्रकाशित

करना सर्वथा उचित है।[76] मौनिश्रीकृष्णभट्ट का तो यहाँ तक कहना है कि तार्किकों के द्वारा ही पदार्थचिन्तन करना अनुचित है, न कि वैयाकरणों के द्वारा, क्योंकि बिना तर्कशास्त्र के अध्ययन के भी पदार्थों का व्यवहार किया जाता है।[77]

2.3 न्याय-वैशेषक दर्शन में पदार्थभेद

वैशेषिक दर्शन में सात पदार्थ माने गए हैं। यद्यपि वैशेषिकसूत्रों में महर्षि कणाद ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय इन छः पदार्थों का ही उल्लेख किया है।[78] अतः अधिकांश विद्वान् वैशेषिक सूत्रों में छः पदार्थों की स्वीकृति मानते हैं तथा अभाव नामक पदार्थ को बाद में समायोजित किया गया स्वीकार करते हैं। कुछ आधुनिक विद्वानों ने तो छः पदार्थों वाले वैशेषिकसूत्र को भी प्रक्षिप्त माना है।[79] उनके अनुसार कणाद ने अर्थ शब्द से द्रव्य,गुण तथा कर्म तीन का उल्लेख किया है[80] अतः महर्षि कणाद के अनुसार तीन ही पदार्थों की वस्तुगत सत्ता है। किन्तु प्रशस्तपाद ने छः पदार्थों का उल्लेख किया है इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। वैशेषिक दर्शन के आचार्यों में श्रीधराचार्य तथा उदयनाचार्य ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि महर्षि कणाद को भी अभाव की सत्ता मान्य थी, किन्तु उन्होंने इसका स्वतन्त्र उल्लेख इसलिए नहीं किया कि भावपरतन्त्र है, स्वतन्त्र नहीं।[81] किन्तु इसे यदि न भी माना जाए तो इतना तो सर्वमान्य है ही कि शिवादित्य तथा उदयनाचार्य के बाद से वैशेषिक दर्शन परम्परा मे सभी आचार्यों ने सात पदार्थों की स्वीकृति दी है तथा परवर्ती न्यायदार्शनिकों ने भी सप्त पदार्थ का सिद्धान्त स्वीकार किया है।[82] यद्यपि रघुनाथ शिरोमणि ने पदार्थतत्त्वनिरूपणम् में विशेष पदार्थ का खण्डन कर छः ही पदार्थ स्वीकार किए हैं[82.1], तथापि न्याय-वैशेषिक दर्शन परम्परा में उनके मत को पूर्ण मान्यता नहीं मिल सकी।

2.4 शब्दार्थतर्कामृतम् में पदार्थभेद

व्याकरणदर्शन के अनुसार मौनिश्रीकृष्णभट्ट द्रव्य एवं अद्रव्य के भेद से पदार्थ के दो भेद करते हैं।[83] इनके अनुसार न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में किया गया सप्तपदार्थपरिगणन उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार घटपटादिविभाजक उपाधियाँ।[84] यदि तार्किकों के पक्ष से यह कहा जाए कि न्यून या अधिक के व्यवच्छेद के लिए सात पदार्थ का परिगणन करना आवश्यक है, तो यह कथन भी समुचित नहीं है, क्योंकि कुछ तार्किकों ने विशेष को पदार्थान्तर नहीं माना है। कुछ के अनुसार विषयता पदार्थान्तर है तो कुछ के अनुसार शक्ति पदार्थान्तर है तथा कुछ के अनुसार अखण्डोपाधि पदार्थान्तर है। इस प्रकार कुछ तार्किकों के अनुसार तो सात पदार्थ से कम या अधिक पदार्थ भी माने गए हैं।[85] तार्किकों के अनुसार अखण्डोपाधि को समान्य माना नहीं जा सकता है, क्योंकि सामान्य तो अनेकवृत्ति होते हुए समवाय सम्बन्ध से रहता है। जबकि अखण्डोपाधि एकवृत्ति है तथा समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता है। अतः अखण्डोपाधि का अन्तर्भाव सामान्य में नहीं किया जा सकता है।[86] मौनिश्रीकृष्णभट्ट का यह भी कहना है कि व्याकरणदर्शन के अनुसार 'चादयोऽसत्त्वे' सूत्र में असत्त्व शब्द से असत्त्व अर्थात् द्रव्य भिन्न शब्द में प्रतियोगी के रूप में आए द्रव्य शब्द से सातों पदार्थों का ग्रहण होता है। 'पाकः' इत्यादि उदाहरणों में घञ्प्रत्ययार्थ भाव भी द्रव्य है।[87] मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने तार्किकों के मत का अनेकशः खण्डन किया है। इनका कहना है तार्किकों का पदार्थविषयक विचार अनियत होने के कारण असत् तर्काश्रित है। अतः अस्वीकार्य है।[88] क्योंकि महर्षि गौतम ने 'प्रमाणप्रमेय' इत्यादि सूत्र के द्वारा सोलह पदार्थों का परिगणन किया था, जिसे सप्तपदार्थवादियों ने सात पदार्थ से गतार्थ कर दिया।[88.1] पुनश्च 'सप्तैव पदार्थाः' ऐसा व्याख्यान करते हुए सात से कम या अधिक

पदार्थों का तार्किकों ने निषेध किया। पुनश्च शक्ति, विषयता आदि के पदार्थ को मानने वाले तार्किकों ने पदार्थान्तर भी स्वीकार किया। इस प्रकार तार्किकों का इस प्रकार का पदार्थविभाजनविषयक विचार परस्पर विरुद्ध है।[88.2] मौनिश्रीकृष्णभट्ट का कहना है कि निरंकुश तर्क के द्वारा तार्किकों ने ऋषिप्रणीत न्यायसूत्र, जिसमें षोडश पदार्थ का परिगणन किया गया था, का सप्त पदार्थ स्वीकार करके खण्डन कर दिया।[88.3] इसी प्रकार द्रव्य का नव विभाग कथन भी है।[88.4] पदार्थ के भाव एवं अभाव के भेद से पदार्थ के द्वैविध्य प्रतिपादन के द्वारा सप्त पदार्थ का सिद्धान्त पदार्थद्वैविध्यवादियों ने खण्डित कर दिया।[88.5] यदि तार्किक कहें कि सप्त पदार्थ के सिद्धान्त को स्वीकार करने से षोडशपदार्थ का सिद्धान्त खण्डित नहीं होता है, न ही भाव एवं अभाव के भेद से पदार्थद्वैविध्य के प्रतिपादन से सप्तपदार्थ के सिद्धान्त का खण्डन होता है, अपितु यह तो अन्तर्भाव का विचार है। इस पर मौनिश्रीकृष्णभट्ट का कहना है कि 'पदस्य अर्थः पदार्थः' ऐसा स्वीकार करके अभिधेयत्व को पदार्थत्व मान लेना चाहिए।[88.6] अर्थात् भाषातात्त्विक दृष्टि से स्वीकृत पदार्थसिद्धान्त को स्वीकार कर लेना चाहिए। न्याय-वैशेषिकों के सप्तपदार्थ के सिद्धान्त को मानने की आवश्यकता नहीं है।

3. द्रव्यविचार

3.1 न्याय वैशेषिक दर्शन में द्रव्यपदार्थ

3.1.2 न्याय-वैशेषिक दर्शन में सबसे प्रधान पदार्थ द्रव्य है। द्रव्य पदार्थ ही सभी पदार्थों का आश्रयभूत है।[89] द्रव्य पदार्थ की स्थापना के द्वारा ही न्यायवैशेषिक दर्शन बाह्यार्थवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन कर सका। न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के अनुसार बाह्य जगत् के विषय स्वरूपतः सत् रूप में हमें ज्ञात होते हैं। द्रव्य वस्तुओं की वस्तुरूपता को प्रकट करता है।

3.1.2 न्यायवैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य एक धर्मी पदार्थ है, जिसमें गुण एवं किया रूप धर्म रहते हैं।[90] द्रव्य पदार्थ की सिद्धि में न्याय-वैशेषिक दर्शन की प्रधान युक्ति भी यही है कि रूप रसादि गुण तथा विभिन्न क्रियाओं का कोई आधार अवश्य होना चाहिए। यह आधार ही द्रव्य है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य पदार्थ, जो कि धर्मी है तथा उसमें रहने वाले गुणादि धर्म परस्पर भिन्न हैं।

3.1.3 विज्ञानवादी बौद्धों ने वैशेषिकों के द्वारा प्रतिपादित गुण से अतिरिक्त द्रव्य का खण्डन किया है। बौद्ध मतानुसार हमें केवल गुणों का ही ज्ञान होता है। इन्द्रियों के द्वारा रूप-रसादि गुणों का ही ग्रहण होता है। अतः गुण के अतिरिक्त द्रव्य नामक कोई पदार्थ नहीं है। सभी वस्तुएँ पृथक्-पृथक् धर्म ही हैं। धर्म से अतिरिक्त धर्मी सर्वथा असत् है।[91]

3.14 वैशेषिक आचार्यों ने बौद्ध-मत का दृढतापूर्वक खण्डन किया है। बौद्ध-मत का खण्डन करते हुए न्याय-वैशेषिक दर्शन में यह कहा गया है कि घटादि वस्तु केवल गुणों का समुदाय मात्र नहीं है। यदि ऐसा होता तो हमें गुणों से अतिरिक्त घटादि द्रव्य की प्रतीति भी नहीं होती। किन्तु हमें गुणों से अतिरिक्त द्रव्य की प्रतीति होती है। अतः द्रव्य की गुण से स्वतन्त्र सत्ता है। हम अनुभव करते है कि दर्शन एवं स्पर्श ये दोनों ही किसी एक आश्रय में स्थित हैं, जो कि गुणों के समुदाय से स्वतन्त्र है। अतः हम अपने दैनन्दिन अनुभव के आधार पर द्रव्य को गुण से व्यतिरिक्त सिद्ध पाते हैं।[92]

3.1.2 न्याय-वैशेषिक मत में द्रव्य में द्रव्यत्व जाति मानी गयी है। द्रव्य इस व्यवहार का निमित्त

ही द्रव्यत्व है। जिस प्रकार सास्नादि के द्वारा गोत्व की प्रतीति होती है उसी प्रकार कार्याश्रयत्वरूप उपलक्षण साधर्म्य से द्रव्यत्व-सामान्य की प्रतीति होती है।[93] कारिकावलीकार विश्वनाथ तर्कपञ्चानन ने दो युक्तियों के द्वारा द्रव्यत्व जाति की सिद्धि की है- कार्यमात्र की समवायिकारणता की अवच्छेदक होने से अथवा संयोगविभाग की समवायिकारणता का अवच्छेदक होने से द्रव्यत्व जाति की सिद्धि होती है।[94]

3.2 शब्दार्थतर्कामृतम् में द्रव्यपदार्थ

3.2.1 महाभाष्य में द्रव्य को दो प्रकार से परिभाषित किया गया है। एक तो वस्तुजगत् के द्रव्य के रूप में तथा दूसरा व्याकरणशास्त्रीय दृष्टि से।[95] वस्तुजगत् की दृष्टि से महाभाष्य में साङ्ख्यमत *गुणसमुदायो द्रव्यम्*[96] तथा न्यायवैशेषिक सिद्धान्त *गुणाश्रयो द्रव्यम्*[97] ये दोनों पक्ष प्राप्त होते हैं। नागेशभट्ट ने महाभाष्य में *गुणसमुदायो द्रव्यम्* इस पक्ष में भाष्यकार का अभिमत स्वीकार किया है।[98] गुणसमुदायो द्रव्यम् इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के बाद भी वैयाकरणों की समस्या का समाधान नही हो पाता है। क्योंकि वैयाकरणों के अनुसार कृत्-प्रत्यय के द्वारा अभिहित भाव को भी द्रव्य के समान माना गया है। जिस प्रकार घटादि द्रव्य घटादि शब्दों के द्वारा लिङ्ग, संख्या तथा कारक से युक्त होकर अभिहित होते हैं उसी प्रकार पाक आदि भाव भी पाकादि शब्दों से लिङ्ग, संख्या तथा कारक से युक्त होकर अभिहित होते हैं। इस प्रकार यह कह सकते हैं कि वैयाकरणों के अनुसार द्रव्य, लिङ्ग, संख्या तथा कारक से युक्त होता है। वैयाकरणों के अनुसार भाव दो प्रकार से कहा जाता है। एक तो साध्यस्वरूप तथा दूसरा सिद्धस्वरूप। धातु के द्वारा तथा अव्ययात्मक कृत्-प्रत्ययों के द्वारा कहा जाने वाला भाव साध्यस्वरूप होता है, जबकि अव्ययभिन्न घञादि कृत्-प्रत्ययों के द्वारा कहा जाने वाला सिद्धस्वरूप होता है। वैयाकरणों ने सिद्धभाव को लिङ्ग, संख्या तथा कारक से अन्वयी मानते हुए द्रव्यस्वरूप माना है। किन्तु यदि *गुणसमुदायो द्रव्यम्* सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है तो इस प्रकार के भाव को द्रव्य कैसे स्वीकार किया जा सकेगा । अतः वैयाकरणों को द्रव्य की अपनी परिभाषा बनानी पड़ती है, जिसे वे सांव्यवहारिक द्रव्य की परिभाषा कहते हैं[99] जिसे भर्तृहरि ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है- '*वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितम्*'।[100]

3.2.2 मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने वैयाकरणों के द्वारा परिभाषित द्रव्यलक्षण को ही समुचित मानकर न्याय-वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित द्रव्यलक्षण का खण्डन किया है।[101] उनका कहना है कि यदि तार्किकों का द्रव्यलक्षण स्वीकार किया जाएगा तो 'चं पठ' इस वाक्यघटक 'च' को द्रव्य नहीं मानने से 'चादयोऽसत्त्वे' इस सूत्र से निपात-संज्ञा हो जाने से अव्यय संज्ञा होकर सुप् का लुक् हो जाएगा तब 'चम्' ऐसा द्वितीयान्त रूप नहीं बन सकेगा।[102] यदि तार्किक यह कहें कि यहाँ पारिभाषिक द्रव्यत्व है तो यही पारिभाषिक द्रव्यत्व ही वे सब जगह मान लें। तार्किकों द्वारा परिभाषित द्रव्यत्व मानने की क्या आवश्यकता है ?[103] यदि तार्किक यह कहते हैं कि द्रव्यों में ही संयोग होता है, ऐसा निरूपण करने के लिए द्रव्य को तार्किकों द्वारा परिभाषित किया जाना उचित है, तो यह वे गुणाश्रयों में संयोग होता है, ऐसा भी कह सकते हैं।[104] इसलिए वैयाकरणों द्वारा परिभाषित 'वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितम्' द्रव्यत्व ही स्वीकार करना चाहिए या 'लिङ्गसङ्ख्यान्वितं द्रव्यम्' यही द्रव्यत्व मानना चाहिए। यही द्रव्यत्व धात्वर्थ अव्ययार्थ से अतिरिक्त सातों पदार्थों में है। इस प्रकार मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने वैयाकरणों के पारिभाषिक

द्रव्यलक्षण को ही समुचित मानकर उसे स्वीकार कर लेने का प्रस्ताव किया है।[105]

3.2.3 मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने द्रव्यत्व जाति का भी खण्डन किया है। ग्रन्थकार का कथन है कि जिस प्रकार सुखजनक कार्य के प्रति धर्म की तथा दुःखजनक कार्य के प्रति अधर्म की कारणता आवश्यक होने पर भी तार्किकों द्वारा कार्यसामान्य के प्रति अदृष्ट को कारण नहीं माना जाता है[106] उसी प्रकार गन्धादि कार्य के प्रति पृथिव्यादि की कारणता होने पर भी कार्य-सामान्य के प्रति द्रव्यत्वेन द्रव्य की कारणता मानना उचित नहीं है।[107]

3.3 न्याय-वैशेषिक दर्शन में द्रव्यविशेष–विचार

3.3.1 न्याय-वैशेषिक दर्शन में द्रव्य की संख्या नौ स्वीकार की गयी है- पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा तथा मन[108]। इन नौ द्रव्यों को प्रथमतः नित्य एवं अनित्य इन दो वर्गों में रखा जा सकता है। आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन एवं पृथिवी, जल, तेज तथा वायु के परमाणु - ये नित्य द्रव्य हैं। पृथिवी, जल, तेज, एवं वायु के द्व्यणुक से लेकर महत् पर्यन्त कार्य अनित्य है।[109] उक्त नौ द्रव्यों में से पहले पाँच द्रव्यों - पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं आकाश का भूतत्व साधर्म्य हैं। ये भौतिक या भूतद्रव्य कहे जाते हैं।[110] भूत द्रव्य का अभिप्राय है कि ये पाँचो भूत द्रव्य किसी न किसी वाह्य इन्द्रियों के द्वारा अपने-अपने विशेष गुण को ग्रहण कराते हैं।[111] उक्त नव द्रव्यों में पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मन पाँच द्रव्य मूर्त द्रव्य हैं, जो परापरत्व, क्रिया तथा वेग के आश्रय हैं।[112] मूर्तद्रव्य का तात्पर्य सीमित परिमाण वाला होना तथा क्रियावान् होना है।[113] इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार भूतद्रव्य बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य होते हैं तथा अकेले या अन्य द्रव्यों के साथ मिलकर संसार के कार्यों के उपादान कारण बनते है, जबकि मूर्त द्रव्य सीमित परिमाण वाले होते हैं तथा सक्रिय होते हैं। आकाश बाह्येन्द्रिय ग्राह्य होने से तथा श्रोत्रेन्द्रिय का उपादान होने के कारण भूत द्रव्य तो है, परन्तु क्रियारहित होने के कारण वह मूर्त नहीं है। जबकि मन अणुपरिमाणक होने के कारण एवं क्रियावान् होने के कारण मूर्त द्रव्य है, किन्तु बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य न होने के कारण भूत द्रव्य नहीं है। आकाश, काल, दिशा तथा आत्मा ये चारों द्रव्य सर्वव्यापक हैं, परम महत् है तथा सभी संयोगिद्रव्यों के समानदेशीय हैं।[114] विभु होना अर्थात् सभी मूर्त द्रव्यों से संयोगी होना है।[115] आकाश, काल तथा दिशा एक एक ही हैं।[116] न्याय वैशेषिक मत में आत्मा अनेक हैं।[117] प्रत्येक आत्मा विभु है।[118] आकाश, काल तथा दिशा तथा आत्मा निष्क्रिय द्रव्य है[119] जबकि पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं मन ये पाँचों द्रव्य क्रियाशील हैं।[120]

3.3.2 न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार नौ द्रव्य ही स्वीकार्य हैं। उससे कम या अधिक नहीं।[121] तम के द्रव्यत्व का न्यायवैशेषिक मत में खण्डन किया गया है।[122] किन्तु रघुनाथ शिरोमणि ने पदार्थतत्त्वनिरूपणम् में वैशेषिक पदार्थों की संख्या में संशोधन किया है[123] जो स्वयं न्याय-वैशेषिक परम्परा के ही उद्भट विद्वान् हैं। रघुनाथ शिरोमणि ने आकाश, काल और दिशा को भिन्न-भिन्न मानने की अपेक्षा एक और ईश्वर से अभिन्न माना है।[124] उनका मत है कि ईश्वर से ही उन सब कार्यविशेषों की उपपत्ति हो जाती है, जो दिशा एवं काल से सिद्ध किए जाते हैं। इसके साथ ही रघुनाथ शिरोमणि ने मन को भी असमवेत भूत कहकर उसे पृथक् द्रव्य न मानने में ही अपना अभिमत व्यक्त किया है।[125] इस प्रकार उनके मत में पृथिवी, जल, तेज, वायु, और आत्मा ये पाँच द्रव्य ही मान्य हैं। किन्तु रघुनाथ शिरोमणि के मत को न्यायवैशेषिक दर्शन

में पूर्ण मान्यता प्राप्त न होने के कारण न्याय-वैशेषिक दर्शन आज तक नव द्रव्य ही स्वीकार करता आ रहा है।

3.3.3 न्याय-वैशेषिक दर्शन में उष्ण स्पर्श वाला तथा भास्वर शुक्ल रूप वाला द्रव्य तेज है।[126] इसके अतिरिक्त तेज में नौ अन्य गुण माने गए हैं। इस प्रकार तेज में कुल ग्यारह गुण होते हैं- रूप - भास्वर शुक्ल, स्पर्श- उष्ण, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व- नैमित्तिक और संस्कार।[127] भास्वर शुक्लरूप एवं उष्णस्पर्श अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाए जाते। इस प्रकार तेज का रूप केवल भास्वर शुक्ल है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार तेज में अन्य रूप जैसे रक्त पीतादि की प्रतीति वास्तविक नहीं है। यह प्रतीति पार्थिव या जलीय तत्त्वों के संयोग से उसमें उत्पन्न होती है। उष्ण स्पर्श तेज का स्वाभाविक गुण है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में तेज द्रव्य वैशेषिक दर्शन में दो प्रकार का माना गया है- परमाणु रूप में यह तेज नित्य है तथा कार्यरूप में अनित्य।[128] इनमें से भी कार्यरूप या अनित्य तेज पुनः त्रिविध कहा गया है- तैजस शरीर, तैजस इन्द्रिय तथा तैजस विषय। तैजस शरीर सूर्यलोक में पाया जाता है।[129] तैजस इन्द्रिय चक्षु है।[130] तैजस विषय चार प्रकार का माना गया है- भौम, दिव्य, उदर्य तथा आकरज।[131] भूमि में इन्धन से उत्पन्न होने वाला तेज भौम तेज है।[132] द्युलोक में जलीय इन्धन से पाया जाना वाला या अन्य तेज दिव्य तेज है जैसे विद्युत्, सूर्य का तेज तथा वडवानल आदि।[133] उदर्य तेज शरीर में पाया जाता है, जो खाये-पिये पदार्थ को पचाकर रस में परिणत कर देता है।[134] आकरज तेज वह हैं जो आकर अर्थात् खान से उत्पन्न होता है।

3.3.4 न्यायवैशेषिक दर्शन के अनुसार सुवर्ण रजतादि धातुएँ तैजस मानी गयी हैं। इन्हें आकरज तेज की श्रेणी में रखा जाता है।[135] किन्तु सुवर्णादि को तैजस द्रव्य मानना विवादास्पद रहा है। मीमांसकों ने सुवर्णादि धातुओं को तैजस द्रव्य न मानकर पार्थिव द्रव्य ही माना है। न्याय-वैशेषिक परम्परा में सुवर्णादि को तैजस सिद्ध करने के लिए पर्याप्त शास्त्रार्थ किया गया है।[136]

3.3.5 न्याय-वैशेषिक दर्शन में मन को एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। इन दर्शनों के अनुसार मन सुख दुःखादि आन्तरिक अनुभवों का कारण होने के साथ ही अन्य इन्द्रियों के बाह्य प्रत्यक्ष में भी सहायक स्वीकार किया गया है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक मत में मन सभी प्रकार के ज्ञान का हेतु है।[137] मन की सिद्धि में न्याय-वैशेषिक दर्शन के आचार्यों ने अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। महर्षि कणाद के अनुसार आत्मेन्द्रिय सन्निकर्ष के होने पर भी ज्ञान के कदाचित् होने तथा न होने से यह सिद्ध होता है कि वह मन ही है, जिसके आत्मा के साथ संयोग होने पर ज्ञान होता है।[138] महर्षि गौतम ने युगपत् ज्ञान की अनुत्पत्ति के तर्क द्वारा मन की सिद्धि की है।[139] इसका अभिप्राय है कि हमारे ज्ञान सदैव क्रमशः ही होते हैं, युगपत् नहीं। अतः इसी से सिद्ध होता है कि जो ज्ञान हमारे दैनिक अनुभव के विषय हैं, उनकी क्रमिकता का हेतु एक ऐसा अणुपरिमाण वाला साधन है, जो इन्द्रियों के साथ एक काल में केवल एक विषय को संयुक्त करे। न्याय-वैशेषिक मत में आत्मा विभु द्रव्य माना गया है। अतः उसका सभी इन्द्रियों के साथ एक ही काल में सम्बन्ध रहता है। इन्द्रियाँ भी अपने-अपने समीपस्थ विषयों के साथ एक ही काल में संयुक्त रहती हैं। तथापि जिस समय एक ज्ञान उत्पन्न होता है उसी समय दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु उस ज्ञान के नाश हो जाने पर ही दूसरे ज्ञान या सुखादि की उत्पत्ति देखी जाती है। अतः इससे ज्ञान की उत्पत्ति में आत्मा व इन्द्रिय का सन्निकर्ष एवं विषय या इन्द्रिय के सन्निकर्ष के अतिरिक्त भी किसी की अपेक्षा है,

जिसके सन्निधान से दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति होती है एवं जिसके सन्निधान के अभाव में दूसरा ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, वही मन नामक पदार्थ है।[139.1] न्याय-वैशेषिक परम्परा में मन एक स्वतन्त्र द्रव्य है तथा एक इन्द्रिय या करण के रूप में मान्य है। मन के अभाव में बहिरिन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयों का ग्रहण नहीं कर सकती हैं। मन प्रमुखरूपेण दो कार्य करता है - सुखादि का ग्रहण तथा अन्य इन्द्रियों का सहयोग।

3.3.6 न्याय-वैशेषिक परम्परा के ही विद्वान् रघुनाथ शिरोमणि के अनुसार मन एक असमवेत भूतद्रव्य है।[140] न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य अपने समवायिकारण में ही समवेत रहता है, किन्तु रघुनाथ शिरोमणि के अनुसार मन ऐसा सूक्ष्मतम द्रव्य या भूत है, जो किसी अन्य में समवेत नहीं रहता है।

3.4 शब्दार्थतर्कामृतम् में द्रव्यविशेष-विचार

3.4.1 मौनिश्रीकृष्णभट्ट तार्किकों के नव द्रव्य सिद्धान्त का खण्डन करते हैं।[141] मौनिश्रीकृष्णभट्ट के अनुसार पदार्थ दो प्रकार के हैं - द्रव्य तथा अद्रव्य।[141.1] द्रव्य भी दो प्रकार के हैं - वस्तुद्रव्य एवं अवस्तु द्रव्य।[141.2] वस्तु द्रव्य भी दो प्रकार के है - नित्य तथा अनित्य । नित्य आत्मा है। तदतिरिक्त पृथिवी, जल, तेज वायु तथा आकाश अनित्य हैं।[141.3] इस प्रकार वस्तुगत सत्ता के आधार पर द्रव्य-विवेचन किया जाए तो मौनिश्रीकृष्णभट्ट के अनुसार वस्तु द्रव्य नव न होकर पृथिवी जल तेज वायु आकाश तथा आत्मा के भेद से छः प्रकार के होते हैं। मौनिश्रीकृष्ण भट्ट पृथिवी, जल, तेज तथा वायु के नित्यरूप का खण्डन करते है।[142] तार्किकों के अनुसार नव द्रव्यों में दिक् एवं काल एवं मन को पृथक् द्रव्य माना गया है। मौनिश्रीकृष्ण भट्ट का कथन है कि दिक् एवं काल एवं मन वैयाकरणों के अनुसार अतिरिक्त द्रव्य नहीं हैं।[143]

3.4.2 रघुनाथ शिरोमणि ने दिक् और काल को ईश्वर से अतिरिक्त नहीं माना है,[144] मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने रघुनाथ शिरोमणि के इस कथन - दिक् एवं काल ईश्वररूप हैं, की भी आलोचना की है।[145] मौनिश्रीकृष्णभट्ट का कथन है कि ईश्वर तो चेतन है, जबकि तार्किक मत में दिक् एवं काल अचेतन हैं। ऐसी स्थिति में चेतन ईश्वर से दिक् तथा काल का तादात्म्य कैसे हो सकता है।[146] जो तार्किक ऐसा मानते हैं उन्हें सभी पदार्थों का ईश्वर से तादात्म्य मानना होगा। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस सिद्धान्त की दृष्टि से तो सब कुछ ब्रह्म ही है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह सिद्धान्त अपनी जगह है, जिसे तार्किक स्वीकार नहीं कर सकते हैं।[147]

3.4.3 तार्किक सिद्धान्त के अनुसार आकाश को नित्य माना गया है, किन्तु मौनिश्रीकृष्णभट्ट का कथन है कि आकाश को नित्य मानना श्रुतिविरुद्ध है।[148] यदि तार्किक 'एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः' इस श्रुति के 'सम्भूतः' इस पद का अर्थ 'आविर्भूतः' करके आकाश के नित्यत्व को श्रुत्यनुमोदित ही सिद्ध करना चाहते हैं तो इस रीति से तो पृथिव्यादि की भी नित्यतापत्ति होने लगेगी।[149]

3.4.4 मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने आत्मा के विषय में भी तार्किक सिद्धान्त की आलोचना की है।[150] मौनिश्रीकृष्ण भट्ट ने प्रथमतः तार्किक मत में आत्मा के स्वरूप पर चर्चा करते हुए कहा कि तार्किकों के अनुसार आत्मत्व जाति वाला आत्मा है। सुख का समवायि कारण आत्मा है, अतः तार्किक सुख के समवायिकारणता के अवच्छेदक के रूप में आत्मत्व जाति की सिद्धि करते हैं। तार्किकों के अनुसार ईश्वर आत्मा में अदृष्टादि सहकारिकारण नहीं होने से सुखादि की आपत्ति नहीं है। यह आत्मा जीव ईश्वर के भेद से दो प्रकार का है। जीवात्मा अनन्त हैं। ईश्वर एक है। दोनों प्रकार के आत्मा नित्य एवं विभु हैं। तार्किकों

ने ईश्वर की सत्ता में अनुमान प्रमाण का सहारा लिया है।[151] उक्त प्रकार से तार्किकों के मत में आत्मा की चर्चा करने के उपरान्त मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने आत्मा के विषय में अन्य विभिन्न मत-मतान्तरों की चर्चा करते हुए यह प्रतिपादित किया कि कुछ दार्शनिकों के अनुसार आत्मत्व जाति नहीं है। क्योंकि आत्मत्व एक में रहने वाला धर्म है। तार्किकों के अनुसार जाति तो अनेक में रहने वाला धर्म होता है। यदि तार्किक यह कहें कि उपाधि-भेद से आत्मा के भेद हैं तो यह भी तार्किक सिद्धान्त के विरुद्ध है। क्योंकि तार्किक उपाधि-भेद से आकाश का भेद घटाकाश, मठाकाश आदि मानकर आकाश में आकाशत्व जाति की कल्पना नहीं करते हैं। आत्मा एक है इस सन्दर्भ में मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने श्रुति को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। माया उपाधि के कारण एक ही आत्मा में भेदप्रतीति होती है। यदि आत्मा का वस्तुतः भेद स्वीकार कर लिया जाएगा तो 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिवाक्य, जो अभेदार्थक हैं, का विरोध होने लगेगा। यदि इस सन्दर्भ में यह कहा जाए कि 'तत्त्वम्' पद में 'तस्य त्वम्' ऐसा षष्ठी समास मानने से विरोध नहीं होगा तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार का विद्वदनुभव से विरोध होगा। यदि 'अहं ब्रह्मास्मि' इस कथन में 'ब्रह्म' पद में षष्ठी विभक्ति का 'सुपां सुलुक्' से लुक् मानकर भेद-प्रतिपादन किया जा सकता है - ऐसा कहते हैं, तो वह भी उचित नहीं है। क्योंकि यदि सामानाधिकरण्य सम्भव हो तो वैयधिकरण्य मानना उचित नहीं है। इस प्रकार मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने विस्तार से आत्मा के स्वरूप के सन्दर्भ में तार्किक मत का खण्डन किया है तथा आत्मा के सन्दर्भ में वेदान्त-मत का निरूपण किया है। प्रायः आत्मा के सन्दर्भ में वैयाकरणों का सिद्धान्त भी अद्वयसिद्धान्त जैसा ही है। मौनिश्रीकृष्ण भट्ट ने आत्मा के सन्दर्भ में शाब्दिकों के मत को 'शाब्दिकास्तु' इस शब्द से उल्लेख नहीं किया है, जैसा वे प्रायः अन्य विषयों के निरूपण में करते हैं। आत्मा के सन्दर्भ ग्रन्थकार ने अन्य विभिन्न मतों की भी चर्चा की है। [151.1]

3.4.5 न्याय-वैशेषिक दर्शन में मन को पृथक् द्रव्य माना गया है। मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने मन के सन्दर्भ में तार्किकों के इस मत का खण्डन किया है कि मन अतिरिक्त द्रव्य है।[152] वे कहते हैं कि वैयाकरणों के अनुसार मन अतिरिक्त द्रव्य नहीं है, अपितु पृथिव्यादि के सात्त्विक अंश से उत्पन्न इन्द्रिय ही मन है। जिस प्रकार बाह्येन्द्रियाँ पाञ्चभौतिक हैं, उसी प्रकार ही मन भी है।[153] केवल अन्तर इतना है कि पृथिवी इत्यादि बाह्येन्द्रियाँ अलग-अलग तत्त्वों से उत्पन्न हैं किन्तु मन सभी पञ्चभूतों के सात्त्विक अंशों से उत्पन्न है। अतः मन को पृथक् द्रव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।[154]

3.4.6 मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने द्रव्य पर चिन्तन करते हुए तार्किकों के इस सिद्धान्त का कि सुवर्ण तैजस द्रव्य है तथा हीरा पार्थिव द्रव्य है, का खण्डन किया है।[155] तार्किकों ने सुवर्ण को तैजस तत्त्व सिद्ध करने के लिए अनुमान का प्रयोग किया है, जिसका उल्लेख मौनिश्रीकृष्ण भट्ट करते हैं। अनुमान का आकार है- सुवर्ण तैजस है अत्यन्त अनल संयोग के होने पर अनुच्छिद्यमान द्रवत्व के कारण। जो ऐसा नहीं है वह तैजस नहीं है, जैसे घृतादि।[156] सुवर्ण यदि तैजस द्रव्य है तो उसमें उष्ण स्पर्श क्यों नहीं मिलता है? इस प्रश्न का उत्तर तार्किकों अनुसार देते हुए श्रीकृष्णभट्ट कहते हैं कि सुवर्ण में पार्थव तत्त्व अधिकता से मिले रहते हैं। अतः पार्थिव अंश से तैजस अंश अभिभूत होने के कारण सुवर्ण में उष्णस्पर्श प्रतीति का विषय नहीं हो पाता है।[156.1] तार्किकों के विपरीत मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने वैयाकरणों के अनुसार सुवर्ण के पार्थिव द्रव्यत्व तथा हीरक के तैजस द्रव्यत्व का प्रतिपादन किया है।[156.2] सुवर्ण के पार्थिव द्रव्यत्व के पक्ष में मौनिश्रीकृष्णभट्ट के द्वारा प्रस्तुत अनुमान का आकार इस प्रकार हैं - सुवर्ण पार्थिव है, क्योंकि पीतरूप तथा गुरुत्व का आश्रय है, जैसे हल्दी। सुवर्ण में नैमित्तिकद्रवत्व है, जैसे घृत में होता है।[157] यदि यह आशंका

की जाए कि यदि सुवर्ण पार्थिव द्रव्य है तो उसमें गन्ध की उपलब्धि क्यों नहीं होती है तो इसका उत्तर मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने यह दिया है कि सुवर्ण में गन्ध अभिभूत होने के कारण उपलब्ध नहीं होता है।[158] इसके साथ ही मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने हीरे को वैयाकरणों के अनुसार तैजस तत्त्व स्वीकार किया है। हीरे के तैजसत्व की सिद्धि के लिए इन्होंने जिस अनुमान का सहारा लिया है उसका स्वरूप इस प्रकार है- हीरा तैजस है, कठिन होता हुआ लौहलेख्य होने के कारण। जो ऐसा नहीं है, वह तैजस नहीं है जैसे पृथिवी। या शुक्लभास्वररूप वाला होने के कारण भी हीरे के तैजसत्व को सिद्ध किया जा सकता है।[159] यहाँ तार्किकों की ओर से यह आशङ्का की जा सकती है कि तेज में कठिनता तो होती नहीं है, फिर हीरे में कठिनता होने से उसे तैजस कैसे माना जा सकता है ? इसके उत्तर में मौनिश्रीकृष्णभट्ट का कथन है कि जिस प्रकार तार्किकों के मत में तेज में नैमित्तिकद्रवत्व अप्रसिद्ध है, फिर भी तार्किकों ने सुवर्ण को तैजस माना है, वैसे ही हीरे में कठिनता होने पर भी उसे हमने तैजस स्वीकार किया है। हीरक में अन्वय दृष्टान्त उपलब्ध होने से हीरे का तैजसत्व साधक अनुमान प्रबल है, जबकि सुवर्ण के तैजसत्व साधक केवल व्यतिरेकि अनुमान ही है।[160]

3.4.7 तार्किकों ने सगुण कपाल से निर्गुण घटोत्पत्ति का सिद्धान्त स्वीकार किया है। मौनिश्रीकृष्णभट्ट के अनुसार यह भी समुचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से तो वह गुण ही नहीं कहलाएगा। गुणाश्रय न होने से वह द्रव्य ही नहीं कहलाएगा।[161] यदि तार्किक यह कहें कि 'गुणसमानाधिकरणद्रव्यत्वजातिमत्व' ही द्रव्य का लक्षण कर देंगे जिससे उक्त दोष नहीं होगा तो यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में उत्पद्यमान घटादि में द्रव्यत्व की सिद्धि तो तार्किक कथञ्चित् भले ही कर लें, किन्तु ऐसा अनुभव-विरुद्ध है कि सगुण कपाल से निर्गुण घट की उत्पत्ति हो।[162] यदि तार्किक इस सन्दर्भ में अपने कार्य-कारणभाव के सिद्धान्त की दुहाई देते हुए यह कहें कि 'अन्यथासिद्धिशून्यकार्यनियतपूर्ववृत्तित्व'-रूप कारणता होने से घटरूपादि के प्रति घट की कारणता उत्पद्यमान घट को क्षणमात्र के लिए निर्गुण एवं निष्क्रिय माने बिना सम्भव नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा नहीं मानते तो घट में रहने वाले रूप एवं क्रिया के साथ घट उत्पन्न होता है, ऐसा मानना होगा। ऐसी स्थिति में समकाल में उत्पन्न का कार्य-कारणभाव नहीं बन सकेगा। इस पर मौनिश्रीकृष्णभट्ट का कथन है अनुभवविरुद्ध निर्गुणत्व की कल्पना की अपेक्षा अयुतसिद्ध पदार्थों में विशिष्टकारणता की कल्पना करना ही उचित है। अथवा जिस गुण के बिना द्रव्य उपलब्ध ही न हो ऐसे गुण को द्रव्य से अतिरिक्त मानने की आवश्यकता ही नहीं है। वस्तुतः गुण को द्रव्य से पृथक् मानना ही अप्रामाणिक है।[163]

3.4.8 मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने द्रव्य एवं गुण के प्रत्यक्ष के विषय में तार्किकों के सन्निकर्ष सिद्धान्त पर भी आक्षेप किया है। तार्किकों के अनुसार द्रव्य के प्रत्यक्ष में संयोग सन्निकर्ष है, किन्तु गुण के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष है। इस सन्दर्भ में मौनिश्रीकृष्ण भट्ट कहते हैं कि द्रव्य एवं गुण का प्रत्यक्ष क्या स्वार्थ द्रव्य, लिङ्ग, सङ्ख्या तथा कारकों के शाब्द प्रत्यक्ष की तरह ही क्रमशः होता है, या एक साथ ? यदि क्रमशः कहें तो वह अनुभव में नहीं है। तार्किकों के मत में आत्मगुण व्याप्य वृत्ति हैं। अतः गुण के बिना द्रव्य का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। यदि द्रव्य एवं गुण का एक साथ प्रत्यक्ष मानें तो संयुक्तसमवायसन्निकर्ष व्यर्थ हो जाता है।[164] यदि तार्किक यह कहें कि द्रव्यों का ही संयोग होता है। अतः संयोग से गुण का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, तो यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि गुणविशिष्ट द्रव्य का संयोगेन प्रत्यक्ष माना जा सकता है। गुणरहित द्रव्य का तो संयोग भी नहीं होता है।[165] इस प्रकार मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने तार्किकों के द्रव्य के प्रत्यक्ष के प्रति संयोग सन्निकर्ष तथा गुण के प्रति संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष सिद्धान्त का खण्डन किया है।

4. गुणविचार

4.1 न्याय-वैशेषिक दर्शन में गुणविचार

4.1.1 न्याय-वैशेषिक दर्शन में धर्म एवं धर्मी या गुण तथा गुणी का भेद मूल सिद्धान्तों में अन्यतम है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार गुणों का द्रव्य से पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व है। घट के रूपादि गुण घट से सर्वथा भिन्न हैं। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार हमारे सामान्य अनुभव में रूप-रसादि गुणों का ही इन्द्रियों से ग्रहण होता हैं, उन गुणों का आश्रय, द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः अनुभव को ही प्रमाण मानकर वे यह सिद्धान्त स्थिर करते हैं कि केवल गुण ही वास्तविक हैं, इनसे पृथक् कोई आश्रय द्रव्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि हमें द्रव्य एवं उसके धर्मों की अनुभूति सदा एक साथ ही होती है, अतः उन दोनों को तादात्म्य या अभिन्न मानना चाहिए।[166] किन्तु न्याय-वैशेषिक दर्शन में इस मान्यता का खण्डन कर यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि द्रव्य तथा उसके गुण अभिन्न नहीं हो सकते हैं।[167]

4.1.2 न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार गुण में गुणत्व जाति रहती है।[168] किन्तु रूप-रसादि गुण तो प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध ही हैं, किन्तु उनमें रहने वाली गुणत्व जाति की सिद्धि न्याय-वैशेषिक दर्शन कैसे करते हैं, यह विचारणीय है। श्रीधराचार्य ने गुणत्व जाति को प्रत्यक्षसिद्ध माना है। उनका कथन है कि उपदेश के द्वारा प्रत्यक्ष से ही रत्नों का रत्नत्व गृहीत होता है, उसी भांति उक्त प्रकार के प्रत्यक्ष से ही गुणत्व का भी ग्रहण होता है।[169] न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में गुणत्व जाति को सिद्ध करते हुए यह प्रतिपादित किया गया कि द्रव्य और कर्म से भिन्न सामान्ययुक्त पदार्थ की जो कारणता है वह भी किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्न है, क्योंकि निरवच्छिन्न कारणता नहीं होती। अतः चौबीस गुणों में अनुगत कोई पदार्थ है, वही गुणत्व है, यह सिद्ध हो जाता है।[170] दिनकरीकार के अनुसार यहाँ गुणत्व-सिद्धि का प्रयोजन यह नहीं लेना चाहिए कि गुणत्व का अस्तित्व ही शङ्का का विषय है। अतः गुणत्व जाति की सिद्धि करणीय है। उनके अनुसार रसादि गुणों का प्रत्यक्ष आपामर सभी जनों को होता है, किन्तु उन रूपादि गुणों में विद्यमान द्रव्य एवं कर्म से विलक्षण गुणत्व सामान्य व्यक्ति के लिए असिद्ध है, अतः गुणत्व की सिद्धि की गयी है।[171] रामरुद्रीकार ने भी यह कहा कि गुणत्व जाति रूपादि में संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष से प्रत्यक्षसिद्ध है, किन्तु अतीन्द्रिय रूपादि में वह प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। अतः गुणत्व की सिद्धि में न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार ने उपर्युक्त अनुमान का आश्रय लिया है।[172]

4.1.3 किन्तु रघुनाथ शिरोमणि, जो न्याय-वैशेषिक परम्परा के ही आचार्य हैं, ने यह प्रतिपादन किया कि चौबीस गुणों में प्रत्यक्षसिद्ध गुणत्व नाम की कोई जाति नहीं है। इसकी सिद्धि के लिए अनुमान का कोई प्रयोजन नहीं है।[173] पदार्थमण्डनम् के रचयिता वेणीदत्त की सम्मति भी इसी में है।[174]

4.1.4 यद्यपि कणाद के वैशेषिक सूत्रों में सत्रह गुणों का ही उल्लेख मिलता है,[175] किन्तु प्रशस्तपाद एवं उनके बाद के आचार्यों ने स्पष्ट रूप से चौबीस गुणों का उल्लेख किया है,[176] जो इस प्रकार हैं- रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिक द्रवत्व, वेग-संस्कार, स्थितिस्थापक-संस्कार।

4.1.5 न्याय-वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थों में रूप को चक्षुरन्द्रियग्राहय गुण कहा गया है।[177] न्याय-

वैशेषिक दर्शन में रूप अनेक प्रकार का कहा गया है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के प्राचीन ग्रन्थों में रूपों के प्रकार की संख्या का स्पष्ट उल्लेख न कर उसे अनेक प्रकार का कह दिया गया है,[178] किन्तु बाद के ग्रन्थों जैसे तर्कसंग्रह[179] एवं न्यायसिद्धान्तमुक्तावली[180] में रूप के सात प्रकार - शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश एवं चित्र, बताए गए हैं। चित्ररूप के विषय में न्याय-वैशेषिक दर्शन में यह विचार पूर्वपक्ष के रूप में आता रहा है कि चित्ररूप नामक एक पृथक् भेद मानने की अपेक्षा चित्र को उक्त छह प्रकार के रूपों का मिश्रण ही क्यों न मान लिया जाए, क्योंकि अवयवों के विरुद्ध जाति वाले अनेक रूपों से अवयविद्रव्य में एक रूप की उत्पत्ति नहीं हो सकती । अन्नंभट्ट ने पूर्वपक्षी के उक्त आक्षेप का समाधान करते हुए यह कहा कि रूप व्याप्यवृत्ति गुण है। अर्थात् यह अपने आश्रय के सम्पूर्ण प्रदेश को व्याप्त करके स्थित रहता है, अतः एक ही पट में अनेकविध पृथक्-पृथक् रूप नहीं रह सकते। न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार किसी भी द्रव्य के प्रत्यक्षत्व हेतु रूपवत्त्व एक अनिवार्य दशा है तथा अवयवों का पृथक्-पृथक् रूप अवयवी को रूपवान् नहीं बना सकता। अतः पट के प्रत्यक्षत्व की उपपत्ति के लिए चित्ररूप को स्वीकार करना अनिवार्य है।[181] अन्य अनेक ग्रन्थकारों ने भी चित्ररूप स्वीकार करने में यही युक्ति दी है।[182]

4.2 शब्दार्थतर्कामृतम् में गुणविचार

4.2.1 मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने तार्किकों के अनुसार गुण का निरूपण कर उसका खण्डन किया है। तार्किकों के अनुसार गुणत्वजाति वाला गुण है। गुणत्व जाति रूपादि में 'यह गुण है' इस प्रकार के प्रत्यक्ष से सिद्ध है।[183] अन्य तार्किकों के अनुसार द्रव्य कर्म से भिन्न में रहने वाली कारणता के अवच्छेदक के रूप में गुणत्व जाति की सिद्धि होती है।[184] मौनिश्रीकृष्णभट्ट का कथन है कि गुणत्व जाति नहीं है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है।[185] रूप-रसादि में 'यह गुण है' ऐसा प्रत्यक्ष साधारणजन को तो होता नहीं है, जिससे गुणत्व जाति की सिद्धि की जा सके।[186] न ही द्रव्य एवं कर्म से भिन्न में रहने वाली कारणता के अवच्छेदक के रूप में गुणत्व जाति की सिद्धि की जा सकती है। ऐसा मानने पर तो द्रव्यकर्मोभय साधारण जाति की सिद्धि होने लगेगी।[187] अतः सङ्केतविशेषसम्बन्ध से गुणशब्दवत्त्व ही गुणत्व है, ऐसा मानना चाहिए।[188] अथवा द्रव्य भिन्न होता हुआ द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला कृतिसाध्यत्वासाध्यत्वोभयत्व ही गुणत्व है, ऐसा माना जा सकता है।[189] मौनिश्रीकृष्ण भट्ट इस प्रकार के गुण लक्षण को 'वोतो गुणवचनात्' सूत्र के भाष्य में पठित '*सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग् जातिषु दृश्यते। आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुण*' इस भाष्यकारिका से ध्वनित मानते हैं।[190] तार्किकों के ने पृथक्त्व को गुण माना है, जबकि मौनिश्रीकृष्णभट्ट पृथक्त्व को इतरार्थक ही मानते हैं तथा इसके गुणत्व का खण्डन करते हैं।[191]

4.2.2 मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने तार्किकों के द्वारा प्रतिपादित चित्र रूप को अतिरिक्त रूप में स्वीकार करने की भी आलोचना की है।[192] तार्किकों के अनुसार अनेकजातीयरूप वाले अवयवों से आरब्ध घटादि में अतिरिक्त चित्ररूप मानना चाहिए, अन्यथा रूप की व्याप्यवृत्तिता होने से घटादि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा।[193] इस सन्दर्भ में मौनिश्रीकृष्णभट्ट कहते हैं कि वैयाकरणों के अनुसार चित्र रूप अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि इसे अतिरिक्त मानने में कोई प्रमाण नहीं है।[194] यदि तार्किकों के पक्ष से यह कहा जाए कि रूप व्याप्यवृत्ति है। अतः घटादि के प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति ही चित्ररूप को अतिरिक्त मानने में प्रमाण है, तो यह कहना भी समुचित नहीं है, क्योंकि रूप के व्याप्यवृत्ति होने में ही प्रमाण नहीं है, जबकि इसके विपरीत

रूप के अव्याप्यवृत्ति होने में स्मृतिवचन प्रमाण है- 'लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः। श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते।।' इस प्रकार रूप के अव्याप्यवृत्ति होने से प्रत्यक्ष के अनुपपत्ति का दोष नहीं है।[195] चित्ररूप के खण्डन में मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने और भी विस्तृत चर्चा की है।[196]

5. कर्मविचार

5.1 न्याय-वैशेषिक दर्शन में कर्मविचार

5.1.1 न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार कर्म शब्द का अर्थ क्रिया है। महर्षि कणाद ने कर्म का लक्षण करते हुए यह कहा कि एक ही द्रव्य में आश्रित, निर्गुण तथा संयोग और विभाग की उत्पत्ति में जो निरपेक्ष कारण हो वही कर्म पदार्थ है।[197] कर्म द्रव्य की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में अन्यतम है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में द्रव्यों में परिवर्तन या गति का कारण कर्म पदार्थ माना गया है। कर्म कोई एक क्रिया नहीं है, अपितु तीन क्षणिक प्रक्रियाओं का समुदाय है। प्रथमतः किसी एक निश्चित स्थान से किसी वस्तु का विभाग होता है। तदनन्तर उस वस्तु का जिसमें क्रिया हो रही है, उस स्थान से संयोग का विनाश होता है। इसके बाद अन्य स्थान पर उस वस्तु का संयोग उत्पन्न होता है। इस प्रकार कर्म केवल पाँच क्षण तक रहने वाला ही होता है, किन्तु उसमें भी प्रथम क्षण उस वस्तु की उत्पत्ति का होता है तथा पाँचवा क्षण उसके विनाश का होता है। इस प्रकार उसकी वास्तविक स्थिति केवल तीन क्षणों के बीच ही रहती है। प्रथम क्षण कर्म की उत्पत्ति, द्वितीय क्षण विभाग, तृतीय क्षण पूर्वदेशसंयोगनाश, चतुर्थ क्षण उत्तरदेशसंयोगोत्पत्ति, पञ्चम क्षण उसी उत्तरयोग से कर्म का नाश । इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार विभाग के प्रत्यक्ष एवं स्वतन्त्र कारण के रूप में कर्म को माना गया है।[198] कर्म के द्वारा उत्पन्न होने वाले विभाग से पूर्वसंयोग का नाश तथा उत्तरसंयोग की उत्पत्ति ही कर्म का प्रयोजन है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन में उक्त पाँचो प्रक्रियाओं में से क्रिया की उत्पत्ति से लेकर विनाश तक होने वाली एक प्रक्रिया को ही क्षणविभाजक उपाधि माना गया है और क्षण कालद्रव्य का सूक्ष्मतम अंश है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार कर्म की सत्ता प्रत्यक्षसिद्ध है। विभिन्न व्यष्टि की चलन क्रिया में कर्मत्व जाति अनुगतसिद्ध है।[199] कर्म, द्रव्य एवं गुण आदि से पृथक् एक सत् पदार्थ है। प्रत्यक्ष करने योग्य द्रव्यों में कर्म का प्रत्यक्ष होता है। न्याय-वैशेषिक दर्शनाभिमत कर्म पदार्थ की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ इस प्रकार हैं - सभी प्रकार के कर्म कर्मत्व जाति से सम्बद्ध हैं।[200] एक समय में एक द्रव्य में एक ही क्रिया रह सकती है।[201] अर्थात् एक काल में अनेक वस्तुएँ गतिशील हो सकती हैं, किन्तु उनमें रहने वाली गति क्रिया संख्या में एक नहीं, अपितु भिन्न-भिन्न है।[202] कर्म की उत्पत्ति यद्यपि गुरुत्व, द्रवत्व, प्रयत्न और संयोग गुणों में किसी से होती है किन्तु कर्म में कोई गुण नहीं पाया जाता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार कर्म गुण रहित होता है।[203] कर्म पदार्थ ही संयोग, विभाग तथा वेगसंस्कार का कारण है।[204] कर्म संयोगरूप अपने कार्य से ही नष्ट भी होता है। एक कर्म से दूसरा कर्म उत्पन्न नहीं होता है।[205] कर्म पदार्थ द्रव्यों का भी कारण नहीं होता है। उत्तरसंयोग को उत्पन्न कर क्रिया की निवृत्ति हो जाने पर द्रव्य उत्पन्न नहीं होता है। कर्म की वास्तविक स्थिति तीन, चार क्षणों तक ही होती है। कर्म केवल मूर्त द्रव्यों में पाया जाता है।[206] विभु द्रव्यों में कर्म नहीं पाया जाता है।

5.1.2 न्याय-वैशेषिक दर्शन की मान्यता के अनुसार क्रिया सदा किसी न किसी दिशा में होती

है। अतः दिशा के आधार पर न्याय-वैशेषिक दर्शन में कर्म को पाँच प्रकार का कहा गया है- उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन।[206.1]

5.2 शब्दार्थतर्कामृतम् में कर्मविचार

5.2.1 मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने तार्किकों के कर्मविषयिणी अवधारणा का भी खण्डन किया है।[207] मौनिश्रीकृष्णभट्ट का कथन है कि कर्मत्व पदार्थविभाजक उपाधि नहीं है, क्योंकि वह धात्वर्थतावच्छेदकफलशाली कर्म का भी वाचक है। अतः कर्मत्व से कौन सा कर्मत्व ग्राह्य होगा यह संशयग्रस्त हो जाता है।[208] दूसरी बात यह है कि कर्मत्व जाति नहीं है, क्योंकि क्रियात्व से उसका साङ्कर्य हो जाता है। जैसे 'घटं पश्यसि' में घट में कर्मत्व है। कर्मत्व के अभावाधिकरण में अर्थात् जहाँ कर्मत्व नहीं हैं, वहाँ क्रियात्व है, जैसे 'इच्छति' में। कर्मत्व तथा क्रियात्व ये दोनों ही एकत्र भी हैं, जैसे 'पश्य मृगो धावति' यहाँ 'धावति' में क्रियात्व भी है तथा दर्शनक्रियानिरूपित कर्मत्व भी है। इस प्रकार परस्पर अत्यन्ताभाव के अधिकरण में रहने वाले धर्मों का एक स्थान पर समावेश रूप साङ्कर्य का लक्षण यहाँ घटित हो रहा है। अतः कर्मत्व को जाति न मानकर क्रियात्व को जाति मानना चाहिए।[209] यह क्रियात्व फल में रहने वाली जन्यता से निरूपित जनकता का आश्रयत्वरूप है।[210] धात्वर्थपरिच्छेदकत्व ही फलत्व है। अथवा जातिविशेष है।[211] अथवा काल में रहने वाली परिच्छेकता से निरूपित परिच्छेदकत्व ही क्रियात्व है। अथवा सङ्केतविशेष सम्बन्ध से क्रियापदवत्त्व ही क्रियात्व है।[211.1]

5.2.2 तार्किकों के द्वारा क्रिया के पाँच प्रकार के कथन की आलोचना करते हुए मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने कहा है कि यदि क्रिया को पाँच प्रकार का माना जाएगा तो 'अस्ति' इत्यादि से वाच्य क्रिया का तार्किकों के द्वारा प्रतिपादित क्रिया में अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।[212] दूसरी बात यह भी है कि तार्किकों ने जैसे भ्रमणादि का गमनादि में अन्तर्भाव किया है वैसे तो उत्क्षेपणादि का भी गमन में अन्तर्भाव कर सकते हैं, क्योंकि उत्क्षेपण भी ऊर्ध्वगमन ही है। अतः तार्किकों के अनुसार भ्रमणादि को गमन कहना तथा उत्क्षेपणादि को अलग कहना भी समुचित नहीं है।[213] इस प्रकार मौनिश्रीकृष्णभट्ट के अनुसार तार्किकों के द्वारा क्रिया के पाँच प्रकार बताना भी युक्तियुक्त नहीं है।

6. सामान्यविचार

6.1 न्यायवैशेषिक दर्शन में सामान्य विचार

6.1.1 न्याय-वैशेषिक दर्शन में सामान्य किसी वर्गविशेष के प्रत्येक व्यक्ति में रहने वाला नित्य धर्म है। उस वर्ग के व्यक्तिविशेष उत्पन्न एवं विनष्ट होते रहते हैं, किन्तु उनमें रहने वाला सामान्य धर्म नष्ट नहीं होता है। उदाहरण के लिए सभी मनुष्यों में पाया जाने वाला मनुष्यत्व एक सामान्यधर्म है। यह मनुष्य की उत्पत्ति से पूर्व एवं उसके विनाश के बाद भी विद्यमान रहता है। इस प्रकार, वैशेषिक दर्शन के अनुसार सामान्य या जाति वह है, जो उस वर्ग के सभी व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से रहता है तथा नित्य है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में सामान्य का मान्य लक्षण है - नित्य होता हुआ अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला है सामान्य है।[214] कुछ आचार्यों ने अनुगतता को भी सामान्य के लक्षण में प्रवेश दिया है।[215] इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शन में सामान्य की तीन महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं - नित्य होना,

अनेकानुगत होना तथा समवाय सम्बन्ध से रहना।

6.1.2 न्याय-वैशेषिक दर्शन में सामान्य को अतिरिक्त पदार्थ के रूप सिद्ध किया गया है। इन दर्शनों के अनुसार किसी के समानरूपेण ज्ञान में जो समानता है उसका आधार सामान्य नामक पदार्थ ही है। जैसे विभिन्न घट व्यक्तियों में यह घट है, 'यह घट है' इस प्रकार के ज्ञान में जो समानता है, वह घटत्व नामक सामान्य पदार्थ के कारण ही है। यही सामान्य पदार्थ जाति कहलाता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में विभिन्न आचार्यों ने सामान्य पदार्थ की सिद्धि के लिए विभिन्न युक्तियाँ दी हैं। न्यायवार्तिककार के द्वारा प्रदत्त प्रमुख युक्तियाँ इस प्रकार हैं- गोत्व एवं अश्वत्वादि की प्रतीति को गोविशेष एवं अश्वविशेष की प्रतीतियों से भिन्न मानना आवश्यक है, क्योंकि उनका अपना-अपना विशेष स्वरूप है। गोत्व-सामान्य को गो-विशेष से भिन्न मानना आवश्यक है, क्योंकि उसका अपना विशिष्ट स्वरूप है, क्योंकि वे भी प्रतीति का विषय बनता है, क्योंकि उसका वाचक 'गोत्व' गो से भिन्न है, क्योंकि उनके लक्षण भी भिन्न भिन्न हैं।[216] इन सभी युक्तियों में का निष्कर्ष यही है कि सामान्य या जाति एक सत् पदार्थ है, जिसकी सत्ता उसके आश्रय से भिन्न है। उदयनाचार्य ने सामान्य पदार्थ की सिद्धि में कारणतायुक्ति का आश्रय लिया है। उनका कथन है कि कारणता का नियम समान एवं अनिवार्य है। यह व्यक्तिविशेष तक सीमित नहीं है, अपितु समानजातीय वस्तुओं में ही रहता है। कारणता की शक्ति व्यक्ति पर आश्रित मानने में स्वरूपयोग्यता या उपादानकारणता की व्याख्या नहीं हो सकेगी, क्योंकि स्वरूपयोग्यता या उपादानकारणता किसी व्यक्तिविशेष में उसकी जाति के कारण ही सम्भव है। यदि जाति को नहीं मानेंगे तो कोई भी कार्य किसी भी कारण से होने लगेगा। अतः कारणकार्य का नियम व्यक्तिविशेषों में रहने वाली जाति पर ही आश्रित होकर कार्यकारी हो सकता है।[217] कन्दलीकार श्रीधराचार्य ने कारण-कार्य के नियम की युक्ति के साथ ही शब्दों के संकेतग्रह में प्रवृत्तिनिमित्त के रूप में भी सामान्य को मानना आवश्यक बताया है।[218] उनका कथन है कि यदि शब्दों के संकेत में प्रवृत्तिनिमित्त के रूप में सामान्य को नहीं माना जाए तो संकेतरूप सम्बन्ध व्यक्ति में नहीं माना जा सकता है, क्योंकि स्वलक्षण व्यक्ति तो क्षणिक है। न तो वह किसी में रहता है, न उसका विकल्प, क्योंकि वह भी क्षणिक है। श्रीधराचार्य ने लोकयात्रा-निर्वाह के लिए भी सामान्य पदार्थ को मानने की आवश्यकता बतायी है। उनका कथन है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में एक आकार की प्रतीति जाति से ही होती है। अतः इसके न मानने पर तो लोकयात्रा का निर्वाह नहीं हो सकता है। अतः सामान्य को अतिरिक्त पदार्थ मानना चाहिए।[219]

6.2 शब्दार्थतर्कामृतम् में सामान्यपदार्थविचार

6.2.1 मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने तार्किकों के द्वारा प्रतिपादित सामान्यपदार्थ का भी खण्डन किया है।[220] इनका कहना है कि वैयाकरणों के अनुसार सामान्य नामक अतिरिक्त पदार्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सामान्य को मानने में कोई प्रमाण नहीं है।[221] जहाँ तक शक्यतावच्छेदक के रूप में भान की बात है - इस सन्दर्भ में मौनिश्रीकृष्णभट्ट का कथन है कि शब्द की दो शक्तियाँ हैं जिसे वाक्यपदीयकार ने ग्राह्यत्व तथा ग्राहकत्व शक्ति के रूप में प्रतिपादित किया है। ग्राह्यत्व शक्ति के कारण शब्द ग्राह्य भी होता है। अतः शब्द का स्वरूप ही उसकी शक्यता का अवच्छेदक माना जा सकता है। इसलिए सामान्य या जाति पदार्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।[222] सामान्य पदार्थ न मानने में वैयाकरणों के सम्मुख कुछ आपत्तियाँ स्वयं प्रस्तुत करते हुए मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने इनका समाधान भी स्वयं किया है।

6.2.2 वैयाकरणों ने घटत्वविशिष्ट में 'घट' पद की शक्ति मानी है। अतः घटत्वादि सामान्य नहीं माननाा तो वैयाकरणों के सिद्धान्त के विरुद्ध है। इस आशङ्का को ध्यान में रखते हुए मौनिश्रीकृष्णभट्ट कहते हैं कि यद्यपि वैयाकरणों ने घटत्वविशिष्ट में 'घट' पद की शक्ति मानी है, फिर भी नवीन वैयाकरणों ने शब्दप्रकारक बोध ही स्वीकार किया है, क्योंकि इसमें लाघव है।[223] मौनिश्रीकृष्णभट्ट का कथन है कि तार्किकों ने भी कहीं- कहीं शब्दप्रकारक बोध स्वीकार किया है।[224] इस प्रकार तार्किकों के मत में कहीं शब्दप्रकारक, कहीं जातिप्रकारक तथा कहीं उपाधिप्रकारक शाब्दबोध स्वीकार किया जाता है, जो अननुगत है।[225] अर्थात् तार्किकों के अनुसार भी सर्वत्र सामान्यप्रकारक बोध स्वीकार नहीं किया गया है। अतः सर्वत्र शब्दप्रकारक बोध स्वीकार किया जा सकता है तो जातिप्रकारक बोध स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। वैयाकरणों के मत में सर्वत्र शब्दप्रकारक बोध स्वीकार करने से होने वाला लाघव स्पष्ट है।[226] इस सन्दर्भ मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने भर्तृहरि के वाक्यपदीय से एक कारिका उद्धृत किया है, जिसमें यह कहा गया है कि सामान्य अर्थात् जाति का तीन प्रकार से कथन होता है। (*सामान्यान्यभिधीयन्ते सत्तावन्तैर्विशेषिता। संज्ञाशब्दैस्स्वरूपं वा प्रत्ययैस्त्वतलादिभिः।*) मौनिश्रीकृष्णभट्ट का कहना है कि भर्तृहरि की उक्त कारिका में पूर्व-पूर्व का उपमर्दन करके उत्तर-उत्तर सिद्धान्त की स्थिति प्रबल है।[227]

6.2.3 वैयाकरणों के शब्दस्वरूप को ही शक्यतावच्छेदक मानने में एक आपत्ति की आशङ्का करते हुए श्रीकृष्णभट्ट कहते हैं कि पर्यायवाचक शब्दों में अनेक शब्द एक अर्थ के वाचक होते हैं। यदि वाचक शब्द को ही शक्यतावच्छेदक माना जाएगा तो पर्याय शब्दों के अनेक होने के कारण शक्यतावच्छेदक के अनेक माने जाने का गौरव दोष होगा।[228] इस विषय में श्रीकृष्णभट्ट का कहना है कि सामान्य को शक्यतावच्छेदक मानने में पर्याय स्थल में शक्ततावच्छेदक को अनेक मानना ही पड़ेगा।[229] एक बात अवश्य है कि वैयाकरण मत में शक्यतावच्छेदक तथा शक्ततावच्छेदक के एक ही होने से लाघव है, जबकि तार्किकों के मत में शक्यतावच्छेदक तथा शक्ततावच्छेक के भिन्न होने से गौरव है।[230] जहाँ तक बात सामान्य पदार्थ को मानने या न मानने की है- इस सन्दर्भ मौनिश्रीकृष्णभट्ट का कहना है कि क्लृप्त से कार्य चल रहा हो तो अतिरिक्त रूप से कल्प्यमान की कल्पना नहीं करना चाहिए।[231] इस प्रकार शब्दस्वरूप तो शक्ततावच्छेदक के रूप में तार्किकों को भी स्वीकार्य है। यदि उसे शक्यतावच्छेदक भी मान लिया जाए तो सामान्य को शक्यतावच्छेदक मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती है।[232]

6.2.4 सामान्य पदार्थ को न मानने में एक आपत्ति हो सकती है कि 'विरूपाणामपि समानार्थानाम्' इस वार्तिक का अर्थ क्या किया जाएगा – विरूप किन्तु समानविशेष्यकों का या समानप्रकारकों का एकशेष होता है ? यदि समानविशेष्यकों का एकशेष कहते हैं तो प्रमेय एवं अभिधेय का एकशेष होने लगेगा, क्योंकि वहाँ भी समानविशेष्य है। यदि समानप्रकारकों का एकशेष कहते हैं तो घट एवं कलश का समानप्रकार न होने से एकशेष नहीं हो सकेगा।[233] इस आपत्ति का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण भट्ट कहते हैं समानविशेष्यक मानने पर जो दोष दिया गया है - प्रमेय एवं अभिधेय का एकशेष होन लगेगा, वह उचित नहीं है। क्योंकि प्रमेय एवं अभिधेय में समान विशेष्यत्व नहीं है। जिस प्रकार घट के रहने पर भी नील घट नहीं है- ऐसा व्यवहार होता है, वैसे ही विशेषण के भेद से विशेष्य का भेद मानकर प्रमेय एवं अभिधेय को समानविशेष्य नहीं कह सकते हैं। क्योंकि दोनों के विशेषण रूप अवच्छेदक शब्द भिन्न हैं। अन्यथा घट एवं कलश की भाँति प्रमेय एवं अभिधेय को तार्किकों को पर्याय मानना पडेगा। इस प्रकार 'विरूपाणामपि समानार्थानाम्' का अर्थ 'समानविशेष्यकाणां' मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है।[234] यदि 'समानप्रकारकाणां' माना जाए

तब भी कोई दोष नहीं है। घट एवं कलश में तुल्यव्यक्तिवृत्तित्वरूप समानप्रकारता होने से यहाँ एकशेष हो जाएगा।[235]

6.2.5 सामान्य पदार्थ नहीं स्वीकार करने पर वैयाकरणों के सम्मुख एक अन्य आपत्ति आएगी कि 'न ब्राह्मणं हन्यात्' इस वाक्य से ब्राह्मण नामक कोई अब्राह्मण भी लिया जा सकता है, क्योंकि वैयाकरणों के मत में सामान्यपदार्थ तो माना नहीं जा रहा है। अतः ब्राह्मणत्वविशिष्ट ब्राह्मण का ग्रहण नहीं होगा , जबकि सामान्य पदार्थ स्वीकार करने पर इस प्रकार का दोष नहीं होता है, क्योंकि अब्राह्मण में ब्राह्मणत्व जाति न होने से ब्राह्मणत्वविशिष्ट नहीं होता है। अतः उसका ग्रहण नहीं होता है।[236] इस आपत्ति का उत्तर देते हुए मौनिश्रीकृष्ण भट्ट कहते हैं कि 'ब्राह्मण' शब्द को ही जातिरूप तथा उपाधिरूप दो प्रकार का मानकर हमारे मत में समाधान हो जाएगा।[237] नित्य होता हुआ वाच्यता सम्बन्ध से अनेकव्यक्तिमात्र में रहने वाला शब्द जाति शब्द है तथा उससे भिन्न शब्द उपाधि शब्द है। इस प्रकार देवदत्त इत्यादि शब्दों मे जाति नहीं होने से 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इस सूत्र से ङीष् नहीं होता है। इस प्रकार जातिपक्ष तथा व्यक्ति पक्ष यह व्यवहार भी बन जाता है। उक्त प्रकार से मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने शब्दों में ही जाति पक्ष तथा व्यक्तिपक्ष सिद्ध करते हुए अर्थ में तार्किकाभिमत सामान्य पदार्थ के खण्डन में आने वाली आपत्तियों को दूर करने का प्रयत्न किया है।[238]

6.2.6 सामान्य पदार्थ नहीं मानने पर एक अन्य आपत्ति आती है कि द्रव्य के प्रत्यक्षस्थल में उसका निरवच्छिन्न प्रत्यक्ष होगा,[239] जिसका समाधान प्रस्तुत करते हुए मौनिश्रीकृष्णभट्ट कहते हैं कि जिस प्रकार तार्किकों के मत में संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से जाति का प्रत्यक्ष माना जाता है वैसे ही हमारे मत में चक्षुःसंयुक्त आकाश में समवाय सम्बन्ध से शब्द होने के कारण इसी सम्बन्ध से शब्द का प्रत्यक्ष हो जाएगा।[240] यहाँ यह आशङ्का हो सकती है कि बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के प्रति रूप कारण है। आकाश में रूप तो है नहीं, अतः आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होने से आकाश में समवेत शब्द का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है।[241] इसका समाधान करते हुए मौनिश्रीकृष्णभट्ट कहते हैं कि जिस प्रकार तार्किक मत में वायु में रूप का अभाव है फिर भी वायु का त्वचा से प्रत्यक्ष माना जाता है, वैसे ही हमारे मत में शब्द का प्रत्यक्ष माना जा सकता है, क्योंकि रूप के प्रत्यक्ष में ही पूर्वोक्त कार्य-कारणभाव आवश्यक है, न कि अन्य किसी के प्रत्यक्ष में।[242] अथवा चक्षुःसंयुक्त शक्तिसन्निकर्ष से शब्द का प्रत्यक्ष मानेंगे[242.1]। अथवा जिस प्रकार 'सुरभि चन्दनम्' इस ज्ञान में चन्दनांश में प्रत्यक्ष तथा सौरभांश में उपनीत भान माना जाता है, उसी प्रकार गृहीतशक्तिक पदों से अर्थविशेष का तथा अर्थ से शब्दविशेष का ज्ञान हो जाएगा।[243] जिस प्रकार 'नल' पद से 'नलपद से वाच्य कोई है' इस प्रकार का पदविशेषणक बोध होता है, उसी प्रकार अर्थ के दर्शन से पदविशेष्यक बोध हो जाएगा। अत एव विशेष जिज्ञासा के सामान्यज्ञानपूर्वक होने के कारण 'इसका नाम क्या है' इस प्रकार के प्रतिवचन उपपन्न होते हैं।[244] इसीलिए यह कहा गया कि कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है जो शब्द से अनुविद्ध न हो। समस्त ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होकर ही भासित होता है। जैसा कि वाक्यपदीय में कहा गया है - '*न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।*' और भी - '*यत् संज्ञास्मरणं तत्र न तदप्यन्यहेतुकम् । पिण्ड एव हि दृष्टः सन् संज्ञां स्मारयितुं क्षमः।*।' इस प्रकार स्मृत शब्द भी अवच्छेदक हो सकता है।[245] अतः तार्किकों की यह आपत्ति कि शब्द को अवच्छेदक मानने में निरवच्छिन्न प्रत्यक्ष ही मानना पड़ेगा - यह दोष भी निराकृत हो जाता है।

6.2.7 सैन्धव शब्द जातिशब्द नहीं है, क्योंकि सैन्धव शब्द अनेक में रहता हुआ भी व्यक्तिमात्र वृत्ति नहीं है। सैन्धव शब्द से अश्वपदवाच्यत्वेन अश्व की उपस्थिति होती है जबकि लवणपदवाच्यत्वेन लवण की उपस्थिति होती है। अतः व्यक्तिमात्र का उपस्थापक नहीं होने से सैन्धव शब्द जाति शब्द नहीं है।[246] नानार्थक का तात्पर्य है - शक्यतावच्छेदक के भिन्न होते हुए शक्ततावच्छेदक का एक होना।[247] यह बात तार्किकों की तरह ही शाब्दिकों के यहाँ भी समान है।[248] अथवा शाब्दिकों के मत में शक्ततावच्छेदक के भिन्न होने पर शक्ततावच्छेदकतावच्छेदकत्व ही नानार्थत्व है।[249] शक्ततावच्छेदक 'अश्व' एवं 'लवण' पद हैं, उसका अवच्छेदक सैन्धव पद हैं। इस प्रकार उक्त नानार्थत्व के लक्षण की संगति हो जाती है।[250] मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने उक्त रीति से नानार्थत्व का प्रतिपादन करने के बाद कहा कि वस्तुतः नानार्थक शब्द होते ही नहीं हैं, क्योंकि एक बार उच्चरित शब्द एक ही अर्थ को बताता है - इस नियम से अश्व एवं लवण के वाचक शब्द भिन्न हैं। आनुपूर्वी की समानता होने से दोंनों के एकत्व का भ्रममात्र होता है।[251]

6.2.8 उक्त प्रकार से सामान्य को पृथक् स्वीकार न करने पर कोई दोष नहीं रह जाता है। सामान्य को स्वीकार करने वाले तार्किकों के मत में दोष का प्रतिपादन करते हुए श्रीकृष्णभट्ट कहते हैं कि तार्किकों के मत में सामान्य, अखण्ड उपाधि तथा सखण्ड उपाधि - ये तीन पदार्थ मानने पड़ते हैं।[252] अखण्ड उपाधि का सामान्य में अन्तर्भाव भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि नित्य होता हुआ समवाय सम्बन्ध से अनेक में रहने वाला सामान्य है, जो कि अखण्ड उपाधि में घटित नहीं होता है।[253]

6.2.9 श्रीकृष्णभट्ट ने तार्किकों के इस सिद्धान्त का भी खण्डन किया है कि सामान्य दो प्रकार का है - जातिरूप तथा उपाधिरूप। यदि नित्य होता हुआ अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले तार्किकोक्त सामान्य के अन्तर्गत अखण्ड उपाधि का अन्तर्भाव किया जाएगा तो पृथिवी के भी दो भेद गन्धवती तथा निर्गन्धा किए जा सकते हैं।[254] किन्तु जिस प्रकार पृथिवी इत्यादि में गन्धादि गुण रहते हैं वैसे उसमें जाति नहीं रहती है - यह तो तार्किकों द्वारा कल्पित है। अतः उसमें जाति का अभाव कहने में कोई दोष नहीं है।[255]

6.2.10 मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने तार्किकों के इस सिद्धान्त का भी खण्डन किया है कि भूतत्व जाति है तथा मूर्तत्व जाति नहीं है।[255.1] साथ ही तार्किकों के जातिबाधकों, जैसे तुल्यत्व तथा अनवस्था का भी खण्डन किया है।[255.2]

7. विशेषपदार्थविचार

7.1 न्यायवैशेषिक दर्शन में विशेषपदार्थ

विशेष नामक पदार्थ की मौलिक कल्पना के कारण ही वैशेषिक दर्शन का यह नामकरण हुआ है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार वस्तु के दो रूप होते हैं- सामान्य तथा विशेष। वस्तु के सामान्य आकार के कारण जो ज्ञान होता है, उसे अनुवृत्तिप्रत्यय कहा गया है तथा इसी आधार पर सामान्यीकरण की दिशा में सामान्य पदार्थ तथा उसके अन्तर्गत अनेक जातियों एवं उपाधियों को स्वीकार किया गया है। दूसरी ओर विशेषीकरण की दिशा में इस दर्शन ने एक स्वतः व्यावर्तक मौलिक पदार्थ को स्वीकार किया है, जो सभी नित्य द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहता है, जो अनन्त है। इसे विशेष पदार्थ कहा गया है। कणाद ने अपने सूत्रों में विशेष पदार्थ का कथन किया है,[256] जिसका विस्तृत विवेचन प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में किया

है।[257] विशेष को 'अन्त्य विशेष' के नाम से भी कहा गया है[258] जिसका तात्पर्य है - अन्तिम भाग में रहने वाला।[259] विशेष द्रव्य, गुण, कर्म एवं सामान्य से पृथग्भूत स्वतन्त्र पदार्थ है। यह केवल नित्यद्रव्यों में ही समवाय सम्बन्ध से रहता है तथा स्वयं सामान्य से रहित होता हैं। प्रशस्तपाद ने विशेष पदार्थ की सिद्धि में युक्ति देते हुए यह कहा है कि परमाणु तथा सभी नित्य पदार्थ जैसे काल, दिक् , आत्मा एवं मन नित्य हैं। इन्हें अपने-अपने सजातीय या विजातीय से पृथग्रूपेण बोधन विशेष पदार्थ के कारण ही होता है।[260] यद्यपि विशेष पदार्थ परमाणुओं तथा नित्य पदार्थों के व्यावर्तक हैं, किन्तु वैशेषिक दर्शन के अनुसार विशेष पदार्थ अनन्त होने पर भी स्वतः व्यावृत्त होते हैं। अर्थात् इनकी व्यावृत्ति हेतु किसी अन्य व्यावर्तक की अपेक्षा नहीं है।[261]

7. 2 शब्दार्थतर्कामृतम् में विशेषपदार्थविचार

मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने तार्किकों के विशेष पदार्थ का खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि वैयाकरणों के अनुसार विशेष पदार्थ स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि विशेष पदार्थ को स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है।[262] जब विशेष पदार्थ ही सिद्ध नहीं होता है तो उसके द्वारा परमाणुओं की भेदकता कहाँ सिद्ध की जा सकती है।[263] मौनिश्रीकृष्णभट्ट का कहना है कि जिस प्रकार तार्किक विशेषों की व्यावृत्ति स्वतः मानते हैं वैसे ही परमाणुओं की व्यावृत्ति स्वतः मानी जा सकती है।[264]

8. समवायपदार्थविचार

8.1 न्याय-वैशेषिक दर्शन में समवायपदार्थविचार

समवाय पदार्थ भी न्याय-वैशेषिक दर्शन की मौलिक कल्पना की देन है। भारतीय दर्शन की अन्य किसी शाखा में समवाय पदार्थ को नहीं माना गया है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के आचार्यो ने समवाय के विभिन्न लक्षण किए हैं[265] जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार समवाय वह सम्बन्ध है, जिससे जुड़ने वाले दो पदार्थ में से एक का नाश होने तक दूसरे को उससे पृथक् नहीं किया जा सकता है।[266] न्याय-दर्शन के अनुसार समवाय प्रत्यक्ष सिद्ध है,[267] जबकि वैशेषिकों के अनुसार समवाय प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है, किन्तु अनुमानगम्य है।[268] समवाय की सिद्धि में विभिन्न आचार्यों ने अलग-अलग युक्तियाँ प्रस्तुत की है।[269] विश्वनाथ ने समवाय की सिद्धि करते हुए यह कहा कि गुण और कर्म से विशिष्ट होने की बुद्धि विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध को विषय बनाती है। जिस प्रकार 'दण्डी पुरुषः' यह ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है, उसी प्रकार गुणकर्म से विशिष्ट का ज्ञान भी विशिष्ट ज्ञान है। अतः गुणविशिष्ट द्रव्य का ज्ञान भी विशिष्ट ज्ञान होने के कारण इन दोनों में रहने वाले सम्बन्ध के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। यहाँ संयोगसम्बन्ध सम्भव नहीं है। अतः इनके बीच जो सम्बन्ध है, वही समवाय सम्बन्ध है।[270] इसी प्रकार की युक्ति अन्नंभट्ट ने भी दी है।[271] समवाय सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध से सर्वथा भिन्न है। संयोग सम्बन्ध तो दो युतसिद्धों के बीच होता है। किन्तु समवाय सम्बन्ध अयुतसिद्धों के बीच ही होता है।[272] संयोग दो द्रव्यों के बीच होता है। समवाय सम्बन्ध द्रव्य एवं गुण के बीच, द्रव्य एवं कर्म के बीच, द्रव्य एवं जाति के बीच होता है। संयोग एक गुण है, किन्तु समवाय दो अयुतसिद्ध पदार्थों को परस्पर सम्बद्ध करने वाला पृथक् पदार्थ है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में समवाय पदार्थ नित्य है। प्रशस्तपाद ने इसके नित्यत्व का उपपादन करते हुए यह कहा कि समवाय सम्बन्ध संयोग के समान अनित्य नहीं है। यद्यपि इसके प्रतियोगी अनुयोगी

के अनित्य होने पर भी समवाय को उत्पन्न करने वाले कारण के न होने से इस सम्बन्ध को नित्य ही मानना पड़ता है।[273] समवाय के दोनों सम्बन्धी अनुयोगी तथा प्रतियोगी उसके कारण नहीं है। वे केवल सम्बन्धी ही हैं। अतः सम्बन्धियों के नष्ट होने पर भी समवाय का विनाश नहीं होता है। जिस प्रकार सत्ता जाति के आश्रय के नष्ट होने पर भी सत्ता जाति को नित्य माना जाता है, वैसे ही समवाय के कुछ आश्रयों के विनष्ट होने पर भी दूसरे सम्बन्धियों में समवाय की प्रतीति होने के कारण उसे भी नित्य माना जाता है।[274] विद्वानों ने समवाय के इस नित्यत्व को सापेक्ष नित्यता माना है।[275] वैशेषिक दर्शन के अनुसार समवाय को एक माना गया है।[276] किन्तु रघुनाथ शिरोमणि ने समवाय के अनेकत्व को स्वीकार किया है। उनके अनुसार समवाय में रहने वाला अनुगत अखण्डोपाधिरूप समवायत्व एक है।[277] समवाय सम्बन्ध कहीं समवाय सम्बन्ध से स्वयं नहीं रहता अपितु यह स्वरूप सम्बन्ध से अपने सम्बन्धियों में रहता है।[278] गुण, कर्म, सामान्य एवं विशेष पदार्थ इस समवाय सम्बन्ध से ही द्रव्य से सम्बन्धित होते हैं।

8.2 शब्दार्थतर्कामृतम् में समवायपदार्थविचार

मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने तार्किकों के मत में समवाय का निरूपण कर उसका खण्डन किया है। तार्किकों के अनुसार समवाय का निरूपण करते हुए मौनिश्रीकृष्णभट्ट कहते हैं कि तार्किकों के मत में समवाय भी अतिरिक्त पदार्थ है।[279] समवाय में अनुमान प्रमाण है। अनुमान का स्वरूप है - गुण, क्रिया तथा सामान्य से विशिष्टबुद्धियाँ विशेषण तथा विशेष्यसम्बन्धविषयिणी हैं, क्योंकि ये भी विशिष्ट बुद्धि हैं, जैसे 'दण्डी पुरुषः'। अतः गुण, क्रिया तथा सामान्य से विशिष्टबुद्धियों में विशेषण तथा विशेष्य का जो सम्बन्ध है, वह समवाय है।[280] यह समवाय लाघवात् एक ही माना जाता है। गुण, क्रिया तथा सामान्य का संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि द्रव्यों का ही संयोग सम्बन्ध होता है।[281] नव्य तार्किकों ने समवाय को एक मानने पर दोष की आशंका से उसका नानात्व स्वीकार किया है।[282] समवाय के सन्दर्भ में मौनिश्रीकृष्णभट्ट का कहना है कि वैयाकरणों के मत में समवाय पदार्थान्तर नहीं है, क्योंकि समवाय की सिद्धि में प्रमाण नहीं है।[283] तार्किकों के द्वारा समवाय सिद्धि में दिए गए अनुमान प्रमाण का खण्डन करते हुए श्रीकृष्णभट्ट कहते हैं कि स्वरूप सम्बन्ध से ही उक्त विशिष्ट बुद्धि हो जाए तो समवाय मानने की क्या आवश्यकता है ?[284] रूपप्रतियोगिक समवाय से घटादि का सम्बन्ध मानना ही है। वह सम्बन्ध है - स्वरूप सम्बन्ध।[285] समवाय को स्वीकार करने पर भी स्वरूप सम्बन्ध मानना ही है। अतः गुण, क्रिया तथा सामान्य की विशिष्ट बुद्धि तो स्वरूप सम्बन्ध से भी सिद्ध हो सकती है।[286] यदि स्वरूप सम्बन्ध से निर्वाह हो सकता है तो अनुमान से समवाय मानने की क्या आवश्यकता है ? अन्यथा समवायवद् भूतलम् में अभाव का भी वैशिष्ट्य में सम्बन्धान्तर मानना पडेगा।[287] समवाय के खण्डन की दृष्टि से मौनिश्रीकृष्ण भट्ट ने अन्य युक्ति का भी प्रयोग किया है।[288]

9. अभावपदार्थविचार

9.1 न्याय-वैशेषिक दर्शन में अभावपदार्थविचार

9.1.1 न्यायवैशेषिक दर्शन वस्तुवादी दर्शन है। इनके अनुसार प्रत्येक प्रतीति किसी न किसी बहिस्थ पदार्थ या सद्वस्तु की स्थिति के कारण ही होती है। अतः अभाव की प्रतीति भी अभावात्मक पदार्थ माने बिना नहीं हो सकती है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार अभाव भी एक वस्तु-सत् पदार्थ

है। यह पदार्थ भावरूप न होकर अभावरूप है। यद्यपि न्याय-वैशेषिक दर्शन सम्प्रदाय में अभाव नामक पदार्थ परवर्ती काल में ही पदार्थ ही परिगणन में स्पष्ट स्थान प्राप्त कर सका है,[289] तथापि पदार्थ-परिगणन में अभाव नामक पदार्थ जुड़ने[290] के बाद न्याय-वैशेषिक दर्शन के पदार्थ-परिगणन में वह बहुमान्य हो गया।[291] न्याय-वैशेषिक दर्शन के आचार्यों ने अभाव पदार्थ की सिद्धि में अनेक युक्तियों का प्रयोग किया है।[292] न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार अभाव प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थ है, जिसे अनुमान से भी सिद्ध किया जा सकता है।[293]

9.1.2 न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्षयोग्य पदार्थों का इन्द्रियों के साथ छः प्रकार का सन्निकर्ष स्वीकार किया गया है - संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय तथा विशेषणविशेष्यभाव।[294] अभाव के प्रत्यक्ष के लिए न्याय-वैशेषिक परम्परा के अचार्यों ने विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष स्वीकार किया है।[295] 'घटाभाववद् भूतलम्' इस ज्ञान में जब हम अभाव का प्रत्यक्ष करते है, हमें घटाभाव वाले भूतल का चक्षुरिन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष होता है तथा विशेषणता रूप एक ऐसे सम्बन्ध का ज्ञान होता है, जिससे भूतल तथा घट के अभाव के बीच सम्बन्ध स्थापित होता है। 'घटाभाववद् भूतलम्' इस ज्ञान में हम अभाव को भूतल के विशेषण के रूप में जानते है।[296]

9.1.3 न्याय-वैशेषिक परम्परा में अभाव के चार प्रकार कहे गए हैं - प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव एवं अन्योन्याभाव।[297] इन चारों प्रकार के अभावों को इस प्रकार भी विभक्त किया जाता है- अभाव के दो भेद संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव के तीन भेद - प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव।[298] उत्पत्ति से पूर्व होने वाला अभाव प्रागभाव कहलाता है।[299] यह अभाव अनादि होने पर भी विनाशशाली है[300], क्योंकि वस्तु की उत्पत्ति के बाद उसका अभाव विनष्ट हो जाता है। उत्पन्न हुई वस्तु का विनष्ट होने पर जो अभाव होता है, वही प्रध्वंसाभाव है।[301] यह अभाव उत्पत्तिशील होते हुए भी विनाशशाली नहीं है। अतः इस अभाव को 'सादि' तथा 'अनन्त' कहा जाता है।[302] अत्यन्ताभाव वह अभाव है, जो किसी वस्तु का सर्वथा निषेध करता है या किसी अधिकरण में किसी वस्तु का सर्वथा निषेध करता है।[303] न्याय-वैशेषिक आचार्यों ने अत्यन्ताभाव को विविध रूप में परिभाषित किया है।[304] न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार यह अभाव अनादि तथा अनन्त होता है। अर्थात् यह अभाव नित्य अभाव है,[305] जैसे 'वायौ रूपं नास्ति'। यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि भूतले घटाभावः से कहा जाने वाला अभाव किस श्रेणी में आएगा ? अन्नंभट्ट ने इसे भी अत्यन्ताभाव की श्रेणी में ही माना है। यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि भूतले घटाभावः नित्य कैसे हो सकता है। भूतल में घट होने पर तो वह समाप्त हो जाएगा। इस प्रकार की आशंका का समाधान करते हुए इस परम्परा के आचार्यों ने यह समाधान दिया है कि यह अभाव भी नित्य है, किन्तु घट के रहने पर वह लुप्त हो जाता है तथा घट के वहाँ न रहने पर पुनः प्रकट हो जाता है। इस प्रकार सामयिक अभाव को भी अत्यन्ताभाव की कोटि में रखकर उसे नित्य माना गया है।[306] अन्योन्याभाव वह अभाव है जिसमें सत् पदार्थ भी असत् होता है,[307] जैसे घट पट नहीं है। परस्पर वर्तमान द्रव्यों में परस्पर जो अभाव प्रतीत होता है, उसे अन्योन्याभाव कहते हैं। विभिन्न आचार्यों ने इस अभाव को विविध प्रकार से परिभाषित किया है।[308] विभिन्न लक्षणों के आधार पर वस्तुतः तादात्म्य का निषेध ही अन्योन्याभाव कहा जा सकता है। 'घट पट नहीं है' इस कथन से घट का पट से तादात्म्यनिषेध ही किया जाता है।

9.2 शब्दार्थतर्कामृतम् में अभावपदार्थविचार

9.2.1 मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने प्रथमतः न्याय वैशेषिक मत के अनुसार अभाव पदार्थ का निरूपण कर[309] उसका खण्डन कर दिया है। मौनिश्रीकृष्णभट्ट का मानना है कि अभाव अधिकरण के अतिरिक्त पृथक् पदार्थ नहीं है।[310] अभाव को स्वतन्त्र पदार्थ न मानने पर सम्भावित दोषों का उद्धृत करते हुए मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने क्रमशः उनका भी खण्डन किया है। अभाव को पृथक् पदार्थ न स्वीकार करने पर यह आशंका हो सकती है कि 'भूतले घटाभावः' इस स्थल पर आधाराधेयभाव कैसे हो सकता है, क्योंकि आधाराधेयभाव तो भिन्न पदार्थों में ही होता है। जब अभाव को अधिकरणस्वरूप ही मान लिया जाएगा तो उक्त समस्या का समाधान क्या होगा ? इस पर मौनिश्रीकृष्णभट्ट का कथन है कि जैसै न्याय-मत में 'घटाभावः घटो नास्ति' - इस स्थल में अभावाधिकरणक अभाव के बीच अधिकरण एक होने पर भी आधाराधेयभाव माना जाता है, वैसे ही हमारे मत में भी 'भूतले घटाभावः' में भूतल तथा घटाभावः के एक होने पर भी आधाराधेयभाव मान लिया जाएगा।[311]

9.2.2 यहाँ यह शंका स्वाभाविक है कि यदि भूतल एवं घटाभाव एक ही हैं तो भूतले घटाभावः की प्रतीति 'भूतले भूतलम्' की प्रतीति के रूप में भी होने लगेगी। इस शंका का समाधान करते हुए मौनिश्रीकृष्णभट्ट कहते हैं कि जिस धर्म से विशिष्ट जिस धर्मवत्ता का ज्ञान जहाँ नहीं प्रतीत होता है वहाँ तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपित अधिकरणता नहीं मानी जाती है। अतः भूतल में भूतलत्वावच्छिन्ननिरूपित अधिकरणता की प्रतीति न होने से भूतले भूतलम् यह प्रतीति भी नहीं होती है, जबकि भूतल में घटाभाववत्त्वावच्छिन्ननिरूपित अधिकरणता की प्रतीति होती है। अतः भूतले घटाभावः की प्रतीति सम्भव है।[312] अधिकरण को अभावरूप मानने में नैयायिकों की आशंका हो सकती है कि जहाँ घट का आनयन कर लिया जाएगा वह अधिकरण घटाभावरूप होगा या नहीं ? यदि घट के लाने पर भी अधिकरण को अभावरूप माना जाएगा तो घट के रहने पर भी 'घटो नास्ति' यह ज्ञान होगा और यदि घट के लाने पर उसे घटाभावरूप नहीं माना जाएगा तब घट के ले जाने पर भी घटो नास्ति यह ज्ञान नहीं हो सकेगा। इस पर मौनिश्रीकृष्णभट्ट का कथन है कि जो अभाव को अधिकरण के अतिरिक्त मानते हैं उनके मत में भी अत्यन्ताभाव नित्य होने के कारण घट के आने पर भी घटाभाव का प्रत्यय होता रहेगा। यदि घट के अनधिकरणकाल से अवच्छिन्न तत्तद् भूतलादि को घटाभाव का सम्बन्ध स्वीकार करें और इस सम्बन्ध से घटवद् भूतल में घटाभाव नहीं होने से घटवद् भूतल स्थल में घटाभाव की प्रतीति नहीं होती - ऐसा मानें तो अभाव को अधिकरणस्वरूप मानने पर भी ऐसा स्वीकार किया जा सकता है। अन्तर केवल इतना ही होगा कि न्याय मत में उक्त सम्बन्ध के अभाव में 'घटवद् भूतलम्' स्थल में घटाभाव की प्रतीति न होने का कारण न्यायमत में उक्त सम्बन्ध का अभाव होगा, जबकि अभाव को अधिकरणरूप मानने वालों के मत में तादृश अधिकरण का अभाव होगा।[313] मौनिश्रीकृष्णभट्ट ने अभाव को अधिकरण स्वरूप मानने में उपर्युक्त के अतिरिक्त भी अन्यान्य युक्तियों का प्रयोग किया है।[314]

सन्दर्भ एवं टप्पणी

1. *व्याकरणशास्त्र को पदशास्त्र, मीमांसा को वाक्यशास्त्र तथा न्याय को प्रमाण शास्त्र के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त है। इसीलिए इन तीन शास्त्रों के ज्ञाता को पदवाक्यप्रमाणज्ञ कहते हैं।*

2. इसीलिए महाभाष्यकार ने स्थल-स्थल पर शब्दार्थ के दार्शनिक पक्ष पर विस्तृत विचार किया है तथा भर्तृहरि ने वाक्यपदीयम् के माध्यम से अर्थ पक्ष का दार्शनिक विश्लेषण किया है।

3. पाणिनि के सूत्रों में द्रव्य, सत्त्व, अधिकरण, जाति, गुण, क्रिया, कारक, आदि शब्दों के अर्थ का विश्लेषण किए विना शब्दसाधुत्व का निरूपण भी पूर्ण नहीं हो सकता है।

4. वाक्यपदीयम्' में भर्तृहरि ने व्याकरण के प्रतिपाद्य विषयों का निरूपण करते हुए आठ विषयों का परिगणन किया है, उनमें भी शब्द का साधुत्व तथा अर्थविश्लेषण यही प्रधान प्रतीत होते हैं। 'वाक्यपदीयम्' की कारिका इस प्रकार है-

   अपोद्धारपदार्था ये चार्थाः स्थितिलक्षणाः।
   अन्वाख्येयाश्च ये शब्दा ये चापि प्रतिपादकाः।।
   कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः।
   धर्मे ये प्रत्यये चाङ्गं सम्बन्धाः साध्वसाधुषु।।
   ते लिङ्गैश्च स्वशब्दैश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुपवर्णिताः।
   स्मृत्यर्थमनुगम्यन्ते केचिदेव यथागमम्।। वा.प.काण्ड 1 का. 24-26

5. तत्त्वमीमांसा के विषयों में जैसे शब्दब्रह्म एवं उसकी शक्तियाँ, जगत् का उससे सम्बन्ध, कार्य-कारण भाव का विचार, पदार्थविचार आदि तथा ज्ञानमीमांसा के विषय जैसे ज्ञान का स्वरूप उसका शब्दानुवेध का सिद्धान्त, भ्रम एवं प्रमा के सिद्धान्त, प्रमाण एवं प्रामाण्यवाद का विचार, बौद्ध अर्थ का ज्ञानमीमांसीय उपयोग आदि विषय भी व्याकरण दर्शन के गभीर विचार के विषय हो गए हैं।

6. महर्षि पतंजलि का महाभाष्य, भर्तृहरि का वाक्यपदीय एवं महाभाष्यदीपिका, कैयट का प्रदीप, भट्टोजिदीक्षित का शब्दकौस्तुभ, वनमालीमिश्र की वैयाकरणमतोन्मज्जनटीका, कौण्डभट्ट का वैयाकरणभूषणम् एवं वैयाकरणभूषणसार, नागेशभट्ट का उद्योत, वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा एवं वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा, मौनिश्रीकृष्णभट्ट का शब्दार्थतर्कामृतम्, रामाज्ञा पाण्डेय की व्याकरणदर्शन भूमिका, व्याकरणदर्शन पीठिका तथा व्याकरणदर्शन प्रतिमा, पूज्य गुरुदेव आचार्य रामप्रसाद त्रिपाठी की पाणिनीयव्याकरणे प्रमाणसमीक्षा आदि संस्कृतभाषा में निबद्ध कृतियों में व्याकरणदर्शन के विविध विषयों का प्राधान्येन या आनुषङ्गिक रूप से गहन विवेचन उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक एवं समसामयिक काल में भी आधुनिक भाषाओं में व्याकरण दर्शन पर आधारित अनेक ग्रन्थ एवं शोधलेख लिखे गए हैं। द्र कार्ल एच्. पोटर द्वारा सम्पादित इनसाइक्लोपीडिया आव् इण्डियन् फिलासफी, वाल्यूम वन, सेक्शन टू, पेज 1093-1099

7. माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह में व्याकरण दर्शन को भारतीय दर्शन की अन्यतम शाखा के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। भारतीय दर्शन की विविध शाखाओं में व्याकरण दर्शन के सिद्धान्तों का खण्डन मण्डन भी इसी की पुष्टि करना है। कार्ल एच्. पोटर द्वारा सम्पादित इनसाइक्लोपीडिया आव् इन्डियन् फिलासफी में एक खण्ड व्याकरण दर्शन के लिए ही केन्द्रित है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में भाषादर्शन पर विचार-विमर्श के साथ व्याकरण दर्शन के विचारणीय विषय और भी महत्त्वपूर्ण हो

जाते है। भाषा तर्क तथा यथार्थ पर विचार करने के लिए व्याकरणदर्शन के विचार दार्शनिकों के लिए अवधेय हैं।

8. महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य पस्पशाह्निक में संग्रह ग्रन्थ की चर्चा की है- 'सङ्ग्रहे तावत्कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति' म. भा. पस्पशा. 49

9. सङ्ग्रह के पश्चात् महाभाष्य ही व्याकरण दर्शन के आकर ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत है। यद्यपि महाभाष्य में पाणिनि सूत्रों का व्याख्यान प्रमुख है, तथापि प्रसंगतः व्याकरण दर्शन के विषयों पर महाभाष्य विस्तृत चर्चा करता है। भर्तृहरि ने स्वयं महाभाष्य में यत्र तत्र उपनिबद्ध व्याकरण दर्शन के सिद्धान्तों को वाक्यपदीयम् में क्रमिकरूप से व्यवस्थापित किया है। भर्तृहरि ने स्वयं महाभाष्य को व्याकरण दर्शन के स्रोत ग्रन्थ के रूप में माना है। भर्तृहरि ने यह उल्लेख भी किया है कि किस प्रकार से संग्रह ग्रन्थ लुप्त होने पर महाभाष्य में संगृहीत व्याकरण दर्शन के विषयों का वाक्यपदीय में पल्लवन किया गया -

प्रायेण संक्षेपरुचीनल्पविद्यापरिग्रहान्। सम्प्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते।।

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना। सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने।।

अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात् तस्मिन्नकृतबुद्धीनां नैवावस्थित निश्चयः।।

बैजिसौभवहर्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः। आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुके।।

यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः। काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः।।

पर्वतादगमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः। स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः।।

न्यायप्रस्थानमार्गास्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम्। प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसंग्रहः।। वा. प. काण्ड 2, का. 476-482

10. वाक्यपदीयम् व्याकरण दर्शन की महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें तीन काण्ड है। प्रथम काण्ड के अन्तर्गत शब्दब्रह्म तथा उसकी शक्तियाँ शब्द अर्थ तथा उसका सम्बन्ध, स्फोट ध्वनि एवं नाद सहित शब्द के विविध स्वरूपों का निरूपण तथा शब्द तथा अर्थ के ग्रहण के सम्बन्ध में चर्चा की गयी है। द्वितीय काण्ड में वाक्य एवं वाक्यार्थ पर विस्तृत चर्चा है तथा तृतीय काण्ड पर जाति, द्रव्य, गुण, दिक्,साधन, क्रिया, पुरुष , उपग्रह, लिङ्ग तथा कृत् तद्धित समास एकशेष सनाद्यन्त धातुरूप इन पाँचो वृत्तियों के सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा है।

11.1 क. महाभाष्य के टीकाग्रन्थों में भर्तृहरि की दीपिका व्याकरण दर्शन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कृति है। यह कृति अपूर्णरूपेण प्राप्त है तथा भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट से प्रकाशित है।

ख. कैयट का प्रदीप महाभाष्य के दार्शनिक विचारों पर अपनी महत्त्वपूर्ण टिप्पणी देता है। महाभाष्य के अनेक स्थल कैयट के प्रदीप के बिना उद्घाटित नहीं हो सकते थे।

ग. भट्टोजिदीक्षित ने महाभाष्य पर शब्दकौस्तुभ की रचना की। शब्दकौस्तुभ सम्पूर्णरूप में प्राप्त नहीं है। इसमें यथाप्रसंग व्याकरण दर्शन के विषयों का विस्तृत विवेचन है।

घ. नागेशभट्ट ने महाभाष्य प्रदीप पर उद्योत की रचना की। नागेशभट्ट की यह कृति महाभाष्य पर स्थल स्थल पर उद्योत से अपना मतभेद प्रकट करती है। नागेश ने भी उद्योत में प्रसंगानुसार व्याकरणदर्शन के विषयों का भी विशद वर्णन किया है।

11.2 वाक्यपदीयम् पर चार प्राचीन वृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं, जिनमें एक भी पूर्ण नहीं है। प्रथम काण्ड पर सर्वाधिक प्राचीन टीका वृत्ति या टीका के नाम से जानी जाती है। जिसके लेखक के रूप में हरिवृषभ का उल्लेख होता है। यह प्रारम्भिक दो काण्डों पर है। प्रथम काण्ड पर यह पूर्णरूपेण प्राप्त है जबकि द्वितीय काण्ड पर रिक्तियों से युक्त है। दूसरे काण्ड पर पुण्यराज की टीका तथा तृतीय काण्ड पर हेलाराज की टीका है। वाक्यपदीय टीकाओं के सन्दर्भ में कुछ विचारणीय अन्य पहलू भी हैं जिन्हें के. ए. सुब्रह्मण्य अय्यर के ग्रन्थ 'भर्तृहरि : ए स्टडी आव् वाक्यपदीय इन द लाइट आव् सम एन्सियन्ट कमेन्टरीज' के द्वितीय अध्याय 'द कामेन्ट्री आन द वाक्यपदीय' में देखा जा सकता है। उपर्युक्त प्राचीन टीकाओं के अतिरिक्त आधुनिक काल में सम्पूर्ण वाक्यपदीय पर पद्मश्री आचार्य रघुनाथशर्मा द्वारा लिखित अम्बाकर्त्री टीका भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

12. भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में व्याकरणदर्शन के विषयों का विस्तृत विवेचन किया है, जिसे उन्होंने संक्षेप में प्रस्तुत करने के लिए वैयाकरणमतोन्मज्जनम् की रचना की- फणिभाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः। तत्र निर्णीत एवार्थः संक्षेपेणेह कथ्यते।। वै. म., का 1। वैयाकरणमतोन्मज्जनम् का प्रचलित नाम वैयाकरणसिद्धान्तकारिका है, किन्तु इसका प्रामाणिक अभिधान वैयाकरणमतोन्मज्जनम् ही है। द्र. वै. म. टी. भूमिका पृ.3।

13. वैयाकरणमतोन्मज्जनम् पर भट्टोजिदीक्षित के शिष्य वनमाली मिश्र के द्वारा लिखी गयी टीका वैयाकरणमतोन्मज्जनटीका के नाम से उपलब्ध है। यह टीका वैयाकरणभूषणम् तथा वैयाकरणभूषणसारः से भी प्राचीन है। द्र. वै. म. टी. भूमिका । वैयाकरणमतोन्मज्जनटीका 1998 के पूर्व तक अप्रकाशित ही थी। जिसका प्रथम प्रकाशन 1998 में भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी द्वारा किया गया है।

14-15. वैयाकरणमतोन्मज्जनम् पर कौण्डभट्ट द्वारा विस्तृत व्याख्याग्रन्थ वैयाकरणभूषणम् तथा संक्षिप्त व्याख्याग्रन्थ वैयाकरणभूषणसारः लिखे गए हैं। ये दोनों ग्रन्थ स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में भी अपना महत्त्व रखते हैं। इनमें कौण्डभट्ट ने व्याकरणदर्शन के भाषाशास्त्रीय विषयों का न्याय एवं मीमांसा के सिद्धान्तों के खण्डन के साथ विशद निरूपण किया है। इन ग्रन्थों में विवधि विचारणीय विषयों पर दर्शनान्तर की अपेक्षा व्याकरण दर्शन के मत को विशिष्टरूपेण दर्शाते हुए ग्रन्थकार ने क्वचित्-क्वचित् पूर्व वैयाकरणों से भी अपनी विमति प्रकट की है।

16-17. वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा एवं वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा में नागेशभट्ट ने व्याकरणदर्शन के विभिन्न भाषातात्त्विक विषयों का तथा यथाप्रसंग तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसासम्बद्ध विषयों का भी निरूपण किया है।

18.क. स्फोटचन्द्रिका का प्रकाशन मुम्बई से गुजराती मुद्रणालय द्वारा 1913 ईस्वी को किया गया था जिसके सम्पादक महादेव शर्मा बाके है।

ख. लघुविभक्त्यर्थनिर्णयः का प्रकाशन मुम्बई के गुजराती मुद्रणालय से सन् 1915 ईस्वी को हुआ था,

जिसके सम्पादक महादेवशर्मा बाक्रे हैं।

ग. वृत्तिदीपिका का प्रकाशन प्रिन्सेस आफ वेल्स सरस्वतीभवनग्रन्थमाला के 29वे ग्रन्थ के रूप में वाराणसी से 1930 ई. में किया गया, जिसके सम्पादक भारद्वाजगङ्गाधरशास्त्री हैं। यह ग्रन्थ पुनः राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला 7 के रूप में भी प्रकाशित हैं।

घ. शब्दार्थतर्कामृतम् का प्रथम प्रकाशन राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के गंगानाथ झा परसर इलाहाबाद की शोधपत्रिका जर्नल आफ् गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, वर्ष 2007, अंक 63 में गैर्वाणी गौरव ग्रन्थमाला 24 के रूप में 2009 में हुआ है, जिसका सम्पादन ललित कुमार त्रिपाठी द्वारा किया गया है।

19. द्रष्टव्य उपर्युक्त ख एवं ग में उल्लिखित ग्रन्थों की प्रस्तावना।

20. मातृका क्रमाङ्क 36805

21. मातृका क्रमाङ्क 30689,32950,30455

22. द्र. टिप्पणी सं. 18.घ

23. तर्कचन्द्रिका का सम्पादन ललित कुमार त्रिपाठी द्वारा किया गया है।

24. शब्दार्थतर्कामृतम् तार्किकों की पदार्थमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा को पूर्वपक्ष बनाकर उसका खण्डन करते हुए व्याकरणदर्शन के अनुसार पदार्थमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा का निरूपण करता है।

25. यद्यपि पूर्ववर्ती ग्रन्थों में व्याकरणदर्शन पर पर्याप्त विचार हुआ है, किन्तु इसकी उल्लेखनीय विशेषता है कि यह ग्रन्थ पदार्थ मीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा पर ही क्रमशः विचार करता है। व्याकरणदर्शन के पूर्ववर्ती अन्य ग्रन्थों में इस प्रकार ज्ञानमीमांसा एवं पदार्थमीमांसा के विषयों पर मतान्तरखण्डनपूर्वक क्रमिक विचार नहीं किया गया है। कौण्डभट्ट एवं नागेशभट्ट की कृतियों में मतान्तरखण्डनपूर्वक व्याकरणदर्शन के सिद्धान्तों को स्थापित किया गया है किन्तु इन ग्रन्थों में भाषातात्त्विक विषय जो शब्दखण्डप्रधान है, उन्हीं की प्रमुखता है। अन्य विषयों पर यथाप्रसंग विचार हुआ है।

26. शब्दार्थतर्कामृतम् में तार्किकों के मत के खण्डन एवं शाब्दिकमत के प्रतिपादन के कुछ सन्दर्भस्थल इस प्रकार हैं- एतेन ननु मङ्गलं न विघ्नध्वंसकारणं विनायकस्तवपाठजन्यविघ्नध्वंसे व्यभिचारात्.... ....इत्यादि तार्किकोक्तमपास्तम्। ग्र. 1.3। ; प्रमाणं निरूप्यते। तानि च ... चत्वारीति तार्किकाः। प्रत्यक्षं शब्दश्चेति शाब्दिकाः। यथोपनीतभानेन अनुमानस्य गतार्थता। ग्र. 2।; अत्र प्रत्यक्षानुमानग्रन्थयोरेकवाक्यतां वदन्ति तार्किकाः .... ग्र.3.1; ..... एवं शाब्दिकमते विषयताऽतिरिक्ता न स्वीकर्तव्येति महल्लाघवम्। ग्र.4.5; नित्यत्वं प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वम्।.... केचित्तु प्रागभावाप्रतियोगित्वं ध्वंसाप्रतियोगित्वं वेत्याहुः। अत्र शाब्दिकाः किमिदं लक्षणद्वयमुतैकम् .... ग्र. 4.6- 4.7।; तच्चानित्यं द्विविधं निर्विकल्पकं सविकल्पकं चेति। ..... शाब्दिकास्तु मास्तु निर्विकल्पकं तत्सत्त्वे मानाभावात्, फलाभावात्, कल्पनागौरवादननुभवाच्च।.... ग्र. 4.8- 4.9।; .. पदार्था निरूप्यन्ते। ते च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त। तत्र गुणाश्रयो द्रव्यं द्रव्यत्वजातिमद् वा। द्रव्यत्वजातिसिद्धिस्तु ..... इति तार्किकाः। शाब्दिकास्तु नादृष्टत्वं जातिरिति तार्किकैः सिद्धान्तितं

तथा मयापि। ... न च तत्र पारिभाषिकं द्रव्यत्वमिति चेत्तर्हि तदेवास्तु। मास्तु भवत्परिभाषितम्। .... तथा च द्रव्याद्रव्यभेदेन द्विविधः पदार्थः इति शाब्दिकसिद्धान्तः। ग्र. 5.1- 5.3 ; तार्किकास्तु दिक्कालौ नेश्वरादतिरिच्येते आकाशस्य च नित्यत्वमाहुः। तत्र युक्तिमत्। ग्र. 5.1; किं च सगुणकपालान्निर्गुणघटोत्पत्तिरित्यपि विरुद्धम्। ग्र. 5.1; मनस्त्वजातिमन्मनः .. इत्याहुस्तार्किकाः। शाब्दिकास्तु मनो नातिरिक्तं द्रव्यं, मानाभावात्। ग्र.7.1; तार्किकैः सुवर्णस्य तैजसत्वं सिद्धान्तितम्। .. शाब्दिकास्तु सुवर्णं पार्थिवं हीरकस्तैजस इत्याहुः। ग्र.7.3; शाब्दिकास्तु गुणत्वं न जातिः।ग्र.8.2; शाब्दिकास्तु चित्ररूपं नातिरिक्तं मानाभावात्।ग्र.8.4 तार्किकास्तु कर्मत्वजातिमत् कर्म। तच्च..... । शाब्दिकास्तु कर्मत्वं न द्रव्यविभाजकोपाधिः।.. तत्पंचत्वकथनमयुक्तमेव। ग्र.9.1-3; तार्किकास्तु सामान्यं परापरभेदाद् द्विविधम्। ... शाब्दिकास्तु सामान्यं न पदार्थान्तरम्।ग्र.10.1-2; तार्किकास्तु विशेषः पदार्थान्तरम्। ..शाब्दिकास्तु विशेषो न पदार्थान्तरम्। ग्र.11.2; तार्किकमते समवायोऽपि पदार्थान्तम्। ... अत्र शाब्दिकाः समवायो न पदार्थान्तरम्। ग्र.12.1-2; तार्किकास्तु अभावः पदार्थान्तरम्। अत्र शाब्दिकाः अभावस्य ... अतिरिक्तत्वे मानाभावः। ग्र.13.1-2; तार्किकास्तु अनुमितित्वं न जातिः। ग्र. 16.4; शाब्दिका उपमितिर्न मानान्तरं किन्तु मानसम्। ग्र. 18.2; शाब्दिकास्तु वाक्यज्ञानमेव शाब्दप्रमितिकरणम्। ग्र. 19.3; शाब्दिकास्तु शब्दार्थयोरनादिः सम्बन्ध एव शक्तिः। ग्र. 20.2

27. प्रमाणस्य प्रमेयसापेक्षत्वात् पदार्था निरूप्यन्ते। श. त., ग्र. 1.3

28. पाणिनीयं काणादं च सर्वशास्त्रोपकारकम् ।

29. सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्। म. भा. 2.1.58 एवं 6.3.14

30. तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्। म. भा. 2.1.58 एवं 6.3.14

31. शब्दप्रमाणका वयम्। यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्। शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह नापशब्दज्ञानेऽधर्मम्। म. भा., पस्पशा. पृ. 66; किमस्माकं वस्तुगतेन विचारेण। अर्थश्चास्माकं यः शब्देनाभिधीयते। म. भा. दी., पृ. 28, 1-16-18 बी. ओ.आर.आई. संस्करण (उद्धृत *BHARTRIHARI : A Study of the Vakyapadiya in the light of the Ancient Commentaries, p. 75*)

32. नेदं कस्यचिदेकस्य सहायभूतम्। म. भा. दी. पृ. 28, 1-11-12 बी. ओ.आर.आई. संस्करण (उद्धृत *BHARTRIHARI : A Study of the Vakyapadiya in the light of the Ancient Commentaries, p. 74)* प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः। कियद्वा शक्यमुन्नेतु स्वतर्कमनुधावता।। वा. प.,काण्ड 2, का. 484 ; प्रतिक्षिप्तमपि पक्षं व्यवहारार्थमङ्गीकरोति टीकाकारः। यतः सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्। तत्र चायं स्थित इत्यत्र पुनः पदपदार्थवङ्गीकरोति। वा.प., काण्ड 2, का. 250, पुण्यराज, पृ.328; अधुना वैशेषिकदृष्ट्याप्यर्थगतसामान्यधर्माश्रयेण जातिपदार्थव्याप्तिमाह - वा. प., काण्ड 3, जातिसमुद्देश, का. 14, प्रकाश, पृ. 47 ; इदानीं विज्ञानवादेनापि पदार्थव्यवस्थामाह...। वा. प., काण्ड 3, जातिसमुद्देश, का. 14, प्रकाश, पृ. 57; सर्वपार्षदं हीदं शास्त्रम्, शब्दार्थोऽर्थ इति पदार्थव्यवस्थेयम्।वा. प. काण्ड 3, जातिसमुद्देश, का. 14, प्रकाश, पृ. 57

33. शास्त्रे पदार्थः कार्यार्थं लौकिकः प्रविभज्यते। वा. प., का. 3, भूयोद्रव्यसमुद्देश, का. 1, प्रकाश,

पृ.1: न हि दर्शनान्तरव्यवस्थितविरुद्धभावरूपानुगमो व्यवहारे । न चाविचारेण यथातत्त्वं पार्यते निश्चयः कर्तुम्। .... इदं च लौकिकानामेव शब्दानामनुशासनं शास्त्रम्। तदत्र लोकप्रसिद्ध्यैव पदार्थप्रक्रिया समाश्रयणीया। इति अखण्डाद् वाक्यार्थात् क्रियावचनो धातुः सत्त्वप्रधानानि नामानि प्रत्यायकः प्रत्ययः इत्यादिशास्त्रीयकार्यप्रसिद्ध्यर्थं लौकिक एव क्रियाद्रव्यगुणादिलक्षणोऽपोद्धारपदार्थः प्रविभज्यते। वा. प., काण्ड 3, सम्बन्धसमुद्देश, का.88, प्रकाश, पृ. 352-353

34. सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्। तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्। म. भा. 2.1.58 एवं 6.3.14 ; तस्मान्न वैयाकरणैः शक्यं लौकिकं लिङ्गमास्थातुम्। अवश्यं कश्चित् स्वकृतान्त आस्थेयः। म. भा. पा. सू. 4.1.3 ; वैशेषिकादीनां भवन्तु निःसामान्यानि सामान्यानि। वैयाकरणानां शब्दार्थोऽर्थ इत्यभ्युपेयतामन्वयिरूपावच्छेदेन शाब्दस्य प्रत्ययस्योत्पत्तेः जातिष्वपि जातिरविरुद्धाऽभ्युपगम्यते। वा. प. काण्ड 3, भाग 1,का. 11, प्रकाश, पृ.43;

35. पदस्य अर्थः पदार्थः।

36.क. शब्दाभिधेये द्रव्यादौ ... वाच., पञ्चमो भागः, पृ. 4225

ख. पदानां घटपटादीनाम् अर्थोऽभिधेयः। तत्पर्यायः भावः, धर्मः, तत्त्वं, सत्त्वं, वस्तु इति जटाधरः। श.क., तृतीयो भागः, पृ. 40

37. धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्। वै.सू. 1.1.4

38. अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु। वै.सू. 8.2.3

39. षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि । प्र.पा.भा., पृ. 7-8

40. अभिधेयः पदार्थः। लक्षणा., पृ. 1; प्र. म. पृ. 3; अभिधेयत्वं प्रमाणसामान्यलक्षणम्, त. दी., पृ. 7 ; प्रमितिविषयाः पदार्थाः, स. प., पृ. 2

41. यस्य वस्तुनो यत्स्वरूपं तदेव तस्यास्तित्वम्। न्या. क., पृ. 41

42. क. न्यायलीलावती में इसे सत्तासम्बन्धबुद्धि के रूप में परिभाषित किया गया है। न्या.ली., पृ.794

ख. व्योमशिवाचार्य ने अस्ति अथवा सत् इस प्रकार के ज्ञान को अस्तित्व कहा है। व्यो., पृ. 118

ग. सूक्तिकार ने भावत्वविशिष्ट स्वरूप सत्त्व को अस्तित्व कहा है। सूक्ति., पृ. 114

43. क. अभिधेयः पदार्थः। लक्षणा. पृ. 1., प्र. मं., पृ. 3

ख. अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्। त. दी., पृ. 2

44. प्रमितिविषयाः पदार्थाः। स.प., पृ. २

45. द्र. टिप्पणी सं. 43. क. और ख

46. अस्तित्व भाव पदार्थों का साधर्म्य है। यह प्राचीन वैशेषिक आचार्यों की मान्यता रही है। गौरीनाथ शास्त्री अस्तित्व को अभाव पदार्थ का साधर्म्य मानना वैशेषिक सिद्धान्त के विरुद्ध मानते है। द्र. किरणा.,

हि.भा., पृ. 227

47. भा. परि., कारिका 13; दिन. (न्या. सि. मु.) पृ. 168

48. संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्। न्या. वा. ता. टी., पृ. 399

49. यस्य वस्तुनो यत्स्वरूपं तदेव तस्यास्तित्वम्, न्या. क., पृ. 41

50. द्र. टिप्पणी सं. 48

51. द्र. टिप्पणी स. 43 एवं 44

52. द्र. टिप्पणी सं. 48

52.1 पा. सू. 5.2.94

53. इदं तर्हि प्रयोजनम् सम्प्रति सत्तायां यथा स्यात् , भूतभविष्यत् सत्तायां मा भूत् । गावोऽस्यासन् , गावोऽस्या भवितारः। म. भा. 5.2.94

54. सम्प्रति सत्तायामिति। वर्तमानसत्तायाम् , बाह्यायां सत्तायामित्यर्थः। प्रदीप, म. भा. 5.2.94

55. एतां सत्तां पदार्थो हि न कश्चिदतिवर्तते। सा च सम्प्रति-सत्तायाः पृथग् भाष्ये निदर्शिता।। वा. प. काण्ड 3, सम्बन्धसमुद्देश, का. 51

56. वा. प., काण्ड 3, सम्बन्धसमुद्देश, का. 46,48

57. वा. प., काण्ड 3, सम्बन्धसमुद्देश, का.39

58. प्रदीप, म. भा. 5.2.94

59. वा. प., काण्ड 3, सम्बन्धसमुद्देश, का. 39,50

60. वा. प., काण्ड 3, सम्बन्धसमुद्देश, का. 42-48

60.1 नाभावो जायते भावो नेति भावोऽनुपाख्यताम्।
एकस्मादात्मनोऽनन्यौ भावाभावौ विकल्पितौ।। वा. प., काण्ड 3, सम्बन्धसमुद्देश, का.61

60.2 ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते। वा. प., काण्ड 3, सम्बन्धसमुद्देश, का. 1

60.3 न सतां च निषेधोऽस्ति सोऽसत्सु च न विद्यते।
जगत्यनेन न्यायेन नञर्थः प्रलयं गतः।। वा. प., काण्ड 3

60.4 आत्मलाभस्य जन्माख्या सत्ता लभ्या च लभ्यते।
यदि सज्जायते कस्मादथाऽसज्जायते च कथम्।। वा. प., काण्ड 3, सम्बन्धसमुद्देश, का. 43

60.5 आत्मानमात्मना बिभ्रदस्तीति व्यपदिश्यते।
अन्तर्भावाच्च तेनासौ कर्मणा न सकर्मकः।। वा. प., काण्ड 3, सम्बन्धसमुद्देश, का. 47

61. बौद्ध दार्शनिक एवं वैयाकरण दोनों ही शब्दार्थ को बुद्ध्यर्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु इन दोंनो के अनुसार बुद्ध्यर्थ का स्वरूप अलग है। वैयाकरण के अनुसार शब्दार्थ को बुद्ध्यर्थ कहने का अभिप्राय होता है कि शब्द का अर्थ बुद्धिप्रतिनियत है। अर्थात् बुद्धि में स्थित जो अर्थ है वही शब्द का अर्थ है। ऐसा प्रतिपादन करते हुए वह न तो बहिस्थ अर्थ का निषेध करता है, न ही बुद्ध्यर्थ को असत् मानता है। वैयाकरणों के अनुसार बुद्ध्यर्थ भी एक सच्चाई है। जबकि बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार बुद्ध्यर्थ कल्पित एवं मिथ्या पदार्थ है। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार पदार्थ का न बहिस्थ रूप सत्य है, न ही बुद्ध्यर्थरूप।

62. द्र. टिप्पणी सं. 31

63. द्र. टिप्पणी सं 34

64. द्र. टिप्पणी सं 48

65. इसीलिए वैयाकरणमत में एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः। कूर्मक्षीरचये स्नातः शशशृङ्गधनर्धरः।।

इत्यादि वाक्यों का शाब्दबोध होता है, जबकि न्यायमत में ऐसे वाक्यों से शाब्दबोध नहीं स्वीकार किया जाता। इसी प्रकार 'वह्निना सिञ्चति' इस वाक्य से भी वैयाकरण मत में शाब्दबोध होता है जबकि न्यायमत में ऐसे अयोग्य वाक्यों से शाब्दबोध नहीं होता ।

66. वैयाकरणों के अनुसार बहिर्जगत् में सर्वथा असत् वस्तु की भी बुद्धि जगत् में सत्ता मानी जाती है। वैयाकरणों के अनुसार प्रायः ज्ञान का विषय बुद्धिस्थ पदार्थ होता है। बाह्य जगत् की वस्तुओं का बुद्धिस्थ रूप भी होता है। किन्तु बुद्धिस्थ रूप उन पदार्थो का भी हो सकता है जिनकी बाहर सत्ता नहीं है।

. बौद्धदर्शनमीमांसा, पृ. 211

68. वा. प. काण्ड 3, सम्बन्धसमुद्देश, का. 42-48

69. वैयाकरणों के अनुसार ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से बुद्धिस्थ पदार्थ की स्थिति मानना यद्यपि आवश्यक है, तथापि सांसारिक व्यवहार का निर्वाह बहिस्थ पदार्थों को स्वीकार किए बिना नहीं हो सकता है। इसीलिए वैयाकरण शब्दार्थ को वस्त्वर्थ से भिन्न मानते हुए भी वस्त्वर्थ की स्थिति का निषेध नहीं कर सकता है। महर्षि पतंजलि एवं भर्तृहरि ने दोनों प्रकार के अर्थो की सत्ता स्वीकार की है। द्र. टिप्पणी सं.31, 56, 57, 59, 60

70. यदि गुणसमुदायो द्रव्यम्, का गतिर्ये एते भावाः कृदभिहिताः, तद्धिताभिहिताश्च चिकीर्षा गोतेति। अथ मतमेतत् कृदभिहितो भावो द्रव्यवद् भवति। स्त्रीत्वमपि स्त्रीत्वेनाभिहितं द्रव्यवद् भवति। म. भा. 4.1.3 सांव्यावहारिक द्रव्य, ... गुण , क्रिया, जाति इत्यादि के विषय में वैयाकरणों के द्वारा विकसित अवधारणाएँ महाभाष्यकार के कथन कश्चित् स्वकृतान्त आस्थेयः के उदाहरण हैं।

71. वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते। द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितः।। वा. प. का. 3, भूयोद्रव्यसमुद्देश,का. 3

72. द्र. श. त., ग्र. 5.3. 8.2, 9.2, 10.2

73. द्र. टिप्पणी सं. 40

74. पदस्यार्थः पदार्थ इति व्युत्पत्त्याऽभिधेयत्वमेव पदार्थ इत्यस्तु शाब्दिकसिद्धान्तः। श. त., ग्र. 14.4

75. द्र. टिप्पणी 72

76. न च शाब्दिकानां पदार्थशोधोऽनुपयुक्त इति वाच्यं तं विना प्रयोगसिद्धेरभावात्। श. त., ग्र. 7.5

77. तार्किकाणामेव त्वनुपयुक्तः। अनधीतशास्त्रस्यापि व्यवहारदर्शनात्। श. त., ग्र. 7.5

78. वै. सू. 1.1.4

79. उद्धृत, वैशेषिक दर्शन में पदार्थमीमांसा, पृ. 20 - Bodas,- Introduction to Tarka Sangraha, p. XXXIII; Narain, Evolution of Nyaya Vaishesik Cotegoriology, Radha Krishnan, Indian Philosophy, Vol. II, p. 186

80. वै. सू. 8.2.3

81. क. अभावस्य पृथगनुपदेशः भावपारतन्त्र्यात्, न तु अभावात्। न्या.क., पृ. 18

ख. किरणावली, पृ. 6

82.क. अन्नम्भट्ट के तर्कसंग्रह, विश्वनाथकृत भाषापरिच्छेद तथा वादिवागीश्वर में सात पदार्थों का परिगणन किया गया है, जिनमें अभाव भी एक पदार्थ के रूप में परिगणित है।

ख. कुछ ग्रन्थों जैसे तर्ककौमुदी, तर्कामृत, प्रमाणमंजरी, लक्षणावली एवं किरणावली में पदार्थों के दो भेद किए गए भाव पदार्थ तथा अभाव पदार्थ । भाव पदार्थ के अन्तर्गत छः पदार्थों का परिगणन किया गया तथा अभाव पदार्थ के अन्तर्गत अभाव का। कुछ प्रकरणग्रन्थों जैसे वरदराज की तार्किकरक्षा एवं केशवमिश्र की तर्कभाषा में प्रमेय रूप अर्थ के अन्तर्गत पहले वैशेषिक सम्मत छः पदार्थों का निर्देश किया गया बाद में निषेधस्वरूप सप्तम पदार्थ अभाव को भी स्थान दिया गया।

82.1 प.त.नि., पृ. 55

83. द्रव्याद्रव्यभेदेन पदार्थः द्विविधः इति शाब्दिकसिद्धान्तः। श. त., ग्र. 5.3

84. अन्येषां तार्किकोक्तविभाजकोपाधीनां घटादिविभाजकोपाधिवदनावश्यकत्वात्। श. त. ग्र. 5.3

85. न च न्यूनाधिकव्यवच्छेदार्थकत्वेन तेषां सार्थक्यम्, विशेषो न पदार्थान्तरं, विषयता पदार्थान्तरं, शक्तिः पदार्थान्तरमखण्डोपाधिः पदार्थान्तरमिति वदद्भिः न्यूनाधिकत्वस्यापि स्वीकारात्। श. त., ग्र. 5.3

86. न चाखण्डोपाधेः सामान्यत्वम् , एकवृत्तित्वेन समवेतत्वाभावेन च नित्यानेकसमवेतत्वाभावात्। श. त., ग्र. 5.3

87. एवं च अभावप्रतियोगित्वेन 'चादयोऽसत्त्व' इत्यत्र सप्तानामपि ग्रहणम्। 'पाक' इत्यादौ घञर्थस्यापि द्रव्यत्वम्। श. त., ग्र. 5.3

88. किञ्चानियतत्वात्तेषामसत्तर्कत्वम्। श. त., ग्र. 14.3

88.1 तथाहि प्रमाणप्रमेयेत्यादि न्यायस्यादिमसूत्रे विभागकथनादेव षोडशत्वेन लब्धे षोडशपदोच्चारणात् प्रमाणत्वादिषोडशपदार्थ-विभाजकोपाध्यवच्छिन्नपदार्थज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम इत्यर्थबोधकं षोडशपदार्थवादिन्यायसूत्रकारस्यादिमं सूत्रम्। तच्च सप्तपदार्थवादिभिर्द्रव्यादिविभाजकोपाध्यवच्छिन्नाः सप्तैव पदार्था इत्युक्तम्। श. त., ग्र. 14.3

88.2 तत्रापि विभागकथनादेव सप्तत्वे लब्धे सप्तैवेत्युक्तिर्न्यूनाधिकव्यवच्छेदार्थम् इत्युक्त्वा शक्तिविषयतादीनां पदार्थान्तरत्वं स्वीकृतम्। तच्च परस्परविरुद्धमिति स्पष्टमेव सुधियाम्। श. त., ग्र. 14.3

88.3 एवं निरङ्कुशतर्केण ऋषिप्रणीतं न्यायप्रारम्भसूत्रं खण्डितम्। श. त., ग्र. 14.4

88.4 एवं द्रव्याणि नवैवेत्युक्तिरपि। श. त., ग्र. 14.4

88.5 एतत्सर्वं भावोऽभावश्चेति वदता पदार्थद्वयवादिना खण्डितम्। श. त., ग्र. 14.4

88.6 ननु नेदं तन्मतखण्डनम् अपि तु साधर्म्येऽन्तर्भाव इति चेन्न, ततो लाघवात् पदस्यार्थः पदार्थ इति व्युत्पत्त्याऽभिधेयत्वमेव पदार्थ इत्यस्तु शाब्दिकसिद्धान्तः। श. त., ग्र. 14.4

89. आदौ द्रव्यस्योद्देशः सर्वाश्रयत्वेन प्रधानत्वात्। न्या. क., पृ. 17

90. क्रियागुणवत् समवायिकारणं द्रव्यलक्षणम्। वै. सू. 1.सू. 1.1.15

91. व्योमवतीकार ने पूर्व पक्ष के रूप में बौद्ध मत को उद्धृत किया है। व्यो. पृ. 44

92.क. युक्तिरपि दर्शनस्पर्शनयोरेकविषयत्वेन प्रतिसन्धानम्। न्या. वा. 1.1.14, पृ. 65

ख. न च द्वाभ्याम् इन्द्रियाभ्याम् एकार्थग्रहणं विना प्रतिसन्धानं न्याय्यम्। व्यो., पृ. 44

93. किरणा., पृ. 33-34

94. कार्यसमवायिकारणतावच्छेदकतया, संयोगस्य विभागस्य वा समवायिकारणतावच्छेदकतया द्रव्यत्वजातिसिद्धेः। न्या. सि. मु., पृ. 48-49

95. व्याकरण शास्त्र में द्रव्य के दोनों रूपों की पर विचार किया गया है। वस्तुसत् तथा शब्दार्थसत् की दृष्टि से जिसे सांव्यवहारिक द्रव्य कहा गया है।

96. द्रव्ये च भवतः कः सम्प्रत्ययः ? गुणसमुदायो द्रव्यम् इति। म. भा. 1.1.4; कं च प्रत्यवयवो गुणः ? समुदायम्। म. भा. 5.2.42

97. गुणस्यायं भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशं कुर्वन् ख्यापयत्यन्यछब्दादिभ्यो द्रव्यम्। म. भा. 5.1.119; इह समाने वर्ष्मणि परिणाहे चान्यत्तुलाग्रं भवति लोहस्यान्यत् कार्पासम् । यत्कृतो विशेषस्तद् द्रव्यम् म. भा. 5.1.119

98. मृद्घटयोर्वास्तवभेदाभावेऽपि लोके मृदो घट इति भेदव्यवहारः। उद्योत, म. भा. 5.1.119; गुरुत्वाश्रयस्याभावेऽपि दशगुञ्जाभिरल्पगुञ्जाभ्यश्च नामोन्नामोऽनेकगुरुत्वैरेव दृष्टः तद्वदत्रापि तैरेव द्रव्यानतिरिक्तैस्तदुत्पत्तौ न तदतिरिक्तद्रव्यसिद्धाविदं मानम्। उद्योत, म. भा., 5.1.119

99. कृदभिहितो भावो द्रव्यवद् भवतीति। म. भा. 4.1.3

100. वा. प., काण्ड 3, भूयोद्रव्यसमुद्देश, का. 3

101. गुणाश्रयत्वमपि द्रव्यलक्षणमेकम्। एवमपि रूपं रसात् पृथगित्यादौ गुणेऽपि गुणाश्रयत्वादतिव्याप्तम्। न चैकार्थसमवायप्रत्यासत्त्या द्रव्य एव सङ्ख्यान्वयो न रूपे इति वाच्यम्, एवमपि एकं रूपमित्यादावतिव्याप्तिः। श. त., ग्र. 5.2

102. किञ्च चं पठेत्यादौ चकारस्याद्रव्यत्वाच 'चादयोऽसत्त्वे' इति निपातत्वेऽव्ययत्वात् सुब्लुकि प्रयोगो न स्यात्। श. त., ग्र. 5.2

103. न च तत्र पारिभाषिकं द्रव्यत्वमिति चेत्तर्हि तदेवास्तु। मास्तु भवत्परिभाषितं, प्रयोजनाभावात्। श. त., ग्र. 5.2

104. न च द्रव्ययोरेव संयोग इति प्रयोजनं गुणाश्रययोरेवेत्यनेनापि निर्वाहे तस्य व्यर्थत्वात्। श. त., ग्र. 5.2

105. तस्मात् –वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते। द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितम्।।

इति। भाष्योक्तं 'लिङ्गसङ्ख्यान्वितं द्रव्यम्' इति वा द्रव्यलक्षणमित्येव तत्त्वम्। तच्च धात्वर्थाव्ययार्थव्यतिरिक्तसप्तपदार्थसाधारणम्। श. त., ग्र. 5.2

106. शाब्दिकास्तु सुखजनककार्यं प्रति धर्मस्य दुःखजनककार्यं प्रति अधर्मस्य कारणत्वावश्यकतया यथा कार्यसामान्यं प्रति अदृष्टस्य कारणत्वे मानाभावात् कार्यसामान्य-जनकतावच्छेदकतया नादृष्टत्वं जातिरिति तार्किकैः सिद्धान्तितं तथा मयापि। श. त., ग्र. 5.2

107. गन्धादिकार्यं प्रति पृथिव्यादीनां कारणत्वावश्यकतया कार्यसामान्यं प्रति द्रव्यत्वेन कारणत्वे मानाभावाद् द्रव्यत्वजातेरपि असिद्ध्यापत्तेः, न चेष्टापत्तिः, अपसिद्धान्तात्। श. त., ग्र. 5.2

108. वै.सू. 1.1.15; प्र.पा.भा., पृ. 3; लक्षणावली. पृ. 3; ल.मा. पृ.28; मा.मनो., पृ. 15-53; प.दि.च, पृ.1; स.प., पृ. 5, न्या. सि. मु., पृ. 46; त.सं., पृ. 8

109. तत्र नवसु द्रव्येषु मध्ये पृथिव्यादिचतुष्टयस्य परमाणवः आकाशं कालः दिक् आत्मा मनश्च एतानि नित्यद्रव्याणि। पृथिव्यादिचतुष्टयस्य द्व्यणुकमारभ्य महत्पर्यन्तं सर्वाण्यनित्यद्रव्याणि भवन्ति। तत्र अनित्यत्वं कार्यरूपत्वादवयवसमवेतम्, नित्यद्रव्यं त्वसमवेतम्। न्या.को., पृ. 370

110. पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां भूतत्वं साधर्म्यम्। तच्च बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम्। न्या. सि. मु., पृ. 97

111. द्रव्येषु भूतानि बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवन्ति च पञ्च। प. दि. च., पृ. 1

112. क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च। परापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी।। भा. प., का. 25, पृ. 94

113. मूर्तत्वं परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वं क्रियावत्त्वं वा। त. दी., पृ. 11; इयत्ताविच्छन्नपरिमाणयोगित्वं मूर्तत्वम्। तदभावोऽमूर्तत्वम्। स.प., पृ. 136

114. आकाशकालदिगात्मनां सर्वगतत्वं परममहत्त्वं सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं च। प्र.पा.भा., पृ. 11

115. सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम्। त.दी., पृ. 37

116. क. शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभु नित्यं च। त. सं., पृ.36

ख. अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः। स चैको विभुर्नित्यश्च। त. सं., पृ. 38

ग. प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्। सा चैका विभ्वी नित्या च। त. सं.,पृ. 39

117. व्यवस्थातो नाना। वै. सू. 3.2.20; व्यवस्थावचनात् संख्या। प्र. पा. भा., पृ. 55; नानात्मानो व्यवस्थात इति सूत्रात् पृथिव्यादिसाम्यम् इत्यर्थः। सेतुः, पृ. 389

118. स च न परमाणुः शरीरव्यापिसुखाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गात्। न च मध्यमपरिमाणः। तथा सत्यनित्यत्वप्रसङ्गे न कृतनाशाभ्यागमप्रसङ्गात्। तस्मान्नित्यो विभुर्जीवः। त. दी., पृ. 13

119. ये चारों अमूर्त द्रव्य हैं। इनमें क्रिया नहीं होती । इयत्ताविच्छन्नपरिमाणयोगित्वं मूर्तत्वम्। तदभावोऽमूर्तत्वम्। स.प., पृ. 136

120. मूर्तानि कर्मवन्ति मनसा सहितानि चत्वारि। प. दि. च., पृ. 1

121. प्र. पा. भा., पृ.3; किरणा., पृ. 14-15; लक्षणा., पृ. 3 ; ल. मा., पृ. पृ. 28; न्या. सि. मु., पृ.46; स. प., पृ. 5; प. दि. च., पृ.1; मा. मनो., पृ. 49

122. वै. सू., 5.2.19, 5.2.20; व्यो. पृ. 46-47; किरणा. पृ. 15-20; न्या. क., पृ. 21-26, सेतु, पृ. 36-43; लक्षणा., पृ. 3; स. प., पृ. 44; मा. मनो., पृ. 49-53; न्या. सि. मु., पृ. 49-52; त. दी., पृ. 9

123. प. त. नि., पृ. 55

124. तत्र दिक्कालौ नेश्वरादतिरिच्येते मानाभावात्। तत्तन्निमित्तिविशेषसमवधानवशाद् ईश्वराद् एव तत्तत्कार्यविशेषाणाम् उपपत्तेः। प. त. नि., पृ. 4

125. मनोऽपि चासमवेतं भूतम्। प. त. नि., पृ. 17

126. तेजो रूपस्पर्शवत्। वै. सू. 2.1.3; तेजस्त्वजातियोगि उष्णस्पर्शवत्तेजः। स. प., पृ. 64; उष्णस्पर्शवत्तेजः, मा. मनो., पृ. 19

127. प्र. पा. भा., पृ. 22; मा. मनो., पृ. 19

128. प्र. पा. भा., पृ. 221

129. प्र. पा. भा., पृ. 22-23

130. इन्द्रियं रूपग्राहकं चक्षुः, कृष्णताराग्रवर्ति। त. स., पृ.27

131. प्र. पा. भा., पृ. 23

132. किरणा., पृ. 76

133. वहीं

134. किरणा., पृ. 77

135. व्यो., पृ. 258

136. किरणा. पृ. 78: लक्षणा. पृ. 10

137. सर्वविषयमन्तःकरणं मनः। न्या. भा., न्या.सू.1.1.9

138. आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्। वैं. सू. 3.2.1

139. न्या. सू. 1.1.16

139. न्या. भा., न्या. सू. 1.1.16

140. प. त. नि., पृ. 19

141. पृथिव्यप्तेजो वाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसीति परिगणनमपि न, मानाभावात्। न च द्रव्यं द्रव्यमिति व्यवहारो मानं घृतजतुप्रभृतिषु तदभावात्। श. त., ग्र. 5.2

141.1 द्रव्याद्रव्यभेदेन पदार्थः द्विविधः श. त., ग्र. 5.2

141.2 तत्र वस्तुपदार्थो द्विविधः। श. त., ग्र. 14.2। मौनिश्रीकृष्णभट्ट के इस कथन से यह स्पष्ट है कि पदार्थ वस्तु रूप तथा अवस्तु रूप होते हैं। वस्तुरूप पदार्थ की सत्ता वस्तु जगत् में है जबकि अवस्तु रूप पदार्थ केवल बुद्धिजगत् में रहते हैं। वस्तुरूप पदार्थों का बुद्धि में अपना स्वरूप है जिसे बौद्ध स्वरूप कह सकते हैं।

141.3 तत्र वस्तुपदार्थो द्विविधो नित्योऽनित्यश्च। नित्य आत्मा तद्भिन्नपृथिव्याद्यनित्यः इति शाब्दिकादयः। श. त., ग्रन्थांश 14.2

142. तार्किकास्तु पृथिव्यप्तेजोवायूनामनित्यत्वं नित्यत्वञ्च। आकाशकालदिगात्ममनसां नित्यत्वमाहुः। तदसत्, वेदविरुद्धत्वात्। एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत इत्युत्पत्तिश्रवणात्। न चासत्कार्यवादे सम्भूत इत्यस्याविर्भूत इत्यर्थः, वाय्वादीनामपि तथापत्तेः। न च वाय्वादौ सम्भूत इत्यस्य उत्पन्न इत्यर्थः, अनेकार्थत्वे गौरवापत्तेः। श. त., ग्र.14.2

143. कालदिङ्मनसां नातिरिक्तद्रव्यत्वमिति द्रव्यनिरूपणे उक्तत्वाच्च। श. त., ग्र. 14.2

144. तत्र दिक्कालौ नेश्वरादतिरिच्येते मानाभावात्। तन्निमित्तविशेषसमवधानवशाद् ईश्वराद् एव तत्तत्कार्यविशेषाणाम् उपपत्तेः। प. त. नि., पृ. 23

145. तार्किकास्तु दिक्कालौ नेश्वरादतिरिच्येते आकाशस्य च नित्यत्वमाहुः, तन्न युक्तिमत्। श. त. ग्र. 5.4

146. दिक्कालयोरचेतनत्वेन चेतनेश्वरतादात्म्याभावात्। अन्यथा सर्वस्यैवेश्वरतादात्म्यापत्तेः। श. त., ग्र. 5.4

147. तार्किकोक्तदिक्कालखण्डनं तु न युक्तिमत्। चेतनाचेतनयोरैक्यायोगात्। सर्वं खल्विदं ब्रह्म इत्यादि सर्वस्यापि तद्भिन्नत्वाभावात्। श. त., ग्र. 7.5

148. आकाशनित्यत्वे च न मानम्। "एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इति श्रुत्या तस्यानित्यत्वबोधनाच्च। आकाशोऽनित्यः कृतकत्वाद् घटवदित्यनुमानाच्च। श. त., ग्र.5.4

149. न च सम्भूत इत्यस्याविर्भूत इत्यर्थकतया कृतकत्वमेवासिद्धमिति वाच्यम्, पृथिव्यादीनां शब्दस्य च नित्यतापत्तेः। श. त., ग्र. 5.4

150. श. त., ग्र. 6.1-6.7

151. आत्मत्वजातिमानात्मा। सुखसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्धस्यात्मत्वस्येश्वरेऽपि सत्त्वम्। न च नित्यस्य स्वरूपयोग्यस्य फलावश्यम्भावनियमात् सुखाद्यापत्तिः। अप्रयोजकत्वात्, अदृष्टादिसहकारिकारणभावाच्च। स च जीवेश्वरभेदेन द्विविधः। जीवास्त्वनन्ताः। ईश्वर एक एव। द्विविधोऽपि नित्यो विभुश्च। ईश्वरसत्त्वे मानं तु 'क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवद्' इत्यनुमानमित्याहुस्तार्किकाः। श. त., ग्रन्थांश 6.1

151.1 श. त., ग्रन्थांश 6.2-6.7

152. शाब्दिकास्तु मनो नातिरिक्तं द्रव्यं मानाभावात्। श. त., ग्र. 7.1

153. किन्तु पृथव्यादीनां सात्त्विकांशैरुत्पन्नमिन्द्रियं यथा बाह्येन्द्रियाणि पाञ्चभौतिकानि तथेदमपि। श. त., ग्र. 7.1

154. एतावान् परं विशेषः। तानि प्रत्येकं पृथिव्याद्यंशैरिदन्तु सर्वैर्यथा चित्ररूपम्। ननु तत्पृथगेवेति चेन्न, तस्य दूषयिष्यमाणत्वात्। श. त., ग्र. 7.1

155. श. त. ग्र. 7.3-7.5

156. किञ्च तार्किकैः सुवर्णस्य तैजसत्वं सिद्धान्तितम्। अनुमानेन सुवर्णं तैजसमत्यन्तानलसंयोगे सति अनुच्छिद्यमानद्रवत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घृतादिः। श. त., ग्र. 7.3

156.1 उष्णस्पर्शस्तु पार्थिवांशै रभिभूतत्वान्नोपलभ्यते। नन्वन्धकारे सुवर्णस्य साक्षात्कारापत्तिः सुवर्णभिन्नं यत्तेजस्तद्भिन्न-द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोगस्य हेतुत्वात्। हीरकादीनां पार्थिवत्वमेव। पार्थिवत्वलौहलेख्यत्वयोस्तत्र व्यभिचारदानेन तस्य पार्थिवत्वस्य स्पष्टत्वात्। श. त., ग्र. 7.3

156.2 शाब्दिकास्तु सुवर्णं पार्थिवं हीरकस्तैजस इत्याहुः। श. त., ग्र. 7.4

157. सुवर्णं पार्थिवं पीतरूपाश्रयत्वात्, कठिनस्पर्शवत्त्वात् गुरुत्ववत्वाच्च हरिद्रावत्। नैमित्तिकद्रवत्वात् घृतवद् वा। गन्धस्तु अभिभूतत्वान्नोपलभ्यते। श. त., ग्र.7.4

158. भवन्मते उष्णस्पर्शवत् पाषाणभस्मनीव तद्भस्मनि गन्धोपलब्धिर्भवत्येव। यद् द्रव्यं यद् द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयमिति व्याप्तेः। भवन्मते उष्णस्पर्शस्तु कदापि नोपलभ्यते। एवं नैमित्तिकद्रवत्ववत्त्वं पृथिव्यामेव सुवर्णस्य तैजसत्वसाधकस्यात्यन्तानलसंयोगे सत्यनुच्छिद्यमानद्रवत्वादिति हेतुसमुद्रव्यभिचरितत्वेनासद्धेतुत्वात्। श. त., ग्र. 7.4

159. रूपवत्त्वे सति अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वाद् घटवदितरा हिरकास्तैजसाः कठिनत्वे सत्यलौहलेख्यत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा पृथिवी। यद्वा शुक्लभास्वररूपवत्त्वात् यथा आदित्यादिः। श. त., ग्र. 7.4

160. ननु तेजसि कठिनत्वम् अप्रसिद्धं तव मते तेजस्यपि नैमित्तिकद्रवत्वस्याप्रसिद्धत्वेनोभयोस्तुल्यत्वात्। यथा तव मते सुवर्णरूपे तेजसि नैमित्तिकद्रवत्वं तथा मन्मते हीरकरूपतेजसि कठिनत्वं प्रसिद्धम् इत्युभयोस्तुल्यत्वेन सुवर्णे तेजस्त्वं हीरके नेत्यत्र मानाभावः। हीरकेऽन्वयदृष्टान्तसत्त्वेन सुवर्णे केवलव्यतिरेक्यनुमानापेक्षया

हीरके तैजसत्वानुमानस्य प्राबल्याच्च। श. त., ग्र. 7.5

161. किञ्च सगुणकपालान्निर्गुणघटोत्पत्तिरित्यपि विरुद्धम्। गुणाश्रयत्वाभावेन द्रव्यत्वाभावप्रसङ्गात्। श. त., ग्र. 5.6

162. न च गुणसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमिति निष्कर्षान्न दोष इति वाच्यम्, एवं द्रव्यत्वसिद्धावपि तथानुभवाभावात्। श. त., ग्र. 5.6

163. न च गुणनिष्ठकार्यतानिरूपितानन्यथासिद्धनियत-पूर्ववृत्तित्वरूपकारणत्वान्यथाऽनुपपत्त्या अनुभवविरुद्धमपि कल्प्यते, बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिरिति वाच्यम्, गुणविशिष्टकपालस्य गुणविशिष्टघटं प्रति कारणत्वमयुतसिद्धस्थलेऽनुभवसिद्धं कल्प्यते, बाधकाभावादनुभवसिद्धनिर्गुणत्वकल्पनापेक्षया अयुतसिद्धानां विशिष्टकारणत्वकल्पनस्यैवोचितत्वात्। श. त., ग्र. 5.6

164. किञ्च द्रव्यप्रत्यक्षं संयोगेन गुणप्रत्यक्षं संयुक्तसमवायेनेति तार्किकाः। अत्र शाब्दिकाः किं द्रव्यगुणयोः स्वार्थद्रव्यलिङ्गसङ्ख्याकारकाणां क्रमिकशाब्दवत् गुणद्रव्ययोः क्रमिकप्रत्यक्षमुत युगपत् ? नाद्यः, अननुभवात्, भवन्मतेन गुणस्य व्याप्यवृत्तित्वनियमेन गुणं विना द्रव्यप्रत्यक्षासम्भवाच्च। नान्त्यः, रूपविशिष्टद्रव्येणैव संयोगस्वीकारेण संयुक्तसमवायसन्निकर्षस्य व्यर्थत्वात्। श. त., ग्र. 7.2

165. न च द्रव्ययोरेव संयोग इति नियमान्न संयोगेन गुणप्रत्यक्ष इति वाच्यम्, गुणादिविशिष्टद्रव्ययोरिति तदर्थत्वाद् गुणरहितद्रव्येण संयोगाभावाच्च। श. त., ग्र. 7.2

166. तत्त्वसंग्रह, श्लो. 555, पृ. 234

167. न्या. क., पृ. 253; उप., पृ. 367

168. प्र. पा. भा., पृ. 60

169. न्या. क., पृ. 221

170. न्या. सि. मु., पृ. 333-336

171. दिनकरी, पृ. 333-336

172. राम., पृ. 334

173. प. त. नि., पृ. 101

174. प. म., पृ. 24

175. रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः। वै. सू. 1.1.6

176. प्र. पा. भा., पृ. 3; व्यो., पृ. 50; किरणा., पृ.21; सूक्ति, पृ. 47-48; सेतु, पृ. 49; उप., पृ. 361; क. र., पृ. 52

177. चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्। त. स., पृ. 44

178. प्र. पा. भा., पृ. 69; व्योम., पृ. 442; किरणा. पृ. 176; न्या. क., पृ. 251

179. त. स., पृ., 44

180. न्या. सि. मु., पृ. 386

181. त. दी., पृ. 46

182. न्या. सि. मु., पृ. 386-387; उप. पृ. 368-369; मा. मनो., पृ. 55

183. गुणत्वजातिमान् गुणः। गुणत्वजातिस्तु रूपादौ गुण इत्याकारकप्रत्यक्षेणैव सिद्धा। श. त., ग्र. 8.1

184. अन्ये तु द्रव्यकर्मान्यस्मिन् सामान्यवति या कारणता तदवच्छेदकतया तत्सिद्धिरित्याहुः। श. त., ग्र. 8.1

185. अथ शाब्दिकाः गुणत्वं न जातिः, मानाभावात्। श. त., ग्र. 8.2

186. रूपरसादौ गुण इत्याकारकप्रत्यक्षं नापामरसाधारणं येन तत्सिद्धिः स्यात्। श. त., ग्र. 8.2

187. नापि द्रव्यकर्मान्यस्मिन्नित्याद्युक्तरीत्या तत्सिद्धिः। एवंप्रकारेण जातिसिद्धौ द्रव्यकर्मोभयसाधारण्यपि जातिः सिध्येत्। श. त., ग्र. 8.2

188. तस्मात् सङ्केतविशेषसम्बन्धेन गुणशब्दवत्त्वमेव गुणत्वम्। श. त., ग्र. 8.2

189. यद्वा द्रव्यभिन्नद्रव्यसमवेतत्वे सति कृतिसाध्यत्वासाध्यत्त्वोभयत्वमेव गुणत्वम्, समवायसम्बन्धेन द्रव्यस्य द्रव्ये वृत्तिसम्भवात्। तत्रातिव्याप्तिवारणाय द्रव्यभिन्नेति। द्रव्ये भावस्यापि वृत्तिसम्भवात् समवेतेति। कर्मसामान्यादावतिव्याप्तिवारणाय कृतिसाध्यत्वासाध्यत्वोभयवत्वेति। श. त., ग्र. 8.2

190. ध्वनितं चेदं "वोतो गुणवचनाद्" इति सूत्रे

सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग् जातिषु दृश्यते।

आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुण।।

इति वदता भाष्यकारेण। श. त., ग्र. 8.2

191. अत्र पृथक्त्वं न गुणः इतरादिवदन्योन्याभाववदर्थकत्वात्। यत्तु तार्किकाः पृथक्त्वं गुणः, न तु इतरार्थकः। अन्यारादिति सिद्धे पृथग् विनेति पञ्चमीविधानादित्याहुः तन्न, पृथग् विनेत्यस्य द्वितीयातृतीयाविधानेन सार्थक्याद्, रूपं रसात् पृथगित्यादौ गुणे गुणानङ्गीकारेण रूपे पृथगित्यास्यानन्वयापत्तेश्च। श. त., ग्र. 8.2

192. श. त., ग्र. 8.4

193. तार्किकास्तु नानाजातीयरूपवदवयवारब्धे घटादावतिरिक्तं चित्ररूपम् अन्यथारूपस्य व्याप्यवृत्तित्वनियमाद् घटादेः प्रत्यक्षं न स्याद् इत्याहुः। श. त., ग्र. 8.4

194. शाब्दिकास्तु चित्ररूपं नातिरिक्तं, मानाभावात्। श. त., ग्र. 8.4

195. न च रूपस्य व्याप्यवृत्तित्वनियमाद् घटादेः प्रत्यक्षानुपपत्तिर्मानं रूपस्य व्याप्यवृत्तित्व एव मानाभावः। स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वरूपाव्याप्यवृत्तितायां लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः। श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते।। इति स्मृतिरूपप्रमाणसत्त्वात् रूपस्याव्याप्यवृत्तित्वम्। तथा च न प्रत्यक्षानुपपत्तिः। श. त., ग्र. 8.4

196. श. त., ग्र. 8.4

197. एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्। वै. सू. 1.1.17

198. मा. मनो., पृ. 113

199. तत्र च प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। चलतीति प्रत्यक्षस्य लौकिकसाधारणत्वादनयैवानुगतमत्या कर्मत्वजातेरपि सिद्धेः। क. र., पृ. 152

200. कर्मत्वं नाम सामान्यम्, तेन सह सम्बन्ध उत्क्षेपणादीनामेव। न्या. क., पृ. 697

201. असमवायात् सामान्यकार्यं कर्म न विद्यते। वै. सू. 1.1.26 ; यदि कर्म व्यासज्यवृत्ति स्यात् एकस्मिन् द्रव्ये चलति द्वयोर्द्रव्ययोर्बहुषु च द्रव्येषु चलतीति प्रत्ययः स्यात्, न चैतत्, तस्मान्न कर्म व्यासज्यवृत्तीत्यर्थः। उप., पृ. 66

202. एकं कर्मैकस्मिन्नेव द्रव्ये वर्तते तथैकमेवैकस्मिन्निति। कुत एतत् ? एकस्मिंश्चलिते सर्वेषां चलनानुपलब्धेः। व्यो., पृ. 653

203. प्र. पा. भा., पृ. 241

204. संयोगविभागवेगानां कर्म समानम्। वै. सू. .1.1.20

205. द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्। वै. सू. 1.1.10; कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते। वै. सू. 1.1.10

206. मूर्तद्रव्यवृत्तिमत्वम् अवच्छिन्नपरिमाणद्रव्यवृत्तित्वम्। न्या. क., पृ. 698

206.1. उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि। वै. सू. 1.1.7

207. श. त., ग्र. 9

208. शाब्दिकास्तु कर्मत्वन्न द्रव्यविभाजकोपाधिस्तस्य धात्वर्थतावच्छेदकफलशालिन्यपि शक्तत्वेन संशयग्रस्तत्वात्। श. त., ग्र. 9.2

209. किञ्च कर्मत्वं न जातिः, क्रियात्वेन साङ्कर्यात्। तथा हि क्रियात्वं विहाय कर्मत्वं घटं पश्यसीत्यादौ घटे। कर्मत्वं विहाय क्रियात्वं गच्छतीत्यादौ। तदुभयं पश्य मृगो धावतीत्यादौ। परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोरेकत्र समावेशः साङ्कर्यमिति तल्लक्षणस्य तत्र सम्भवात्। किं तु क्रियात्वम्। श. त., ग्र. 9.2

210. तच्च फलनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकताश्रयत्वम्। श. त., ग्र. 9.2

211 फलत्वञ्च धात्वर्थपरिच्छेदकत्वं जातिविशेषो वा। श. त., ग्र. 9.2

211.1 यद्वा कालनिष्ठपरिच्छेदकतानिरूपितपरिच्छेदकत्वम्, सङ्केतविशेषसम्बन्धेन क्रियापदवत्वमेव वा। श. त., ग्र. 9.2

212 तत्पञ्चत्वकथनं त्वयुक्तमेव। अस्त्यादिवाक्यार्थस्योक्तपञ्चानन्तर्भावेन क्रियात्वाभावाद् धातुत्वानापत्तौ

अस्तीत्यादिप्रयोगानापत्तेः। श. त., ग्र. 9.3

213. भ्रमणादिवत् उत्क्षेपणादीनामपि गत्यन्तर्भावसम्भवेन पृथगगणनस्य व्यर्थत्वात्। भ्रमणादीनां गतित्वं नोत्क्षेपणादीनामित्यत्र मानाभवात्। तत्रापि ऊर्ध्वं गच्छतीत्यादिव्यवहारसत्त्वात्। श. त., ग्र. 9.3

214. नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतं सामान्यम्, मा. मनो., पृ. 126; नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम् न्या. सि. मु., पृ. 55; नित्यमनेकानुगतं सामान्यम् । त. सं., पृ. 168

215. तच्च नित्यं सदनेकवृत्ति। अनुवृत्तिप्रत्ययासाधारणकारणं वा। अनुवृत्तिप्रत्ययासाधारणकारणवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्वं वा। द्रव्यगुणवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्वं वा । क. र., पृ. 159

216. गोतोऽर्थान्तरं गोत्वं , भिन्नप्रत्ययविषयत्वात् रूपस्पर्शप्रत्ययवदिति। गोतोऽर्थान्तरं गोत्वं व्यपदेशशब्दविषयत्वात्। चैत्राश्ववत् गोर्गोत्वानुवृत्तिप्रत्ययभिन्ननिमित्ता विशेषवत्वात् रूपादिप्रत्ययवदिति। न्या. वा., पृ. 855; न्या. सू. 2.2.69

217. न्या. कु., पृ. 48 स्तबक 1, कारिका 6

218. न्या. क., पृ. 757-758

219. न्या. क., पृ. 764-765

220. श. त., ग्र. 10

21. शाब्दिकास्तु सामान्यं न पदार्थान्तरं, मानाभावात्। श. त., ग्र.10.2

2. ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा। तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते।। इत्यनेन शब्दस्यापि शाब्दबोधे भानाभ्युपगमात् तस्यैवावच्छेदकत्वम्। श. त., ग्र. 10.2

223. यद्यपि शाब्दिकैः घटत्वविशिष्टो घटपदवाच्यो घट इत्युभयप्रकारको बोधः स्वीकृतस्थापि नवीनैः शब्दप्रकारक एव स्वीक्रियते लाघवात्। श. त., ग्र. 10.3

224. तार्किकैरपि क्वचिदिन्द्रियादिपदे शब्दप्रकारक एव बोधः स्वीक्रियते। श. त., ग्र.10.3

225. तथा च तेषां मते क्वचिच्छब्दप्रकारकः क्वचिज्जातिप्रकारकः क्वचिदुपाधिप्रकारक इति अननुगतमेव प्रकारत्वम्। श. त., ग्र.10.3 ,

226. अस्मन्मते च सर्वत्र शब्दस्यैवावच्छेकत्वमिति महल्लाघवम्। श. त., ग्र.10.3

227. हरिणाप्युक्तं–

सामान्यान्यभिधीयन्ते सत्तावन्तैर्विशेषिता। सञ्ज्ञाशब्दैस् स्वरूपं वा प्रत्ययैस्त्वतलादिभिः।। अत्र पूर्वपूर्वोपमर्देनेनोत्तरोत्तरस्य स्थितिः। सञ्ज्ञा च नाधुनिकसङ्केत एव किन्तु सङ्केतमात्रम्। श. त., ग्र.10.3

228. ननु शब्दस्यावच्छेदकत्वे पर्यायादावनेकशक्यतावच्छेदकत्वे गौरवमिति चेत् ..श. त., ग्र.10.4

229. जातेः शक्यताच्छेदकत्वेऽपि शक्तताच्छेदक गौरवस्य तव मतेऽपि सत्त्वेन उभयोस्तुल्यत्वात्। श. त., ग्र.10.4

230. मन्मते शक्यतावच्छेदकशक्ततावच्छेदकयोरैक्येन लाघवाच्च। श. त., ग्र.10.4

231. किञ्च क्लृप्तप्रकल्प्यमानयोः क्लृप्तं बलवद्। श. त., ग्र.10.4

232. क्लृप्तस्य शब्दस्यैवावच्छेदकत्वौचित्याच्च। श. त., ग्र.10.4

233. ननु तव मते विरूपाणामपि समानार्थानामित्यस्य किं समानविशेष्यकाणामित्यर्थः उत समानप्रकारकाणामित्यर्थः? नाद्यः प्रमेयाभिधेये इत्यत्रैकशेषापत्तेः। अस्ति हि तत्र समानविशेष्यत्वम्। नान्त्यः, घटकलशयोः समानप्रकारकत्वाभावेनैकशेषानापत्तेरिति चेत् . . श. त., ग्र.10.5

234. इति चेन्न, प्रमेयाभिधेययोः समानविशेष्यत्वाभावात्। तथा हि यथा घटसत्त्वेऽपि नीलो घटो नास्तीति प्रतीत्या विशेष्ये घटे नीलादिविशेषणकृतो भेदः। एवं प्रमाऽभिधारूपविशेषणकृतो विशेष्ये भेदः स्वीक्रियते। अन्यथा घटकलशयोरिव भवन्मते तयोरपि पर्यायतापत्तिः। एवञ्च समानविशेष्यकाणामित्यर्थे दोषानवकाशः। श. त., ग्र.10.5

235. अस्तु वा समानप्रकारकाणामिति तथापि न क्षतिः। घटकलशयोरपि तुल्यव्यक्तिवृत्तित्वरूप-समानप्रकारत्वसत्त्वेनैकशेषस्य निर्बाधत्वात्। श. त., ग्र.10.5

236. ननु तव मते न ब्राह्मणं हन्यादित्यादि निषेधस्य ब्राह्मणनामकशूद्रेऽपि प्रवृत्त्यापत्तिः, मन्मते तु तस्य जातिविषयकत्वेन शूद्रे प्रवृत्त्यभावादिति। श. त., ग्र.10.5

237. दिति चेन्न, मन्मतेऽपि तुल्यत्वात्। तथाहि ब्राह्मणशब्दो द्विविधः जातिरूप उपाधिरूपश्च।श. त., ग्र.10.5

238. नित्यत्वे सति वाच्यतासम्बन्धेनानेकव्यक्तिमात्रवृत्तिः शब्दो जातिशब्दः। मात्रपदं सैन्धवादिनानार्थानां जातिशब्दत्वाभावाय, तेषां हि अश्वत्वविशिष्टेऽश्वे लवणत्वविशिष्टे लवणे वृत्तिसत्त्वेन व्यक्तिमात्रवृत्तित्वाभावात्। तद्भिन्न उपाधिशब्दः। एवञ्च देवदत्तेत्यादौ जातित्वाभावाज्जातेरस्त्री-विषयादयोपधादिति ङीषभावः। एवञ्च जातिपक्षो व्यक्तिपक्ष इत्यादिव्यवहारोऽप्युपपद्यते। श. त., ग्र.10.5

239. ननु यत्र द्रव्यस्य प्रत्यक्षं तत्र निरवच्छिन्न एव बोधः स्यात्। श. त., ग्र.10.6

240. इति चेन्न, तव मते संयुक्तसमवायेन जातेः प्रत्यक्षवन्मन्मतेऽपि शब्दस्य चक्षुःसंयुक्ते आकाशे समवायसत्त्वेन तेनैव सम्बन्धेन प्रत्यक्षसम्भवात्। श. त., ग्र.10.6

241. न च बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे रूपस्य कारणत्वादाकाशे रूपाभावेन अप्रत्यक्षत्वात् तत्समवेतशब्दस्याप्रत्यक्षमिति वाच्यम्। श. त., ग्र.10.6

242. तव मते वायौ रूपाभावेन प्रत्यक्षत्वेऽपि तदीयस्य स्पर्शस्य त्वाचप्रत्यक्षवन्मन्मतेऽपि शब्दस्य प्रत्यक्षसम्भवात्। रूपप्रत्यक्ष एव तादृशनियमस्वीकारात्। श. त., ग्र.10.6

242.1 यद्वा चक्षुःसंयुक्तशक्त्याख्यसन्निकर्षेण शब्दस्य प्रत्यक्षम्। एवञ्च शब्दस्य जातिवत् सर्वेन्द्रियवेद्यत्वेऽपि क्षत्यभावात्। श. त., ग्र.10.6

243. अथवा सुरभि चन्दनमित्यादौ चन्दनांशे प्रत्यक्षं सौरभांशे उपनीतभानवत् विशिष्य गृहीतशक्तिकेभ्यः

पदेभ्योऽर्थविशेषस्येव अर्थाच्छब्दविशेषस्य भानं भविष्यति। श. त., ग्र.10.6

244. यथा नलपदवाच्यः कश्चिदिति पदविशेषणको वस्तुसामान्यबोधः तथार्थदर्शनादपि। तद्वाचकं किञ्चित् पदमित्यर्थप्रकारकः पदविशेष्यको बोधो भविष्यति। अत एव विशेषजिज्ञासायाः सामान्यज्ञानपूर्वकत्वाद् विशेषजिज्ञासायां किमस्य नामेत्यादिप्रश्नं प्रति वचनान्युपपद्यन्ते। श. त., ग्र.10.6

245. अत एवोक्तं – न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।। अन्यच्च – यत्सञ्ज्ञास्मरणं तत्र न तदप्यन्यहेतुकम्। पिण्ड एव हि दृष्टः सन् सञ्ज्ञां स्मारयितुं क्षमः।। इत्युक्तरीत्या स्मृतशब्दस्यावच्छेदकत्वसम्भवात्। एतेन शब्दस्यावच्छेकत्वेऽनेऽमूकस्य निरवच्छिन्नैव प्रत्यक्षं स्यादिति तार्किकोक्तमपास्तम्। श. त., ग्र.10.6

246. सैन्धवशब्दस्य तु न जातिशब्दत्वम् अनेकवृत्तित्वेऽपि व्यक्तिमात्रवृत्तित्वाभावात्। तेन हि अश्वपदवाच्यत्वेनाश्वोपस्थितिः। एवं लवणपदवाच्यत्वेन लवणोपस्थितिः। तथा च व्यक्तिमात्रोपस्थापकत्वाभावात्, सैन्धवशब्दस्य न जातित्वम्। श. त., ग्र.10.7

247. एवञ्च नानार्थत्वं शक्यतावच्छेदकभिन्नत्वे सति शक्ततावच्छेदकैकत्वम्। श. त., ग्र.10.7

248. भवन्मत इव मन्मतेऽपि तुल्यम्। श. त., ग्र.10.7

249. यद्वा मन्मते शक्ततावच्छेदकभिन्नत्वे सति शक्ततावच्छेदकतावच्छेदकत्वं नानार्थत्वम्। श. त. ग्र.10.7

250. अस्ति हि शक्ततावच्छेदकम् अश्वलवणेति पदं तदवच्छेदकं सैन्धवपदमिति लक्षणसङ्गतिः। श. त., ग्र.10.7

251. वस्तुतस्तु नानार्था नैव सन्ति। सकृदुच्चरितः सकृदर्थं गमयतीति नियमात् अश्वलवणवाचकौ सैन्धवशब्दौ भिन्नौ समानानुपूर्वीवशादेकत्वभ्रममात्रम्। श. त., ग्र.10.8

252. तथा च सामान्यस्य पदार्थान्तरत्वास्वीकारे दोषाभावः। किञ्च भवन्मते सामान्यमखण्डोपाधिः सखण्डोपाधिरिति पदार्थत्रयस्वीकारे गौरवम्। श. त., ग्र.10.8

253. न चाखण्डोपाधेः सामान्येऽन्तर्भावो युक्तः। नित्यानेकसमवायित्व–रूपतल्लक्षणस्य तत्राभावात्। श. त., ग्र.10.8

254. एवञ्च सामान्यं द्विविधं जातिरूपमुपाधिरूपञ्चेति तार्किकसिद्धान्तोऽपि निर्युक्तिकः। किञ्च नित्यानेकसमवायित्वरूपसामान्यलक्षणानाक्रान्ताखण्डोपाधेः सामान्येऽन्तर्भावश्चेत् तर्हि पृथिवी द्विविधा गन्धवती निर्गन्धा चेति तुल्ययुक्त्या तत्रापि द्वैविध्यं परिकल्प्यातिरिक्तपदार्थमात्रोच्छेदप्रसङ्गः। श. त., ग्र.10.9

255. किञ्च पृथिव्यादिनिष्ठगन्धादिवत्र तन्निष्ठजातिर्नियता येन तदभावो वक्तुं न शक्येत, किन्तु तार्किककल्पिता अतस्तदस्वीकारे बाधकाभावः। श. त., ग्र.10.9

255.1 किञ्च भूतत्वं जातिः मूर्तत्वं नेति तार्किकोक्तं न युक्तिमत्........... एतेन न भवत्येव मूर्तत्वं जातिरिति मिश्रमतमपास्तम्। श. त., ग्र.10.10

255.2 किञ्च तुल्यत्वं तुल्यव्यक्तिवृत्तित्वं स्वभिन्नजातिसमनियतत्वम् यावत्। तच्च जातिबाधकम् एव

इत्येतदप्ययुक्तं विनिगमनाविरहेण कलशत्ववद् घटत्वमपि जातिर्न स्यात्। .... यदपि अनवस्था जातेर्जातिसत्त्वे बाधिकेत्युक्तं तदपि न युक्तिमत्। निखिलजातिषु एकवैजात्याङ्गीकारेऽपि तद्वैजात्येन वैजात्यन्तरम् एकव्यक्तिकत्वात् । ....एवमनेककुतर्काभावाच्छब्दस्यैवावच्छेकत्वं युक्तम्। श. त.. ग्र.10.11

256. द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च। वै. सू. 1.2.5

257. प्र. पा. भा., पृ. 284- 287

258. तत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः। वै. सू. 1.1.8 ; नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः। प्र. पा. भा., पृ. 9

259. अन्त्या अन्तेऽवसाने भवन्ति सन्तीति यावत्। येभ्यो परे विशेषो न सन्तीत्यर्थः। किरणा., पृ. 24

260. प्र. पा. भा., पृ. 284

261. क. र.. पृ. 168

262. शाब्दिकास्तु विशेषो न पदार्थान्तरं मानाभावात्। श. त., ग्र. 11.2

263. न हि विशेषो योगिनामपि प्रत्यक्षः तस्माद् बन्ध्यापुत्रवत्, सत्ताया अभावे दूरं परमाणूनां भेदकत्वम्। श. त., ग्र. 11.2

264. तव मते विनापि व्यावर्तकधर्मं यथा विशेषाणां व्यावृत्तिः स्वत एव व्यावृत्तत्वात् तथा मन्मते परमाणूनामपि स्वत एव व्यावृत्तिर्भविष्यति। श. त., ग्र. 11.2

265. वै. सू. 7.2.26 ; वै. सू. वै. वृ., पृ. 161; प्र. पा. भा., पृ. 289 ; किरणा. पृ. 25-26 ; किरणा. भा., पृ. 47 ; लक्षणावली, पृ. 15 ; स. प. पृ. 61 मा. मनो. पृ. 130

266. न्या. सि. मु., पृ. 65; त. सं., पृ. 169

267. प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत् । भा. प., कारिका 61

268. प्र. पा. भा., पृ. 289

269. न्यायमंजरीकार समवाय की सिद्धि करते हुए कहते है कि अवयव एवं अवयवी में प्रतीति भेद होने के कारण भेद है, किन्तु उनमें देशभेद नहीं है। अतः इनके मध्य जिस सम्बन्ध की कल्पना की जानी चाहिए वह समवाय सम्बन्ध है। न्या. म., प्रथम भाग. पृ. 285; उपस्कारकार ने समवाय की सिद्धि करते हुए कहा कि सम्बद्ध होने वाले दो पदार्थों को पृथक् होकर न रहना ही अयुतसिद्धत्व है। अयुतसिद्धों में जैसे इन तन्तुओं में पट है इस प्रकार का ज्ञान इह के सम्बन्ध के बिना सम्भव नहीं है। अतः इस प्रकार के विशेषणविशेष्यावगाही ज्ञान के लिए किसी सम्बन्ध की आवश्यकता है। यह सम्बन्ध ही समवाय है। उप., पृ. 440-41

270. न्या. सि. मु., पृ. 130

271. त. दी. , पृ. 62

272. न चासौ संयोगः सम्बन्धिनामयुतसिद्धत्वात्। प्र. पा. भा., पृ. 291

273. प्र. पा. भा., पृ. 296

274. न्या. क., पृ. 782- 83

275. इण्डियन फिलासफी, भाग 2, पृ. 218

276. त. सं. पृ. 19

277. समवायोऽपि च नैको जलादेर्गन्धादिमत्त्वप्रसङ्गात्, परन्तु नानैव। समवायत्वं तु पुनरनुगतम् अखण्डोपाधिः। प. त. नि., पृ. 87

278. सामान्यादीनां त्रयाणां स्वात्मसत्त्वम्। प्र. पा. भा., पृ. 6

279. एवं तार्किकमते समवायोऽपि पदार्थान्तरम्। श. त., ग्र. 12.1

280. तत्र मानं तु गुणक्रियासामान्यविशिष्टबुद्धयो विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया विशिष्टबुद्धित्वाद् दण्डी पुरुष इति विशिष्टबुद्धिवदित्यनुमानम् । तस्य चानेकत्वे गौरवाल्लाघवादेकसमवायसिद्धिः। श. त., ग्र. 12.1

281. न च संयोग एवास्तु, द्रव्ययोरेव संयोग इति नियमात्। श. त., ग्र. 12.1

282. न च स्पर्शसमवायरूपसमवाययोरैक्याद् वायौ रूपवत्ताबुद्धेः प्रमात्वप्रसङ्गः, रूपनिरूपितत्वविशिष्टसमवायनिरूपिताधिकरणताया एव रूपसम्बन्धत्वात् तस्य वायावभावात् पृथिव्यां गन्धसमवायो, न जले इत्यादिप्रतीतेः समवायस्य नानात्वमिति नव्याः। श. त., ग्र. 12.1

83. अत्र शाब्दिकाः समवायो न पदार्थान्तरम्, मानाभावात्। श. त., ग्र. 12.2

284. न चानुमानं मानम्, तस्य सम्बन्धविषयकत्वेन स्वरूपसम्बन्धेनैवोपपत्तेः। श. त., ग्र. 12.2

285. किञ्च रूपप्रतियोगिकसमवायेन घटादेः सम्बन्धो वाच्यः। स च स्वरूपसम्बन्ध एव। श. त., ग्र. 12.2

286. एवञ्च समवायस्वीकारेऽपि स्वरूपसम्बन्धस्यावश्यकत्वात् तेनैव निर्वाहे मास्तु समवायः। श. त.,ग्र. 12.2

287. अन्यथा तव मते समवायवद्भूतलेऽभावस्यापि वैशिष्ट्यं सम्बन्धान्तरं सिध्येत्। श. त., ग्र. 12.2

288. ननु तन्नित्यमनित्यं वा? ....आत्मनो विभुत्वनित्यत्वेऽपि प्रतिशरीरं भेदवदभावस्यापि प्रतियोगिभेदेन भेदस्वीकारे बाधकाभावात्। श. त., ग्र. 12.2

289. वैशेषिकसूत्रों में पदार्थपरिगणन क्रम में छह पदार्थो का उल्लख है। महर्षि कणाद को अभाव पदार्थ स्वीकार्य था या नहीं यह विद्वानों के मतभेद का विषय है। जहां श्रीधराचार्य (न्या. क. पृ. १८) एवं उदयनाचार्य (किरणा., पृ. ६) यह मानते है कि महर्षि कणाद को अभाव पदार्थ मान्य था किन्तु उन्होंने इसका पृथक् निर्देश इसलिए नहीं किया कि वह भावपरतन्त्र है। उदयनाचार्य का कथन है कि महर्षि ने षट् पदार्थ परिगणन के द्वारा भाव पदार्थो को दर्शाया है। वैशेषिक पदार्थ दो प्रकार के है । भावरूप तथा अभावरूप । भाव पदार्थ छः है तथा अभाव दूसरी कोटि का पदार्थ है। (अभिधेयः पदार्थः । स द्विविधः - भावाभावभेदात् । तत्र नञर्थविषयत्वरहितप्रत्ययविषयोऽभावः। स षोढा द्रव्यादिभेदात्।

तथा नञर्थप्रत्ययविषयोऽभावः। लक्षणा. पृ. 1-2)

290. यह निर्विवाद है कि शिवादित्य एवं उदनाचार्य ने स्पष्ट रूप से अभाव को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्पष्ट रूप से स्थान दिया। (द्र. स. प., पृ. 4; लक्षणा. पृ. 1-2)

291. त. सं., पृ.6; भा. प., पृ. 30; मा. मनो. पृ. 132; प्र. मं., पृ. 3; त. भा., पृ. 235

292. मा. मनो., पृ. 131-133; न्या. क., पृ. 553-558

293. स चाभावः क्वचित् प्रत्यक्षः क्वचिच्चानुमानिक इति लोकसिद्धमेवेत्यर्थः। किरणा., पृ. 327

294. सन्निकर्षः पुनः षोढा भिद्यते। संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः विशेषणविशेष्यभावश्चेति। न्या. वा., न्या.सू. 1.1.4, पृ. 72

295. न्या. क., पृ. 463

296. तदभावविशिष्टभूतलग्रहणम् । न्या. क., पृ. 555

297. स. प., पृ. 85- 87, लक्षणा., पृ. 26, न्या. कं., पृ. 556

298. अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः।
प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽत्यन्ताभाव एव च।।
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते। भा. परि., का. 12-13

299. प्रागुत्पत्तेः कारणेषु कार्यस्याभावः प्रागभावः, तत्र कार्योत्पत्तेः पूर्वमभावो विशेषस्य। न्या. क., पृ. 556

300. अनादिः सान्तः प्रागभावः। स. प., पृ. 85; त. सं., पृ.169

301. उत्पन्नस्य स्वरूपच्युतिः प्रध्वंसाभावः। स चोत्पत्तिमानप्यविनाशी भावस्य पुनरुपलम्भात्। न्या. कं., पृ. 556

302. सादिरनन्तः प्रध्वंसाभावः। स. प., पृ. 86

303. अत्यन्ताभावो यदसतः प्रतिषेध इति। न्या. क., पृ. 557

304. वैशेषिक सूत्र में इसे तीनों अभावों से भिन्न अभाव के रूप में कहा गया है - यच्चान्यदसतस्तदसत् वै. सू. 9.1.5; उदयनाचार्य ने पूर्व एवं उत्तर काल अवधियों से रहित संसर्गाभाव को अत्यन्ताभाव कहा है। उप., पृ. 472 ; विश्वनाथ ने नित्य संसर्गाभाव को अत्यन्ताभाव कहा है - नित्यसंसर्गाभावत्वमत्यन्ताभावत्वम् न्या. सि. मु., पृ. 73 ; तर्कसंग्रह में त्रैकालिक संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को अत्यन्ताभाव कहा गया है। त. सं., पृ. 171

305. अनादिरनन्तः संसर्गाभावोऽत्यन्ताभावः। स. प., पृ. 86

306. सामयिकाभावोऽत्यन्ताभाव एव समयविशेषे प्रतीयमानः। त. दी., पृ. 174

307. सच्चासत्। वै. सू. 9.1.4

308. तादात्म्यनिषेधोऽन्योन्याभावः। स. प., पृ. 87 तादाम्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावोऽन्यान्याभावः। लक्षणा., प्रकाश, पृ. 26-27 अन्योन्याभावत्वं तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिकाभावत्वम्। न्या. सि. मु., पृ. 72 तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः यथा घटः पटो न भवतीति। त. सं., पृ. 172

309. तार्किकास्तु अभावः पदार्थान्तरम्।..................इत्याहुः। श. त., ग्र. 13.1

310. अत्र शाब्दिकाः अभावस्य केवलाधिकरणस्वरूपेणैवोपपत्तेरतिरिक्तत्वे मानाभावः। श. त., ग्र. 13.2

311. न चाभावाधिकरणयोरभेदे भूतले घटाभाव इत्येवमाधाराधेयभावो न स्यादिति वाच्यम्, यथा घटाभावो घटो नास्तीत्यादौ तवाभावाधिकरणकाभावस्याधिकरणानामेकत्वेऽप्याधाराधेयभावस्तथा ममापीति दोषासम्भवात्। नन्वेवं भूतले घटाभाव इतिवद् भूतले भूतलमिति प्रतीत्यापत्तिरिति चेन्न, यद्धर्मविशिष्टयद्धर्मावच्छिन्नवत्ता यत्र न प्रतीयते तद्धर्मावच्छिन्ने तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपिताधिकरणता नोपेयते। श. त., ग्र. 13.2

312. एवञ्च भूतले भूतलत्वावच्छिन्ननिरूपिताधिकरणत्वाभावाद् भूतले भूतलमिति प्रतीतेरभावः। भूतले घटाभाववत्त्वावच्छिन्ननिरूपिताधिकरणतायाः स्वीकाराच्च भूतले घटाभाव इति प्रतीतिसम्भवः। ननु यत्र घट आनीतस्तदधिकरणं घटाभावस्वरूपं न वा ? आद्ये घट आनीतेऽपि घटो नास्तीति प्रत्ययः स्यात्, अन्त्ये घटे नीतेऽपि घटो नास्तीति प्रत्ययो न स्यादिति चेन्न, अधिकरणातिरिक्ताभाव-वादिनोऽपि मतेऽत्यन्ताभावस्य नित्यत्वाद् घट आनीतेऽपि तदभावप्रत्ययस्य तुल्यत्वात्। श. त., ग्र. 13.3

13. अथ घटानधिकरणकालाद्यवच्छिन्नतत्तद्भूतलादिकमेव घटाभावस्य सम्बन्धः। तेन सम्बन्धेन घटवति भूतले घटाभावस्याविद्यमानत्वात् न घटवति घटात्यन्ताभावबुद्धिरिति ब्रूषे तर्हि समं ममापि। एतावान् परं विशेषः तव तथासम्बन्धाभावान्न तथा प्रतीतिः मम तु तादृशाधिकरणाभावान्न तथा प्रतीतिः। श. त., ग्र.13.3

314.1 अथवा विशिष्टसत्ताया अनतिरेकेऽपि यथा गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तानिरूपिताधिकरणताया गुणे सत्त्वाद् गुणो गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तावानिति प्रत्ययाभावस्तथा ममापि सघटभूतले तत्कालावच्छेदेन घटाभावाधिकरणताया अनङ्गीकारान्न घटाभाववत्ताबुद्धिप्रसङ्गः। एतेन कपाले घटो भविष्यति घटो नष्ट इति प्रतीतेरस्ति कपाले पूर्वं घटप्रागभाव उत्तरकाले घटध्वंसः। स यदि कपालात्मा तदा प्रागभावनाशकाले ध्वंसानुत्पत्तिक्षणे च कपालस्य सत्त्वात् तत्प्रतीतिः स्यात्। ध्वंसप्रागभावयोर्घटकाले सत्त्वेऽपि प्रतीत्यस्वीकारे तद्रूपकपालप्रतीतिर्न स्यादिति दूषणमपास्तम्। तत्रापि घटकालावच्छेदेन घटप्रागभावध्वंसाधिकरणताया अनभ्युपगमात्। श. त., ग्र. ग्र. 13.4

314.2 न चात्यन्तिकदुःखध्वंसरूपमोक्षस्यात्मरूपत्वेन असाध्यत्वापत्तिः, ...मन्मते तु शब्दरसगन्धाधिकरणविशेषाणां तत्तदिन्द्रियग्राह्यत्वमात्रं कल्प्यमिति महल्लाघवम्। श. त., ग्र. 13.5

314.3 किञ्च घटाभाववति घटोपलब्धावपि घटाभावप्रत्ययवारणार्थं योग्यानुपलब्धेरपि अभावग्रहे हेतुत्वं त्वया वाच्यम्, तत्र योग्यस्य प्रतियोगिनोऽनुपलब्धिर्योग्यानुपलब्धिर्योग्येति वा योग्या वा सा चानुपलब्धिश्चेति वार्थः? नाद्यः, ... न द्वितीयः... मया त्विन्द्रियसंयोग उन्नेयः। श. त., ग्र. 13.6

संकेतसूची

उप. – उपस्कार

क. र.	– कणादरहस्य
ग्र.	– ग्रन्थांश
त. चि.	– तत्त्वचिन्तामणि
त. कौ.	– तर्ककौमुदी
त. दी.	– तर्कदीपिका
त. भा.	– तर्कभाषा
त. सं.	– तर्कसंग्रह
दिन.	– दिनकरी
न्या. क.	– न्यायकन्दली
न्या. कु.	– न्यायकुसुमांजलि
न्या. को.	– न्यायकोशः
न्या. बो.	– न्यायबोधिनी
न्या. भा.	– न्यायभाष्यम्
न्या. मं.	– न्यायमंजरी
न्या. ली.	– न्यायलीलावती
न्या. वा.	– न्यायवार्तिक
न्या. वा. ता. टी.	– न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका
न्या. सि. मु.	– न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
न्या. सू.	– न्यायसूत्रम्
प. त. नि.	– पदार्थतत्त्वनिरूपणम्
प. म.	– पदार्थमण्डनम्
प. दि. च.	– पदार्थीयदिव्यचक्षुः
पस्पशा.	– पस्पशाह्निक
प्र. पा. भा.	– प्रशस्तपादभाष्य
प्र. म.	– प्रमाणमंजरी
भा. परि.	– भाषापरिच्छेदः
म. भा.	– महाभाष्यम्
मा. मनो.	– मानमनोहरः

राम.	– रामरुद्री
लक्षणा.	– लक्षणावली
ल. मा.	– लक्षणमाला
वा. प.	– वाक्यपदीयम्
वै. सू.	– वैशेषिकसूत्रम्
वै. म.	– वैयाकरणमतोन्मज्जनम्
वै. म. टी.	– वैयाकरणमतोन्मज्जनटीका
श. क.	– शब्दकल्पद्रुमः
श. त.	– शब्दार्थतर्कामृतम्
स. प.	– सप्तपदार्थी

आधार ग्रन्थ –

शब्दार्थतर्कामृतम्, मौनिश्रीकृष्णभट्ट, सं. ललित कुमार त्रिपाठी, जर्नल आव् गंगानाथझा केन्द्रीयविद्यापीठ, 2007, अंक 63, 2009

सन्दर्भग्रन्थ-सूची

- अष्टाध्यायी, पाणिनि,सं.श्री गोपालदत्तपाण्डेय, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, 2009
- Encyclopedia of Indian Philosophies, Vol. 1, Section I, II, Karl H. Potter, Motilal Banarasidass Publishers Private Limited, Delhi, Third Edition, 1983, Reprint, 2009
- उद्योतः (महाभाष्यप्रदीपोद्योतः), नागेशभट्ट, (व्याकरणमहाभाष्यम्),सं. नन्दकिशोरशास्त्री, वाराणसी 1938, पुनर्मुद्रण, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली1999
- कणादरहस्यम् , शंकरमिश्र, सं. विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, चौ. सं. सीरीज 9, बना 1897
- किरणावली, उदयनाचार्य, सं. विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, चौ. सं. सी. 9, 1897
- किरणावली प्रकाश,वर्धमान उपाध्याय, सं. बदरीनाथ शास्त्री,सरस्वतीभवनटैक्ट्स सीरीज 45,1933
- किरणावलीप्रकाशदीधिति, रघुनाथशिरोमणि, सं.बदरीनाथशास्त्री, सरस्वतीभवनटैक्ट्स सीरीज 38,बना.1932
- तर्कभाषा, केशवमिश्र, सं. बदरीनाथशुक्ल, मोतीलालबनारसीदास, वाराणसी 1968
- तर्कसंग्रहः, अन्नंभट्ट, तर्कदीपिका, किरणावली, न्यायबोधिनी, पदकृत्यसमेतः, सं. वामाचरणभट्टाचार्य, वाणीविलासप्रकाशन, वाराणसी, 1989

- तत्त्वसंग्रहः, शान्तरक्षित, सं. स्वामी द्वारकादास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, 1968
- न्यायकन्दली, श्रीधराचार्य, सं., दुर्गाधरझा, गंगानाथझाग्रन्थमाला 1, वारा. 1963
- न्यायकुसुमांजलिः, उदनयनाचार्य, सं. महाप्रभुलालगोस्वामी, मिथिला विद्यापीठ ग्रन्थमाला, 23, 1972
- न्यायभाष्यम्, वात्स्यायन,सं. श्रीनारायणमिश्र, काशीसंस्कृतग्रन्थमाला, 43, वाराणसी, 1970
- न्यायभूषणम्, भासर्वज्ञ,सं. स्वामीयोगीन्द्रानन्द, षड्दर्शनप्रकाशनप्रतिष्ठान, वाराणसी, 1968
- न्यायमंजरी, जयन्तभट्ट, सं. सूर्यनारायणशुक्ल, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी,1971
- न्यायरत्नाकरः, पार्थसारथिमिश्र, सं. द्वारकादास शास्त्री, तारापब्लिकेशन्स, 1978
- न्यायलीलावती, श्रीवल्लभाचार्य, सं. हरिहरशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, 355
- न्यायवार्तिकम्, प्रथम भाग उद्योतकराचार्य, सं. एवं हिन्दी अनुवादक डा. श्रीनिवासशास्त्री, इण्डोविजनप्राईवेट लिमिटेड, नेहरूनगर, गाजियाबाद, 1986
- न्यायवार्तिकम्, द्वितीय भाग उद्योतकराचार्य, सं. एवं हिन्दी अनुवादक डा. श्रीनिवासशास्त्री, इण्डो विजन प्राईवेट लिमिटेड, नेहरूनगर, गाजियाबाद, 1987
- न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पतिमिश्र, सं. राजेश्वरशास्त्री द्राविड, काशीसंस्कृतसीरीज,स. 24, 1925
- न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि, उदयनाचार्य, सं. विन्ध्येश्वरीप्रसादद्विवेदी, बिब्लोथिका इण्डिका, 205, कलकत्ता 1924
- न्यायसार, भासर्वज्ञ, सं. स्वामीयोगीन्द्रानन्द, षड्दर्शनप्रकाशनग्रन्थमाला, 1,वाराणसी
- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, विश्वनाथ, सं. श्रीकृष्णवल्लभाचार्य, काशीसंस्कृतग्रन्थमाला, 212, बनारस, 1972
- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, दिनकरी, दिनकरभट्टाचार्य, सं. हरिरामशुक्ल, वाराणसी 1972
- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली,रामरुद्री, रामरुद्रभट्टाचार्य, सं. हरिरामशुक्ल, वाराणसी 1972
- न्यायसूत्रम्, गौतम, सं.श्रीनारायणमिश्र, काशीसंस्कृतग्रन्थमाला 43, वाराणसी, 1970
- पदार्थतत्त्वनिरूपणम्, रघुनाथशिरोमणि, सं. अनीता राजपाल, अमरग्रन्थपब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2008
- पदार्थदीपिका, कौण्डभट्ट, सं. तात्याशास्त्री,पटवर्धन, राजराजेश्वरीप्रेस, वाराणसी 1900
- प्रदीप (महाभाष्यम्), नागेशभट्ट, (व्याकरणमहाभाष्यम्),सं. नन्दकिशोरशास्त्री, वाराणसी 1938, पुनर्मुद्रण, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली 1999

- पदार्थमण्डनम्, वेणीदत्त, सं.गोपालशास्त्रीनेने, सरस्वतीभवनस्टडीज,30,इलाहाबाद 1930
- प्रशस्तपादभाष्यम्, प्रशस्तपाद, सं. श्रीनारायणमिश्र, काशीसंस्कृतग्रन्थमाला, सं. 173, वाराणसी 1941
- भाषापरिच्छेद (कारिकावली) विश्वनाथ, सं. हरिरामशुक्ल, काशीसंस्कृतसीरीज 6, वारा. 1972
- महाभाष्यम् (व्याकरणमहाभाष्यम्), पतंजलि,सं. नन्दकिशोरशास्त्री, वाराणसी 1938, पुनर्मुद्रण, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली1999
- मानमनोहर, वादिवागीश्वर, सं. स्वामी योगीन्द्रानन्द, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी,1973
- लक्षणमाला, उदयनाचार्य, सं. शशिनाथ झा, दरभंगा, 1963
- वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम्, भर्तृहरि, हरिवृषभकृत स्वोपज्ञवृत्ति एवं पद्मश्रीपण्डित रघुनाथशर्माकृत अम्बाकर्त्रीव्याख्या सहित, सरस्वतीभवनग्रन्थमाला, 91, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सस्क. तृतीय, 1988
- वाक्यपदीयम्, वाक्यकाण्डम्, भर्तृहरि, पुण्यराजकृत टीका एवं रघुनाथशर्मा कृत अम्बाकर्त्रीव्याख्या सहित, सरस्वतीभवनग्रन्थमाला, 91, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, संस्क. द्वितीय, 1980
- वाक्यपदीयम्, पदकाण्डम्, भर्तृहरि, जाति-द्रव्य-सम्बन्ध-समुद्देशत्रयात्मक, श्रीहेलाराजविरचित प्रकाश व्याख्या एवं पद्मश्रीकपण्डितरघुनाथशर्मा कृत अम्बाकर्त्रीव्याख्या सहित, सरस्वतीभवनग्रन्थमाला, 91, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, संस्क. द्वितीय, 1991
- वाक्यपदीयम्, पदकाण्डम्, द्वितीयभाग भूयोद्रव्यगुणदिक्साधनक्रियाकालपुरुषसंख्या-उपग्रहलिङ्गसमुद्देशात्मक हेलाराजविरचित प्रकाश व्याख्या एवं पं. रघुनाथ शर्मा विरचित अम्बाकर्त्री व्याख्या के साथ, सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालय वाराणसी, संस्क. प्रथम, 1991
- वाक्यपदीयम्, पदकाण्डम्, वृत्तिसमुद्देश, हेलाराजविरचित प्रकाश एवं श्रीरघुनाथ शर्मा कृत अम्बाकर्त्री व्याख्या के साथ, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, संस्क. प्रथम, 1977
- वैयाकरणमतोन्मज्जनटीका, वनमालिमिश्र, सं. ललित कुमार त्रिपाठी, भारत भूषण त्रिपाठी, भारतीयविद्यासंस्थान, वाराणसी, 1998
- वैशेषिक सूत्र आफ कणाद, स. एवं आंग्ल अनुवादक देबाशीष चक्रवर्ती, डी. के. प्रिन्टवर्ल्ड प्रा. लिमिटेड, न्यू डेल्ही, 2003
- वै.सू.उपस्कार, शंकरमिश्र, सम्पा. ढुण्ढिराजशास्त्री, काशीसंस्कृतग्रन्थमाला, वाराणसी, 1969

- व्योमवती, व्योमशिवाचार्य, सं. गोपीनाथकविराज, ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ग्रन्थसंख्या 61, 1930
- शब्दार्थतर्कामृतम्, मौनिश्रीकृष्णभट्ट, सं. ललित कुमार त्रिपाठी, जर्नल आफ् गंगानाथझा केन्द्रीयविद्यापीठ, 2007, अंक 63, 2009
- सप्तपदार्थी, शिवादित्य, स. डी गुरुमूर्ति, थियोसोफिकल सोसायटी, आड्यार, मद्रास, 1932
- सर्वदर्शनसंग्रह, माधवाचार्य, स. उमाशंकर ऋषि, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1964
- सूक्तिटीका, जगदीशभट्टाचार्य, सं. गोपीनाथकविराज, ढुण्ढिराजशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज सं. 61, बनारस, 1930
- सेतुटीका, पद्मनाभमिश्र, सं. गोपीनाथकविराज, ढुण्ढिराजशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज सं. 61, बनारस, 1930

सहायकग्रन्थसूची

- अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन, कपिल देव द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, 1951
- Bhratrihari : A study of Vakyapadiya in the light of some ancient Commentaries, K.A. Subrhmania ayer, Deccan College, Poona, 1977
- बौद्धदर्शनमीमांसा, बलदेव उपाध्याय, चौखम्भाविद्याभवन, वाराणसी, 1978
- भर्तृहरि : प्राचीन टीकाओं के प्रकाश में वाक्यपदीय का एक अध्ययन, हिन्दी अनुवाद (Bhratrihari : A study of Vakyapadiya in the light of some ancient Commentaries) ,राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1981
- पाणिनीयव्याकरणे वैशेषिकतत्त्वमीमांसा, डा. रामशरणशास्त्री, 1976, प्राप्तिस्थान-वैद्यभीमसेनशास्त्री, 537, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली
- वैशेषिक दर्शन में पदार्थनिरूपण, डा. शशिप्रभा कुमार , प्रकाशन विभाग दिल्लीविश्वविद्यालय, दिल्ली 1992
- वाक्यपदीय - सम्बन्धसमुद्देश, हेलाराजीय व्याख्या के आलोक में एक विवेचनात्मक अध्ययन Vishweshwaranand Vishva Bandhu Institute of Sanskrit and Indological Studies, Punjab University, Hosiarpur, 1977

□□

सृष्टिक्रम में स्त्रष्टा का अवतरण : एक आलोडन

देवेन्द्र प्रताप सिंह

सृष्टिक्रम में सृजन और उत्थान के तत्त्व प्रधान हैं। कृषिकर्म में भूमिशोधन, बीजवपन, हरीतिमा का विस्तार, पुष्प की शोभा और फलों की सम्पदा का वैभव भी अधिक समय तक दृष्टिगोचर होता है। इतने पर भी वह स्थिति न तो निर्बाध गति से चलती है और न स्थिर रहती है। कृमि-कीट और पशु-पक्षी उस हरीतिमा को नष्ट करने में तत्पर रहते हैं। ऋतुप्रभाव भी कई बार इस उत्पादन में अवरोध उत्पन्न करता है। अन्ततः एक समय ऐसा आता है जब पकी फसल सूखती और अपनी जीवनलीला समाप्त करती है। उत्पादन का क्रमचक्र चलते रहने के लिए आवश्यक है कि उत्थान के बाद पतन और पतन के बाद उत्थान का क्रम जारी रहे। सूर्य का उदय-अस्त, प्राणियों का जन्म-मरण इस सुनिश्चित तथ्य की सुनिश्चित साक्षी हैं।

सृष्टि की सुव्यवस्था और सुन्दरता देखने ही योग्य है। प्रगतिक्रम का एक इतिहास है, जिसमें नये अध्याय जुड़ते ही जाते हैं। इतने पर भी अवगति का अन्त नहीं। पतन और प्रभाव के तत्त्व अपना काम करते हैं और प्राणियों की सुरक्षा के लिए अधिक जागरूक रहने की प्रेरणा देते हैं। जीवन-प्रवाह का एक सिरा है जन्म, दूसरा मरण। गतिचक्र इसी प्रकार बनता है। विस्तार सीधा चलते रहे उतना स्थान इस ब्रह्माण्ड में नहीं है। इसीलिए उसे चक्रगति से परिभ्रमण करने के लिए बाधित किया गया है। पहिये नीचे जाते और ऊपर उठते हैं। सृष्टिक्रम में भी यही होता है। शैशव, किशोरावस्था एवं यौवन पूर्ण होते-होते जरा का आना आरम्भ हो जाता है और अन्ततः मरण के अतिरिक्त और कोई समाधान रह नहीं जाता है। यह मरण भी अन्तिम नहीं है। जीवन-समापन के दिन से ही नव-जीवन की भूमिका आरम्भ हो जाती है। मृतक को नवीन जन्म मिलता है। गीता में कहा ही गया है -

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।[1]

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।[2]

असमर्थ वयोवृद्ध के सामने मरण की निराशा तो रहती है पर उससे अगला कदम अभिनव शैशव के रूप में दूरदर्शी ज्ञानचक्षु आसानी से देख सकते हैं। निराशा की सघन तमिस्रा को प्रत्यक्ष देखते हुए भी ऊषा द्वारा नवीन अरुणोदय का आश्वासन हर आस्थावान् को उपलब्ध हो सकता है। मनुष्यों की मनःस्थिति के समष्टि-प्रवाह में ही उत्थान-पतन के पन्ने पलटते रहते हैं। सृजन प्रधान है, उत्कर्ष तथ्य है। शालीनता के साथ व्यवस्था जुड़ी हुई है। यही जीवन है, यही विस्तृत है। यही सुनिश्चित है। इतने पर भी पतन और

प्रभाव से छुटकारा नहीं। घुन छोटा होता है, चिनगारी छोटी होती है और विषाणुओं की सत्ता भी नगण्य है, फिर भी वे चुपके-चुपके इतना कर गुजरते हैं कि मरण अथवा उसके समतुल्य संकट का सामना करना पड़ता है। विश्व के इतिहास में ऐसी संकट की घड़ियाँ अनेक बार आई हैं, जिनमें विनाश के घटाटोप बादल छाये ही नहीं, भयानक रूप से गरजे और सब कुछ डुबा देने की चुनौती लेकर मुसलाधार बरसे हैं। इसी आशंका ने जन-जन को भयाक्रान्त किया है कि विपत्ति का प्रभाव सर्वनाश करके ही छोड़ेगा।

यह सब होते हुए भी स्रष्टा अपनी इस अद्‌भुत कलाकृति विश्व-वसुधा को, मानवी सत्ता को, सुरम्यवाटिका को विनाश के गर्त में गिरने से पूर्व सजाता और अपनी सक्रियता का परिचय देता है और परिस्थितियों को उलटने का चमत्कार उत्पन्न करता है। यही अवतार है। संकट के सामान्य स्तर से तो मनुष्य ही निपट लेते हैं, पर जब असामान्य स्तर की विपन्नता उत्पन्न हो जाती है, तो स्रष्टा को स्वयं ही अपने आयुध सँभालने पड़ते हैं। उत्थान के साधन जुटाना भी कठिन है पर पतन के गर्त में द्रुतगति से गिरने वाले लोकमानस को उलट देना कठिन है। इस कठिन कार्य को स्रष्टा ने समय-समय पर स्वयं ही सम्पन्न किया है –

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।[3]

शरीर में हर घड़ी विषाक्तता उत्पन्न होती रहती है और उसकी सफाई का व्यवस्थाक्रम भी स्वसंचालित रीति से चलता रहता है। कोशिकाओं का मरण, आहार का परिशोधन, गतिक्रम में अवरोध, बाह्य आघात जैसे अनेकों कारण कायसत्ता के अन्तःक्षेत्र में विकृतियाँ उत्पन्न करते हैं। प्रकृति ने इनकी परिशोधन-पद्धति का भी काया के साथ-साथ ही निर्माण किया है। मलमूत्र, स्वेद, कफ, श्वास आदि के माध्यम से अनुपयुक्त का निष्कासन होता है। रक्त के श्वेतकण बाहर से आने वाले विषाणुओं से जूझने और उन्हें परास्त करने में निरन्तर अपना प्रयास सजग प्रहरी की तरह जारी रखते हैं। थकान की क्षतिपूर्ति विश्राम से होती रहती है।

यह विश्व भी विराट् ब्रह्म का शरीर है। इसमें भी पिण्ड-काया जैसी व्यवस्था काम करती है। प्रकृति का सृजन और विकृति का विसर्जन, निर्माण और ध्वंस की आँखमिचौली खेलते रहते हैं। इसी को अनवरत क्रम से चलने वाला देवासुर-संग्राम कहते हैं। ईसाई, मूसलिम धर्मों में इसी को शैतान-भगवान् की प्रतिद्वन्द्विता कहा जाता है। मन का स्वभाव पानी की तरह नीचे की ओर चलना है। मनुष्य शरीर मिलने पर भी निम्न योनियों के संगृहीत कुसंस्कार अपनी जड़ जमाये बैठे रहते हैं। मानवीय मर्यादाओं का धर्म अध्यात्म, कानून-व्यवस्था, सुप्रचलन आदि के द्वारा उद्‌बोधन-उत्तेजन होता रहता है। फिर भी कुसंस्कारिता अपनी करतूत करती ही रहती है। अनगढ़ व्यक्तियों के चिन्तन में भ्रष्टता और चरित्र में दुष्टता का बाहुल्य रहता ही है। सज्जन प्रकृति के लोग भी यदा-कदा अवांछनीयता की कीचड़ में फिसलते देखे गये हैं। इस अनुपयुक्तता से जूझना भी उतना ही आवश्यक है जितना कि सृजन के साधन जुटाना।

घर में भोजनालय की तरह ही शौचालय की व्यवस्था करनी पड़ती है और रसोईदारिन की तरह ही महतरानी की भी आवश्यकता रहती है। उपार्जन के साथ-साथ ही सुरक्षा की योजना बनानी पड़ती है। भण्डारी की तरह चौकीदार का भी दर्जा है। अगरबत्ती जलाकर सुगंध बिखेरने की ही तरह नाली में फिनायल छिड़कने की भी आवश्यकता रहती है। किसान बीज बोने के बाद पानी की व्यवस्था जुटाने की

तरह ही वन्यपशुओं और कृमि-कीटकों से फसल को बचाने का भी प्रबन्ध करता है। माली के श्रम की सार्थकता फलों को पक्षियों से बचाने का प्रबन्ध किये बिना हो नहीं सकती। सरकारें शिक्षा, चिकित्सा, परिवहन, सिंचाई, बिजली, उद्योग आदि के अभिवर्द्धन में जितना ध्यान देती हैं, लगभग उतना ही व्यय उन्हें पुलिस, जेल, कचहरी, सेना, शस्त्रनिर्माण आदि पर करना पड़ता है। मात्र सृजन ही अभीष्ट नहीं, ध्वंस का अवरोध भी एक तथ्य है। जिसकी ओर से आँख मींच सकना न कायसत्ता के लिए, न विश्व-व्यवस्था के लिए, न व्यक्ति के लिए और न समाज के लिए संभव होता है। उपार्जन एवं सृजन की कितनी ही महत्ता क्यों न हो, उसकी अपूर्णता तब तक बनी रहेगी जब तक विनाश के विघातक तत्त्वों से निपटने का प्रबन्ध न किया जाए। मानवी और दैवी व्यवस्थाक्रम में दोनों का ही समुचित समावेश पाया जाता है। इस क्रम में जब भी असंतुलन पड़ता है तभी विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं और विडम्बनाओं का सामना करना होता है।

उपयोगी का अभिवर्द्धन करने के लिए सृजन के तत्त्व गतिशील रहते हैं। उन्हीं के पुरुषार्थ से भौतिक और आत्मिक जगत् में समृद्धि और संस्कृति की सुषमा-हरीतिमा इस विश्व-वसुधा पर दृष्टिगोचर होती है, साथ ही निकृष्टता की विनाश लीला को निरस्त करने के लिए प्रखर पराक्रम भी अपना जौहर दिखाता रहता है। शौर्य और साहस इसी का नाम है। श्रेष्ठता के संवर्द्धन और निकृष्टता के उन्मूलन में नियोजित मानवी-प्रखरता को ही त्याग-बलिदान कहते हैं। धर्मग्रन्थों के ऋषि प्रायः सृजनकृत्य में संलग्न रहे हैं। उन्होंने सर्वतोमुखी प्रगति के महत्त्वपूर्ण आधार खड़े किए हैं। साधु और ब्राह्मण की परम्परा इन्हीं पुण्य-प्रयोजनों में प्रगतिशील रही है। वीर-बलिदानियों का वर्ग क्षत्रिय है। क्षत्रधर्म भी ब्रह्म के समकक्ष ही माना गया है और उसकी शक्ति भी समतुल्य ही आँकी जाती रही है। ब्रह्म-क्षात्र का समन्वय ही श्रेष्ठता के संवर्द्धन और संरक्षण में समर्थ इकाई बनकर प्रकट होता है। एक ही केन्द्र से दोनों प्रवृत्तियाँ चलें या दो उद्गमों से निकलकर एक लक्ष्य तक पहुँचें, यह परिस्थितियों पर आधारित है, किन्तु पूर्णता समग्रता तभी बनती है जब सृजन का अभिवर्द्धन और ध्वंस का उन्मूलन सन्तुलित गति से अपना आधार सुदृढ़ बनाये रख सके।

कायसत्ता की तरह विश्वसत्ता में भी औचित्य का संवर्द्धन और अनौचित्य का उन्मूलनक्रम रथ के दो पहियों की तरह सहयोगपूर्वक चलता है। यह सुव्यवस्था जब तक सही रूप में बनी रहती है, तब तक प्रगतिक्रम सुनियोजित गति से चलता और सुख-शान्ति का वातावरण बनता रहता है। किन्तु जब असन्तुलन उत्पन्न होता है, अथवा सामंजस्य लड़खड़ाता है, तो संकट की घटाएँ घुमड़ने लगती हैं। जन-जीवन में सृजन की चेतना उच्चस्तरीय रहनी आवश्यक है। धर्म और अध्यात्म का तत्त्वदर्शन इसी की भावनात्मक पृष्ठभूमि खड़ी करता है। सन्त और स्रष्टा अपनी प्रवृत्तियाँ इस प्रयोजन में नियोजित रखते हैं, साथ ही प्रखरता का पराक्रम निकृष्टता को निरस्त करने में अपने शौर्य-साहस का परिचय देते हैं। शान्ति और सुव्यवस्था की सुनिश्चित इन दोनों की सार्थकता और सहकारिता पर ही निर्भर रहती है। यह हुआ सृष्टि की सुव्यवस्था का सन्तुलित प्रगतिक्रम, साथ ही असन्तुलन की अव्यवस्था भी द्रष्टव्य है। जब सृजन के तत्त्व दुर्बल पड़ जाते हैं, तो आत्मिक क्षेत्र में अज्ञान और भौतिक क्षेत्र में दारिद्र्य की विभीषिकाएँ सिर उठाने लगती हैं। इसी प्रकार पतन से जूझने वाली प्रखरता अपनी वरिष्ठता भूलकर ललक-लिप्सा के गर्त में गिरने लगती है, तो निकृष्टता को अपनी विनाशलीला रचने के लिए खुला क्षेत्र मिल जाता है। सृजन की शिथिलता और विनाश की स्वच्छन्दता का असन्तुलन ही व्यक्ति और समाज के सम्मुख अनेकानेक विपत्तियाँ खड़ी करता है। समस्याएँ और कठिनाइयाँ इसी स्थिति में आँधी-तूफान की तरह उठती हैं। सर्वनाशी विभीषिकाओं का

आधारभूत कारण यह असन्तुलन ही है, जिससे देवपक्ष दुर्बल पड़ता है और दैत्य को स्वच्छन्द रहने का अवसर मिलता है।

काया में दुर्बलता, रुग्णता और अकालमृत्यु जैसे संकट तभी खड़े होते हैं जब पोषण घटता है और मालिन्य बढ़ता है। मानसिक तेजस्विता का व्यक्तित्व की उत्कृष्टता का ह्रास भी इसी आधार पर होता है कि चिन्तन और चरित्र में से आदर्शवादिता घटती और दुर्बुद्धिजन्य दुश्चरित्रता बढ़ती जाती है। व्यक्ति के पतन-पराभव का एकमात्र कारण यही है। समाज का उत्थान-पतन भी इसी तथ्य पर आधारित है। सृष्टि का चिरपुरातन इतिहास साक्षी है कि संकट असाधारण रूप से जब कभी, जहाँ कहीं उभरे हैं वहीं सृजन की दुर्बलता और ध्वंस की बलिष्ठता को भी नाना आकार-प्रकार के संकटों को बनते उभरते देखा जा सकता है।

ऐसे ही अवसरों पर स्रष्टा का वह आश्वासन अवतरित होता है जिसमें उसने अपने सुरम्य उद्यान को विनाश के गर्त में गिरने से पूर्व ही बचाते रहने का सुनिश्चित विश्वास दिलाया है –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।[4]

उपर्युक्त प्रतिज्ञा को गीता के उपदेष्टा श्रीकृष्ण ने अर्जुन के सम्मुख ही प्रकट नहीं की है, वरन् इस आश्वासन का उल्लेख शास्त्रों और आप्तवचनों में अनादिकाल से अनवरत होता रहा है। न केवल उल्लेख वरन् उसके प्रकटीकरण का प्रमाण भी समय-समय पर उपलब्ध होता रहा है। दिव्यसत्ता का अवतरण ऐसे ही अवसरों पर होता है। अवतार ऐसी ही विषम परिस्थितियों में प्रकट होते हैं। मनुष्य का पौरुष जहाँ लड़खड़ाता है वहाँ गिरने से पूर्व ही स्रष्टा के लम्बे हाथ असन्तुलन को सन्तुलन में बदलने के लिए अपना चमत्कार प्रस्तुत करते दिखाई पड़ते हैं। यही है स्रष्टा का लीला-अवतरण या प्रकटीकरण। सन्त मनीषी तुलसीदास ने भी इसी तथ्य को अवलोकित किया –

जब-जब होय धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर महा अभिमानी।।
तब-तब राम मनुज तन धरहीं। भक्त हेतु लीला बहु करहीं।।

मात्र धार्मिकता का क्षेत्र ही मानवीय आवश्यकताओं एवं समस्याओं का क्षेत्र नहीं है। उसके बाहर भी बहुत कुछ है। उन क्षेत्रों में भी समस्याओं का समाधान करने वाली शक्तियाँ अनेक महामानवों के रूप में प्रकट होती रही हैं। दर्शन, विज्ञान, शिक्षा, चिकित्सा जैसे क्षेत्रों में छाए हुए अन्धकार को प्रकाश में बदलने वाले व्यक्तित्वों को उनसे लाभान्वित होने वाले एवं श्रद्धालु लोग अवतार ही मानते हैं। दर्शन एवं विज्ञान के महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्रस्तुत करने वाले महामानवों को वैसा ही मसीहा माना जाता है जैसा कि धर्मक्षेत्र के लोग पौराणिक अवतारों को श्रद्धास्पद एवं अभिनन्दनीय मानते हैं। व्यक्तियों को अवतार मानना हो तो मात्र धर्मक्षेत्र की विभूतियों को ही नहीं सन्तुलन में सहायक हर महान् को उसी श्रेणी में गिनना पड़ेगा। ऐसी दशा में उनकी संख्या, सीमा का निर्धारण सम्भव न हो। साथ ही एक कठिनाई और बनी रहेगी कि उनके स्तर के अनुरूप कनिष्ठ-वरिष्ठ का वर्गीकरण भी आवश्यक हो जाएगा। अवतारों की क्षमता और विशिष्टता का मूल्यांकन उनकी कलाओं के मापदण्ड में आंका जाता है। परशुराम जी तीन कला के और रामचन्द्र जी बारह कला के अवतार थे। दोनों एक ही समय में हुए और एक-दूसरे के सम्बन्ध में यथार्थता से अपरिचित बने रहे। मत्स्य, कच्छप, वराह आदि की कलाएँ कम थीं और क्रमिक विकास के अनुसार बढ़ती चली आई। राम बारह कला के, कृष्ण सोलह कला के अवतार थे, बुद्ध बीस के।

पूर्ण कला चौंसठ मानी जाती है। इस प्रकार अब तक के अवतारों को सामयिक परिस्थितियों के अनुसार भी पुरुषार्थ करना पड़ता है, उसके स्तर और विस्तार को देखते हुए उनका महत्त्व, स्तर और पराक्रम भी बढ़ता रहा है।

अपने युग में भगवान् की सत्ता 'प्रज्ञावतार' के रूप में प्रकट हो रही है। इसकी कलाएँ चौबीस हैं। गायत्री के चौबीस अक्षरों में से प्रत्येक को एक कला किरण माना जाता है। इन दिव्य धाराओं में बीज रूप से वह सब कुछ विद्यमान है, जो मानवी-गरिमा को स्थित एवं समुन्नत बनाने के लिए आवश्यक है। सूर्य के सप्त-अश्व, सप्तमुख, सप्तायुध प्रसिद्ध हैं। सविता की प्राणसत्तागायत्री की शक्ति-धाराएँ इससे अधिक हैं। गायत्री के चौबीस अक्षरों में साधनपरक सिद्धियाँ और व्यक्तित्वपरक ऋद्धियाँ अनेकानेक हैं, उनका वर्गीकरण चौबीस विभागों में करने से विस्तार को समझने में सुविधा होती है। चेतना-क्षेत्र में अन्तरंग का परिष्कार और साधन-सुविधाओं का विस्तार यह दोनों ही तथ्य मिलने पर मनुष्य में देवत्व के उदय और समाज में स्वर्णिम परिस्थितियों के विस्तारण की सम्भावना बनती है। प्रज्ञावतार का कार्यक्षेत्र यही है। वह व्यक्ति के रूप में नहीं शक्ति के रूप में प्रकट होगी। जिस व्यक्ति में इस प्रज्ञातत्त्व की मात्रा जितनी अधिक प्रकट होगी वह युगस्रष्टाओं की गणना में आ सकेगा और अपने पुरुषार्थ के आधार पर श्रेय प्राप्त कर सकेगा, इतने पर भी परिवर्तन के लिए अवतरित मूलसत्ता निराकार ही रहेगी। चेतना सदा निराकार ही रहती है। व्यक्तियों में घटाओं के माध्यम से उसके प्रवाह का अनुभव भर किया जा सकता है। पंखा, बल्ब, मोटर, हीटर आदि बिजली से चलते तो हैं, पर वे उपकरण बिजली नहीं हैं। विद्युत् धारक मूलभूत स्वरूप को प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता, उसकी प्रतिक्रिया भर अनुभव की जा सकती है। प्रज्ञावतार का दर्शन भी इसी आधार पर कर सकना सम्भव होगा। उसे किसी व्यक्ति की आकृति में देखा जा सकेगा? हाँ विशिष्ट व्यक्तियों में उसकी ज्योति न्यूनाधिक मात्रा में जलती देखी जा सकेगी। यह ज्योतिपुंज अपनी विशिष्टता का परिचय देते हुए यह प्रमाणित करेगा कि युगपरिवर्तन की ईश्वरीय इच्छा को पूरा करने में वे कितने समर्थ एवं श्रेयाधिकारी बन सके।

अस्तु, अवतार का प्रयोजन डगमगाते सन्तुलन को स्थित करने के लिए सूक्ष्म जगत् में ऐसा भावनात्मक प्रवाह उत्पन्न करता है, जो अपनी प्रेरणा से असंख्य प्राणवानों में नव सृजन के लिए अभीष्ट आवेश उत्पन्न कर सके। धर्म की स्थापना एवं साधुता की सुरक्षा का महान् प्रयोजन इसी प्रकार सम्पन्न होता रहा है।

सन्दर्भ

1. श्रीमद्भगवद्गीता - 2.13
2. वही, 2.22
3. वही, 4.8
4. वही, 4.7

सहायकग्रन्थसूची

• श्रीमद्बाल्मीकीय रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर

- रामचरितमानस – तुलसीदास
- धर्म दर्शन का सर्वेक्षण – डॉ. दुर्गादत्त पाण्डेय
- भारतीय संस्कृतिका विकास, डॉ. मंगलदेव शास्त्रा
- वैदिक–कर्त्तव्य शास्त्र, धर्मदेव विद्यावाचस्पति
- वेदों में मानववाद, डॉ. दिलीप वेदालंकार
- वैदिक साहित्य एवं संस्कृति – बलदेव उपाध्याय
- सामाजिक तथा सांस्कृतिक मानव शास्त्र – कुँवर सिंह तिलारा
- अखण्ड ज्योति – पं. श्रीराम शर्मा आचार्य
- अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन
- सांख्य–सिद्धान्त, उदयवीर शास्त्री
- महाभारत, वन पर्व
- मनुस्मृति, द्वितीय अध्याय
- वैदिक संस्कृति के मूलतत्त्व, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

□□

Daśaratha-Śambara Battle : A note on its locale

ARUN KUMAR

Daśaratha, an *Aikṣāvaka*-king of Ayodhyā is said to have been called upon to render military help to Indra, i.e., his protégés in their fight against *Asura* Sambara. In the historical Epic, *Vālmikīya Rāmāyaṇa*, the locale of this Devāsura-war is placed in Daṇḍakāraṇya to the south of Kośala[1].

As this war was fought in the last century of *Tretā* that ended in C. 5502 B.C.,[2] the earliest of the *Vedas*, *Ṛgveda*, through largely ignored by Pargiter, must throw a flood of welcome light on the matter. It speaks of only one Śambara, against whom *Paurava* king Divodāsa had to put a sustained fight.

Under some genuine misunderstanding *Purāṇas* place Divodāsa among the North Pāñcāla-rulers. In *Ṛgveda*, however, he is called Sarnjaya,[3] a descedant of Srnjaya, son of *Vadhryrasva,*[4] and an ancestor of Sudāsa-*Divodāsam na pitaram Sudasaḥ*[5]. The 6[th], i.e., the earliest *maṇḍala* of the same *veda* speaking in present tense seems to give a contemporary account of his fight with Sambara[6]: Divodāsa is described as destroying Sambara's hundred hill towns,[7] annihilating his hundred thousand warriors,[8] and eventually killing the *Asura* in his mountainous stronghold in the 40[th] year of the war[9] and finally distributing the plundered wealth[10].

Long before Daśaratha, one of his early ancestors, Māndhātā is said to have participated in an expedition against Druhyus, who were settled on the western borders across the river *Sindhu*. Pargiter believes it to have been Māndhātā's independent expedition[11], but we beg to differ. As it is well known, his mother Gaurī was the daughter of Paurava King *Matinara*, and therefore, it is much more likely that he had only rushed to provide much needed succour to his mother's family, which was placed in dire circumstances by Druhyu marauders. A *mantra* in *Ṛgveda* informs that Māndhātā, who had rushed from a distant land to help protect the Paurava land, along with the latters priest Bharadvāja was rescued by the timely intervention of the Aśvin twins[12]. Elsewhere, this very Māndhātā "the first and foremost in sacrifice"[13], is counted along with Aṅgirasa among the ancestors[14].

And again, sometimes after the Daśarajña, fought in the early centuries of Dvāpara, having licked their war- wounds and recouped their losses in men and

material, the border bandits appear again to have become restless. But this time, however, the Vedic Kings appear to have adopted a proactive policy and, deciding to beard the lion in its own den, had sought the help of other contemporary kings to crush the enemy in his own hilly home. From the evidence of some of the misplaced *mantras* in the 6th *maṇḍala* of *Ṛgveda*[15] it appears that, as on the previous occasion, this time, too, the kings and the armies of Ayodhyā had taken commendable part in defending and securing the safety and sanctity of the Mother Land. In a *mantra* Indra is thanked by the Paurava *ṛsi* for bringing succour to Purukutsa by killing the Daśa enemies and destroying their seven *'Saradiya'* puras-winter or wintry resorts.[16] In another one, referring to the same act of Purukutsa, it is said that in earlier times, similar help of Indra had enabled *Sudāsa* to bow down the Daśa enemies like grass in the interest of Pauravas.[17] Elsewhere, Trāsadasya, the son of Purukutsa, and *Sudaśa* both are praised for helping Indra to win the land by destroying the enemies.[18] In yet another *mantra Mitrāvaruṇa* and *Dyāvāpṛthivi* are praised for making Trāsadasyu reclaim the Paurava lands by killing the enemy in ancient times.[19] In the battle Purukutsa and Trāsadasyu, father and son, both had shown exemplary valour,[20] for which, perhaps after the father had lost his life in the battle, the son Trāsadasyu was honoured for the two of them and was held as semigode *'ardhadeva'*[21]. It is not unlikely that seeing Māndhātā and Purukutsa along with his son rendering an almost identical help to the beleaguered Pauravas, the authors/redactors of the *Purāṇas* have mistaken them as father and son. Therefore, calling Purukutsa and his son Trāsadasyu, who were not only contemporaries of *Ṛsi* Viśvāmitra and Sudāsa but also of Samvaraṇa and Sobhari Kaṇva, distant descendents of Aṅgirasa,[22] as son and grandson of Māndhātā does not betray a good historical sense. This. too, proves the untrust-worthiness of the dynastic lists tabulated by Pargiter.[23]

It, as therefore, in view of these two instances, one much before and the other shortly afterwards, not unlikely that Daśaratha, too, may have joined the war against Sambara to help his in-laws. But in view of the good-will that Daśaratha seems to have for beautiful damsels, the open and extrovert nature of the women of the frontier provinces and also the general tendency among women who, howsoever helping and serving may be before or during the early years of marriage, always end by bossing over their unfortunate husbands, it appears much more likely that Daśaratha had joined the expedition only at the behest of Indra, the patron of Divodāsa. It was perhaps only afterwards when the ministration of a *Kekaya* damsel during the war had captured his fancy that he was snared to marry and bring her to Ayodhyā. The genealogical chart of Pargiter that makes Divodāsa and Daśaratha almost contemporaries seems to support out contention.

It, therefore, seems almost certain that in much later period when the texts of the ancient histories including *Vālmikīya Rāmāyaṇa* were finally stabilized the memory of the hilly regions beyond the river Sindhu was lost, the bard historians

under the changed circumstances must have transferred the locale of the fight with Sambara to the known hilly regions of *Daṇḍakāraṇya* in south.

References :

1. पुरा देवासुरे युद्धे सह राजर्षिभिः पतिः, अगच्छत् त्वामुपादाय देवराजस्य साह्यकृत् ।
दिशमास्थाय कैकेयि दक्षिणां दण्डकान् प्रति, वैजयन्तमिति ख्यातं पुरं यत्र तिमिध्वजः ।।
स शम्बर इति ख्यातः शतमायो महासुरः, ददौ शक्रस्य संग्रामं देवसङ्घैर्निर्जितः ।।
तस्मिन्महति संग्रामे पुरुषान् क्षतविक्षतान्, शत्रौ प्रसुप्तान् घ्नन्ति स्म तरसापास्य राक्षसाः ।।
तत्राकरोन्महायुद्धं राजा दशरथस्तदा, असुरश्च महाबाहुः शस्त्रैश्च शकलीकृतः ।।
अपबाह्य त्वया देवि संग्रामान्नष्टचेतनः, तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया ।।
V. Ram., II.9.11-16.

2. See Arun kumar, "भारत का पारम्परिक कालमान : उसकी याथातथ्यता" in *Purabharati* (com. Vol. in respect of Prof. B.P. Sinha), ed. B.R. Mani and Saran, S.C., Delhi 2006, pp. 166-177.

3. *R.V.* 6.47.25

4. *Ibid,* 6.61.1

5. *Ibid,* 7.18.25

. *Ibid,* 6.43.1

. . त्व शतान्यव शम्बरस्य पुरो जघन्धापतीनि दस्योः .... दिवोदासाय–*Ibid,* 6.31.4.

8. शत सहस्र शूरदर्षि । अवगिरेर्दासं शम्बरस्य हन–*Ibid,* 6.26.5

9. यः शम्बरं पर्वतेषु क्षिपन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत् ।
ओजायमानं यो अहिं जघन्ध दानुं शयानं सज्जनास इन्द्रः–*Ibid,* 2.12.11

10. *Ibid.,* 6.47.22. etc.

11. Pargiter, *Ancient Indian historical Tradition,* 1992, pp. 150, 169 and 262

12. परावति मान्धातारं क्षेत्रपत्येष्वावतम् । याभिविप्र प्र भरद्वाजमावतं – *R.V.,* 1.112.13

13. यज्ञेषु पूर्व्य– *R.V.,* 8.39.8

14. पितृवन्नवीयो मान्धातृवदङ्गिरस्वदवाचि–*Ibid,* 8.40.12.

15. Talageri, *The Ṛgveda: A Historical Analysis, 2000,* pp. 67-72

16. *R.V,* 6.20.18

17. *Ibid,* 1.66.7

18. *Ibid*, 3.17.13
19. *Ibid*, 4.38.1
20. ---नृषाह्ये सासह्वं अमित्राम् । सनीलेभिः श्रवस्यानित्वंन–*Ibid*, 1.100.0
21. अथा राजनं त्रसदस्युमस्या वृत्रहणं ददधुरर्धदेवत् - *Ibid*, 4.42.9 and 8.
22. S.K. Talageri, *op. cit.*, Delhi 2000, p. 69.
23. Pargiter, *op. cit.*, 1922, p. 262.

वेदाध्ययन की परम्परा में स्त्रियों का योगदान

गायत्री

वैदिक परम्परा के प्रचार-प्रसार के सन्दर्भ में स्त्रियों की उल्लेखनीय भूमिका रही है। वे न केवल वैदिक सूक्तों की निर्मात्री एवं अध्येत्री थीं वरन् कर्मकाण्ड, तपश्चरण और शास्त्रार्थ जैसे क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार भी रखती थीं। वैदिक साहित्य में ऐसी अनेक ऋषिकाओं का उल्लेख मिलता है, जो ऋक्सूत्रों की द्रष्टा थीं। वागम्भृगी, लोपामुद्रा, विश्ववारा, आत्रेयी, घोषा, अपाला इत्यादि कुछ ऐसी विदुषी ऋषिकाओं के नाम हैं, जो अत्यधिक विख्यात थीं। वैदिकयुगीन स्त्रियाँ न केवल वेदमन्त्रों की रचना और अध्ययन करने में आगे थी, अपितु औपनिषद् दर्शन के प्रचार प्रसार में भी उन्होंने अच्छा योगदान किया था। इन दार्शनिक महिलाओं में गार्गी, मैत्रेयी आदि कुछ ऐसे नाम हैं, जो वेदान्त क्षेत्र में पुरुषों से किसी भी प्रकार से कम न थीं।

आज हमारे समाज में यहाँ तक कि विश्व में ऐसी भ्रान्तियाँ व्याप्त हो गई हैं कि वैदिक परम्परा के विकास में स्त्रियों का न कोई योगदान था और न ही वर्तमान उन्हें वेदमन्त्रों के पाठ करने या यज्ञ कराने का अधिकार है। ऐसी भ्रान्तियाँ न केवल अशिक्षित और अल्पशिक्षित कतिपय स्वार्थी पुरुषों के द्वारा पुष्पित पल्लवित की जा रही हैं, प्रत्युत शंकराचार्य जैसे महाज्ञानी पुरुष का उत्तराधिकार ग्रहण करने वाले और हिन्दू-धर्म की ध्वजा संभालने का उत्तरदायित्व लेने वाले कतिपय वेदान्तियों द्वारा भी संवर्द्धित हो रही हैं। इनके द्वारा स्त्रियों के वेदपाठ को निषिद्ध ठहराया जा रहा है। वर्तमान समय में स्त्रियों को द्वितीय श्रेणी जैसी शोचनीय स्थिति में ले जाने के साथ-साथ वैदिक परम्परा एवं हिन्दूधर्म की दयनीय स्थिति का कारण भी ऐसे ही संकीर्ण विचारधारा वाले व्यक्तियों के विचार हैं। ऐसी ही भ्रान्तियों के वशीभूत होकर हमारी प्राचीन संस्कृति नष्ट होती जा रही है। ऐसी दशा में यह वैचारिक विषय है कि "क्या सचमुच वेदपाठ एवं यज्ञादि-सम्पादन-विषयक अधिकार स्त्रियों को नहीं है ? इसके समाधान हेतु वैदिक एवं पौराणिक संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में स्त्रियों के योगदान सम्बन्धी तथ्यों पर एक विहंगम दृष्टि डालना अपरिहार्य हो जाता है। निम्नलिखित विवरण से तत्सम्बन्धी जिज्ञासाओं के समाधान में आपत्तियों का निराकरण हो सकता हैं।

स्त्रियों द्वारा वेदमन्त्रों का प्रणयनकार्य

ऋग्वेद के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस युग में अनेक ऐसी ऋषिकाएं हुई थीं; जिन्होंने सौ से अधिक सूक्तों की रचना की थी। इनमें 1. श्रद्धाकामायनी, 2. शची पौलोमी 3. वागम्भृणी 4. सार्पराज्ञी 5. यमीवैवस्वती 6. शश्वती अंगरसी 7. यमी 8. रोमशा ब्रह्मवादिनी 9. गोधा ऋषिका 10. नदी ऋषिका 11. लोपामुद्रा 12. विश्ववारा आत्रेयी 13. सरमा ऋषिका 14. जुहूः ब्रह्मजाया 15. इन्द्रमति 16. उक्थ्यी 17. सूर्या सावित्री 18. अदिति दाक्षायणी 19. घोषा काक्षीवती 20. अपाला आत्रेयी 21. देवजामय जैसी

ऋषिकाओं के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके द्वारा विरचित सूक्त ऋग्वेद के प्रथम और दशम मण्डल में देखे जा सकते हैं। वागम्भृणी नामिका ऋषिका द्वारा दृष्ट वाक्सूक्त[1] को परमात्मा या ब्रह्म के साथ आत्मा की एकरूपता को स्वीकार करने वाले वेदान्तदर्शन का प्रारम्भिक स्वरूप कहा जा सकता है। प्रायः सभी विद्वानों ने इस सूक्त में की गई आत्मस्तुति को आध्यात्मिकता से युक्त माना है। न केवल वेदान्त–दर्शन अपितु शब्दब्रह्म की अवधारणा वाले व्याकरण–दर्शन में भी इसकी पर्याप्त महत्ता है। 'अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां'[2] इत्यादि उक्तियों में निहित राष्ट्रप्रेम जैसी उदात्त कल्पनाओं का मूलस्रोत वागम्भृणी ऋषिका द्वारा दृष्ट वाक्सूक्त ही है। इस सूक्त में वाक् या शब्दब्रह्म को चराचर में व्याप्त कहा गया है।

2. स्त्रियों द्वारा वेदाध्ययन की प्रामाणिकता

वैदिकयुगीन स्त्रियाँ ज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र में पुरुषों से कम नहीं थीं वे वैदिकमन्त्रों की द्रष्टा ही नहीं होती थीं अपितु शिक्षाप्राप्ति हेतु ब्रह्मचर्यव्रत को भी धारण करती थीं। पुरुषों की भाँति ही विद्यारम्भ से पूर्व उनका उपनयन–संस्कार किया जाता था। **''प्रावृत्तां यज्ञोपवीतिनीम् अभ्युदानं यञ्जपेत सोमोऽददत् गन्धर्वायेति''**[3] इत्यादिरूप गोभिल–गृह्यसूत्रगत विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि स्त्रियों का भी उपनयन–संस्कार मन्त्रों के उच्चारण के साथ सम्पन्न होता था। इसी प्रकार ब्रह्मचर्यजीवन की समाप्ति के पश्चात् उनके समावर्तन–संस्कार का भी विधान है। आश्वलायनगृह्यसूत्र के चतुर्थ अध्याय के खण्ड 6 के नवमसूत्र की व्याख्या में हरदत्त के सब्रह्मचारी पद[4] की व्याख्या से भी स्त्रियों के उपनयन और समावर्तन संस्कार की पुष्टि होती है –

''उपनयनादारभ्यासमावर्तनायः सहव्रतं चरितवान्नेकस्मिन्नाचार्ये स सब्रह्मचारी।''

उक्त विवरणों से यह स्पष्ट है कि ऋग्वैदिककाल से लेकर सूत्रयुग पर्यन्त स्त्रियों का ब्रह्मचर्यपालन और वेदाध्ययन अबाधितरूप से प्रतिपादित है। वैदिक ग्रन्थों में दो प्रकार की ब्रह्मचर्यव्रतधारिणी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है – 1. सद्योवधू और 2. ब्रह्मवादिनी।

सद्योवधू स्त्रियाँ विवाह के पूर्व तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करती थीं। सम्भवतः उनका समावर्तन–संस्कार विवाह के समय ही सम्पन्न होता था। ये स्त्रियाँ विवाह के पूर्व तक वेदमन्त्रों और याज्ञिक प्रार्थनाओं (मन्त्रों) का ज्ञान प्राप्त करती थीं जैसा कि ''गोभिलगृह्यसूत्र'' में उल्लेख है – **पञ्चादग्नेः संवेष्टितङ्कटमेवं जातीयं वा अन्यत्पदा प्रवर्तयन्तीं वाचयेत ''प्र मे पतिया नः पन्थाः कल्पताम्''**[5] इति।

ब्रह्मवादिनी वे स्त्रियाँ थीं, जो आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अध्ययन में लीन रहती थीं और विवाह नहीं करती थीं। ब्रह्मर्षि कुशध्वज की कन्या 'वेदवती' एक ऐसी ब्रह्मवादिनी थी। जिसने तपस्या के द्वारा इतनी शक्ति अर्जित कर ली थी कि रावण जैसे दुर्धर्ष पराक्रमी का भी उसने तिरस्कार कर दिया –

कुशध्वजो नाम पिता ब्रह्मर्षिरमितप्रभः,
बृहस्पतिसुतः श्रीमान् तुल्यो वृहस्पतेः।
तस्याहं कुर्वतो नित्यं वेदाभ्यासं महात्मनः,
सम्भूता वाङ्मयी कन्या नाम्ना वेदवती स्मृता।।[6]

ये ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ न केवल वेदाभ्यास और ब्रह्मचर्य का पालन करती थी, अपितु वेदमंत्रों की उद्गात्री भी होती थीं।[7] वे शक्तिसंचय हेतु तपस्या का आचरण करती थीं, वेदाभ्यास करती थीं और वैदिक

विधि से यज्ञ कराती हुई जीवनपर्यन्त ब्रह्मचारिणी रहती थीं। कृष्णचर्म और जटादि को भी धारण करती थीं। तात्पर्य यह है कि पुरुषों की भाँति ही स्त्रियों को भी यह अधिकार प्राप्त था कि वे चाहें तो ब्रह्मचर्याश्रम से सीधे संन्यास ग्रहण कर लें या विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें, और तत्पश्चात् प्रव्रज्या धारण करें। मैत्रेयी एक ऐसी ही ब्रह्मवादिनी स्त्री थी; जिन्होंने पति के साथ प्रव्रज्या ग्रहण किया था जैसा कि "बृहदारण्यकोपनिषद्" में उल्लेख है – अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्हि मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योरन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यत्[8]

3. स्त्रियों द्वारा यज्ञसम्पादन और मन्त्रोच्चारण की प्रामाणिकता

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से स्त्रियों का न केवल वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्यव्रतधारण प्रमाणित होता है, अपितु उनका यज्ञकर्त्तव्य और मन्त्रोद्गातृत्व भी अभिप्रमाणित होता है। "पारस्करगृहसूत्र" के सीतायज्ञप्रकरण में उल्लिखित "स्त्रियश्चोपयजेरन्नाचरितत्वात्"[9] इत्यादि कथनों से यह सिद्ध होता है कि वैदिक युग में स्त्रियों को मन्त्रोच्चार और यज्ञसम्पादन में पूर्ण अधिकार था। वे पति के साथ यज्ञसम्पादन में सहयोग तो करती ही थीं, स्वतंत्र रूप से भी वे यज्ञसम्पादन करती थीं। जैसा कि ऋग्वेद में वर्णित भी है –

> या दम्पति सुमनसा सुनुत आ च धावतः देवासोः नित्यपाशिरा
> प्रति प्राश्व्या इतः सम्यच बर्हिराशते न ता वाजेषु वायतः।[10]

न केवल पूर्ववैदिक काल अपितु उत्तरवैदिक काल में भी स्त्रियों द्वारा यज्ञ–सम्पादन किया जाता था। रामायण की कौशल्या और तारा मन्त्रवित् स्त्रियाँ थीं। सीता वैदिक प्रार्थनाएँ किया करती थीं। रामायण के अयोध्याकाण्ड के अनुसार राम के राज्याभिषेक के अवसर पर कौशल्या ने यज्ञसम्पादन किया था –

> सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा,
> अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रविस्कृतमंगला।
> प्रविश्य तु तदा रामो मातुरन्तुःपुरं शुभम्,
> ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनीम्।
> तां शुक्लक्षौमसंवीतां व्रतयोगेन कर्षिताम्
> तर्पयन्ती ददर्शद्भिर्देवता वरवर्णिनीम्।[11]

इसी प्रकार रामायण के सुन्दरकाण्ड में सीता के तपस्या का उल्लेख मिलता है। महाभारत के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि पांडवों की मां कुन्ती अथर्ववेद में पारंगत थी।[12] इसके अतिरिक्त भी अन्य तपस्विनी और विदुषी कन्याओं का महाभारत में उल्लेख किया गया है, जिन्होंने अपने ज्ञान और तपस्या के बल पर ख्याति अर्जित की थी। निष्कर्ष यह है कि वैदिकयुगीन तथा रामायण महाभारतकालीन स्त्रियाँ मन्त्रवित् तथा यज्ञादि कर्मों के सम्पादन में निपुण होती थीं। "आश्वलायन–गृह्यसूत्र" में ऋषितर्पण के प्रकरण में पुरुष ऋषियों के साथ ही गार्गी, वाचक्नवी, बडवा, प्रतिथेयी आदि ऋषिनारियों के नाम लेने का निर्देश किया गया है, जिसमें तत्कालीन मन्त्रवित् स्त्रियों की महत्ता प्रकट होती है – "शतर्चिनो माध्यमा गृत्समदो विश्वामित्रो वामदेवोऽत्रिर्भारद्वाजो वसिष्ठ प्रगाथा पावमान्याः क्षुद्रसूक्ता महासूक्ता इति। प्राचनीनावीती गार्गी वाचक्नवी बडवाप्रातिथेयी सुलभा मैत्रेयी कहोलं कौषीतकि....... ये चान्येऽऽचार्यास्ते सर्वे तृप्यन्तु।"

4. स्त्रियों की आध्यात्मिकता और ज्ञान की प्रामाणिकता

वैदिक युगीन नारियाँ केवल मन्त्रवेत्ता, यज्ञकर्ता और ज्ञान-विज्ञान-पारंगता ही नहीं थी अपितु वे दर्शन, तर्क, मीमांसा तथा साहित्यादि की पण्डिता भी होती थीं। काशकृत्स्नी नामक स्त्री ने मीमांसा जैसे गूढ़ विषय पर ऐसे सुविख्यात ग्रन्थ का प्रणयन किया था कि उसके अध्येतागण काशकृत्स्नि नाम से ही प्रसिद्ध हो गये थे।[13]

महर्षि याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी विख्यात दार्शनिक थीं। उन्हें अपने पति के सम्पत्ति का लोभ नहीं, प्रत्युत अद्वय ब्रह्म या आत्मा के ज्ञान की लालसा थी। बृहदारण्यक में कहा गया है –''**सा होवाच मैत्रेयी येनाहं अमृता स्याम किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति।**''[14]

पौराणिक साहित्य के अनुशीलन से भी भुवना, अपर्णा, एकपाटला, एकपर्णा, मेना, धारिणी, शतरूपा आदि आध्यात्मिक ज्ञान में प्रवीण स्त्रियों के विषय में जानकारी मिलती है।[15] भवभूति ने आत्रेयी के अगस्त्य और वाल्मीकि जैसे महर्षियों से वेद-वेदांगों और वेदान्त की शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख किया है।[16]

पूर्वोत्तर–वैदिकयुगीन साहित्य के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन स्त्रियाँ न केवल ज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी थीं, अपितु वे शिक्षणकार्य भी करती थीं। इसके लिए वे शिक्षणशालायें भी चलाती थीं।[17] महाभाष्य एवं अष्टाध्यायीगत विवरण इसमें प्रमाण हैं। शिक्षणकार्य करने वाली स्त्रियों को उपाध्याया[18] और आचार्या की संज्ञा से अभिहित किया जाता था। अध्ययन करने वाली छात्राओं को 'अध्येत्री'[19] कहा जाता था। वे गुरुकुलों में सहशिक्षा भी प्राप्त करती थीं। पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'औदमेध्या' नामक आचार्य का उल्लेख किया है। इससे पढ़ने वाले छात्र 'औदमेध' कहलाते थे – 'औदमेध्यायाश्छात्रा औदमेधाः'।

निष्कर्ष यह है कि वैदिकयुग से पौराणिक युग पर्यन्त स्त्रियों के वेदाध्ययन, वेदाभ्यास, वैदिक ऋचाओं का निर्माण तथा वेदाध्ययन की परम्परा का अविच्छिन्न प्रवाह चलता रहा। ऋग्वेद में स्त्रियों द्वारा वैदिक ऋचाओं के गायन का उल्लेख मिलता है –

ऋचां त्वः पोषमास्ते गायत्रं, त्वो गायति शक्वरीषु,
ब्रह्मत्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रा विमिमीत त्व।[20]

वैदिक युग में स्त्रियाँ ऋचाओं की निर्मात्री और उद्गात्री ही नहीं होती थीं, प्रत्युत यज्ञसम्पादन भी करती थीं। विद्यारम्भ से पूर्व पुत्रों की भाँति ही पुत्रियों का भी उपनयन होने पर उनका समावर्तन संस्कार भी होता था। यह बात मनुस्मृति में भी यत्र-तत्र उल्लिखित है। यद्यपि बाद में स्मृतिकारों, विशेषरूप से मनु और यम ने स्त्रियों के वेदाध्ययन और उपनयनादि के समय मन्त्रोच्चारण न करने की बात कही है[21] तथापि मनुस्मृति में प्राप्त उल्लेख के अनुसार विवाह के अवसर पर उनके उपनयन और समावर्तन-संस्कार का विधान प्राप्त होने से भी उस समय उनके वेदाध्ययन के प्रचलित होने का ज्ञान होता है।[22] वस्तुतः यह पुरुष वर्ग में वह युग था, जब अपने को धर्म का व्यवस्थापक बताते हुए स्त्रियों को वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित कर उन्हें द्वितीय श्रेणी का जीवन समझने जैसी दुर्भावनाओं का अंकुरण हुआ एवं पल्लवित होने का अवसर प्राप्त करने लगा था। जहाँ तक मनुस्मृति में प्राप्त उल्लेखों का संदर्भ है, यदि स्मृतियाँ स्वयं को वैदिक परम्पराओं का प्रतीक मानती हैं, तो 'उक्त वेदविरुद्ध विचार' का कैसे पोषण कर सकेंगी अर्थात्

वैदिक धर्म की प्रतिपदिका होते हुए भी वे वेदविरुद्ध तर्क कैसे दे सकती हैं कि "स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है", जबकि ऋग्वेद से अथर्ववेद-पर्यन्त वैदिक साहित्य में स्त्री मन्त्रद्रष्टाओं और विदुषी स्त्रियों का अनेकश: उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार सूत्र-साहित्य भी स्त्रियों के वेदाध्ययन और यज्ञसम्पादन के सम्बन्ध में अनेक प्रमाण प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही उनके गुरुकुलनिवास, तपश्चरण, शिक्षणकार्य और अध्यात्मज्ञान के विषय में वैदिक साहित्य में अनेक अकाट्य प्रमाण प्राप्त होते हैं, जो स्त्रियों को वेदाध्ययन से वंचित रखने की दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध स्वयं ही प्रमाणभूत हैं।

जहाँ तक मनु आदि के द्वारा निर्मित स्मृतियों का प्रश्न है वे वैदिकधर्म के विषय में सर्वांगीण एवं युक्तिसंगत ज्ञान नहीं प्राप्त कराते। इसका कारण सम्भवत: यह भी हो सकता है कि मनुस्मृति एक स्वतंत्र रचना न होकर समाज में यत्र-तत्र विकीर्ण मान्यताओं का संग्रहरूप है, जिसमें कतिपय स्वार्थी लोगों के स्त्रीविरोधी और समाजविरोधी विचार भी संगृहीत हो गये हैं। मनुस्मृति में विवाह के समय स्त्रियों के उपनयनादि का विधान होने का कारण यह भी हो सकता है कि उस समय तक बालविवाह की प्रथा प्रचलित हो गई हो और लोभवश या किसी अन्य कारणवश लोग अपनी पुत्रियों का विवाह 8 से 12 वर्ष तक करने लगें हों। विवाह-संस्कार के पश्चात् कतिपय स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा के उल्लेखों से भी इस विचार की पुष्टि होती है। तात्पर्य यह है कि सभी वैदिक एवं पौराणिक प्रमाणों की उपेक्षा करके ईर्ष्यावश या अन्य किसी कारण से मात्र मनुस्मृति आदि का आधार मानकर स्त्रियों के वेदाध्ययन का निषेध सर्वथा अनुचित है।

वर्तमान समय में जबकि पुरुषों का उपनयन--संस्कार विवाह के पूर्व नहीं हो रहा है। विवाह के भवसर पर ही उनका उपनयन और समावर्तन सम्पन्न कर दिया जाता है। क्या इसी आधार पर भविष्य में नके भी वेदपाठ या वेदाध्ययन पर रोक लगने की प्रवृत्ति प्रचलित होगी – यह विचारणीय विषय है। यदि ,सा हुआ तो वेदों का पठन-पाठन ही हमारे समाज से बहिष्कृत हो जायेगा।

जहाँ तक स्त्रियों के वेदाध्ययन पर उठाई गई आपत्ति का प्रश्न है, इस आक्षेप से तो ऐसे लोगों के बुद्धिजीवी या शास्त्रज्ञ होने पर भी प्रश्नचिन्ह लग जाता है। यदि सकल वैदिक और पौराणिक साहित्य की सामग्री का अनुशीलन करें तो उनकी इस आपत्ति का निराकरण स्वयं ही हो जायेगा। वस्तुत: जिस उत्तरदायित्वपूर्ण पदवी के लिये उन्हें पात्र माना गया है, ऐसे उनके इस विचार से तो उनकी सत्पात्रता ही संदेह के घेरे में आ जाती है। यदि वे लोग वैदिक साहित्य का अनुशीलन न भी करना चाहें, तो आध्यात्मिक साहित्य में प्राप्त प्रमाणों का अनुशीलन कर लें। जिस वेदान्तपरम्परा का संवाहक होने का वे दावा कर रहे हैं, क्या उसमें स्त्री-पुरुष, ऊँच-नीच जैसी विषमतातों के लिये कोई स्थान है। यदि ऐसा होता तो क्या स्वयं जगद्गुरु आदि शंकराचार्य मण्डनमिश्र जी की पत्नी सरस्वती को अपने मध्य होने वाले शास्त्रार्थ के लिये मध्यस्थ नियुक्त करते और उनसे शास्त्रार्थ करने हेतु तैयार होते।[23] महर्षि याज्ञवल्क्य जैसे तत्त्ववेत्ता परमविदुषी गार्गी से जनक की राजसभा में शास्त्रार्थ करते। जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् में उल्लेख भी है – **"अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी प्रपच्छ याज्ञवल्क्येति यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खलु वा ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति .... ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामनतिपृच्छसि गार्गियाऽतिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नवी उपरराम।"**[24]

इसी प्रकार यह भी विचारणीय है कि यदि वैदिक युग में स्त्री–पुरुष के अधिकारों में भेद होता तो क्या स्वयं महर्षि याज्ञवल्क्य की पत्नी संन्यास–धारण करके तत्त्वज्ञान की ओर उन्मुख होतीं।

वर्तमान समय के बदलते सामाजिक, राजनैतिक समीकरणों के युग में धर्माचार्य जैसे पद पर प्रतिष्ठित व्यक्तित्वों से यह उम्मीद की जा रही है कि वे अपने उपदेशों से समाज में व्याप्त विषमताओं को औपनिषदद्दर्शन के आधार पर दूर करने का प्रयास करें, किन्तु स्त्री की आत्मा और पुरुष से क्या यह उम्मीद की जा सकती है कि वह अज्ञानग्रस्त जनता की मोह–माया को दूर कर सकेगा। वह तो स्वयं मोहग्रस्त है और जो स्वयं अंधकार में है, वह दूसरों के लिए ज्ञानालोक का विस्तार भला कैसे कर सकेगा। स्त्रियों के वेदाभ्यास, तपश्चरण आदि के विषय में यदि कोई मन्दिर का प्रसादभोगी पुजारी उँगली उठाता तो यह क्षम्य हो सकता है किन्तु ऐसे विचार धर्माचार्यों के तो अशोभनीय और वस्तुतत्त्व से परे हैं।

·आज धर्माचार्य जैसी श्रेष्ठ पदवी को ऐसे तत्त्ववेत्ताओं की आवश्यकता है जो अपने उपदेशों से संसार को सही सरणि पर ले जा सके, न कि छत्र, चामर, गेरुआ वस्त्रादि से विभूषित किन्तु रागद्वेषादि से युक्त संन्यासी की आवश्यकता है। स्त्रियों को वेदाध्ययन से रोकने जैसे विचार तो मनुस्मृत्यादि में यत्र–तत्र विकीर्ण कुण्ठाग्रस्त विचारों को वर्तमान में मूर्तरूप प्रदान करता है। यह विचार सच्चे अर्थों मे किसी वेदान्तरहस्य ज्ञाता पुरुष के नहीं हो सकते। वस्तुतः वेदान्त का अध्ययनमात्र करने वाला व्यक्ति भी ऐसे विचारों का समर्थक नहीं हो सकता, उसका आचरण करने वाले का तो कहना ही क्या है।

सन्दर्भ

1. द्र. ऋग्वेद, मण्डल 10, सूक्त - 125
2. ऋग्वेद, - 10/125
3. "सोमोऽददद् गन्धर्वाय गन्धर्वोऽददग्नये", गोभिल गृह्य. 2/19
4. "प्रत्तासु च स्त्रीष्वदन्तजाते परिजाते चैकाहं सब्रह्मचारिणि समानग्रामीये च श्रोत्रिये।"
   आ.गृ. खण्ड - 6, सूत्र - 9
5. गोभिलगृह्यसूत्र, 219/22
6. वाल्मीकिरामायण, 7/17/7-9
7. "तस्यापश्यत् स वै कन्या कृष्णाजिनजटाधराम्।
   आर्षेण विधिना युक्तां दीप्यन्तीं देवतामिव।", बा.रा. 7/17/2
8. बृ.उ. अध्याय, 4 ब्राह्मण 5-1
9. पारस्करगृह्यसूत्र, काण्ड 2, सूत्र 18
10. ऋग्वेद, मण्डल 8/31/5-6
11. बा.रा., 2/12 15-20
12. बा.रा., 2/3/305
13. बृ.उ., अ. 2, ब्रा. 4.3

14. आ. गृह्य. अध्याय 3, खण्ड 3. सूत्र 4-5, "एवमपि काशकृत्स्निना, प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी।" महाभारत 4/1/14 एवं 3-155
15 द्र. वायुपुराण 66/27, ब्रह्माण्डपुराण 3/2/28. मत्स्यपुराण – यासीद्देहार्द्धसम्भूता गायत्री ब्रह्मवादिनी, शतरूपा शतेन्द्रिया" – (4/24)
16. "वेदोऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां वाल्मीके: पार्श्वादिह पर्यटामि", उत्तररामचरित, अंक 2-3
17. "छात्र्यादय: शालायाम्", पाणिनिसूत्र 6/2/46
18. "उपेत्याधीते अस्या: सा उपाध्याया", महाभाष्य 3/8/22
19. महाभाष्य, 4/1/78
20. ऋग्वेद, 10/71/11
21. "तथा नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति व्यवस्थिति:।" मनु – 9/18
22. द्र. मनुस्मृति, अध्याय 2 के श्लोक सं. 67 की मेधातिथि व कुल्लूकभट्ट की टीका
23. शंकरदिग्विजय
24. बृ.उ., अध्याय 3, ब्राह्मण 6

❑❑

Viduṣaka in Kālidāsa and Fools in Shakespeare: A Comparative Interpretation

Anjana Trivedi

Nirupama Tripathi

Viduṣaka, or jester is basically a comic character whose madness or imbecility, real or pretended, made a source of amusement, gave him license to abuse or poke fun at the most exalted of his patrons. He is inspired with poetic and prophetic powers, representing the weaknesses, vices and follies of contemporary society.

In *Sāhityadarpaṇa*, the term Viduṣaka is defined as :

'कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः ।

हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः।।

A *Viduṣaka*, often named after the name of a flower or spring season, who invokes laughter through his gesture, activities, physique, costume, expression, who is delighted in instigating others for duel, who is selfish and loves eating, drinking and merry-making.

Kālidāsa, the great Sanskrit dramatist, rightly called the Shakespeare of India, has employed the character of *Viduṣaka* in his well-known dramas with special dramatic purpose. Likewise in the Elizabethan age, Shakespeare has also introduced the character of fool not only in his comedies but in tragedies also. Shakespearean fools may be generally divided into two categories. The clown, who evokes laughter with his ignorance and the courtly fool or jester or the professional fool who philosophizes, moralizes, sermonizes and informs the audience about the coming events, 'wearing motley not in his brain'.

Though much ink has been shed on the role of *Viduṣaka* in Kālidāsa's dramas and fools in Shakespearean dramas, the present inter-disciplinary research paper intends to induce the striking features of similarity and contrast in the works of both the dramatists.

It has been tried and tested since time immemorial that all great minds think alike and this holds true in the case of Kālidāsa and Shakespeare also. Their artistic vision, dramatic, craftsmanship, cutting across the barriers of race and nation, time and age present a mirror of universal psychology, passions and emotions. It sounds

somewhat strange and astonishing that Kālidāsa (400-500 B.C.) and Shakespeare (1554-1616) belonging to different period and place, clime and country could ever delineate such a common picture of human life in their dramas, using the same artistic techniques in their work.

The part allotted to *Viduṣaka* in Kālidāsa's *Abhijñānśākuntalam, Mālavikāgnimitram* and *Vikramorvaśīyam*, and the role played by fools in Shakespeare's Twelfth Night, As You Like It and King Lear, compels us to wonder if both the dramatists discussed and exchanged their views on the topic.

The *Viduṣaka* of Kālidāsa and the fools of Shakespeare not only arouse laughter and create humorous situations and scenes, but also help the dramatist to develop the plot and the action of the drama. They perform the role of a friend, guide, advisor of the protagonist, and sometimes as a philosopher and the wisest man in the play, satirizing the vices and the follies of the main characters, impressing us like the mouth-organ of the dramatist himself.

Abhijñān śākuntalam, Vikramorvaśīyam, Mālvikāgnimitram, the three dramas of Kālidāsa expose the unique role of Viduṣaka. In *Abhijñānaśākuntalam,* the Viduṣaka - Mādhavya enjoys the privilege to be the confidant and friend of the king, Duṣyanta. Hence he has the liberty to indulge in light jokes in his company:

यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना।[1]

He extends his judicious advice to the king when and where the need arises. In the critical hour of need, he gets ready to leave for the royal palace, assuring the king to fulfil his role as king's younger brother. He is endowed with immense wit and wisdom, presence of mind shouldering the responsibility of a loyal and devoted but a straight-forward companion. His witty and aphoristic remarks tend to touch the very core of the heart : 'कदापि सत्पुरुषा: शोकवक्तव्या न भवन्ति। ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरय:'[2].

'Virtuous people move not from pain, as are the mountains at the face of hurricane'.

On the one hand, the *Viduṣaka* utters such thought-provoking words; on the other hand, at times he behaves as an ordinary person, much absorbed in eating and drinking. He is a timid fellow, becomes, terror-stricken to hear about the demons. When king Duṣyanta asks him if he has any eagerness to see Śakuntalā, he bluntly replies that in the beginning he had but his curiosity subsided as he heard about the demons.

It is remarkable to note that the dramatist gives quite insignificant role to *Viduṣaka* in *Abhijñānaśākuntalam* as compared to other two dramas. No doubt, he knows about the love-affair in the grove, but he literally believes the words of the

king when he says his love for Śakuntalā was all a joke :

राजा- वयस्य! ऋषिगौरवादाश्रमं गच्छामि। न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायां ममाभिलाष:.

विदूषक: - अथ किम्.[3] Had he been present at the repudiation scene, he would have spoken and the tragedy averted. He is very cleverly dismissed on some other business in Act-II, as his presence would have spoilt the beautiful love *idyll*.

In *Vikramorvaśīyam*, no doubt, he has secondary role, yet his presence contributes greatly to the humour of the play as well as to the completion of the plot. He knows about the secret love between the king and Urvasī and finds it difficult to keep it to his heart : राजरहस्येन स्फुटन्न शक्नोमि जनाकीर्णेऽकीर्तनेनात्मनो जिह्वां धारयितुम्.[4]

He is becoming impatient to unlock the secret passion in the heart of the king and is fit of excitement he finds it difficult to keep his tongue tied up. It is at this critical juncture, the gentlewoman attending on the queen, provokes the *Viduṣaka* to reveal the truth.

In the next Act, the King is seen yellow and pale in melancholy in the bereavement of Urvaśī and it is here the *Viduṣaka* (in Aside) comments on the pathetic condition of the legitimate wife (queen) of the king. Again when the king asks Viduṣaḳa if he has disclosed the secret of his love for Urvaśī, he tactfully changes the topic. With his curt and terse words and sentences, he proves the fully committed by the King i.e. his fascination for Urvaśī.

He offers intelligent advice to the king to meet Urvaśī 'either go to sound sleep and meet her in your dreams, or sketch her portrait and gaze at it without winking'.

The love-letter of Urvaśī is lost and there is a search for it. In the meanwhile, the queen happens to find it and is very upset and annoyed. At this moment, once again the Viduṣaka controls the situation and diverts her attention by reminding her to arrange for the food for the king to check the formation of acid in his stomach.

On the other hand, he tries to console the love-laden king. On a day of fasting, the queen tells the king that she will love the lady, with whom the king gets married.

At this Viduṣaka utters (In Aside) 'when the fish slips down in water from the hand of the fisherman then he feigns to be generous to the fate of the fish'.

Again the Viduṣaka openly attacks and condemns the folly of the king when the queen leaves him. He says 'just as a doctor' gives up the treatment considering the disease incurable, in the same way the queen has left you, thinking that you will never amend yourself' : भण विश्रब्धं यदि वक्तुकाम:. असाध्य इति वैद्येनातुर इव स्वैरं मुक्तो भवाँस्तत्रभवत्या.[5]

In Kālidāsa's *Mālvikāgnimitram*, the Vidușaka is Gautam and he plays the important role and arranges all the intrigues. The King Agnimitra has seen the portrait of Mālavikā and becomes spell-bound at the exquisite grace and charm and tells Vidușaka to find out some way so that he may see Mālavikā face to face. The Vidușaka accordingly fabricates the plan and executes it successfully.

He uses compact and aphoristic statements attacking the persons concerned. He interprets Mālavikā as honey of the king's eyes and his queen Dhāriṇī as the honey-bee: उपस्थितं नयनमधु सन्निहितमक्षिकं च.[6]

After the dance-show, he tactfully detains Mālavikā, pretending to ask question and by asking a silly question proves his genius. He discloses that Dhāriṇī has imprisoned Mālavikā in the dark dungeon and suggests him the solution also.

Like Kālidāsa's plays, in Shakespearean dramas also, the fool is not a superfluous personage, but has a close intimacy with the king and other major characters of the play. "Shakespeare's fools are subtle teachers, reality instructors ... who often come to playing the part that Socrates, played on the streets of Athens. They tickle, coax and cajole their supposed betters into truth or something akin to it."[7] Touchstone, for example in 'As You Like It', follows the exiled Duke Senior to the forest. Feste in Twelfth Night is extremely devoted to Olivia and Fool in King Lear intensifies king's misery just to make him see through reality and truth.

In Twelfth Night, Feste plays the role of a humble clown, employed by Olivia's father, as Olivia has herself stated, 'Feste is an allowed fool' It implies that Feste is licensed and privileged critic to speak the truth of the people around him. He seems to be the wisest person among all the characters of the comedy. Viola is also impressed with his witty remarks and comments :

> 'This fellow is wise enough to play the fool;
>
> And to do that well craves a kind of wit[8].

He wastes no time to prove Olivia a true fool by asking her what she was mourning for :

> Clown : Good Madonna, Why mourn'st thou?
>
> Olivia, "Good fool, for my brother's death.
>
> Clown, I think his soul is in hell, madonna'.
>
> Olivia, I know his soul is in heaven, fool.

Clown : The more fool Madonna, to mourn for your brother's soul, being in heaven- Take away the fool, gentlemen"[9].

Thus, he proves Olivia a fool, through his wit.

Duke Orsiono, for whom music is the food of love, is much impressed with the song sung by Feste and his songs relieve his passion of love greatly. Thus, he feeds

the melancholy of love-laden Duke with old and antique songs but does not slip the opportunity to rail at his inconsistancy. He disguises as Sir Topas to cure the malady of Malvolio and visits the imprisoned Malvolio and this adds fun and humour to the comedy.

As a shrewd observer of men and manners, he freely censures us for our failings and follies but his censure is good - humoured and kind, not coarse like that of Touchstone, in As You Like it. Touchstone, in 'As You Like it', holds an important role. His tenderness of heart and milk of human-kindness is emphasized from the very beginning of the play. He is ready to do anything for Celia and she too depicts her full faith in him -

"He'll go along over the wide world with me, Leave me alone to woo him...."[10].

The Duke Senior acknowledges that he is the wise fool among the foolish wise and comments : "He uses his folly as a stalking horse and under the presentation of that he shoots his wit"[11] .

Touchstone openly satirizes the follies of the court. He finds fault with Rosalind's 'false gallop of verse'. He expresses the dramatist's opinion on certain matters like the relative advantages of country and town life. He unmasks the follies and frivolities of others. Like the Chorus in Greek drama, he comments on the manners of the contemporary society.

Like any other Shakespearean fool, Touchstone too contributes to the comic element of the play. But Touchstone is more than a jester and a common humorist. The role of fools in Shakespearean comedies must have opened a platform for criticism. There must have been re/deconstruction theories regarding the role of fools in Shakespeare (the clown in Twelfth Night in particular). But Shakespeare has silenced the critics by using the fool in King Lear, one of the great tragedies also.

The Fool in King Lear is found in the company of the King, not for the sake of entertaining him in the idle hours but as a supporting force in every 'tempest and whirlwind of passion'.

In the opening scenes, it is evident that the Fool sees the mistakes committed by Lear and gives the king much shrewd advice and sarcastic criticism in the form of jest. He is as it were, always the voice of his conscience reminding the king the dangers, he has invited and bidding him undo his action. This important function is done in most fantastic and humorous manner.

After Lear's downfall, the nature of the Fool's wit changes. Finding that his advice is too late to mend, he tries to amuse Lear, diverting his attention from his great misfortunes. He is attached to Cordelia and old master, King Lear and remain loyal to him in adversity and evil days. He also craves physical comforts and enter the house to escape the fury of the storm.

His witty remarks highlight the blunder committed by the King., He makes the king realize his folly. 'He ought not have made his daughters his mothers or that he aught not have been old before he was wise'.

A.C. Bradley considers the Fool in King Lear "as one of Shakespeare's Triumph"[12]. He enhances the pathetic element with his witty remarks. Even the stolid Kent is moved to say: "This is not altogether fool, my Lord"[13].

The above discussion leads us to conclude that Viduṣaka in Kālidāsa and fools in Shakespeare share in common a number of qualities and traits. Mādhavya in *Abhijñānaśākuntalam*, Māṇavaka in *Vikramorvaśīyam*, Gautama in *Mālvikāgnimitram* and Feste in Twelfth Night, Touchstone in "As You Like It" and fool in King Lear, seem to form a group together.

They all appeal to us as social satirists and critics, spokesmen of the dramatist's philosophy. They are timid by nature, sometimes childish and absurd in utterances. They love eating, drinking, merry-making and singing. They either bring the comic-relief or intensify the tragic effect as per requirement of the play. With their wit and wisdom they impress us as the wisest men in the play, hence they prove themselves as valuable asset in the dramatic world of the artist.

References :

1 *अभिज्ञानशाकुन्तलम्*, Act 2

2 Ibid, Act 6

3 Ibid, Act 2

4 विक्रमोर्वशीयम्, Act 2

5 Ibid, Act 3

6 *मालविकाग्निमित्रम्*, Act 2

7 Internet - Mark Edmundson

8 The complete works of William Shakespeare, 92 (Odhams Press Ltd. Long Acre London. W.C.2)

9 The complete works of William Shakespeare, 83 (Odhams Press Ltd. Long Acre London. W.C.2)

10 Ibid, 256

11 The Complete Works of William Shakespeare, 278 (Odhams Press Ltd. Long Acre London. W.C.2)

12 A.C. Bradley, Shakespearean Tragedy, P. 259 (Macmillan Publishers Ltd.)

13 The Complete Works of William Shakespeare, 1033 (Odhams Press Ltd. Long Acre London. W.C.2)

□□

वैदिक वाङ्मय में सांगीतिक वाद्यों का चिन्तन

निशा पाठक

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय संगीत का सवसे प्राचीन नियमित एवं सुसम्वद्ध रूप वेदों में मिलता है। वेदों में सामवेद-संगीत को वेद माना गया है। वैदिक काल के संगीत का स्वरूप पूर्णरूपेण आध्यात्मिक था तथा उसे मोक्ष-प्राप्ति का साधन माना जाता था। याज्ञवल्क्य-स्मृति में संगीत कला को परम श्रेष्ठ माना गया है –

वीणावादनतत्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्च प्रयासेन मोक्षमार्गञ्च गच्छति[1]।।

वैदिक साहित्य में संगीत की तीनों विधाओं गीत, वाद्य तथा नृत्य की स्थापना तथा महत्त्व का उल्लेख है। ऋग्वेद के शांखायन-ब्राह्मण के अनुसार इन तीनों शिल्पों का प्रयोग प्रायः अभिन्न साहचर्य के रूप में प्राप्त होता है – *"त्रिवृद्धैः शिल्पं नृत्यं गीतं वादितमिति*[2]*"* किन्तु वैदिक-युगीन संगीत में जितना विकास और महत्त्व गानविधा के अन्तर्गत सामगान को मिला उतना वाद्यों को नहीं मिला। सामगान की परम्परा बड़ी विशाल थी। यज्ञानुष्ठान एवं विभिन्न संस्कारों में सामगान का विशेष महत्त्व था। यजुर्वेद की तैत्तिरीय-संहिता में कहा गया है – *"अयज्ञो वा एषः योऽसामा"* अर्थात् जिस यज्ञ में सामगान न हो वह यज्ञ ही नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि वाद्यों का प्रयोग सामगान की संगति के लिए ही होता था। वैदिक साहित्य में वैदिक गान की भाँति वाद्यों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं होता फिर भी जो सामग्री प्राप्त होती है उससे हम वैदिक काल के वाद्यों के विकास की स्थिति पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

संगीतात्मक ध्वनि एवं गति को प्रकट करने के उपकरण को वाद्य कहा जाता है। इस दृष्टि से प्राचीन काल में मानव-कंठ भी वाद्य माना गया है किन्तु यह कंठ-वाद्य ईश्वर-निर्मित है। यहाँ हम मनुष्य-निर्मित वैदिककालीन चर्तुविध वाद्यों तत्, सुषिर, घन और अवनद्ध वाद्यों का अध्ययन करेंगे। चतुर्विध वाद्यों में आकाश-तत्त्व प्रधान तत्-वाद्य, वायुतत्त्व प्रधान सुषिर-वाद्य, जलतत्त्व-प्रधान अवनद्ध-वाद्य और पृथ्वीतत्त्व-प्रधान घन-वाद्य माना गया है। इनमें तत् और सुषिर वाद्य मुख्यतः स्वर-वाद्य तथा अवनद्ध और घन लय-ताल-वाद्य है।

वैदिककालीन तत्-वाद्य

तार द्वारा स्वरोत्पत्तिवाले तंत्री वाद्यों की सामान्य संज्ञा वीणा थी। तैत्तिरीय व शतपथ-ब्राह्मण में वीणा को साक्षात् लक्ष्मी (श्री) का स्वरूप माना गया है – *"श्रिया वा एतद्रूपम्। यद्वीणा श्रियमेवास्मिन्तद्धतः[3]"* वीणाओं में वाण नामक वीणा का सर्वाधिक महत्त्व माना गया है। ऋग्वेद में वीणा-शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु इसी अर्थ में 'वाण' वाद्य का उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है। "उत्तेशुस्मास इरते

सिन्धोरूर्मेरिव स्वनः वाणस्य चोदयापविम्[4]'' इस मंत्र में सोमरस से प्रार्थना की गई है कि पर्जन्यधारा के समान पात्र में तैलधारावत् गिरते हुए 'वाण' की भाँति गूंजा हुआ स्वर उत्पन्न करें। 'वाणस्य' पर सायण का भाष्य है – ''वाणस्य वादित्रविशेषस्य पविं शब्दं''। वाण-वाद्य का वादन 'पवमान' सोम के प्रीत्यर्थ किये जाने का उल्लेख इस ऋक् में है – ''आङ्गूष्यं व पवमानं सखायो दुर्मषं साकं प्रवदन्ति वाणम्''।[5] ऋग्वेद में मरुद्गणों को संगीतप्रिय बताया गया है। इस ऋक् में मरुतों के वाण बजाकर पराक्रम करने का उल्लेख है – ''धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे''[6] – इस सूत्र की व्याख्या में आचार्य सायण ने वाण को शततंत्रीयुक्त बताया। उनके अनुसार ''सुदानवः शोभनदानास्ते मरुत; वाणं शतसंख्याभि, तन्त्रीभिर्युक्तं वीणाविशेषं धमन्तः वादयन्तः सोमस्य मदे सोमपानेन हर्षे सतिख्यानि स्तुत्यानि रमणीयानि धनानि चक्रिरे स्तोतृभ्यः।''

तैत्तरीयसंहिता में शततंत्री-वाण के वादन से सौ वर्ष की दीर्घायु प्राप्त करने की बात कहकर इसकी महत्ता को दर्शाया गया है। ''वाणः शतंतुर्भवति शतायुः पुरुषः शतेन्द्रिय आयुष्वेवेन्द्रिये प्रतितिष्ठन्ति''[7]।

ऋग्वेद में अन्यत्र वाण-वाद्य तथा सप्त स्वरों का उल्लेख मिलता है – ''मातायन्मन्तुर्यूथस्य पूर्व्याऽभिवाणस्य सप्तधातुरिज्जनः''[8]। इस मंत्र की व्याख्या में आचार्य सायण *''वाणस्य वाद्यस्य सप्तधातुः निषादादिसप्तस्वरोपेतो जनः अभिगच्छति तद्गुणोपेतं भावः''* इस उल्लेख से सप्तधातु से निषादादि सप्त स्वरोत्पन्न होने की बात कहते हैं। डॉ. परांजपे सप्तधातु को सप्ततंत्रियों का संकेत मानते हैं। परन्तु वाण में एक सौ तंत्रियों का उल्लेख स्पष्ट है।

अथर्ववेद में 'वाण' के स्थान पर 'बाण' शब्द का उल्लेख है। अतः बाण एवं वाण समानार्थी हैं। आपस्तम्ब-सूत्र में वाण की संपूर्ण रचना तथा आकार प्रकार का उल्लेख है – औदुम्बरस्य वीणादण्डस्य दशदशातिमतिथान्येकैकस्मिन्नतिमथिते मौजान्स्तन्तून्प्रवयन्ति स वाणः शततन्तुः''।[9] अर्थात् औदुम्बर की लकड़ी से निर्मित वीणा-दंड के नीचे भाग में दस बड़े छेद करें तथा प्रत्येक छेद में मौन्जा की बनी दस-दस तंत्रियां पिरोए। इस प्रकार कुल सौ तार लगाएं। तब उसे वाण-वाद्य कहते हैं। औदुम्बर से बनी आसन्दी के ऊपर बैठकर 'वाण'-वाद्य को बजाया जाता था। वेत के वक्राकार शलाका से वाण-वादक 'उद्गाता' तथा क्रम से 'प्रस्तोता' व 'अध्वर्यु' तंत्रियों पर आघात करके बजाते थे। तारों पर आघात करते समय तथा तारों को पिरोते समय विधिवत् निर्धारित मंत्रों का उच्चारण किया जाता था जिससे यह पता चलता है कि यज्ञ में वाण वीणा का वादन विशिष्ट धार्मिक क्रियाओं का आवश्यक अंग था। लाट्यायन-श्रौतसूत्र में आचार्य शाण्डिल्य के मतानुसार तीन ही छिद्र कर बीच छिद्र में चौतीस और आस-पास के दोनों छिद्रों में तैंतीस-तैंतीस तार लगाना चाहिए। बाद में ''भूः भूवः और स्वः'' इन तीन मंत्रों से वाण-वाद्य के ऊपर लगे तारों में से एक एक को कसना चाहिए। वाण-वाद्य में कौन से स्वर उत्पन्न होंगे इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। शाण्डिल्य ऋषि के अनुसार सौ तारों का विभाजन 33-34-33 इस प्रकार किया गया है। इस तथ्य से हम अनुमान लगा सकते हैं कि तीन भागों में विभाजित तारों को उदात्त, अनुदात्त और स्वरित वैदिक स्वरों में मिलाए जाते रहे होंगे।

यजुः-संहिता में सर्वप्रथम वीणा शब्द का प्रयोग हुआ और ब्राह्मण, उपनिषद् तथा सूत्रकाल तक वीणा के विशिष्ट प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है परन्तु उनके आकार रूप का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। सूत्रवाङ्मय के अनुसार यजमान की पत्नियां उपगान के साथ विविध वीणाओं के द्वारा ''उपवादन'' भी

किया करती थी। हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र के अनुसार सामगान के साथ यजमान पत्नियाँ अपघाटलिका, आघाटी, पिच्छोला, कर्कटिका, स्तम्बलवीणा, तालुकवीणा, काण्डवीणा, अलाबु तथा कपिशीर्षणी वीणा वादन करने के साथ गाते हुए संगति करती थी"- **उपगायन्ति पत्न्योऽपाघाटलिकास्तालुकवीणाः काण्डवीणा पिच्छोला अलावु कपिशीर्ष्णीति।**[10] आपस्तंव श्रौतसूत्र के अनुसार **''पत्न्य उपगायन्ति पत्न्योऽनकत्पन्तेऽपत्नोऽपाघाटलिका स्तम्वलवीणा पिच्छोला इति'।**[11] वौधायन सूत्र के अनुसार ऐसे प्रसंग पर आघाटि पिच्छोला तथा कर्कटिका नामक वीणाओं का वादन किया जाता था। **''आघाटिभिः पिच्छोलाभिः कर्कटी काभिरित्युटातारं पत्न्यः पर्युपविशन्ति''**[12]। शुक्लकात्यायन-सूत्र में गोधावीणा तथा काण्डवीणा का उल्लेख है – **''गोधावीणाः काण्डवीणाश्च पत्न्यो वादयन्ति''**। ऐतरेय आरण्यक में यजमान की पत्नी के द्वारा किये जाने वाले काण्डवीणा तथा भूमिदुन्दुभि के वादन का उल्लेख है – **''भूमिदुन्दुभिपत्न्यश्च काण्डवीणाः''**[13]। ब्राह्मण-उपनिषद् तथा सूत्रकाल में संगीत की विशेष उन्नति हुई तथा वीणा में कई परिवर्तन हुए होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में दूर्वा अथवा मूंज के स्थान पर धातु-निर्मित तंत्रियों का प्रयोग होने लगा था। वीणा की महत्ता तथा व्यापकता इतनी बढ़ चुकी थी कि ऐतरेय-आरण्यक में वीणा को शरीर की रचनानुसार ही कल्पित किया गया जिसे "दैवी वीणा" कहा गया[14]–

वीणा-वादन के लिए 'नखी' शब्द का प्रयोग मिलता है आज इसी को हम मिजराव के नाम से जानते हैं। वैदिक काल में कहीं भी एक तार पर एक से अधिक स्वरों को निकालने की किसी व्यवस्था का पता नहीं चलता। अतः सभी वीणाओं में स्वरोत्पत्ति का एक ही सिद्धान्त माना जा सकता है कि प्रत्येक स्वर के लिए एक तार की व्यवस्था थी।

वैदिककालीन अवनद्ध-वाद्य

वैदिक काल में भी किसी जानवर की खाल को साफ कर उसे किसी खोखली वस्तु के मुख पर रख कर यदि कस दिया जाये तो वह अवनद्ध-वर्ग का वाद्य बन जाता था। अवनद्ध अथवा चर्म-आच्छादित वाद्यों में सामगान में ताल की संगति के लिए दुन्दुभि एवं भूमिदुन्दुभि नामक वाद्यों का उल्लेख मिलता है। दुन्दुभि की धीर गंभीर ध्वनि का उल्लेख ऋग्वेद के मंत्र में आया है, जिसमें रचयिता ऋषि उलूखल से प्रार्थना करता है कि वह विजेताओं के द्वारा बजाई जाने वाली दुन्दुभि के समान ध्वनि उत्पन्न करें –

यच्चिद्धि त्वं गृहे गृह उलूखलक युज्यसे।
इह घुमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः।[15]

दुन्दुभि अपनी ध्वनि मात्र से विपक्षी को पराजित करती थी – ऐसा भाव ऋग्वेद के मंत्रों में पाया जाता है–

उपश्वासय पृथ्वीमुतं द्यां पुरत्रा ते भनुतां विष्ठिंत जगत्।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद् दवीयो अप सेध शत्रून्।[16]

श्री भानुजी दीक्षित ने अमरकोश की व्याख्या 'सुधा' में इसकी व्युत्पत्ति बताई – *"दुन्दु इति शब्देन भाति इति दुन्दुभि":।*[17] अर्थात् दुन्दु ध्वनि से जो प्रकट हो वह दुन्दुभि है। अथर्ववेद में दुन्दुभि की ध्वनि कृत्या की ध्वनि के समान भयानक बताई गई है –**''दुन्दुभौ कृत्यां या चक्रुः पुनः प्रति हरामि**

ताम्''।[18] दुन्दुभि घोष के समस्त दिशाओं में परिव्याप्त होने की बात अथर्ववेद में उल्लिखित है- "ज्याघोषा दुन्दुभयोऽभि क्रोशन्तु या दिशः"।[19] यजुर्वेद में दुन्दुभि तथा भूमि-दुन्दुभि वाद्यों का गौरवपूर्ण उल्लेख हुआ है। शुक्लयजुः में दुन्दुभि की वन्दना इस प्रकार की गई **''नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय चेति''**[20] कृष्णयजुः की तैत्तिरीय-संहिता में दुन्दुभि की धीर गंभीर ध्वनि के संबंध में उल्लेख मिलता है- **''दुन्दुभिन्समाध्नन्ति परमा या एषा वाग्या दुन्दुभौ परमामेव आचमपुरुध्नते''**[21]। तैत्तिरीय-ब्राह्मण में गगनभेदी दुन्दुभि की ध्वनि के समान यज्ञकर्ता यजमान के सत्कीर्ति सर्वत्र फैलने की बात कही गई है।[22] बौधायन-श्रौतसूत्र में आघाटि आदि वीणाओं के साथ दुन्दुभि-वादन का उल्लेख मिलता है। सत्याषाढ़ा-श्रौतसूत्र में मंत्रों के द्वारा एक महावेदी तथा चारों ओर दुन्दुभि को बाँधने एवं उसे मन्त्रोच्चारण के साथ बजाने का विधान किया गया है।[23] भूमि-दुन्दुभि के संबंध में तैत्तिरीय-संहिता में उल्लेख मिलता है **''भूमि-दुन्दुभि भाध्नन्ति येवैसां वाक् प्रविष्ठा तामेवावरून्धतेऽथो इमामेव जयन्ति[24]''**। भूपृष्ठ पर बनाई गई दुन्दुभि को भूमि दुन्दुभि कहा गया। भाष्यकार भट्टभास्कर के शब्दों में *''चर्मणा आच्छादितमुखं भूगर्भम्''*। ऐतरेय-आरण्यक में यजमान की पत्नी के द्वारा किये जाने वाले काण्डवीणा तथा भूमि-दुन्दुभि के वादन का उल्लेख मिलता है - *''भूमिदुन्दुभि पत्न्यश्च काण्डवीणाः''*।[25] भूमि दुन्दुभि का निर्माण यज्ञमण्डप में भूमि खोदकर तथा उसके उपर बैल के चमड़े को मढ़कर करते थे तथा बैल की पूँछ से ही प्रहार करके बजाते थे।[26] मध्य अफ्रीका के वन्यप्रदेशों में आज भी ऐसी दुन्दुभि का व्यवहार उपलब्ध है। दुन्दुभि और भूमि-दुन्दुभि के अतिरिक्त ऋग्वेद में गर्गर तथा गोधा नामक वाद्यों का नाम भी प्रकाश में आया है -**''अव स्वराति गर्गरी गोधा परि सनिस्यनत पिंगा परि च निष्कद्द्रिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम्''**[27] सायण के अनुसार गर्गर-वाद्य गर्गर-ध्वनि वाला है- *''गर्गरो गर्गरध्वनियुक्तो वाद्यविशेषः''*। इनका निर्माण सामगायकों ने ही किया।

वैदिककालीन सुषिर-वाद्य

छिद्रवाले अथवा वायु द्वारा स्वरोत्पत्ति वाले वाद्य सुषिर-वाद्य कहलाते हैं। ऋग्वेद में दो सुषिर-वाद्यों का उल्लेख आया है - नाली (नाडी) और बाकुर - **''तबी हन्वन्त्यग्रुवो धमन्ति वाकुरं दृतिम्। त्रिधातु वारणं मधु।[28]''** सायण के अनुसार 'धमन्ति' इस क्रिया पद से प्रतीत होता है कि 'बाकुर' फूंककर बजाने वाला वाद्य था। ऋग्वेद में नाड़ी (नाली) नामक वाद्य का भी उल्लेख मिलता है। यह नली होती थी जिसमें छेद होते थे -

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
इयमस्य धम्यते नालीरयं गीर्भिः परिष्कृतः''।।[29]

अर्थात् यह यम का सदन (निवास-स्थान) है जिसके विषय में यह कहा जाता है कि वह देवताओं द्वारा निर्मित है। यह नाली उसके प्रीत्यर्थ बजाई जाती है। वह स्तुतियों से तुष्ट होता है। ''नाली की व्याख्या में सायण कहते हैं - **''इयं नाड़ीः वाद्यविशेषो वेणुः धम्यते वाद्यते यदा नाड़ीति वाड़नाम इयं स्तुतिरूपा वाक्।[30]''** नाड़ी का नलिका से सादृश्य यह स्पष्ट करता है कि वह सुषिर-वाद्य है। सायण ने नाली का अर्थ वेणु (वांसुरी) जैसे वाद्यविशेष से लिया है। शुक्ल-यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में "तूण" नामक फूक से बजने वाले वाद्य की आवाज "क्रोश" (जोर से चिल्लाना-पुकारना) के समान कही गई है- **''क्रोशायतूण वद्धम्[31]''**।

आपस्तम्ब–श्रौतसूत्र में शंख, नाली व तूण नामक वाद्य का उल्लेख मिलता है –"शंखनालिस्तूण वा[32] इति"। श्रीदुण्ढिराज वापट शास्त्री के अनुसार सप्त स्वरों के निदर्शक अलगूज, पावा, बांसुरी जैसे मुख से फूंककर बजाया जाने वाला वाद्य 'तूण'[33] था।

वेणु अर्थात् 'वंश नामक सुषिर–वाद्य' का उल्लेख नादबिन्दूपनिषद् तथा अथर्ववेदीय श्रीकृष्णोपनिषद् में रुद्रदेव का श्रीकृष्ण की वंशी बनने के संदर्भ में मिलता है।[34] उपर्युक्त उद्धरणों से यह विदित होता है कि सुषिर–वाद्यों के अनेक प्रकार उस समय तक समाज में सामान्य रूप से प्रचलित थे।

वैदिक स्वर (यम) क्रमशः कुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मंद्र तथा अतिस्वार्य थे। क्रम अवरोही था तथा यह अवरोही क्रम संभवतया वेणु की संगति के कारण आया। सामगान के समय वेणु ही ऐसा वाद्य था जिसके स्वर स्थिर थे। अतएव उसी से वीणा मिलाई जाती थी तथा उसको आधार मानकर यह स्वरक्रम स्वीकार कर लिया गया। वेणु के सब स्वर खोलकर फूँकने पर जो स्वर निकला उसे कुष्ट कहा गया। जब एक उंगली से छिद्र बंद किया तब उसे प्रथम आदि संज्ञा दी। इस प्रकार एक–एक कर छिद्रों को बंद करने पर वेणु में स्वर उतरता जाता है। अतएव संभवतया वेणु–वाद्य के कारण अवरोह–सप्तक की मान्यता हुई।

वैदिककालीन घन–वाद्य

धातु या लकड़ी का वाद्य जो आघात (ठोकर) से बजता है घन–वाद्य कहलाता है। वेदों में घन–वाद्यों के सम्बन्ध में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। इससे यह प्रतीत होता है कि उस समय घन–वाद्यों का प्रचार केवल जनजीवन तक ही सीमित रहा होगा। "ध्यानविन्दूपनिषद्" में घनवाद्य घंटे के अनुरणन की तुलना प्रणव के नाद से एवं 'नादविन्दूपनिषद्' में नाद के अनेक प्रकारों से किंकणी, वीणा, वंशी तथा भ्रमर की ध्वनि का उल्लेख मिलता है।[35]

निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य में वाद्यों के तत्, सुषिर, अवनद्ध व घन चारों प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है। वेदों में अन्य विषयों की भाँति वैदिककालीन सांगीतिक वाद्यों से सम्बन्धित अनेक गूढ़ रहस्य होने की सम्भावना है। अतः आज इस विषय पर और अधिक गहन अध्ययन तथा शोध अपेक्षित है।

सन्दर्भ

1. याज्ञवल्क्य–स्मृति 3/4/115
2. ऋग्वेद–शांखायन–ब्राह्मण 29/5
3. तैत्तिरीय–संहिता 3/9/14
4. ऋग्वेद 9/50/1
5. ऋग्वेद 9/97/8
6. ऋग्वेद 1/85/10
7. तैत्तिरीय–संहिता 7/8/9

8. ऋग्वेद 10/32/4
9. आपस्तम्ब–सूत्र 21/17-18
10. हिरण्यकेशी–सूत्र 16/6-21
11. आपस्तम्बसूत्र 21/17
12. बौधायन–सूत्र 16/21
13. ऐतरेय–आरण्यक 5/1/5
14. वही, 3/2/5
15. ऋग्वेद 1/28/5
16. वही, 6/47/30
17. निर्णयसागर संस्करण, पृ. 73
18. अथर्ववेद 5/31/7
19. वही, 5/21/9
20. शुक्ल यजु. 2/17/5
21. कृष्णयजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता 7/5/9/29
22. तैत्तिरीय–ब्राह्मण 3/4/13
23. सत्याषाढ़ा–श्रौतसूत्र 16/3/39
24. तैत्तिरीय–संहिता 7/5/9
25. ऐतरेय–आरण्यक 5/1/5
26. बौधायन–श्रौतसूत्र 16/20 तथा सामवेद के तांडव ब्राह्मण 5/5/11
27. ऋग्वेद 8/69/9
28. वही, 9/1/8
29. वही, 10/135/7
30. हिन्दीज्ञान–शब्दकोश, पृ. 178
31. यजु:संहिता 30/19
32. आपस्तम्ब–श्रौतसूत्र 29/19
33. वैदिक–संगीत, दुदुंभि–वादन–प्रकरण
34. कल्याण, उपनिषद् अंक, पृ. 695/3
35. वही, पृ. 670, 667

संदर्भग्रंथ-सूची

1. ऋग्वेद, सायण-भाष्य-सहित - स्वाध्याय मण्डल संस्करण
2. अथर्ववेद, सायण-भाष्य-सहित - स्वाध्याय मण्डल संस्करण
3. ऐतरेय-आरण्यक, सायण-भाष्य-सहित - आनन्दाश्रम संस्करण
4. यजुर्वेद-संहिता, आचार्य बृहस्पति भाषानुवाद सहित - वैदिक संस्थान, वृन्दावन
5. भारतीय संगीत का इतिहास - डा. शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
6. भारतीय संगीत का इतिहास - डा. ठाकुर जयदेव सिंह, संगीत रिसर्च एकेडमी, कोलकत्ता
7. भारतीय संगीत वाद्य - डा. लालमणि मिश्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
8. भारतीय संगीतशास्त्र - तुलसी राम देवांगन, मध्यप्रदेश हिन्दी-ग्रंथ अकादमी, भोपाल
9. भारतीय संगीत के तन्त्रीवाद्य - डा. प्रकाश महाडिक, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल
10. भारतीय संगीत सरिता - डा. रमा सराफ, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली
11. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र एक अध्ययन - कपिलदेव शुक्ल, वैशाली प्रकाशन, गोरखपुर
12. याज्ञवल्क्यस्मृति - डा. गंगा सागर राय, चौखम्भा संस्कृत-प्रतिष्ठान, दिल्ली
13. संगीतचिन्तामणि, भाग - 2 आचार्य बृहस्पति तथा सुमित्रा कुमारी, बृहस्पति पब्लिकेशन, नई दिल्ली
14. भारतीय संगीतशास्त्र का दर्शनपरक अनुशीलन, विमला मुसलगांवकर, संगीत रिसर्च एकेडमी, कोलकत्ता

❑❑

आधुनिक पाठालोचन–पद्धति और रामचरितमानस के कृती समीक्षक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

आशुतोष कुमार

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र हिन्दी–साहित्याकाश में एक बहुअधीत अन्वेषक, शास्त्रीयतावादी समीक्षक, निष्ठावान् पाठालोचक, शब्दब्रह्म के सिद्ध भाष्यकार, प्रखरवक्ता एवं अध्यापक के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

आचार्य मिश्र के दीक्षागुरु, काव्यरचना में रीतिमार्गी तथा जीवनदृष्टि में भक्तिमार्गी लाला भगवानदीन जी थे जिनसे उन्हें काव्यार्थ समझने तथा समझाने की क्षमता, काव्यशास्त्रीय परम्परा के निर्वाह के प्रति आग्रह, प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन व प्रकाशन के प्रति कर्त्तव्यबोध, निर्भीक समीक्षा के संस्कार से मिले। कालान्तर में इन संस्कारों का परिमार्जन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद ने 'दीन जी' और आचार्य शुक्ल के दाय को अपने मौलिक चिन्तन से, एक उत्तराधिकारी शिष्य की भाँति, लगातार समृद्ध किया।

आचार्य मिश्रजी के समीक्षक व्यक्तित्व का निर्माण विशेषकर द्विवेदी–युग में हुआ। द्विवेदी–युग की पूर्ववर्ती भारतेन्दुयुगीन आलोचना, भाव–गुण–दोष–विवेचन तक ही सीमित थी। पुनरुत्थान की प्रबल भावना से ओतप्रोत द्विवेदी–युग में तमाम पुरानी मान्यताओं का परिवर्तन तथा परिवर्द्धन हुआ। इसके अतिरिक्त इस 'नए युग' में गुण–दोष पद्धति से आगे बढ़कर कवि की अन्तर्बाह्य विशिष्टताओं की सही समझ पर ध्यान दिया जाने लगा। मिश्र जी का समूचा आलोचना–कर्म एवं समीक्षादृष्टि, आचार्य शुक्ल एवं अन्य शुक्लानुवर्त्ती आलोचकों की भाँति ही, 'कवियों की अन्तःप्रवृत्ति की छानबीन' की ओर प्रवृत्त है।

विश्वनाथ जी के आलोचक व्यक्तित्व की जमीन संस्कृत–समीक्षाशास्त्र है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के कलागत प्रतिमानों में आस्था न होने के कारण उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्रीय पद्धति का आश्रय ग्रहण किया है। किन्तु, अभारतीयता के नाम पर, पश्चिमी विचारों से उन्हें चिढ़ नहीं है। वे पश्चिम के स्वच्छंदतावादी, रहस्यवादी, यथार्थवादी चिन्तन–सरणियों का विरोध तो करते हैं किन्तु साथ ही साहित्यिक पाण्डित्य के कई क्षेत्रों; उदाहरणार्थ–गवेषणामूलक साहित्येतिहास–लेखन, साहित्यकार की वैयक्तिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि को दृष्टिपथ में रखते हुए उसके साहित्य का विवेचन तथा प्राचीन ग्रन्थों के पाठालोचन (Textual Criticism) में पश्चिम के ऋण को अकुण्ठ भाव से स्वीकारते भी हैं। पश्चिम की चकाचौंध अथवा आतंक से प्रभावित न होने से उनके कर्तृत्व में भारतीय मनीषा का अखंड तेज सदैव जगमगाता मिलता है। उनकी सैद्धान्तिक दृष्टि की निर्मिति रस–सिद्धान्त से हुई है।

'सहृदय' और 'सामाजिक' भारतीय रसवाद के बीजशब्द हैं। 'सहृदय' की व्याख में मिश्रजी *'सहृदयः सह हृदयेन'* को लक्षित करते हुए कहते हैं कि *हृदय तो प्राणिमा है!'प्राणिमात्रस्य तथात्वादत्र प्रशस्तहृदयपरत्वं हृदयशब्दस्य'। सहृदय शब्द की व्याख प्रशस्ति भाव या तो काम चलाना है अथवा इसका अर्थ समानहृदयता है। 'प्रशस्तह के बदले 'समानहृदयत्व' क्यों न माना जाए और 'प्रशस्तहृदयमस्य' के बदले 'समानं क्यों न कहा जाए। सहृदय वही न होगा जो कवि के हृदय से अपना हृदय मिला ले! के हृदय से अपना हृदय मिला सके, जो अपने हृदय को दूसरे के हृदय से मिला स हृदय की समानुभूति कर सके। समानुभूति के बिना सहृदयता किस काम की?*[1] साम सम्बन्ध उनके यहाँ समाज से जुड़ता है। इनकी दृष्टि में समाज की भावना के अनुरूप लेने वाला– 'सामाजिक' तथा दूसरे के हृदय में अपना हृदय डालकर समानुभूति क 'सहृदय' है। सहृदयता और सामाजिकता एक दूसरे के पूरक हैं। रसचर्वणा में 'सह 'सामाजिक' तथा 'सामाजिक' को 'सहृदय' होना चाहिए। जहाँ सामाजिक की अ विपरीत या अनुकूल वैयक्तिक अनुभूति काव्य में आ जाती है, वहाँ रसाभास हो जाता है रस–प्रक्रिया में सामाजिकता की प्रमुखता स्वीकार करते हैं, उनके यहाँ साम वैयक्तिकता की विरोधी नहीं है। आचार्य मिश्र की सहृदय–सामाजिक की यह व्या अर्थों में आधुनिक है। उन्होंने रस को अलौकिक, रसप्रक्रिया को आत्मपर्यवसायी मानने का अस्वीकरण करते हुए कहा है कि जो कहते हैं कि प्राचीन रस–प्रक्रिया समाज के नहीं–ऐसा कहने वालों को उसे समझने का अभ्यास डालना चाहिए। साहित्य में 'बालव 'बुध–वचन' की साधना होती है......(बुधवचनों से) अर्थसिद्धि होती है।[2]

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के कर्तृत्व को दृष्टिगत करते हुए यह सहज ह किया जा सकता है कि उनके पूज्य तथा श्रद्धेय कवि क्रमशः तुलसीदास और केशव जबकि बिहारी, पद्माकर, घन आनंद, जगन्नाथ दास रत्नाकर, एवं मैथिलीशरण गुप्त उ कवि हैं। मिश्र जी के साहित्यिक सौन्दर्य–सम्बन्धी प्रतिमान, रीतिकाल के इन्हीं 'प्रिय के काव्यानुशीलन से प्राप्त हुए हैं। उन्होंने अपने देश की परम्परा, मर्यादा की रक्षा एवं आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल तत्त्वों के समर्थन तथा प्रतिकूल तत्त्वों के विरोध को सा प्रतिमानों के रूप में अपनाया है। अब यह कहना न होगा कि उनकी इन कसौटियों के में तुलसीदास (तथा अंशतः अपनी राष्ट्रीय चेतना के कारण, भूषण भी) का महत्त्वपूर्ण है।

विश्वनाथ जी के अनुसार, साहित्य के माध्यम से भारत का सांस्कृतिक संघटन बहुत दूर तक समर्थ होने के कारण तुलसी महान् हैं। उनके साहित्य की महत्ता का रहस्य सर्वजन हिताय 'अलौकिक लोकदृष्टि' थी।[3] मिश्र जी तुलसी की क्रान्तिकारिता को रे करते हुए, उनके द्वारा स्थापित हनुमान मन्दिरों व अखाड़ों तथा उनमें चलने वाले संकी शरीर संवर्धन के क्रम को तुलसी के सामाजिक–राजनीतिक आन्दोलन के प्रयत्नों के लक्षित करते हैं।[4]

तुलसी की चतुर्दिक् साधनाओं– शब्द, साहित्य, भक्ति और लोकमंगल की साधना में सांगिक समन्वय और पूर्णान्विति का संधान करते हुए आचार्य मिश्र यह निर्धारित करते हैं कि इन चारों साधनाओं के मूल में तुलसीदास के भक्त और कवि का अद्भुत सामंजस्य और समन्वय हुआ है, जो उनके कर्त्तव्य की अमित गहराइयों के साथ–साथ मानवीय जीवन की उच्चतम स्थिति में परिणत हो जाता है। उन्होंने इसी को 'लोकमंगल की साधना' कहा है। जहाँ शब्द–साधना इन साधनाओं का केन्द्रबिन्दु है, वहाँ लोकमंगल की साधना इसकी चरम परिणति। मिश्र जी की दृष्टि में साहित्य और भक्ति की साधनाएँ इनके साथ जुड़कर साधना के इस वृत्त को पूर्ण करके तुलसी को साहित्य और जीवन का पूर्ण साधक बना देती हैं'।[5]

'रामचरितमानस' को शक्तिशाली ग्रन्थ बताते हुए वे तुलसी को विश्वकवि के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। उनकी एतद्विषयक उक्ति है कि 'मानस' के गर्भ में छिपे हुए मोतियों की ज्योति से कितने ही मन–मन्दिर देदीप्यमान हुआ करते हैं। वह ज्योति दीन–हीन के झोपड़े में ही नहीं, महाराजाओं के प्रदीप्त प्रासादों में भी अपनी धवलिमा से तमोराशि को धोया करती है।. ....इन्होंने (तुलसी) लोककल्याण के लिए समन्वय का जो मार्ग निकाला वह इतना प्रशस्त था कि उसमें सबके खड़े होने के लिए जगह मिल गई। समाज का कोई अंग ऐसा न था जो समाज से जुटा न रहकर अलग फेंक दिया गया हो। उस 'राजडगर' में सभी सुख की साँस लेने लगे'।[6]

मिश्रजी केशवदास की उपेक्षा से अत्यधिक आहत दिखायी देते हैं। कठिन काव्य के प्रेत अथवा 'उड़गन केसवदास' जैसी जनश्रुतियों को सही परिप्रेक्ष्य में उद्घाटित करते हुए वे अध्येताओं को 'केशव अर्थ गँभीर को' का स्मरण कराते हैं। केशव की कविता के वैशिष्ट्य–निदर्शन के क्रम में वे उनके इस दोहे को उद्धृत करते हुए उसकी अभिनव व्याख्या प्रस्तुत करते हैं–

गजमुख सनमुख होत ही बिघन बिमुख ह्वै जात।
ज्यों पग परत पराग मग पाप पहार बिलात।।

'गणेश के संमुख होने पर तो विघ्न विमुख होंगे पर प्रयाग के लिए प्रस्थान करते ही पाप–पहाड़ लुप्त हो जाएँगे। इस प्रकार प्रयाग का महत्त्व गणेश से बढ़कर हुआ। शास्त्र में यद्यपि उपमान उपमेय से अधिक गुणसम्पन्न माना जाता है तथापि यहाँ गणेश की महत्ता का भी प्रश्न है। कवि ने इसमें शब्द–चमत्कार भी रखा है। गणेश के संमुख होने से विघ्नविमुख (विगत मुख) हो जाते हैं और प्रयाग के लिए मार्ग में पैर रखते ही पाप पहाड़ बिलात (विगत लात) हो जाते हैं। अर्थात् गणेश जी का ध्यान करते ही विघ्न, स्मरणकर्त्ता की ओर आँख उठाकर नहीं देख पाते, वे मुखहीन हो जाते हैं। वे फिर पीछे नहीं घूम सकते, वे पराङ्मुख मात्र नहीं होते हैं।[7] विश्वनाथ जी केशवदास की भाषा को बुँदेली समझे जाने के भ्रम का निराकरण करते हुए उन्हें ब्रजभाषा का कवि घोषित करते हैं।

अपने इतिहासपरक लेखन में विश्वनाथ जी साहित्य की अन्तःप्रवृत्तियों की दृष्टि से काल–विभाजन एवं नामकरण करते हैं। वे आचार्य शुक्लकृत बाह्यार्थबोधक नामकरणों– वीरगाथा काल और रीतिकाल के स्थान पर क्रमशः वीररस काल तथा श्रृंगारकाल की प्रतिष्ठा करते हैं। श्रृंगारकाल के सुदीर्घ परास को वे रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध एवं रीतिमुक्त काव्यधारा के इन

तीन उपविभागों में बाँटकर, कुछ नवीन तथ्यों के साथ उसका सतर्क विश्लेषण करते हैं।

अपनी आलोचना के उत्तरवर्ती परिपार्श्व में सम्भवतः जयशंकर प्रसाद व सुमित्रानन्दन पन्त के कारण मिश्रजी ने छायावाद पर कुछ सकारात्मक ढंग से विचार किया किन्तु प्रगतिवाद, प्रयोगवाद जैसे तत्कालीन अभिनव–काव्यान्दोलनों को वे अन्त तक स्वीकार नहीं कर पाए – सम्भवतः यही एक शास्त्रीयतावादी समीक्षक एवं अनुसंधानकर्त्ता की सीमा थी।

आधुनिक काल की पाठालोचन–पद्धति (Textual criticism) : का गम्भीर रूप मिश्र जी में दृष्टिगत होता है। पाठ–सम्पादन अथवा पाठालोचन उस बौद्धिक एवं शास्त्रीय विधि को कहते हैं जिससे पाठ के सम्बन्ध में निर्णय देते हुए मूलपाठ का निर्धारण किया जाता है। मॉर्विन रिचर्ड्सन ने पाठालोचन को "Process which it sought to determine the original text of a document or a collection of documents, and to exhibit, freed from all the errors, corruptions and variations which may have been accumulated in the course of its transcription by successive copyings"[8] – के रूप में परिभाषित किया है। सामग्री–संकलन, पाठ–चयन, पाठ–सुधार तथा उच्चतर–आलोचना (Higher Criticism) – ये इस पद्धति के विभिन्न चरण हैं। पाठ–सम्पादन साहित्य की प्रथम आवश्यकता है; क्योंकि पाठ–सम्पादन ही वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा पाण्डुलिपियों अथवा अन्य 'उपलब्ध पाठों' की सहायता से एक पाठालोचक रचना के मूल'पाठ' को प्राप्त करता है। इस प्रक्रिया का विधिवत् अनुप्रयोग, अट्ठारहवीं–उन्नीसवीं सदी में शेक्सपियर की रचनाओं के पाठ–निर्धारण के प्रयत्नों के क्रम में प्रारम्भ हुआ। यह प्रक्रिया 'फेअरी क्वीन, 'कैण्टरबरी टेल्स', 'न्यू टेस्टामेण्ट', पञ्चतन्त्र, महाभारत और पृथ्वीराज रासो जैसे पड़ावों से गुजरती हुई हिन्दी के मध्यकालीन काव्य–ग्रन्थों के पाठ–निर्धारण तक पहुँच गई। मिश्र जी इसके मान्य आचार्य हैं।

मिश्रजी मध्यकालीन ग्रन्थों के पाठालोचन एवं सम्पादन में प्रथितयश हैं'। हिन्दी–साहित्य के क्षेत्र में पाठ–सम्पादन का जितना कार्य इन्होंने किया है उतना वर्तमान युग में एक संस्था द्वारा भी किया जाना कठिन है। उन्होंने रीतिकालीन आकर–ग्रन्थों का पुनरुद्धार करते हुए भूषण, घनानन्द, भिखारीदास, पद्माकर इत्यादि काव्यकर्त्ताओं की ग्रन्थावलियाँ तैयार कीं तथा उनका पाठ–सम्पादन किया। **आचार्य मिश्र ने हिन्दी पाठानुसंधान के क्षेत्र की सम्भवतः सबसे बड़ी परियोजना– 'रामचरितमानस क़े पाठ–सम्पादन' को दस वर्षों के निरन्तर परिश्रम से सफलतापूर्वक पूरा किया। लगभग डेढ़ सौ हस्तलेखों के आधार पर सम्पादित यह मानस का काशिराज संस्करण पाठालोचन के क्षेत्र में हिन्दी की एक विशिष्ट उपलब्धि है।**

पाठ–सम्पादन की दो प्रविधियाँ प्रचलित हैं– **1. वैज्ञानिक** तथा **2. साहित्यिक पद्धति।** वैज्ञानिक पद्धति शब्दोन्मुखी तथा साहित्यिक पद्धति अर्थोन्मुखी होती है। वैज्ञानिक पद्धति में पाठचयन की प्रधानता होती है। सभी उपलब्ध पाठ असंतोषजनक प्रतीत होने पर भी वैज्ञानिक सम्पादक, अर्थानुसंधान के बल पर मूलपाठ की व्याख्या करने का साहस प्रायः नहीं कर पाता जबकि साहित्यिक परम्परा से अभिज्ञ सम्पादक ऐसी स्थिति में सार्थक निर्णय कर सकता है। आचार्य मिश्र पाठ–सम्पादन की इसी साहित्यिक प्रविधि के प्रयोगकर्त्ता हैं। 'मानस' के

काशिराज संस्करण की भूमिका में वे लिखते हैं कि "कोरी वैज्ञानिक प्रक्रिया से मानस क्या, हिन्दी के किसी ग्रन्थ का ठीक सम्पादन नहीं हो सकता। उसके लिए साहित्यिक सम्पादन की सरणि का परित्याग अहितकर है। वैज्ञानिक प्रक्रिया भारतीय दार्शनिक दृष्टि से विज्ञान होने से जड़ है। साहित्यिक प्रक्रिया दर्शन होने से चेतन है। मूलग्रन्थ के लेखक से लेकर सम्पादक तक सभी चेतन प्राणी होते हैं। जड़ की गतिविधि जितनी व्यवस्थित होती है, उतनी चेतन की नहीं"।[9]

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे वैज्ञानिक पद्धति को पूरी तरह अस्वीकार करते हैं। वे कतिपय शब्दों पर अनावश्यक बल देने एवं अर्थ संवेदनों को उपेक्षित रखने मात्र का विरोध करते हैं। यह सर्वथा सत्य है कि बिना अर्थ में रमे केवल मशीनरी पद्धति से प्रस्तुत सम्पादन–कार्य पाठालोचक को किसी शब्द के मर्म तक नहीं पहुँचा सकता। इस क्षेत्र में सही निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए संवेदनशीलता तथा स्वचेतना का विनियोग अपरिहार्य है।

पाठालोचन की साहित्यिक पद्धति को अपनाने से इस बात की सम्भावना रहती है कि पाठालोचक कहीं–कहीं निरंकुश होकर ऐसे अर्थोद्‌घाटन कर सकता है जो कवि द्वारा अभिप्रेत न हों। ऐसे में मिश्र जी सावधान करते हुए कहते हैं कि प्राप्त विभिन्न पाठों में कौन सा पाठ कवि का है, उसे वही बतला सकेगा, जिसकी तथ्यग्राहिणी–प्रतिभा मूलार्थों तक पहुँचाकर आपको आश्चर्यचकित कर देने का सामर्थ्य रखती हो। वास्तव में मिश्र जी ऐसी तथ्यग्राहिणी–प्रतिभा सम्पन्न पाठालोचक थे। मानस की एक चौपाई का पाठशोधन द्रष्टव्य है–

मरम बचन जब सीता बोला। हरिप्रेरित लछिमनमन डोला।। (28/5)

इस चौपाई के आधार पर तुलसीदास पर लिङ्गौचित्य का ध्यान न रखने का आरोप लगाया जाता है। कुछ स्थानों पर 'स्त्रीलिङ्ग शब्द के साथ स्त्रीलिङ्ग क्रिया' के तर्क का आश्रय लकर इसके पाठ को– *'मरम बचन सीता जब बोली। हरिप्रेरित लक्षिमनमति डोली'* के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। मिश्र जी ने पहले पाठ को ही मान्यता देते हुए कहा– 'यहाँ व्याकरण की दूसरी ही दृष्टि है। अवधी के वर्तमान काल एकवचन अन्य पुरुष की क्रिया का रूप क्रियार्थक संज्ञाओं का धातुरूप होता है। जैसे–कहब या बोलब का कहना या बोलना क्रियार्थक संज्ञा है, तो 'कहब'–'बोलब' का अर्थ होगा 'कहता है'–'कहती है' या 'बोलता है'–'बोलती है'। चरणांत में गुरु वर्ण रखना है इसलिए 'बोल' को बोला कर दिया। यदि कोई कहे तो उसे ऐतिहासिक वर्तमान पर ध्यान देना चाहिए''।[10]

आचार्य मिश्र की शब्दब्रह्म–साधना को दृष्टिपथ में रखते हुए कहा जा सकता है कि वे पाठ और अर्थ के परस्पर वैषम्य को मिटाने के लिए दोनों की अन्विति को उपादेय मानते हैं। वे शुद्ध पाठ और अर्थ की विवेचना के लिए, अधोलिखित तथ्यों को उपकरणों (Tools) की तरह प्रयुक्त करते हैं–

1. शुद्ध अर्थ एवं पाठ–निर्धारण में प्राचीन टीका–ग्रन्थों का उपयोग
2. ठेठ एवं देशज शब्दों की निरुक्ति एवं प्रयोग साक्ष्य पर विचार
3. काव्य की समस्त प्रसंगगत सम्भावनाओं का विनियोग तथा

4. कविसमय एवं प्रसिद्धियों का सम्यक् ज्ञान :

उपर्युक्त की एक झलक दिखाने के लिए 'हिंदी का सामयिक साहित्य' से कामायनी की दो पंक्तियाँ तथा मिश्र जी द्वारा किया गया उनका अभिनव अर्थापन उद्धरणीय है –

'वरदान सदृश हो डाल रहीं, नीली किरणों से बुना हुआ।
यह अंचल कितना हल्का सा कितने सौरभ से सना हुआ।।

यहाँ श्रद्धा जिस लज्जा का अनुभव कर रही है, वह श्रृंगार की दाम्पत्य–रति की सहकारिणी लज्जा है। श्रृंगार का रंग भारतीय कवि–समय में श्याम या नीला माना जाता है। 'नीली किरणों' का तात्पर्य श्रृंगार के प्रकाश–सूत्र से है। यह अर्थ तब तक स्फुटित नहीं हो सकता जब तक कोई इस कवि–समय को न जानता हो या इस तक न पहुँचे। परंपरा का त्याग करने की संमति या उपदेश देने वाले अन्यत्र चाहे जो उपलब्धि कर लें, पर प्रसाद की रचना में परंपरा–पराङ्मुख को अर्थ की नहीं, अनर्थ की ही प्राप्ति होगी'।[11]

सन्दर्भ :

1. वाङ्मय विमर्श, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 139
2. वही, पृ. 14
3. हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग–1, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 254
4. गोसाईं तुलसीदास, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 9
5. तुलसी की साधना, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, भूमिका
6. वही, पृ. 72
7. हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग–2, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 86
8- www.wikipedia.org, 3/20/07
9. रामचरितमानस (काशिराज संस्करण), आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 25
10. गोसाईं तुलसीदास, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 196–97
11. हिन्दी का सामयिक साहित्य, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ. 334

□□

Buddhist Manuscripts in Nepal

Anirban Dash

Introduction :

India is the root source of Buddhist manuscripts, where Buddha attained the Buddhahood and the Buddhist religion spread not only in India but also to other countries i.e. Nepal, Shrilanka, Burma, Sumatra, Java, Tibet, Mangolia, Koria, Japan, China, etc. As we all know, India is full of Buddhist Monuments, but we did not find even a single complete Buddhist Sanskrit manuscript.

In this very context we can remember the statements of Prof. Jayadeva Singh and Suniti Kumar Chatterji Prof. Jayadeva Singh writes in his Introduction to *Mādhyamika* Philosophy : "Books on *Mahāyāna* Buddhism were completely lost in India. Their translation existed in Chinese, Japanese and Tibetan. Mahāyāna literature was written mostly in Sanskrit and mixed Sanskrit. Scholars who have made a study of Buddhism hardly suspected that there were also books on Buddhism in Sanskrit."

Suniti Kumar Chatterji writes : "One great service the people of Nepal, particularly the highly civilized Newars of the Nepal Valley, was to preserve the manuscript of *Mahāyāna* Buddhist literature in Sanskrit. It was the contribution of Sri Lanka to have preserved for human kind the entire mass of the Pāli literature of *Theravāda* Buddhism. This went also to Burma, Cambodia, and Siam. It was similarly the great achievement of the people of Nepal to have preserved the equally valuable original Sanskrit texts of Mahāyāna Buddhism."

THE MOVEMENT OF BUDDHIST MANUSCRIPTS OUT OF INDIA

When we analyse the history of the movement of Buddhist manuscripts from India, we come to know that approximately from 7th century A.D. to 13th A.D. the manuscripts were taken from India to Tibet by the Indian scholars and monks. By the 11th century A.D., Tibet was the main centre for Buddhism. During this period Sanskrit Buddhist Manuscripts are collected in huge amount and stored over there. In the 11th century A.D., Dipankara Srijnana went to Tibet and was surprised to see the storage of Buddhist Sanskrit manuscripts there. He wrote in his autobiography, that "When I visited *pe har galin dkor mjod* (library) I found some manuscripts which I never heard of before.

In the period 13th century A.D., India was attacked by Muslim rulers and they destroyed living tradition together with the Buddhist Monasteries and libraries. At

that time the Buddhist scholars and monks were killed and scattered and left India and went for safer place. At that time Nepal was the best place for them to reside. Slowly Nepal became the centre for Buddhist tradition.

The invasions had the direct impact on the movement of Buddhist Sanskrit texts from their place of origin to Nepal and later to other countries beyond Nepal.

We are very fortunate that in this case, Nepal was so rich enough to preserve the Buddhist manuscripts. The Buddhism of Nepal was and still is the place of preservation of the original Buddhist traditions. The Buddhism of the Kathamandu Valley was influenced by the whole range of *Śrāvaka*, *Mahāyāna* and *Vajrayāna* tradition. Buddhism survived in Nepal since ancient times to the present day with its own typical tradition, culture, rituals and arts as the distinctive Buddhism of Nepal. At this period we are exploring that Nepal was a cultural exchange center for centuries. The great scholars from both India and Tibet were halting at Nepal during their travel between India and Tibet. In addition to that, we know about many prominent Nepali scholars who went to Tibet at those times. Nepal's position throughout the history of Buddhism has been of immense significance. Nepal always serves as a link between India and Tibet in the development of Buddhism. Buddhism became highly developed in Nepal, which was given equal status to Hinduism since the Ancient time. The Nepali rulers always propagated Buddhism as a religion in Nepal. Nepal has the largest repository of Buddhist Sanskrit literature dealing with different aspects of *Mahāyāna* tradition.

As the birthplace of the historical Buddha and one of the main centres of the *Mahāyāna* Buddhist tradition, Nepal has long drawn the attention of eminent Buddhist scholars around the world. This Himālayan Kingdom not only played an important role in the expansion of Buddhism but also in the preservation of various ancient Buddhist traditions and texts. *Mahāyāna / Vajrayāna* texts preserved in Nepal, many of which are available nowhere else in the world, are of immense significance to the study and development of Buddhism. Until the mid-nineteenth century, however, these texts were relatively neglected, and virtually unknown to the outside world. Native Buddhist scholars, especially the Newars, have become involved in translation and publication of Buddhist texts only very recently. This area, thus, needs more attention and proper scholarly attenation to bring out the true picture of these significant Buddhist texts.

NEPAL: THE LARGEST REPOSITORY OF BUDDHIST SANSKRIT LITERATURE :

It is in Nepal that most of the Sanskrit Buddhist documents have been found. Most of the manuscripts originally preserved in Nepal, have been carried out of the country by the pioneers of modern Indology. Nepal has the largest repository of Buddhist Sanskrit literature dealing with different aspects of *Mahāyāna* creeds and practices. The monk scholars as well as *Vajrācārya* Pandits have contributed in

producing and preserving Buddhist manuscripts. Mr. Brian Hodgson (1824-1842 AD.), a British diplomat in Nepal, discovered a great number of Sanskrit Buddhist manuscripts in Nepal. The existence of these manuscripts was unknown before his time and his discovery entirely revolutionized the history of Buddhism, as Europeans knew it in the early part of that century.

MOVEMENT OF BUDDHIST MANUSCRIPTS OUT OF NEPAL

The people who are involved in taking the manuscripts from Nepal did not keep official records of the items, particularly of the manuscripts. Later various collectors obtained the manuscripts in Nepal and distributed them in India, Japan, U.K., France, Germany, Russia and U.S.A. It should be said that this scattering of the manuscript around the world was the result of the colonial administration of Nepal. The British collectors namely Brian H. Hodgson, Gimlette, Daniel Wright, and Two Japanese collectors namely the Ven. Ekai Kawaguci and Prof. J. Takakusu of Tokyo University, collected manuscripts in Nepal and sent them to their countries. One such incident may be quoted in this context namely of that Captain William Kirkpatrick (1773), who procured a manuscript of *Aṣṭasāhasrika Prajñāpāramitā* and presented it to William Jones on 15th November 1793.[1] This is very significant since it represents the start of the transfer of the manuscripts out of the country.

Now the manuscripts from Nepal are preserved in the Asiatic Society of Bengal; Bihar Research Society, K.P. Jayswal Research Center; Oriental Institute of Baroda; Sarasvati Bhavana; Namgyle Institute of Tibitilogy, Sikkim, Central University of Tibetan Studies, Sarnath ; Kyota University Library and Buddhist Library, Nagoya Japan; British Museum, England; Oxford and Cambridge Universities; Royal Asiatic Society of London, Guimet Museum in France; University of Berlin; University of St. Petersburg; Various Tibetan Buddhist monasteries in India as well as aboard including Tibet; Centre for Advanced Study of World Religious in New York. All of these rare collections are very valuable for the study of Mahāyāna Buddhism.

A. F. R Hoernle collected *Mādhyamikavṛtti* (14th A.D), *Tathāgatajñāna Stutigāthā* (12th A.D., *Pañcaraska* (11th A.D.), *Kriyā Pañjikā* (13th A.D.), *Pitāputrasamāgamia Sūtra* (15th A.D.). Those manuscripts are in Bodleian Library.[2]

Prof. Cecil Bendall (1880) has collected 212 Sanskrit Buddhist Manuscripts from Nepal. During his visit he published a brief monograph entitled: "A Journey of Literary and Archaeological Research in Nepal and Northern India"[3]. He procured the following important Buddhist Manuscripts: 1. *Cāndravyākaraṇa.* 2. *Lalitavistara* (11th A.D), 3. *Karandavyūha* (11th A.D), 4. *Saddharmapuṇḍarika* (11th A.D) and 5. *Vasundharā Dhāraṇī* (15th A.D).

Buddhist manuscripts from Nepal are collected in many archives and libraries either in original or microfilm/ microfiche form.

PECULIARITIES OF NEPALESE BUDDHIST MANUSCRIPTS

Manuscripts in Nepal are divided into two major categories i.e. Buddhist and non Buddhist. They were used by experts for scholarly as well as religious purposes. The Buddhist manuscripts in Nepal cover almost every aspect of *Mahāyāna* and *Vajrayāna* Buddhism. During the 17th – 18th centuries, people had the opportunity to purchase manuscripts as an object of transaction. These Buddhist texts were written on palm leaves and Nepali hand-made paper and were written in various ancient scripts such as Newari and certain varities of the same i.e. *Bhujomol* (used from 11th to 17th A.D.), *Ranjana*, *Pachumol*, *Kvelmol*, *Litumol* etc. There are also other scripts such as Maithili, old Bengali, *Kuṭila*, *Vartula* and *Devanāgari* in which the Buddhist manuscripts were copied. The manuscripts on palm leaves and in old varieties of these scripts are generally more authentic than the texts available in handmade paper. Palm leaves were common materials used to write the manuscripts before the 16th century. There-after the handmade papers become famous for manuscript writing. The handmade paper was thick and prepared in a traditional way by pasting several layers together. This paper is coated with yellow *haritāl* to protect from heat. Buddhist manuscripts are mainly written in black ink, vegetable dye, gold and silver dust. Bamboo pen were used to write them. A folio usually contains 5 to 7 lines. However, in large manuscripts it contains more than 10 lines. Ranjana was used normally in gold on indigo paper.

The colophon of each manuscript provides information on the purpose of writing or copying a particular text. Ritual texts are written for the purpose of passing on the tradition to latter generations[4]. Buddhist manuscripts of Nepal cover a wide variety of subjects of Mahāyāna and Vajrayāna Buddhism. Manuscripts were mostly written in Newari, Sanskrit and Maithili. But sometimes they were the combination of Newari, Sanskrit, Bengali, Hindi and Nepali languages. Manuscripts cover historical events, chronicles, epic, *dharma*, record of events, astrology, medicine, religious doctrine, lexicography, ritual, music, songs, eulogy, eroticism, commentaries, iconography, Philosophy, art, architecture, grammar, ethics, stories, *Dharani*, *Tantra*, *Śūtra*, *Purāṇa*, *Māhātmya*, *Veda*, *Pujāvidhi*, *Jātaka*, *Avadāna*, Gītā, *Caryā* and so on.

CATALOGUES OF BUDDHIST SANSKRIT MANUSCRIPTS

Various archives and libraries in Nepal, India, Japan, China, U.K. and Germany have already published several volumes of catalogues, all of which provide details about the Buddhist manuscripts persevered so far.

The Germany scholars have keen interest in Nepalese manuscripts. There is manuscript project i.e (NGMPP) Nepal German Manuscripts Preservation Project. Under this project more than 100, 000 of manuscripts are microfilmed, which were kept in Government and private archives as well as in individual collections.

Several volumes of catalogues as well as articles dealing with Nepalese manuscripts have already been published, which provide invaluable information about

Nepal's Buddhist as well as Hindu manuscripts. The pioneer work in this area of study is that of Rajendra Lal Mitra, who wrote about Nepalese manuscripts in his book entitled "Sanskrit Buddhist Literature of Nepal" (1982), which is a masterpiece of Buddhist studies. In addition to it, Rahul Sankrityayan , Pt. Hara Prasad Sastri and E. B. Cowell and J. Eggeling also wrote about the Buddhist manuscripts of Nepal. Scholars like Cecil Bendall, D. E. Boeck, Prof. J. Takausu, Ven. Ekai Kawaguci, Binoytosh Bhattachrya and others collected and studied Sanskrit manuscripts of Nepal. Now the manuscripts are becoming distributed and published in the digital form. Thus, they become more easily available for research purposes.

The entirely published catalogue can be divided into two main types : native catalogues (17 in number) and those published abroad (44 in number) . The former consists of the catalogues of manuscripts which are still preserved in Nepal, where as the later refers to the manuscripts that were taken to other countries by various collectors and which are now kept in various archives, museums and libraries throughout Europe and Asia.

NATIVE CATALOGUES IN NEPAL

At present the main centre of Buddhist manuscripts in Nepal are:

1. The National Archive, 2. National library catalogue, 3. Tribhuvan University Central Library, 4. Keskar Library, 5. Asa Saphu Kuthi and 6. Bir Library.

THE NATIONAL ARCHIVE CATALOGUES :

National Archive of Nepal possesses a huge numbers of Hindu and Buddhist anuscripts written in Sanskrit with Newari family scripts. All the government ollections of the manuscripts are deposited in the National Archive. The manuscripts here cover the areas of *Sūtra*, *Tantra*, *Śāstra*, *Vidhi*, *Pujā*, *Avadāna*, *Jātaka*, *Dhāraṇi*, *Stotra* and so on. These manuscripts were originally in the collection of Durbar or Bir library. There are some manuscripts from individual collection of Pt. Hemaraj Pandeya. The NGMPP has prepared a detailed catalogue of microfilms.

All the entries are divided into eleven main headings, such as Philosophy, *Avadāna* and *Jātaka* Stories, *Dharmasūtras*, Ritual, *Purāṇa*, *Dhāraṇi*, Stotra, Music and paintings. Now the CD of the catalogue is available at the National Archive of Nepal. One copy of the same is used in the Rare Buddhist Text unit by the Central University of Tibetan Studies, Sarnath.

2. NATIONAL LIBRARY CATALOGUE :

His Majesty's Government of Nepal established the **Nepal National Library** in the mid 1950s. The library has more than 75,000 items in its collection. Nepal National Library published the subject catalogues of selected manuscripts.

- ***Sucipatram* Vol. 1 1964, List of Manuscripts on Buddhism[5] :**

The First volume of the catalogue contains 105 manuscripts, which mainly deals with Buddhist philosophy.[6] The entries of this catalogue mainly cover the following headings : 1. *Mahāyāna-sūtra,* 2. *Abhidharma* 3. *Prajñāpāramitā* 4. *Dharmasamuccaya,* 5. *Mādhyamakavṛtti* 6. *Vajrachedikā*. The two more catalogues on Astrology (Vol. II, III 1965-66) were also published from this library.

· **Suchipatra Vol. 4 1967, List of manuscripts on Buddhism :**

The volume contains the list of Buddhist Tantric Manuscripts only. It has altogether 83 entries, including *tantras* such as : Hevajra, Chandamaharosana, *Abhidhānottara tantra*, *Advyayasiddhi*, *Kālacakra*, *Kṛṣnayamari*, *Guhyasamāja*, *Guhyavali*, *Janasiddhi*, *Yogini Tantra*, *Kurukulla*, *Cakrasamvara*, *Dakarnavamahayogini tantra* etc. These are very important tantric texts on *Vajrayāna* Buddhism. In addition to these manuscripts, four sets of *Gaṇapati Hṛdaya* are also included in the catalogue. The important feature of this manuscript catalogue is : most of the entries contain a detailed citation of opening words and colophons *Pūrva* and *Uttara Puṣpikā*. It also contains more details of individual manuscripts such as name, script etc.

3. TRIBHUVAN UNIVERSITY CENTRAL LIBRARY :

Tribhuvan University Central Library (TUCL) was established along with the University in 1959. The Catalogue entitled : A catalogue of the Sanskrit Manuscript in the Central Library of Tribhuvan University contains the information about the 527 volumes of both Hindu and Buddhist manuscripts. All of the entries are listed in alphabetical order. Some of the manuscripts are : 1. *Aṣṭasahasrikā Prajñāpāramitā Mahāyāna Sūtra* 2. *Karandavyūha – Mahāyāna sūtra* 3. Pañcāraka Sūtra Mahāyāna Sūtra

4. KESAR LIBRARY COLLECTION :

The total collections of the Manuscripts are 800 in number. Of these there are 141 Buddhist manuscripts in the collection of the Kesar Library. The oldest manuscript in Kesar library is dated 10th century A.D. and it is entitled *Kṛtyasangraha*. *Dohā Kośa* of *Advayavajra* is also in this collection. This is a very important manuscript in Buddhism. A Japanease scholar Mr. Mitutosi Moriguchi[7] has prepared a catalogue that included the Buddhsit tantric manuscripts preserved at the Kesar library. His Catalogue has some important tantric manuscripts such as – 1. *Vajrodaya* 2. *Vajradhātumukhyanadegurividhi* 3. *Mahāmaṇḍaladevatānāmāvali* 4. *Valimala* etc. The Tantric texts belonging to the *Caryā*, *Kriyā*, *Yoga* and *Anuttara Yogatantra* are included in this Catalogue. These manuscripts were written in *Rañjanā*, *Bhujimol*, *Pracalit Newari*, Old Devanāgari and Devanagari scripts on palm leaf and Neapales paper and *Nīlapatra*.

The Kesar library has very important manuscripts i.e. the texts of *Prajñāpāramitā* (having 25000 verses), *Dhāraṇi*, Nine *sūtras*, and tantric texts

such as 1. *Vajravarāhikalpa*, *Sādhanā*, *Hevajra*, *Vajrapañjara*, *Avadāna*.

5. ASA ARCHIVES (ASA SAPHU KUTHI)

Located on the western fringe of the old part of Kathamandu, the archives possess an exceptional collection of over 6,000 pages of hand written books and 1,000 palm-leaf documents. The rare collection provides an insight into the literary tradition of medieval Kathamandu. The oldest manuscript here dates back to AD 1464. Most of the manuscripts are in Sanskrit and Nepali languages. It was Mr. Prem Bahadur Kamsakar, who donated his entire collection of manuscripts to the Asa Archive and established the same. Additional collections were donated by Ian Alsop and Dharma Ratna *Bajrācārya* with 802 and 608 manuscripts respectively. A Japaneases team led by Mr. Kajumi Yoshijaki prepared the catalogues of these collections. Manuscripts are written in the Sanskrit, Newari, Hindi, Tamil and English languages, but the scripts are *Pracalit Newari*, *Bhujimol*, *Rañjanā* and *Devanāgarī* script. Most of the Buddhist manuscripts are in Sanskrit language. The ṃanuscripts at the Asa Archive cover a wide range of subjects such as *Avadāna*, *Dhāraṇī*, *Dharmasārasamuccaya*, *Dharma Saṅgraha*, *Sūtra*, *Tantra* etc. The Catalogues of Asa Archive which includes Mr. Kajuni Yoshijaki's catalogue were prepared by many scholars such as : Charles Novak, Janak Lal Vaidya, Prem B. Kasmskar and Raj Shakya. In this collection, there are 1686 Buddhist Manuscripts, which covers themes such as : *Darśana*, *Avadāna*, *Caryā*, *Tantra*, *Stotra*, *Dhāraṇī*, *Vinaya* and *Sūtra*.

6. CATALOGUE OF BIR LIBRARY MANUSCRIPTS :

Pandit Har Prasad Shastri of the Asiatic Society of Bengal published notes on Nepalese manuscripts in the Journal of the Asiatic Society of Bengal (Vol. LXIV, Calcutta : 1897, pp. 310-316). Shastri examined thousands of palm-leaf manuscripts written in the Gupta, ancient Newari, ancient Bengali and other ancient scripts. Shastri also published two catalogues of Nepalese manuscripts. The first volume of his catalogue contains both Hindu and Buddhist manuscripts. He listed 14 Buddhist manuscripts dealing with *Darśana*, *Sūtra*, *Maṇḍala*, *Avadāna*, *Jātaka*, *Bodhicaryāvatāra* and *Sādhanā*. The Second volume includes 100 Buddhist manuscripts, which cover logic, Philosophy, *Tantra*, *Dhāraṇi*, *Avadāna*, *Vrata vidhi* and so on. He also published another catalogue about Buddhist manuscripts preserved at the Asiatic Society of Bengal. Many of these manuscripts were collected in Nepal by the Brian H. Hodgson during his tenure at the British Residency in Kathamandu, were donated to Institutions in India and Europe.

Due to the importance of Nepal's Sanskrit Buddhist manuscripts in the study of the *Mahāyāna/ Vajrayāna* tradition, foreign scholars were very eager to acquire them. Many Buddhist scholars thoroughly examined the manuscripts and later published catalogue on them. At present various educational centres at England,

Japan, France, Germany, Russia, Tibet, the U.S.A and India have a very good collections of Nepalese Buddhist manuscripts.

CONCLUDING REMARKS

Nepal's Buddhist Sanskrit manuscripts have been regarded as even more precious by the Buddhist world after they were exposed to the outside world found in the middle of the nineteenth century. Buddhist Sanskrit literature preserved in Nepal had a vital role in the development of all Buddhist traditional schools. In fact, the preservation of Sanskrit manuscripts in Nepal in its best available original forms is mainly due to the spirituality of Newar Buddhism. The unbroken *Vajrayāna* tradition also contributed to preserve the Buddhist scriptures. The contribution of prominent monks who took several texts of Buddhist literature with them during escape from India had far reaching consequences in the development of Sanskrit literature in Nepal. It helps to preserve the literary heritage of Mahāyāna Buddhism from destruction. The richness of the Nepalese collections stands in stack contrast to the common belief of scarcity of Buddhist Sanskrit manuscripts.

References :

1 M. Winternitz and A. B. Keith (ed.) 'Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Bodleian Library', Vol. II, Oxford, The Calrendon Press, 1905, p. 249

2 Ibid, pp. 250-267

3 Cecil Bendall, 'A journey of literary and Archaeological Research in Nepal and Northern India', Cambridge, The University Press, 1886, pp. 16-20

4 Janak Lal Vaidya, Rashtriya Abhilekhālaya Sthit Nepāl Bhāṣā Newari *Abhilekha-Grantha* (A search report submitted to T. U. Research Division) 1989, pp. 10-11

5 *Sūcipatarm, vol. II, Pt. 1, National Library,* Kathamandu: *1964, pp. 1-104*

6 Devi P. Lamsal (ed.), *Sūciptatram*, Vol. 1, Pt. 1, Nepal National Library, Kathamandu : 1965, pp. 1-98

7 Mitutoshi Moriguci, A Catalogue of the Buddhist Tantric Manuscripts in the National Archives of Nepal and Kesar library, Sankibou Busshorn, Tokyo: 1989, pp. 1-158

रहीम की संस्कृत-रचनाएँ

शेख़अब्दुल ग़नी

नवाब अब्दुर्रहीम खान खाना को साहित्य-जगत् में मुख्यत: हिन्दी-कवि के रूप में जानते हैं। किन्तु रहीम संस्कृत-भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे, यह जानकारी सभी पाठकों को नहीं हैं। इस लेख में रहीम के संस्कृत-ज्ञान और उनकी संस्कृत-रचनाओं का परिचय साहित्य-जगत् को देने का प्रयास किया जा रहा है।

जीवन-परिचय

भारतीय साहित्य के इतिहास में अब्दुर्रहीम खान खाना ऐसे कवि हैं, जिनके जीवन की घटनाएँ ऐतिहासिक ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। रहीम ने मुगल सम्राट् अकबर तथा जहाँगीर के दरबार में अपना जीवन बिताया था। अत: इस समय के इतिहासकारों ने इनकी घटनाओं का विवरण लिपिबद्ध किया है। स्वयं रहीम की इच्छा पर इतिहासकार अब्दुल बाकी नहावन्दी ने सन् 1616 ई. में इनकी जीवनी 'मआसिर-ए-रहीमी' की रचना की है, जो इनके जीवनकाल में पूर्ण हुई।[1] इस प्रकार हमारे पास रहीम के जीवन का प्रामाणिक विवरण उपलब्ध है।

रहीम का जन्म 16 दिसम्बर, 1556 ई. (14 सफ़र 964 हिजरी) को लाहौर में हुआ। इनके पिता बैरमखाँ अकबर महान् के प्रथम बकील (प्रधानमंत्री) थे। रहीम का विवाह अकबर की धाय जीजी माहम अंगा की पुत्री माहबानू से हुआ। रहीम के कुल चार पुत्र थे। शाहनवाज खाँ, दाराब खाँ, मिर्जा रहमानदाद, मिर्जा अमरुल्ला और एक पुत्री जाना बेगम थी, जिसका विवाह अकबर के पुत्र दानियाल से हुआ था। रहीम ने अपने जीवनकाल में सभी पुत्रों की असामयिक मृत्यु देखी। सन् 1598 ई. में पत्नी माहबानू का भी देहान्त हो गया। इस तरह अनेक पारिवारिक दु:खों का अनुभव रहीम को हुआ। इनकी यही वेदना इनके काव्य में प्रस्फुटित हुई प्रतीत होती है –

> यों रहीम सुख-दुःख सहत, बड़े लोग सह सांति।
> उवत चंद जेहि भाँति सों, अथवत ताही भाँति।।[2]

जिस प्रकार उदित होते हुए और अस्त होते हुए चन्द्रमा का समान रूप होता है, उसी प्रकार महापुरुष भी सुख-दुख में समान भाव रखते हैं। रहीम के स्वभाव का यह उदाहरण मात्र है।

जब रहीम विद्रोही महाबत खाँ के विरुद्ध चढ़ाई करने जा रहे थे तब लाहौर में बीमार पड़ गए। दिल्ली पहुँचकर 71 वर्ष की आयु में सन् 1627 ई. में उनकी मृत्यु हुई। इनकी समाधि दिल्ली में हजरत निजामुद्दीन औलिया की समाधि के निकट आज भी विद्यमान है।

रहीम का व्यक्तित्व

नवाब अब्दुर्रहीम खान खाना बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। वे अकबर के नवरत्नों में प्रमुख थे। वे अरबी, तुर्की, फारसी भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। संस्कृत तथा हिन्दी भाषा के सुकवि थे। कहा

जाता है कि इन्होंने ग्यारह वर्ष की आयु में ही काव्य-रचना आरम्भ कर दी।[3] इन्होंने अपनी कविताओं में अपना उपनाम 'रहीम' रखा।

रहीम गुणवान् व्यक्ति थे। वे दानशीलता के लिए प्रसिद्ध थे, याचक जो भी माँगता था इनकार नहीं करते थे। दान न देने वालों की रहीम इस तरह भर्त्सना करते हैं –

रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुं माँगन जाहिं।
उनते पहिले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं।।[4]

उदार स्वभाव एवं उच्च चरित्रवाले रहीम अनेक कवियों, पण्डितों के आश्रयदाता थे। जिनमें उर्फी शीराजी तथा नजीरी निशापूरी इत्यादि प्रमुख हैं। हिन्दी-कवियों का एक समूह हमेशा इनके साथ रहता था। भारतीय भक्ति-साहित्य के मूर्धन्य कवि गोस्वामी तुलसीदास रहीम के समकालीन थे।

जनश्रुति है कि एक बार एक ब्राह्मण अपनी कन्या के विवाह के लिए धन न होने से घबराया हुआ गोस्वामीजी के पास आया। गोस्वामीजी ने उसको रहीम के पास भेजा और साथ में दोहे की यह पंक्ति लिखकर दे दी।

सुरतिय नरतिय नागतिय यह चाहत सब कोय।

रहीम ने उस ब्राह्मण को बहुत सा धन देकर विदा किया और दोहे की दूसरी पंक्ति इस प्रकार पूरी कर के दे दी।

गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी सो सुत होय।[5]

हुलसी का अर्थ प्रसन्न है और गोस्वामी जी की माता का नाम हुलसी था। ऐसा कहा जाता है कि[6] रहीम की प्रेरणा से गोस्वामी जी ने बरवै रामायण की रचना की है।

इस प्रकार अनेक समकालीन कवियों से सम्पर्क ही नहीं परवर्ती कवियों के काव्य पर रहीम का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

रहीम का संस्कृत-ज्ञान एवं रचनाएँ

रहीम बहु-भाषा-कोविद थे। इनको संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त था। तुर्की, फारसी, हिन्दी के अतिरिक्त वे संस्कृत के सुकवि थे। इन्होंने संस्कृत में अनेक ग्रन्थों की रचना की है। संस्कृत-फारसी मिश्रित भाषा में 'खेटकौतुकजातकम्' नामक ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की है। इन्होंने संस्कृत में लगभग नौ रचनाएँ की हैं,[7] लेकिन सभी रचनाएँ उपलब्ध नहीं है। 'खेटकौतुकम्' के अतिरिक्त 'गङ्गाष्टक', 'मदनाष्टक' और 'रहीम काव्य' उल्लेखनीय हैं।'[8] रहीम स्वयं संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे और इनके आश्रित कवियों में संस्कृत-कवि 'खानखाना-चरितम्' के लेखक रुद्रकवि प्रमुख हैं जो इनके साथ रहते थे। इनके संस्कृत-काव्य-प्रतिभा का ज्ञान इससे होता है कि एक बार पण्डितराज जगन्नाथ त्रिशूली ने स्वरचित एक श्लोक खानखाना को सुनाया जो इस प्रकार है –

प्राप्य चलानधिकारान् शत्रुषु मित्रेषु बन्धुवर्गेषु।
नापकृतं नोपकृतं न सत्कृतं किं कृतं तेन।।

जिसने चल अधिकार पाकर शत्रु मित्र और भाई बन्धु का क्रमशः अपकार, उपकार और सत्कार

नहीं किया तो वास्तव में उसने कुछ नहीं किया। खानखाना ने इस श्लोक की दूसरी पंक्ति को बदल कर इस प्रकार कर दिया – नोपकृतं नोपकृतं नोपकृतं किं कृतं तेन।।[9]

अर्थात् अधिकार पाकर व्यक्ति को शत्रु, मित्र तथा भाई-बंधु सभी पर उपकार करना चाहिए।

रहीम की रचनाएँ मुख्यतः संस्कृत, हिन्दी फारसी भाषाओं में उपलब्ध हैं। हिन्दी-साहित्य-जगत् में अब्दुर्रहीम खानखाना की रचनाएँ 'रहीम' उपनाम से प्रचलित हैं। उनकी संस्कृत-कृतियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है –

1. खेट-कौतुक-जातकम्

यह संस्कृत में ज्योतिषविषयक ग्रन्थ है। इसकी भाषा फारसी-मिश्रित है। इसमें ग्रहों के बारह स्थानों के फल एक-एक श्लोक में दिए गए हैं। सूर्य, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु आदि भावों के फल तथा राज-योग पर अलग-अलग श्लोक हैं। इस ग्रन्थ में कुल 124 श्लोक हैं, मङ्गलाचरण के दो श्लोक हैं। फारसी-मिश्रित संस्कृत-शैली की परम्परा का संकेत मंगलाचरण के इस श्लोक में दिया गया है –

फारसीपदमिश्रितग्रन्थाः खलु पण्डितैः कृताः पूर्वैः।
सम्प्राप्य तत्पदपथं करवाणि खेटकौतुकं पद्यम्।।[10]

अर्थात् पूर्वाचार्यों ने फारसी-शब्दमिश्रित संस्कृत-पद्य में विविध प्रकार के ग्रन्थों की रचना की हैं। मैं भी उन्हीं के चरणपथ का अनुसरण करते हुए, फारसी-मिश्रित संस्कृत-श्लोकों में 'खेटकौतुक' नामक ग्रन्थ की रचना करता हूँ। इस ग्रन्थ का उदाहरण द्रष्टव्य है –

धनाधिपश्च खूबरू सखी सुबुर्द पुङ्गवः।
शिरीसखुन् विदूषको भवेद्यदा कमर्भवे।।[11]

यदि जन्मलग्न से एकादश स्थान पर चन्द्रमा हो तो मनुष्य धनाढ्य मनोहर कान्तिमान्, दानी, बुद्धिमान्, मधुरभाषी और निर्दुष्ट कार्य करने वाला होता है।

2. संस्कृत-काव्य

रहीम के संस्कृत-काव्य का एक संग्रह उपलब्ध हुआ है, जिसमें आठ श्लोक हैं। संस्कृत-हिन्दी-मिश्रित श्लोक इनकी काव्य-प्रतिभा, भाषा-सौष्ठव को प्रदर्शित करते हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

एकस्मिन् दिवसावसानसमये, मैं था गया बाग में।
काचित्तत्र कुरंगबालनयना, गुल तोड़ती थी खड़ी।।

तां दृष्ट्वा नवयौवनां शशिमुखीं, मैं मोह में जा पड़ा।
नो जीवामि त्वया विना श्रृणु प्रिये तू यार कैसे मिले।।[12]

उसी प्रकार शुद्ध संस्कृत का उदाहरण द्रष्टव्य है –

रत्नाकरोऽस्ति सदनं गृहिणी च पद्मा, किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
राधागृहीतमनसे मनसे च तुभ्यं, दत्तं मया निजमनस्तदिदं गृहाण।।[13]

3. मदनाष्टक

मदनाष्टक का अर्थ आठपदों में वर्णित शृङ्गार-रस। इसमें रहीम ने मालिनी छन्द का प्रयोग करते हुए संस्कृत-मिश्रित खड़ी बोली का प्रयोग किया है। इसमें श्रीकृष्ण की रासलीला पर मुग्ध गोपी की मनोदशा का वैसा ही चित्रण है, जिस प्रकार कृष्ण-भक्त कवियों ने रासलीला के वर्णन में शरत्कालीन स्वच्छ चाँदनी रात एवं मुरली के माधुर्य का वर्णन किया है। जैसे –

शरद-निशि-निशीथे, चाँद की रोशनाई।
सघन-वन-निकुञ्जे, कान्ह बंशी बजाई।।

रतिपति-सुतनिद्रा साइयां छोड़ भागी।
मदनशिरसि भूयः क्या बला आन लागी।।[14]

संदर्भ एवं टिप्पणी

1. Khan-e-khana, A Biography - (Urdu), p-119
2. रहिमन विलास, ब्रजरत्नदास, दोहावली – 165
3. हिन्दी-साहित्य का इतिहास – डॉ. नगेन्द्र, पृ.-262
4. रहिमनविलास – दोहावली – 240
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य शुक्ल, पृ. 149-150
6. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ. 148
7. "Nawab Abdul Rahim Khan a noted Scholar at the court of Akbar, has nine Sanskrit works to his credit", K.T. Pandurangi, The wealth of Skt. MSS. P.18
8. New Catalogus catalogorum, Vol V, PP. 183-184
9. रहिमन विलास – पृ. 55
10. खानखानाकृतं-खेटकौतुकम् – 2
11. खानखानाकृत – खेटकौतुकम् – 25
12. रहिमनविलास – रहीम काव्य – 6
13. रहिमनविलास – रहीम काव्य – 2
14. रहिमन विलास, मदनाष्टक – 1

□□

नाट्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में आधुनिक एकाङ्की-नाट्य

सविता ओझा

नाट्य लोकस्वभाव का अनुकरण है। नाट्यशास्त्र, दशरूपक, साहित्यदर्पण आदि शास्त्रीय ग्रन्थों में इस तथ्य को भिन्न-भिन्न रूप में व्यक्त किया गया है। इन सब के मूल में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि नाट्यशास्त्रीय परम्परा में लोक की महत्ता सर्वोपरि है। नाट्य लोक का दर्पण होने के साथ लोकानुरञ्जन भी होता है। लोक की परम्पराओं और मान्यताओं को अनुशासित करने के लिए ही 'नाट्यशास्त्र' प्रभृति शास्त्रों का सृजन हुआ। अनुशासन चाहे शब्दार्थ का हो या व्यवहारादि का, यह अपनी व्यापकता के कारण एक ऐसे मार्ग की सर्जना करता है जो सर्वमान्य होता है और जिसे हम उस विषय का 'शास्त्र' कहते हैं। यह शास्त्र भिन्न-भिन्न विषय, देश, कालादि के अनुसार ढल भी जाता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हम अर्वाचीन नाट्यपरम्परा में देख सकते हैं। युगपरिवर्तन के कारण नाट्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में समकालीन नाट्यपरम्परा की मान्यतायें भी परिवर्तित दिखाई पड़ती हैं। दृश्यकाव्य के अन्तर्गत परम्परागत रूप में हम जिन अधिक अङ्कों वाले (४-१०) नाट्य का अवलोकन करते रहे, आधुनिक नाट्य-जगत् में उनका स्थान एकाङ्की-नाट्यों ने लिया। इसके परोक्ष में कारण यह है कि आज प्रेक्षा और प्रेक्षक दोनों की ही सबसे बड़ी माँग है – अल्पावधि के नाट्य। विकास की अन्धदौड़ में लोक की महती समस्या है– समयाभाव। अतः लोक की, अल्प में अधिक प्राप्ति की इच्छा ने रचनाकार को एकाङ्कीरूप नाट्य के सृजन की ओर प्रवृत्त किया और परिणामतः अर्वाचीन नाट्य-परम्परा में अधिक अङ्कों के नाट्य की अपेक्षा एकाङ्की नाट्यों की रचना और नवोन्मेष प्रयोग होने लगे।

'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' तथा 'दशधैव रसाश्रयम्' के आलोक में भी रूपक के दस प्रकारों में प्रहसन, भाण, उत्सृष्टिकाङ्कादि एक अङ्क युक्त नाट्य व्याख्यायित हैं। परन्तु 'एकाङ्की' शब्द पर विचार करें तो इन दश रूपों में 'एकाङ्की' रूपनाट्य शब्दशः परिभाषित नहीं हुआ है। अतः यह कहा जाना उचित जान पड़ता है कि 'एकाङ्की-नाट्य' पाश्चात्य नाट्य-जगत् के 'One act play' का परिवर्तित रूप है जिसे आधुनिक नाट्य-परम्परा में परिभाषित किया गया है। इसके उल्लेख से पूर्व नाट्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में एक अङ्क वाले नाट्य को किस प्रकार परिभाषित किया गया है इसपर दृष्टि अपेक्षित होगी। 'व्यायोग' के विषय में नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि यह एक- अङ्कवाला है तथा इसमें नायक राजा होते हैं देवता नहीं। इतिवृत्त में प्रख्यात नायक की कथा तथा युद्ध, मल्लयुद्ध, चुनौती एवं संघर्ष होता है।[१] 'उत्सृष्टिकाङ्क' के अङ्क के सन्दर्भ में नाट्यशास्त्र या दशरूपक में उल्लेख नहीं है परन्तु साहित्यदर्पणकार इसके अङ्क का स्पष्टतया उल्लेख करते हैं।[२] 'प्रहसन' के विषय में ग्रन्थों में इसे 'हास्यप्रधान' कहा गया है।[३] नाट्यशास्त्र में इसके दो भेद शुद्ध एवं सङ्कीर्ण तथा दशरूपक एवं साहित्यदर्पण में इसके तीन-तीन भेद उक्त हैं। इसमें मुख्य पात्र निन्दित चरित्र युक्त होता है। उसी प्रकार से एक अङ्क वाले 'भाण' को एकपात्र वाला एवं

'भारती वृत्ति' से युक्त कहा गया है।[४] इसमें इतिवृत्त कविकल्पित होती है। इस प्रकार से नाट्यशास्त्र प्रभृति शास्त्रीय ग्रन्थों में एकाङ्की–नाट्यों की रूपरेखा उपर्युक्त प्रकार की गई है।

अर्वाचीन नाट्यपरम्परा में अभिराज राजेन्द्र मिश्र जी ने 'अभिराजयशोभूषणम्' में 'एकाङ्की' के लक्षण उद्घाटित किये हैं। जिसमें स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया गया है कि हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं में ही नहीं बल्कि संस्कृतभाषा में भी आधुनिक जगत् में एकाङ्की नाट्य प्रतिष्ठित और अभीष्ट है, जो उपरूपक से भिन्न है।[५] इसमें नायक राजा, पण्डित अथवा ग्रामीण है जो दिव्य या अदिव्य तथा शिक्षक या भिक्षुक या कोई और हो सकता है। नायक के सम्बन्ध में कहा गया है कि पुरुष या स्त्री कोई भी नायक हो सकता है एवं इसका इतिवृत्त चाहे जैसा हो उसे प्रयोक्ता की प्रतिभा से युक्त होना चाहिए।[६] एकाङ्की–नाट्य में एक ही दिन की घटना वर्णित होनी चाहिए तथा अङ्गी रस कोई भी हो पर लक्ष्य सबका एक ही होना चाहिए – प्रेक्षकों का मनोरञ्जन।[७]

इस प्रकार से प्राचीन और अर्वाचीन शास्त्रीय ग्रन्थों में एकाङ्की नाट्य के स्वरूप किस प्रकार उद्घाटित किये गये, उसका अवलोकन हम उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कर सकते हैं। वस्तु नेता एवं रस के दृष्टिकोण से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि (१) प्राचीन शास्त्रानुसार एक–अङ्कवाले नाट्य में इतिवृत्त प्रायः कविकल्पित या प्रख्यात होते हैं जबकि आधुनिक नाट्य में इतिवृत्त किसी भी प्रकार का हो सकता है।

(२) नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि एक अङ्क में एक दिवस की ही घटना का वर्णन होना चाहिए।[८]. आधुनिक नाट्यपरम्परा में भी इसका समर्थन हुआ है।

(३) एक अङ्कों वाले नाट्य में प्रायः 'भारती वृत्ति' की योजना और आधुनिक एकाङ्की– नाट्य में भाषा को 'संवाद-बहुल' कहा जाना– दोनों एक ही स्थिति को प्रकट करते हैं।

(४) 'नायक' के दृष्टिकोण से अर्वाचीन नाट्यपरम्परा में परिवर्तन दिखाई देता है। जिस स्त्री की योजना प्राचीन नाट्यशास्त्रीय परम्परा में 'कैशिकी वृत्ति'- रूप में करके नायिका–रूप में कई भेद–प्रभेदों में उसे व्याख्यायित किया गया है। उस स्त्री–पात्र को आधुनिक परम्परा में नायक की श्रेणी में भी रखा गया है। रानी लक्ष्मीवाई तथा श्रीमती इन्दिरा गाँधी पर आश्रित एकाङ्की–नाट्य इसके प्रमाण स्वरूप हैं।

(५) रस की दृष्टि से दोनों में जो समानता है वह यह कि रस कोई भी हो मुख्य उद्देश्य की पूर्ति होना चाहिए– नाट्य का लोक-हृदयानुरञ्जक बनना।

प्राचीन और आधुनिक शास्त्रीय स्वरूप के पश्चात् एकाङ्की–नाट्य प्रायोगिक रूप में किस प्रकार प्रस्तुत किये जा रहे हैं – इस पर विचार किया जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में एकाङ्की–नाट्य की प्रचलित तीन विधाओं पर विचार अपेक्षित होगा जो आज रचना और प्रयोग के माध्यम से लोक में प्रभावशाली हैं। वे विधाएं हैं – प्रहसन, रेडियो–रूपक तथा नुक्कड़–नाटकादि।

प्रहसन– प्रहसन ऐसा हास्यप्रधान रूपक है जिसके तत्त्व प्रायः सभी रूपकों में न्यूनाधिक रूप में प्राप्त होते हैं। प्रहसन ही एक ऐसा एकाङ्की है जिसकी सत्ता प्राचीन काल से अर्वाचीन काल तक में बनी हुई है। यह भी सत्य है कि काल–प्रवाह में सतत प्रवाहमान यह अपने शास्त्रगत परम्परा से परिवर्तित रूप में भी दृष्टिगत होता है। आधुनिक प्रहसनों में, देश में आये राजनैतिक और सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन की स्पष्ट

छाया देख सकते हैं। इस परिवर्तन काल का सर्वप्रथम उल्लेखनीय प्रहसन सुन्दरराज-कवि कृत 'स्नुषाविजय है जिसे रचनाकार ने स्वयं 'रूपक-दृश्य-प्रबन्ध' कहा है। 'नाट्यम्' पत्रिका के पूर्व अंक में इसकी समीक्ष में कहा गया है – "हास्य सृष्टि और आधुनिक अर्थ में व्यङ्ग्य की पैनी पकड़ के कारण इसे 'प्रहसन' कोटि में रखा जा सकता है। पर संविधान की दृष्टि से 'स्नुषाविजयम्' आधुनिक एकाङ्की के अत्यधिक निक है।"[९] डॉ० राघवन् द्वारा लिखित 'विमुक्ति' प्रहसन-परम्परा एक दुलर्भ रचना है। जिसमें वेदान्तदर्शन औ जीवनबोध की अद्वितीय अभिव्यक्ति हुई है। यह प्रहसनों के बीच एक भिन्न धारा की रचना कही जा सकत है। स्वयं रचनाकार ने इसे 'आध्यात्मिक प्रहसन' कहा है। श्री व्यासराज शास्त्री का 'लीलाविलासप्रहस (१९३५) शास्त्रीय लक्षण से विरुद्ध सात अङ्कों से युक्त है। परन्तु ये अङ्क आधुनिक एकाङ्की-नाट्यों छोटे-छोटे दृश्यों से सादृश्यता रखने वाले हैं। इसी प्रकार से 'महालिंग शास्त्री' कृत 'उभयरूपकम्' प्रहस में जहाँ परम्परा और आधुनिक जीवन के उभयपक्षीय द्वन्द्व को वर्तमान सन्दर्भ में उद्घाटित किया गया है वहीं 'जग्गू बकुलभूषण' कृत 'अनङ्गदा' प्रहसन में वेश्या और धूर्त्त द्वारा लोगों को ठगने का वृत्तान्त प्रस्तु हुआ है। इसे नाट्यशास्त्र में विदित प्रहसन के द्वितीय भेद 'संकीर्ण प्रहसन'[१०] की श्रेणी में रखा जा सकत है। इसी दशक में प्रकाशित अभिराज राजेन्द्र मिश्र जी का एकाङ्की संकलन 'चतुष्पथीयम्' (१९८३ ई. प्रहसन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। बाद के दशक में प्रकाशित नाट्यनवरत्नम् (२००६ ई.) में 'माण्डूक्यप्रहसनम् तथा 'बधिरप्रहसनम्' पूर्ण हास्य रस का सृजन करने वाले प्रहसन हैं।

इस प्रकार प्रहसनों की रचना में भले ही शास्त्रीय दृष्टि से परिवर्तन हुआ परन्तु इसका उद्देश्य वह है– समाज में व्याप्त विसंगतियों आदि को हास्य एवं व्यङ्ग्य के माध्यम से लोक में नई चेतना का विकास करना। कतिपय विद्वानों ने इस परिवर्तन स्थिति को सहर्ष स्वीकार भी किया है – 'हाल में लिखे संस्कृत- प्रहसनों में प्रहसन का शास्त्रीय ढाँचा समाप्तप्राय है और व्यङ्ग्य का स्वर प्रखर हुआ है।'[११]

रेडियो-रूपक– आचार्य भरतमुनि ने चतुर्विध अभिनयों से युक्त नाट्य को प्रश्रय दिया[१२] किन्तु युग बदला और ध्वनियुग का आगमन हुआ। इस ध्वनियुग ने वाचिक अभिनय को प्रश्रय देने वाले रेडियो- रूपक की विधा का सृजन किया और इसे ही ध्यान में रखकर एकाङ्की-नाट्य की रचना होने लगी। यह तो स्पष्ट ही है कि रचना जैसी होगी उसका प्रयोग भी उसी प्रकार का होगा। तात्पर्य यह है कि यदि वाचिक को ध्यान में रखकर नाट्य रचित होगा तो मञ्च पर वह चारों अभिनयों से युक्त नाट्य संभवतः उतना सशक्त नहीं हो सकेगा। दृष्टान्त स्वरूप देखें तो प्रो. हरिदत्त शर्मा जी ने अपनी रचना 'आक्रन्दनम्' के प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि उनका चतुष्संकलन एकाङ्की नाट्य रेडियो-रूपक के लिए ही रचित है, मञ्च पर प्रस्तुति के लिए नहीं।[१३] इन चतुष्समस्यामूलक एकाङ्की का सफल प्रयोग आकाशवाणी में भी हो चुका है। अपने एकाङ्कीत्रय-संकलन 'त्रिपथगा' के विषय में भी रचनाकार ने इसे पारम्परिक नाट्य के दश रूपों से इतर आधुनिक रङ्गमञ्च के योग्य कहा है। यह संकलन भी वाचिक-प्रधान ही द्योतित है। जिनमें लोकपरिचित संस्कृतेतर शब्दों का प्रयोग, आधुनिक नाट्य की परिवर्तित रूपरेखा का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है।

नुक्कड़-नाटक– नुक्कड़ नाटक की सोच यद्यपि हमें पाश्चात्य जगत् के 'Street play' से मिली है तथापि इसे आज के सभी वर्गों के प्रेक्षकों से सम्प्रेषण का सबसे सशक्त माध्यम कहा जा सकता है। इसके दो प्रयोगजन्य स्वरूप दृष्टिगत होते हैं –

(i) सामाजिक विद्रूपता का व्यङ्ग्यरूप–प्रयोग, यथा – शिक्षा–अव्यवस्था, दहेजप्रथा आदि के रूप में

(ii) योजनाप्रचार हेतु प्रयोग, यथा – पल्स पोलियो अभियान, सर्वशिक्षा अभियान, एच.आई.बी. पॉजेटिव परीक्षण आदि।

हिन्दी–नाट्यजगत् के प्रबुद्ध रंगकर्मी अजीत पुष्कल जी के अनुसार 'नुक्कड़ नाट्य' एकाङ्की नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसका कोई मञ्च नहीं होता। परन्तु जहाँ अभिनेता अभिनय से संसर्ग स्थापित कर लेता है, वही भूमि उसका रङ्गमञ्च हो जाती है। वैसे भी सहृदयता के समक्ष शास्त्र की कठोरता पिघल ही जाती है क्योंकि लोक–हृदयानुरञ्जक नाट्य ही मुख्य लक्ष्य होता है। अतः यह विधा प्रेक्षकों का मनोरञ्जन करती हुई नई चेतना प्रदान करती है। इसी परम्परा में कतिपय विद्वानों ने एक नये रस 'विक्षोभ–रस' की सर्जना को भी मान्यता दी है।

इन विधाओं के अतिरिक्त असंख्य एकाङ्की–नाट्य रचे गये हैं और रचे जा रहे हैं जो तत्कालीन समाज की कुरीतियों, विसंगतियों आदि का साक्षात्कार कराते हुए प्रेक्षकों में स्वस्थ मनोरञ्जन के साथ बौद्धिक संचार करते हैं, जैसे 'प्रतिभा परीक्षण' एकाङ्की जहाँ 'वर्तमान शिक्षा–पद्धति' पर प्रहार करता प्रतीत होता है, वहीं ''स्वयंवरकेन्द्रम्' समाज में व्याप्त कुरीति–दहेज प्रथा पर आधारित एकाङ्की व्यङ्ग्यप्रधान लक्षित होता है। उसी प्रकार से 'संवादद्धातृसम्मेलनम्' वर्तमानकालीन राजनितिज्ञों की नियति पर तीक्ष्ण प्रहार है।

इस प्रकार से ये आधुनिक एकाङ्की–नाट्य युगपरिवर्तन के प्रभाव में यद्यपि अपने परिवर्तित स्वरूप में हैं तथापि इनका उद्देश्य उन नाट्यशास्त्रीय उद्देश्यों से कहीं भी भिन्नता लिए हुए प्रतीत नहीं होता। आचार्य भरत जिस 'लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति' की बात करते हैं, अर्वाचीन एकाङ्की–नाट्य भी इसी का समर्थन करते हैं। ये नाट्य भी भरतमुनि के नाट्य के सदृश ही लोकवृत्तानुकरणं, हितोपदेशजननं, विश्रान्तिजननं आदि विशेषणों से विभूषित किये जा सकते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि मानक बदल गये हैं पर उद्देश्यपूर्ति या लक्ष्य वही हैं जो नाट्यशास्त्रीय परम्परा में प्रवाहमान हैं।

सन्दर्भ

1. ना. शा. 18/92
2. उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः।। (सा.द. 6/250)
3. (क) चेष्टितं वेषभाषाभिः शुद्धं हास्यवचोऽन्वितम्। (द.रू. 3/55)

   (ख) परिहासप्रधानान्याभाषणान्यत्र बाहुल्येन भवन्ति- - - - - -(अभि.भा. 18.705)
4. (क) एकाङ्को बहुचेष्टः सततं कार्यो बुधैर्भाणः। (ना.शा. 18/110)

   (ख) एकाङ्क एक एवात्र निपुणः पण्डितो विटः।। (सा.द. 6/228)

   (ग) भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्कं वस्तुकल्पितम्। (द.रू. 3/51)
5. हिन्दी-प्रभृतिभाषासु भारतीयासु साम्प्रतम्।

   लघुनाट्यं यदेकाङ्कि सर्वाभीष्टं महीयते।।

देववाच्यपि तन्नूनं तद्वदेव प्रतिष्ठितम्।
नियन्त्रितं न तज्ज्ञेयमुपरूपकलक्षणैः।। (आभिराजयशोभूषणम् 1—2)

6. नायकोऽत्र भवेद् भूपः पण्डितः पामरोऽथवा।
दिव्योऽदिव्योऽथवाऽन्योऽपि शिक्षको भिक्षुको यतिः।।
योऽपि कश्चिद् भवेन्नेता पुरुषो महिलाऽपि वा।
यादृशञ्चापि वृत्तं स्यान्नाट्यकृत्प्रतिभाश्रितम्।। (वही 3-4)

7. एकाहचरितञ्चैव लघुनाट्ये प्रयोजयेत्।
संवाद-बहुला भाषा व्यङ्ग्यगर्भाऽत्र सम्मता।।
रसः कोऽपि भवेदङ्गी नाट्यवृत्तानुगुण्यतः।
लक्ष्यमेकं परं तस्य भवेद्रङ्गप्रसादनम्।। (वही 5-6)

8. एकदिवसप्रवृत्तं कार्यस्त्वङ्कोऽर्थबीजमधिकृत्य। (ना.शा. 18.21)

9. नाट्यम्, (29वाँ अङ्क, पृं. सं. 27)

10. वेश्याचेटनपुंसकविटधूर्त्ता बन्धकी च यत्र स्युः। (ना.शा. 18/105)

11. नाट्यम्, (वही/पृ. सं 28)

12. सोङ्गाद्याभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।। (ना.शा. 1/122)

13. प्रयोगधर्मिणामेषां रूपकाणां प्रयोगे न मञ्चे अपितु वाचिकाभिनयैकप्रधाने रेडियोयन्त्रे जातम्। (आक्रन्दनम्)

□□

The Nature of Soul

M.N.Gopalan

Abstract

The main purpose of the present write-up is to introduce the concept of a soul as explained in two important *upaniṣads*, namely *Kathṭhopaniṣad* and *Śvetāśvataropaniṣad* to make a comparison between the existence of a soul in different bodies and the principles of the Theory of Stochastic Processes.

1.0 : Introduction

Nature has blessed mankind with the power of thinking in a rational manner. Man has been trying to find out answers to questions, such as, 'who am I ' and so on for quite some time. Whereas a scientist believes in what is observed, a philosopher believes in not only what is observed but also in something not observable to the naked eye. This fact highlights the main difference between a scientist and a philosopher. Both adopt logical approach to find solutions to the problems they face. A scientist does not believe in the existence of a soul but believes only in matter that exists. A philosopher believes in both soul and matter. The scientist answers the question, namely, 'who am I ' in a way different from the philosopher. To a scientist, 'I' represents the person and to a philosopher, 'I' represents the soul in the person. A question arises: What is a soul ?

In what follows, the meaning of a soul and its existence are discussed.

Existence of a Soul

A soul can be viewed as the driving force in all living bodies. An inert body becomes dynamic as soon as a soul enters the inert body. Consider, for instance, an electric bulb. The filament in the bulb glows as soon as electric current passes through it. The filament would not glow as soon as the flow of current through the filament is stopped. The electric current could be viewed as the dynamic force acting on the inert filament to render it glow. One more example is cited to justify the existence of a soul. Consider a very well-designed car. However, much the car is well-designed, it would not move a bit unless, its engine is ignited. In order to start the engine, a driver is required. To render the driver dynamic, a soul must exist in the body of the driver.

1.1 *Kaṭhopaniṣad* [1]

Kaṭhopaniṣad explains in detail the nature of a soul. It is one of the most famous and the most reverred of the *Upaniṣads*. It deals with the nature of *'ātman'* or 'soul'. It summarizes a dialogue that took place between Nachiketa, son sage Vājaśravas and Yama to Nachiketa, one boon was utilised by Nachiketa to know the meaning of a soul. Yama yielded to the persistent request of Nachiketa and explained to him the inner meaning of a soul.

In a way, Lord Yama taught the basic principles of 'Inner Engineering' to Nachiketa. Inner Engineering deals with the scientific approach to the understanding of the self. One has to put in sincere efforts to understand the existence of a soul. It is said *"Nāyamāthmā balaḥīnena labhyaḥ"*. The meaning of this statement is that one who has no desire or the will to persue cannot realise the self. Self realization leads to bliss.

Kaṭhopaniṣad consists of two Chapters. Chapter 1 contains three Sections. Chapter 2 also contains three Sections. In Section 1 of Chapter 1, Nachiketa questions Yama as to what would happen when an individual dies. In other words, he was keen to know the existence or otherwise of a soul. Yama answered the question posed by *Nachiketa* after confirming that the latter was fit enough to know the truth. The explanation about the existence of a soul can be found in Sections 2 and 3 of Chapter 1.

In *śloka* 18 of Section 2 of Chapter 1, Yama explains that the soul does not experience births and deaths. It is eternal. It is only the body that decays. The *śloka* is quoted below.

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्,
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।

In *śloka* 20 of Section 2 of Chapter 1, the soul is described as smaller than the smallest and at the same time, it is bigger than the biggest. It is visualized only by one who conquered all the vices. The *śloka* is quoted below.

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः।।

The soul cannot be realised by reading sacred texts, or, by one's intellect or, by listening to discourses. It can be realized by the one who seeks it. This is explained in *śloka* 23 of Section 2 of Chapter 1 of *Kaṭhopaniṣad* . The *śloka* is quoted below.

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेनैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ।।

In *śloka* 24 of Section 2 of Chapter 1, it is explained that the soul cannot be realized by one who cannot retire from bad habits or who is not having peace of mind. The *śloka* is quoted below :

नाविरतो दुश्चरितान्नशान्तो नासमाहितः
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।

The soul inside a body can be compared to an occupant and the body to a chariot. The mind (*mana*) is the rein and the senses are the horses tied to the chariot. The charioteer is the intellect (*budhdhi*) that holds the reins. This explanation can be found in *śloka* 3 of Section 3 of Chapter 1 of *Kaṭhopaniṣad*. The *śloka* is quoted below :

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।

In *śloka* 12 of Section 3 of Chapter 1, it is explained that the soul exists, no doubt, in every body. Yet, it does shine only in a body that possesses a mind endowed with the power of sharp analytical thinking. The *śloka* is given below :

एष सर्वेषु भूतषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।

Nature has provided eyes, outwardly, to all living beings, so that, they can observe what is existing outside. However, a wise one interested, in knowing the absolute would turn the senses inside to see the soul ?

It is only the inner eyes that can see the soul. A wise individual should take the necessary steps to open one's inner eyes and know the absolute. This situation is explained in *śloka* 1 of Section 1 of Chapter 2 of *Kaṭhopaniṣad*. The *śloka* is reproduced below :

पराञ्चि स्वानि व्यतृणवत् स्वयम्भू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।

The soul is like a smokeless fire and is eternal. This is explained in *śloka* 13 of Section 1 of Chapter 2 of *Kaṭhopaniṣad* which is quoted below :

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मानि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते।। एतद्वैतत् ।।

As stated earlier, a soul exists in every living being. There are several varieties of living beings, each one having its own characteristics. However, the human being is, perhaps, the only living being endowed with the power of rational or, logical or, systematic thinking. It is sad, but, true that such a unique gift of Nature is hardly utilized by the human beings in general. If every human being had been rational in every walk of life, life would have become more divine. It is rightly said that common sense is commonly lacking. It is due to this fact alone that there is so much of misery everywhere. All the difficulties confronting mankind are solely man-made. Heaven could be created on earth if only, mankind learns how to live in harmony with Nature. Even among human beings, there exist several types of individuals endowed with different types of characteristics. It is possible that, in spite of such a situation, an individual can raise to greater heights through sincere effort and reach the final state, known as the state of perfection.

It is rightly said that life is a voyage from imperfection to perfection. The time taken by an individual to reach the destination depends upon the effort one puts in. The greater the effort one puts in, the lesser is the time taken to reach one's destination. The situation is analogous to a journey undertaken by an individual from an origin to a destination by some mode of transport, say, a train. If the individual travels by a passenger train, it takes a sufficiently long time to reach the destination as the train might halt at almost all the intermediate stations. However, if one is keen on reaching the destination quickly, one should travel by an express train or, even by a super-fast express train that would take the individual to the destination even quicker than the express train. The expenses to be incurred by the individual would vary from category to category of train chosen by individual. The effort one puts in corresponds to the expenses one has to incur for undertaking the journey. The greater the effort, the higher is the amount to be spent for the journey.

A soul exists in a body for a certain period of time. Later, it leaves the body and occupies another body. This process of transformation from one body to another body by the soul goes on and on. The duration of time spent by a soul in a particular body is not deterministic. The duration can be described by a probabilistic law. One can view the bodies occupied by a soul as the states of occupancy by the soul.

One can compare the behaviour of a soul existing in a body with the Theory of Stochastic Processes [2,3], a specialized branch of Probability Theory. A very brief description of the Theory of Stochastic Processes is given in Appendix-2.

The time spent by a soul in a particular body is called the 'sojourn' time. A soul is born again and again, high or low, depending upon the merit or, the demerit of its actions. The *Upaniṣads* speak of three courses which a departed soul might follow

before it is reborn on earth in a human body. It is through a human body that liberation is generally attained [4]. The state of liberation is known as the 'State of bliss' or, the 'State of *nirvāṇa*'.

1.2 *Śvetaśvataropaniṣad* [5]

In *śloka* No. 6 of Chapter 4 of *Śvetaśvataropaniṣad*, the soul or the *jīvātmā* is said to enjoy the fruit of *karma*. The *śloka* is quoted below :

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजातो
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।

The meaning of the above *śloka* is given below :

Two birds of similar qualities which are inseparable from each other are perched on the same tree. Of the two, one tastes the sweet *pippala* fruit and the other is witnessing without eating. The bird which tastes the fruit is nothing but *jīvātmā* or, soul. *Pippala* means the result of *karma* or, the action performed by the soul. The bird that does not eat the fruit is *Paramāman* and it is not subjected to *karma* or action. The tree is the body occupied by the soul.

2. Conclusion

The two *upaniṣads* mentioned in the earlier sections deal with the understanding of the self within and the way to reach the goal namely, the state of perfection or the state of bliss. They do adopt the same principles of modern Management Science. However, the goals or the objectives to be attained as per the *upniṣad* and Management Science differ. The *upniṣads* suggest the attainment of the state of bliss by 'looking within' through the inner eyes or '*jñānaChakṣus*' and adopt the method of 'Purification' of the self to achieve the said goal. Management Science aims at the attainment of the desired objective such as, maximisation of profit or minimisation of loss under certain constrainst s governing the system by adopting various tehniques. The system stuided by Management Science is physically nature. The *upaniṣads* discuss what *Sadguru Jaggi Vasudev*, founder of *Iśa* Foundation terms as 'Inner Engineering' or the science dealing with the principles and the methods adopted to understand the self. The sages or the authors of the upaniṣads can be viewed as the fore-runners of management science.

Books of references :

1. **Kaṭhopaniṣad** Swami Adi Devānanda, Sri Ramakrishna Ashrama, Mysore, 1996, 6th Edition
2. **Introduction to Stochastic Processes,** E. Cinlar, Prentice-Hall Inc, New Jersey, USA, 1975

3. **Stochastic Processes,** J. Medhi, Wiley-Eastern Ltd., New Delhi, 1983.
4. **Hinduism,** Swami Niknilaananda,
Sri Ramakrishna Mutt, Mylapore, Chennai, 1968
5. **Two Upaniṣad** Translated bu Dr. N.S. Anantha Rangachar,
Navayug Publications, Bangalore, 1985

APPENDIX

Theory of stochastic process[22]

[Fig.A-1, A-2, A-3]

The Theory of Stochastic Processes can be viewed as the dynamics of the Theory of Probability.

A stochastic Process, $\{X(t), t\varepsilon\varepsilon\}$, is defined as a family of random variables, X (t), defined over the index set T. For a fixed value of t, X (t) is a random variable. The random variable, X (t), could be continuous or descrete. The index set T could also be continuous or discrete. Thus a Stochastic Process could be explained under the following categories :

1. Discrete state and discrete parameter stachastic process
2. Discrete state and continuous parameter stochastic process
3. Continuous state and discrete parameter stochastic process
4. Continuous state and continuous parameter stochastic process

In case of discrete time the parameter generally used is n. That is, the family is represented by $\{X_n, n = 0, 1, 2, ...\}$. In case of continuous time, both the variables $\{X_n, t\varepsilon T\}$ and $\{X(t), t\varepsilon T\}$ where T is finite or infinite interval are used. The parameter t is usually interpreted as time. Some authors call the discrete family as a stochastic sequence and the continuous parameter family as a stochastic process.

Markov Process

If $\{X(t), t\varepsilon T\}$ is a stochastic process such that, given the value X(s), the values of X(t), t > s do not depend on the values of X (u), u < s, then the process is said to be a Markov Process.

If, for, $t_1 < t_2 < ... < t_n < t$, $\text{Prob}\{a \le X(t) \le b \mid X(t_1) = x_1, .., X(t_n) = x_n\} =$

$$\text{Prob}\{a \le X(t) \le b \mid X(t_n) = x_n\}$$

The process $\{X(t), t\varepsilon T\}$ is a Markov Process.

A discrete parameter Markov Process is known as a Markov Chain.

Poisson Process

Poisson Process is a special case of a Markov Process with a discrete state-space. Consider the total number of occurrences, N (t), of an event E in an interval of duration t. Let N(t) be independent of the occurrences of the event F in an interval prior of (0, t). Let $P_n(t)$ = prob [N (t) = n] depend only on the length t of the interval and let it be independent of where the interval is situated. Let the probability of occurrence of exactly one event be □ h + o (h) in an infinitesimal length h. Then, one finds

$P_n(t) = \{\exp(-\lambda t)\} (\lambda t)^n / n!$; n = 0, 1, 2, ...

$\{N(t) \geq 0\}$ constitutes a Poisson Process.

Renewal Process

A generalization of the Poisson Process leads to a renewal process.

Let $\{X_n, n\} = 1, 2, \ldots\ldots\}$ be a sequence of non-negative, independent, identically distributed random variables having pdf f (.), with mean μ.

Let $S_0 = 0$. Let $S_n = X_1 + X_2 + \ldots + X_n; n > 1$

Let $F_n(x) = \text{Prob}[S_n \leq x]$. Let $N(t) = \text{Sup}[n; S_n \leq x]$. Then, the function, M (t) = E [N(t)], called the renewal function, possesses the property :

$P_n(t) = \text{Prob}[N(t) = n] = F_n(t) - F_{n+1}(t)$

$M^*(s) = f^*(s) / [1 - f^*(s)]$

If $f(t) = \lambda \exp(-\lambda t)$, one obtains Poisson Process.

The function, M(t), plays a very important role in Reliability Theory.

The asymptotic behaviour of M(t) is

$M(t) = t/\mu) + \{(\sigma^2-\mu^2) / \mu^2\}$

where σ^2 is the variance of f (.)

Regenerative Stochastic Process

Let {X (t)} be a stochastic process having a countably infinite number of states {0, 1, 2, ..., k, ...}. Assume that there are epochs $t_1, t_2, \ldots$ at which the process probabilistically restarts from scratch. That is, with probability one, there exists an epoch t_1 such that the process beyond t_1 is a probabilistic replica of the whole process starting at t = 0. Such a process is known as a regenerative process.

Semi-Markov Process

Let the states of a process be denoted by the set E = {0, 1, 2, ...}. Let the transitions

of the process occur at epochs $t_0, t_1, t_2, \ldots (t_n < t_{n+1})$. Let Xn denote the transition occurring at epoch t_n. If

$$\text{Prob}\{X_{n+1} = k, t_{n+1} - t_n \le t \mid X_0 = \ldots,\ldots, X_n = .; \text{to}, \ldots, t_n\}$$

$$= \text{Prob}\{X_{n+1} = k, t_{n+1} - t_n \le t \mid X_n = .\},$$

then, $\{X_n, t_n\}$, n = 0, 1, 2, ... is said to constitute a Markov renewal process with state space E. Assume that the process is temporarily (or time) homogenous, that is,

$$\text{Prob}\{X_{n+1} = k, t_{n+1} - t_n \le t \mid X_n = j\} = Q_{jk}(t) \text{ is independent of n.}$$

Define $p_{jk} = \lim Q_{jk}(t)$ as n approaches infinity

$$= \text{Prob}\{X_{n+1} = k \mid X_n = j\}$$

It may be noted that $\{X_n, n = 0, 1, 2, \ldots\}$ constitutes a Markov Chain with state-space E and transition probability matrix $P = (p_{jk})$.

The continuous parameter process Y (t) with states space E defined by $Y(t) = X_n$, $t_n \le t \le t_{n+1}$ is called a semi-Markov Process. The Markov Chain. $\{X_n\}$ is said to be an embedded Markov Chain of the semi-Markov process.

FIGURES

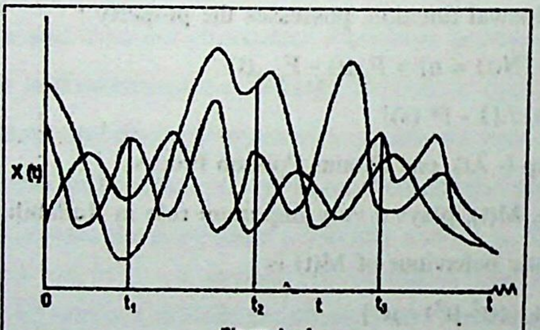


Figure A - 1

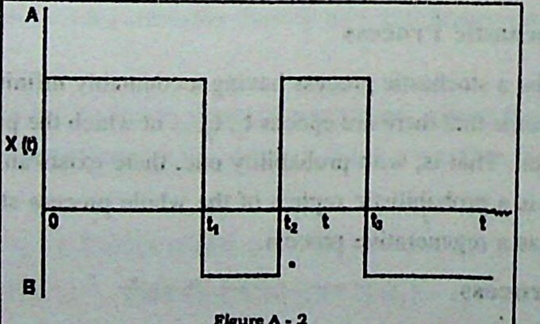


Figure A - 2

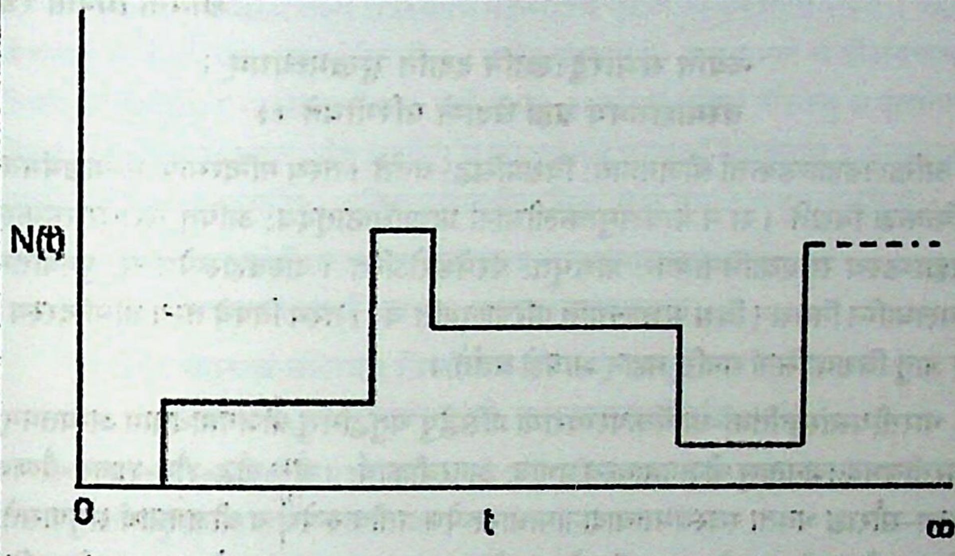


Figure A - 3 (a)

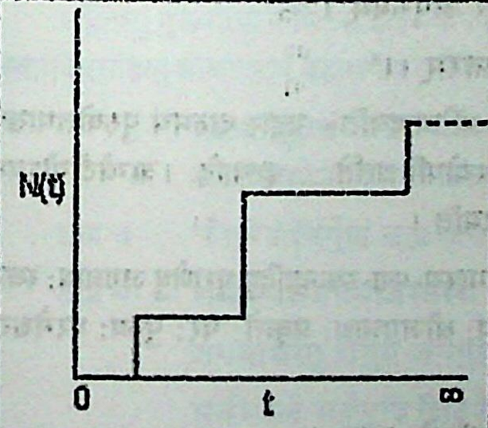


Figure A - 3 (b)

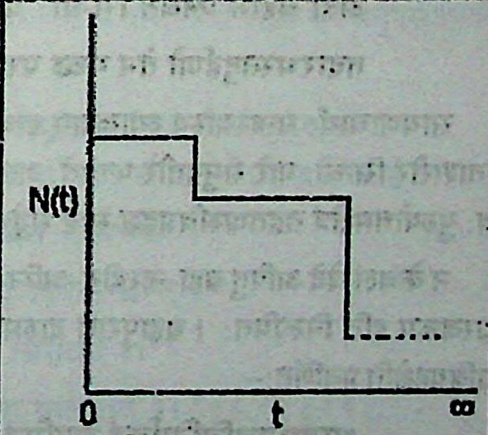


Figure A - 3 (c)

वामदेवसंहितायां श्रीजगन्नाथः

श्रीमती मिनति रथः

व्येति संसारदुःखानि ददाति सुखमव्ययम् ।
तस्माद्दारुमयं ब्रह्म वेदान्ते परिगीयते ।।

अखिलब्रह्माण्डकर्त्ता श्रीजगन्नाथः विश्वप्रसिद्धः वर्तते । तस्य मन्दिरमपि अत्याश्चर्यमयम् अलौकिकञ्च विद्यते । स न केवलमुत्कलीयानां प्राणाधिष्ठातृदेवः अपितु चराचरात्मकस्य विश्वब्रह्माण्डस्य स एवाधिनायकः प्राणभूतः परमेश्वरोऽस्ति । दारुब्रह्मरूपेण सः पुरुषोत्तमः नीलाचलधाम्नि निवसन् विश्वं सञ्चालयति परिपालयति च । तस्य विषये तस्य श्रीमन्दिरस्य च विषये ज्ञातुं विश्ववासिनां मनसि महान् आग्रहो वर्त्तते ।

भारतीयसांस्कृतिक-धार्मिकपरम्परायां प्रसिद्धेषु चतुर्द्धामसु श्रीजगन्नाथधाम अन्यतमम् । सर्वभारतीयभक्तजनतासु श्रीजगन्नाथस्य प्रभावः अनस्वीकार्यः । जैन-बौद्ध-शैव-शाक्त-वैष्णव-गाणपत्य-सौराश्च भक्ता स्वस्वमतवादानामाधाररूपेण प्रतीकरूपेण च श्रीजगन्नाथं समुपासते । विविधेषु शास्त्रेषु तन्त्रेषु पुराणेषु काव्यनिचयेषु च श्रीजगन्नाथस्य स्वरूपं बहुभावेन समुपस्थापितमस्ति। वेदे स एव परमेश्वरः दारुब्रह्मरूपेणाभिवन्दितः–

अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपुरुषम् ।
तदारभस्तदुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम् ।।[१]

सायणाचार्यः मन्त्रस्यास्य व्याख्याम् इत्थं प्रतिपादयति– यद्दारु दारुमयं पुरुषोत्तमाख्यं देवताशरीरं सिन्धोः पारे समुद्रतीरे प्लवते, जलस्योपरि वर्तते.... इत्यादि । ऋग्वेदीयोऽयम् मन्त्रः पुरुषोत्तमक्षेत्रं तद्गतदारुविग्रहञ्च स्पष्टं सङ्केतयति ।

न केवलं वेदे अपितु ब्रह्म-नारदीय-अग्नि-मत्स्य-पद्म-स्कन्दादिषु पुराणेषु जगन्नाथः स्वयं ब्रह्मस्वरूप इति निरूपितः । ब्रह्मपुराणे दारुमयः श्रीजगन्नाथः प्रकृतेः परः पुरुषः परमेश्वरः ब्रह्मविग्रहश्चेति प्रवर्णितः–

भावाभावविनिर्मुक्तं व्यापिनं प्रकृतेः परम् ।
नमस्यामि जगन्नाथमीश्वरं सुखदं प्रभुम् ।।[२]

स्कन्दपुराणे उत्कलखण्डे श्रीजगन्नाथतत्त्वं संपूर्णतया प्रतिपादितं विद्यते–

एवं दयाम्बुधिरसौ तस्मिन्नीलाचले वसन् ।
दीनानाथानुग्रहाय दारुव्याजशरीरवान् ।।

नहि काष्ठमयी मोक्षं ददाति प्रतिमा क्वचित् ।
ह्याकृतेह्यपवर्गस्तु कृताद् वा दारुणः कथम् ।।[३]

न केवलं जगन्नाथस्य तस्य क्षेत्रस्यापि महन्महत्त्वं पुराणेऽस्मिन् प्रदत्तमस्ति । ज्योतिषे[४] तन्त्रे काव्ये च श्रीजगन्नाथः बहुचर्चितोऽस्ति । तन्त्रेषु रुद्रयामले[५] तन्त्रयामले च श्रीजगन्नाथः ब्रह्म कल्पितः । भक्तिवैभव[६]-प्रबोधचन्द्रोदय[७]-वेणीसंहार[८]-अनर्घराघवादिषु[९] नाटकेषु स पुरुषोत्तमत्वेन स्वीकृतः । अन्येषु संस्कृतकाव्येषु रूपकेषु च जगन्नाथस्य भगवत्त्वं स्वीकृतम् । संस्कृतकवयः बहुभावेन श्रीजगन्नाथं स्तुवन्ति । कविकण्ठसदाशिवमिश्रः यथा भणति चन्दनचम्पूग्रन्थे–

चारुस्मेरितराधरेण विलसत् गारुत्मताश्मप्रभा ।
पारुष्यप्रदकान्तिजनता सारुप्यसम्पादकम् ।।

कारुत्वं कलयत् त्रिलोकघटने तारुण्यधूतस्मरं ।
दारुब्रह्म ममाविरस्तु हृदये कारुण्यवारांनिधि ।।[१०]

जगन्नाथतत्त्वसम्बलिते जगन्नाथचरितामृते प्रतिपादितं यत् जगन्नाथशब्दे एव तस्य चत्वारि स्वरूपाणि अन्तर्भुक्तानि सन्ति । तानि यथा–

जकारश्च जगन्नाथः गकारः बलदेवकम् ।
भद्रा नकारभावेन थकारश्च सुदर्शनम् ।।[११]

संहितासु मुख्यतया कपिलसंहिता[७] वामदेवसंहिता च श्रीजगन्नाथं ब्रह्मरूपेण समुपस्थापयतः। श्रीवामदेवसंहिता श्रीजगन्नाथं ब्रह्मरूपेण स्तौति–

नीलाद्रिनाथं जगतामधीशं चिदंशरूपं शरणैकनाथम् ।
श्रीनीलगोत्राधिपतिं वरेण्यं सुरेन्द्रवन्द्यं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ।।[१२]

तथा च- 'निर्लेपं निर्गुणं ब्रह्म जगन्नाथः प्रशस्यते ।'[१३]

तथा च- सर्वरूपी जगन्नाथस्तस्य पूजादिकं चरेत् ।
जगन्नाथस्तु चेत्तुष्टे जगत्तुष्टं प्रियंवदे ।।[१४]
सर्वस्थले सर्वहृदि चिद्रूपेण प्रकाशते ।। (१५/१८/१८३)
एवं ज्ञात्वा तत्र राजा शान्तिं तत्र समाचरेत् ।।[१५]

वामदेवसंहितानुसारेण निर्गुणब्रह्मपरमेश्वरः सृष्टिकाले सगुणो भवति । ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः तस्य निर्गुणब्रह्मणः सगुणावताराः सन्ति । ब्रह्मणः सत्त्वगुणावतारो विष्णुः नीलमाधवरूपेण नीलाचलधाम्नि अवतीर्य संसारं पालयति । चतुर्मुखस्य ब्रह्मणः आयुष आद्ये परार्द्धके नीलमाधवरूपेण द्वितीयपरार्द्धके च दारुब्रह्मजगन्नाथस्वरूपेण स एव परमेश्वरः नीलाचले लीलां कुरुते । तद्यथा

संहितायाः प्रथमेऽध्याये–

यदा ब्रह्ममयो देवी स्थितश्चापि निरामयः ।
निराकारात्तु जनितो नारायणः शरीरवान् ।।
नारायणात् समुद्भूतो ब्रह्मा पञ्चमुखोऽभवत् ।
ब्रह्मणश्च यदा जन्म तदा प्रभृति माधवः ।।
इन्द्रद्युम्नं पुरा विष्णुः प्राह तत् कथितं शृणु ।
अनेन दारवपुषा स्थास्याम्यत्र परार्द्धकम् ।।[१६]

संहितानुसारेण सत्ययुगे समुद्भूतस्य ब्रह्मणः परवर्ति पञ्चमपुरुषस्य अवन्तिवर्तिनः नीलमाधवदर्शनकांक्षिणः इन्द्रद्युम्नस्य क्षेत्रप्रवेशात् प्राक् स नीलमाधवः क्वापि अन्तर्हितः ।

नारदोऽपि नृपं प्राह नीलमाधवदर्शनम् ।
न भवेन्नृप शार्दुल यतो विद्यापतिर्गतः ।।
सन्ध्याकाले बलवति वायौ प्रचलति सति ।
देवोऽप्यन्तर्हितो गतः स्वर्णवालुकयावृतः ।।[१७]

ततो दुःखितो भग्नमनोरथश्चेन्द्रद्युम्नः नारदस्योपदेशेन सहस्रपरिमितान् अश्वमेधयज्ञानकारयत्। अथ रात्रौ स राजा स्वप्नं ददर्श यत् मनोरमात् श्वेतद्वीपात् चन्दनतरुरागत्य विल्वेश्वरसमीपे पतित्वा दिव्यं शङ्खचक्रान्वितं जगन्नाथस्वरूपं बभूव । तद् दृष्ट्वा राजा कृतकृत्यो बभूव । ततः प्रभाते जनाः लवणोदके शङ्खचक्रादिचिह्नसहितं सुगन्धं सुमनोरमं चन्दनं तरुं विलोक्य नृपाय निवेदितवन्तः । अनन्तरम् इन्द्रद्युम्ननारदौ स्यन्दनमारुह्य तत्र जग्मतुः । तद् वृक्षं समुद्रात्तु समानीय शकटे न्यधापयत् । पट्टवस्त्रेण संवेष्ट्य महोत्सवपूर्वकं पुनः वृक्षमानीय यागशालायां निरोधनगृहे संस्थापयामासतुः । स्वयं परमेश्वरः वृद्ध-वर्धकीवेषं गृहीत्वा गुण्डिचामहामण्डपे स्वीयां चतुर्द्धामूर्त्तिं कल्पयामास ।

नीलाचले प्रासादं निर्माय इन्द्रद्युम्नः प्रासादप्रतिष्ठार्थं नारदेन सह ब्रह्मणः समीपं जगाम । इन्द्रद्युम्नस्य ब्रह्मलोकावस्थानकाले भुवि कति युगाः व्यतीताः अभवन् । ब्रह्मलोकात्प्रत्यावर्त्तनं कृत्वा इन्द्रद्युम्नः तत्र देवतां ददर्श परन्तु प्रासादं नापश्यत् । सैकतेन प्रासादः गुप्तोऽभूत् । गालोराज्ञा पुनः प्रासादस्य नवनिर्माणं कृतमिति विज्ञाय स इन्द्रद्युम्नः चकितोऽभूत् । अनन्तरं यावत् प्रासादः सम्पूर्णः जातः तावत् ब्रह्मा हंसवाहनेन क्षितिमण्डलमाजगाम । रथे देवान् संस्थाप्य नीलपर्वतमानयत् । तत्र ब्रह्मा प्रतिष्ठां कृतवान् नामग्रहणमाचरच्च ।

बलभद्रो जगन्नाथः सुभद्रा च सुदर्शनः ।
लक्ष्मी सरस्वती नाम्ना माधवो गृहरक्षकः ।।[१८]

बलभद्र-जगन्नाथ-सुभद्रा-सुदर्शन-लक्ष्मी-सरस्वती-माधवस्वरूपेण आत्मानं विभज्य ब्रह्मपरमेश्वरः नीलाचले विराजते । एतानि जगन्नाथदेवस्य सप्तस्वरूपाणि कथितानि सन्ति ।

श्रीवामदेवसंहिताग्रन्थः श्रीजगन्नाथदेवस्य, तस्य धाम्नः पुरुषोत्तमक्षेत्रस्य तथा तस्य अत्याश्चर्यमयस्यात्यलौकिकस्य मन्दिरस्य सविशेषतत्त्वसम्बलितः महान् प्राचीनग्रन्थविशेषोऽस्ति। ग्रन्थेऽस्मिन् श्रीमन्दिरस्यान्तर्बहिर्भागयोः स्थितानां देवदेवीनां परिचयः, जगन्नाथदेवस्य सप्तस्वरूपाणि, श्रीमन्दिरपूजक-सेवक-नियोगादीनां नियोजनम्, पूजाविधयः, रन्धनभाण्डनिर्णयः, पूजापात्रलक्षणम्, श्रीमहाप्रसादस्वरूपम्, भोगान्तरविवरणं, जगन्नाथस्य स्थितिकालनिर्णयः, मन्दिरे उत्पातदर्शने शान्तिविधानम्, विविधाः यात्राः, वार्षिकाः पर्वोत्सवादयश्च वर्णिताः सन्ति । द्वात्रिंशदध्यायसंयुतोऽयं संस्कृतो ग्रन्थ उत्कललिप्यामुल्लिखितोऽस्ति । सरलसंस्कृतभाषया बोधगम्यशैल्या लिखितोऽयं ग्रन्थः विविधरूपेण श्रीजगन्नाथदेवस्य तस्य ज्येष्ठभ्रातुः बलदेवस्य तथा योगमायायाः आदिशक्त्याः देवीसुभद्रायाः चरित्रं समुपस्थापयति । वस्तुतः भगवती-पार्वतीदेवी तथा भगवान् वामदेवः इत्यनयोः प्रश्नोत्तरव्याजेन ग्रन्थस्यास्य वामदेवसंहितेति नाम चरितार्थतां याति ।

यद्यपि नीलाद्रिमहोदयग्रन्थे जगन्नाथस्य माहात्म्यं तथा तस्य मन्दिरविषयकं तत्त्वं सन्निहितं विद्यते तथापि जगन्नाथतत्त्वनिरूपणे वामदेवसंहितायाः वैशिष्ट्यं प्रणिधानयोग्यम् । वामदेवसंहितायां जगन्नाथदेवस्य सम्पूर्णं महत्त्वं सुष्ठुतया निरूपितं वर्त्तते । नास्ति एतादृशः कश्चिदन्यः ग्रन्थः यस्मिन् श्रीमन्दिरे विधीयमानानां नियमानाम् एतादृशोल्लेखः स्यात् । वैषयिकाध्यात्मिकतत्त्वपूर्णेऽस्मिन् ग्रन्थे श्रीमन्दिरस्य परम्परायाः प्रभूता चर्चा विद्यते । स्थूलतः श्रीमन्दिरे प्रचलितान् नीतिनियमानधिकृत्य आदर्शं च गृहीत्वा प्रस्तुतमिदं ग्रन्थरत्नं समेषां धार्मिकजनानां भक्तानां गवेषकाणाञ्च चित्तं चमत्करोति। अतः जगन्नाथधर्मस्य प्रचार-प्रसाराय ग्रन्थस्यास्योपादेयता नितरां वर्द्धताम् इति कामये ।

सन्दर्भाः

१. (ऋ.वे. १०/१५५/३)

२. ब्र.पु. उ.ख. ४५/६७

३. स्क.पु.उ.ख. ४५/१४-१६

४. ज्योतिषतत्त्वकौमुदी D.C.S. MSS. Vol.-IV, p- 40

५. रुद्रयामल-उत्तरतन्त्रम्, ४५/११-१२

६. भ.वै.ना. पृ. ४२

७. प्रबोधचन्द्रोदयनाटकम्, निर्णयसागरप्रेस,मुम्बई संस्करणम्,१९३५, पृ. ७६

८. History of Saskrit lit- De and Dasgupta, P- 272

९. अनर्घराघवनाटकम्, निर्णयसागरप्रेस, मुम्बई, १९३५, पृ. १९

१०. चन्दनयात्राचम्पू- १

११. जगन्नाथचरितामृतम् -१२

१२. वामदेवसंहिता १/३

१३. तत्रैव १८/७३

१४. तत्रैव १८/१८१

१५. तत्रैव १८/१८३

१६. तत्रैव १७/१७-१९

१७. तत्रैव ४/४५,४६

१८. तत्रैव ५/५२

□□

Cārvāka-Epistemology and its Importance in Philosophy

Sindhu Upadhyaya

Introduction:

Indian philosophy carries a rich foundation with altogether nine schools of thought divided into two broad categories, viz. Orthodox and Heterodox schools. Among the orthodox schools of Indian philosophy, *Nyāya*, *Vaiśeṣika*, *Sānkhya*, *Yoga*, *Mīmāmsā* and *Vedānta* are prominent whereas; *Cārvāka*, *Bauddha* and *Jaina* are the heterodox schools of Indian philosophy. The distinction between orthodox and heterodox schools of Indian philosophy is not on the basis of their belief in God; but this distinction is made on the faith of the *Vedas* as the supreme authority of knowledge. The orthodox schools recognize the authority of the *Vedas* whereas the heterodox schools do not recognize the *Vedas* as the ultimate authority. Among all these schools of thought, *Cārvāka* is the only philosophy which professes ultimate materialism, hedonism and secularism which distinguishes it from other schools of thought in Indian philosophy. In this paper, I am trying to focus on the epistemological and partly ethical implication of *Cārvāka* philosophy.

Meaning and Development of Cārvāka:

The word *Cārvāka*, according to some commentators, is derived from either '*cāruvāk*' meaning, 'sweet tongue' or from '*caru*' means 'to eat'. The Cārvākas were the exponents of the doctrine of egoistic hedonism. Their philosophy of life is as explicated by Mādhavāchārya in *Sarva-Darśana-Saṅgraha* as "While life is yours, live joyously, none can escape death's searching eye, when once this frame of ours they burn, how shall it ever return?"[Trans] Their motto is 'eat, drink and be merry'. Their views are popular among the common people for which their philosophy is also known as '*Lokāyatikas*' and their doctrine is known as '*Lokāyatamata*'. Regarding the founder of *Cārvāka* School, there has always been a great controversy among the historians as well as the philosophers. Some writers ascribed this philosophy as founded by Bṛhaspati; some are again arguing that Bṛhaspati, propagated materialistic tendency to ruin the giants. Some verse of this philosophy is quoted by *Mādhavāchārya* in *sarvadarśanasaṅgraha*. But a consistent and complete account of *Cārvāka* system is not found in any work written by a *Cārvāka* - thinker. '*Sarvadarśanasaṅgraha*' and '*Sarvadarśanasamuccaya*' are according to some thinkers are the authorities of the *Cārvāka* system. *Cārvāka* philosophy appears to have died out sometime

after 1400 AD and no original text of the *Cārvāka* School of philosophy has been preserved. Predictions are being made regarding the destruction of the texts of this philosophy that those are destroyed by the Brahmanical priests to flourish their own philosophy.

Epistemology of *Cārvāka*:

The epistemological doctrine of Cārvāka starts with the principle, 'perception is the only source of valid knowledge; what is not perceived does not exist'. And to establish this position, it rejects inference and testimony as the means of valid knowledge. Perception for them is either external or internal. External perception is due to the connection of five sense organs with the object. Internal perception depends upon the external perception. *Manas* or mind which is the internal organ can work upon the material supplied by the external perception and for that reason it is not independent of the external sense organs. As the world is perceived by the external sense organ, this perceptible world is the only reality. Any other thing which is beyond the reach of the sense perception is not real because all the external sense organs within their specified function perceive things. In this sense, *Cārvāka* advocates the naïve realism and empiricism. To uphold its position that perception is the only source of knowledge, rejects inference, testimony as the reliable source of knowledge which are regarded as the reliable sources of knowledge by almost all the philosophical schools of Indian philosophy. This materialistic tendency of thought was prevalent among very ordinary people representing their mode of crude living and thinking from very early times. Every thoughtful people consider this type of thought as anti- spiritual and anti- moral. So this philosophy is criticized by many on various grounds.

Rejection of Inference:

The *Cārvākas* rejects inference as the means of valid knowledge. According to them, 'inference is said to be a mere leap in the dark'. In inference there is always the tendency to move towards known to unknown, which leaves a kind of leap and this leap is never justified according to *Cārvāka* in case of the valid knowledge. Even though there has always some kind of possibility in the inference to be true but that is also accidental and cannot claim absolute certainty. Cārvāka has raised certain arguments against the necessity and certainty of inference. Some of them are as follows.

1. In the first place the Cārvāka hold that, inference solely relies on '*vyāpti*' or invariable concomitance between middle and the major term. The middle term is the sign, indicates the existence of the major term which must be found to exist in the minor term or the subject of inference. The

middle term must be invariably accompanied by the major term and this invariability and un-conditionality in relation between major and middle term is known as the *vyāpti*. But the fact is that existence of *vyāpti* is not the essential criteria for the inference but, by virtue of its being known it is related to inference and becomes an indispensible part of an inference.

2. Secondly, the Cārvāka argued that, if the existence of *vyāpti* is not necessary for inference then, is it possible to know *vyāpti* by either external or any other internal means of perception? For them, external perception arises from the intercourse between the sense organs with the objects. But it is not possible for the part of the individual to perceive the past, remote and future. But *vyāpti* aims at the establishment of universality in relation between middle and the major term. But this relation of universality cannot guarantee any means of perception. Again we cannot also claim to establish it with inference for it will involve 'petitio principii'. And hence this relation of invariable concomitance can never be established by authority or testimony because it is already included in inference and depends upon the words of the reliable person and "For the validity of testimony it requires to be proved by inference. Besides if inference is always depended on testimony, no one could infer anything by himself."[1]

3. Some thinkers tried to establish the relation of *vyāpti* in terms of causal relation. But '*vyāpti* per se' is defined as the invariable concomitance between middle and the major which is free from all conditions. At the same time, absence of all conditions which vitiate the inference can never be known for, as explained earlier, the conditions. All conditions of relation can never be perceived. Secondly, repeated perception of two things cannot establish the causal or any other relation for one must be sure of all unperceived conditions on which this relation depends. For example, "If a man perceives fire for a number of times accompanied by smoke and on another occasion he infers the existence of smoke on the perception of fire, he would be deceived by it, because he fails to notice a condition namely the wetness of fuel on the presence of which alone the fire is attended with smoke. So long the relation between the two phenomena is not proved to be unconditional; it is an uncertain ground for inference. Un-conditionality or the absence of conditions cannot be established beyond doubt by perception, as some conditions always remain hidden and escape from our notice. Inference and testimony cannot be used for proving this without a circular reasoning, because its validity also is questioned here. For the *Cārvākas*, inferences are accidentally turned

out to be true i.e. truth for inferences is accidental and not un-contradicted in its nature.

Rejection of the testimony:

'Testimony' as one of the important and reliable source of knowledge (authority) has been regarded by almost all the philosophical schools of Indian philosophy. Testimony is the authority of the reliable person and it is due to the reason that most part of our knowledge is dependent on '*śabda*' or the words. *Cārvākas* hold that words become knowledge only when there is some reliable source. But most of our knowledge is dependent on '*anumāna*' or inference and whatever is dependent on inference can not become knowledge. The *Cārvāka's* rejection of testimony is on the ground that they are vitiated by falsehood, contradiction and tautology rather than giving true knowledge.

They have the opinion that, testimony consists of words and so far words are perceived through ears, they are perceivable and said to be true, but when the words suggest or mean something which is not within the preview of perception then it become problematic and erroneous. On the basis of these points the *Cārvākas* rejected inference and testimony as the reliable sources of knowledge. The *Cārvākas* accepted direct perception as the surest means to prove the truth and certainity. Our belief in inference, according to the *Cārvākas,* is purely due to the psychological process with no implication with logical reasoning. The famous objection of *Naiyāyikas* and others is that if *Cārvākas* accept only *pratyakṣa* as *pramāṇa*, then they cannot even communicate this view to others, because communication involves the capacity to know the contention and the understanding that the audience possesses. But this amounts to the knowledge of other minds, which is not possible solely with *pratyakṣa*.

The famous objection of *Naiyāyikas* is that if *Cārvākas* accept only *pratyakṣa* as *pramāṇa*, then it is not possible to establish interpersonal communication which involves the capacity to know the contention and the understanding that the speaker and listener possessed with. But this type of analysis amounts to the knowledge of other minds, which perception can not grasp. This rejection of inference as the source of valid knowledge by the Cārvākas, to some extent accepted by Buddhism and *Advaita* Vedāntins as they also rejected the ultimate validity of inferences. But there has always been a controversy among the philosophers regarding the validity of inference. But the *śunyavādin* and *Advaita-Vedānta* reject the ultimate validity of all means of knowledge as such including perception, though they insist on the empirical validity of all means of knowledge. But the *Cārvākas* have no concern with the distinction between ultimate and

empirical knowledge. But at the initial stage of philosophizing, *Cārvākas* have been criticized by almost all the schools of Indian thought. In this regard, important criticism against the *Cārvākas* is on the rejection of inference and testimony. According to the critics, the refusal of inference as the valid source of knowledge by the *Cārvākas* on the empirical ground is unsound. It is due to the reason that in all our thoughts, all discussions, all doctrines or even the scientific facts of the world are made possible by inference. Even the views put forward by the *Cārvākas* as perception as the only source of knowledge and rejection of inference is also based on inference. Thoughts and ideas never become material because these are the states and functions of mind. Even the position of the *Cārvākas* as they hold in case of perception is not sound according to the *Cārvākas*.

Ethical implication and concluding remarks:

From the ethical perspective, critics of the *Cārvāka* School emphasizes too much on *artha* (economic development) and *Kāma* (sensual pleasure), without regard of *dharma* (religiosity) and ultimate *mokṣa* (liberation) as an extreme form of hedonism. *Cārvākas* denied the existence and importance of *dharma* and *mokṣa* since both factors are not perceivable to the senses, whereas *Kāma* and *artha* were to some can. The Cārvākas also denied any type of hierarchical social system and considered all humans as equal which is again revised in the modern period as an ideal of modern society. Some sections of Cārvāka's writings quoted in *Sarva-darśana-saṅgraha* clearly show that *Cārvāka* had strong emotion towards the organized religion of India, even in that period. But may be due to such rebellious attitude, and promotion of hedonistic ideals as well as the rejection of social values, *Cārvāka* philosophy died a natural death.

I would like to conclude here with the reference of Dutta and Chetterjee, in their concluding remarks on the philosophy of *Cārvāka*. According to them, "Like the Epicureans of Greece, the *Cārvāka* in India has been more hated than understood. Skepticism or the agnosticism is only the expression of a free mind that refuses to accept traditional wisdom without a thorough criticism"[2]. But we cannot ignore the inevitability of perception in our process of knowledge acquisition. At the same time it is also true that in some cases of knowledge, perception becomes limited and we have to take recourse to inference and testimony which *Cārvākas* on its part never recognize. In the history of Indian philosophy, *Cārvāka* is the only philosophy which saved the whole Indian philosophy from the criticism of 'dogmatism'. We are not owing to its thought due to the reason that we are rooted in our histories and civilizations which cannot let us think in a materialistic manner. But, even though the philosophy of *Cārvāka* is too much materialistic, we must

assess the contribution of *Cārvāka's* epistemology for its critical and being cautious in speculation and views. We do consider that the views of *Cārvākas* are more realistic which seemed to devoid of any spirituality and due to its holding only one possession for which this philosophy is severely criticized by almost all the philosophies. I personally believe that it is better to accept what is good and relevant in the study of this philosophy. We find all kinds of people in the world and so also the philosophy and to reject one philosophy just because it goes against the trend is to do injustice to it. As a school of thought of Indian philosophy we should try to give value and do justice to the philosophy of *Cārvākas* but not to its extreme point.

References :

1. Sinha J N, Outlines of Indian Philosophy.New Central Book Agency pvt Ltd.. Calcutta,2002, p. 65
2. Chattrejee S.C. and Dutta D. M., *An Introduction to Philosophy*, University of Calcutta, 1984, P. 67

Books of References :

1. Chattrejee S.C. and Dutta D. M., *An Introduction to Philosophy*, University of Calcutta, 1984
2. Dasgupta S. N. *A History of Indian Philosophy*, Vol. I, Cambridge, England: University Press, 1963
3. Hiriyana M. *Outlines of Indian Philosophy*, Motilal Banarsidass Publishers Private Limited, Delhi, 1994
4. Mishra M. U. *History of Indian Philosophy, Vol.* 1 , Tirabhukti Publications. Allahabad, 1957
5. Sinha J. N. *Indian Philosophy, vol.* 1, published by J.N.Sen, New Central Book Agency, Calcutta-700009
6. Sinha J. N. *Outlines of Indian Philosophy*, published by J.N.Sen, New Central Book Agency, Calcutta-700009
7. Sharma C.D. *A Critical Survey of Indian Philosophy*, Motilal Banarsidass Varanasi-1, 1964

□□

Theories of False Cognition

Vipin kumar Jha

Introduction :

To gain the highest goal human have to get valid knowledge (*Yathārtha*[1] *jñāna*) but it is a Hercules task to be sure that this knowledge is valid. To get certainty regarding this, two questions arise :

- How could we say that this particular knowledge is valid?
- How valid knowledge is different from invalid knowledge?

So we need to know what invalid knowledge is while discussing about valid knowledge. The concept of this invalid knowledge is known as the theory of false cognition, well known as *Khyātivāda* in Indian Philosophy.

What is *Khyāti*?

The term *Khyāti* means cognition, but in Indian Philosophical System (IPS) it is established as false cognition (*Bhrama*). What is *Khyāti* or *Bhrama* or false cognition? There have been long debates on this topic. Hence there are numbers of theory about this term in IPS. During those debates, external aspects of the object, original theme of known object, and relation between original and appearing aspect got cleared.

Indian Philosophers and their theories :

- Mīmāṁsā
  - ⇨ Prabhākar ➔ Anyathā khyāti
  - ⇨ Kumārila ➔ viparīta khyāti
- Nyāy-vaiśeṣika ➔ Anyathā khyāti
- Bauddha
  - ⇨ Yogācāra/ Vijñanavādin ➔ Ātma khyāti
  - ⇨ Mādhyamika/ śunyavādin ➔ Asat khyāti
- Jaina ➔ Sat-Asat khyāti

- Śankara → *Anirvacanīya khyāti*
- Rāmānuja → *Sat khyāti*

Mīmāṁsā :

Prabhākara : Prabhākar accepts that there is *no false cognition* (*Akhyāti*[2]). His theory of false cognition is based on his realism (*vastuvāda*). He accepts that all the knowledge is *Yathārtha*. He also accepts that knowledge is valid from its very beginning (*Svataḥ Prāmāṇya*).

Then question arises that if there is *no false cognition* then how we find error in day-to-day life. He clarifies that it may be due to two conditions during getting knowledge.

- It may be complete knowledge (*Pramā*)
- It may be incomplete knowledge (*Bhrama*)

This complete knowledge is called as *Pramā* and other one incomplete knowledge is called as *bhrama / khyāti /* false cognition. Prabhākar accepts that there is no quality difference between *pramā* and *bhrama* but contain. Thus *Bhrama* is not a false cognition but it is an incomplete knowledge.

- It is necessary to have an incomplete knowledge.
- There should be two kinds of objects which reflect their properties
- There should not be differentiation between cognition of both objects.

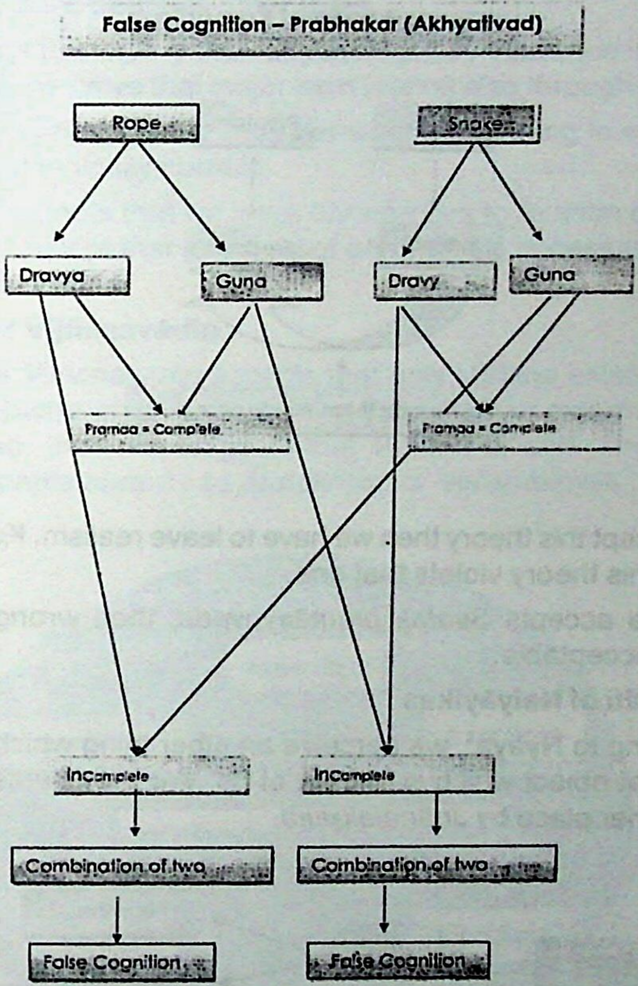
Process :

When we see the rope, we remember snake and mix attribute of snake which is in my memory with substance of rope. This is called as *Bhedāgraha* or *vivekāgraha*.

Criticism :

- We can not accept *bhrama* as addition of two knowledge, because when we get the knowledge as the form of *bhrama*, at that time it is only one knowledge but not "two".
- *Akhyāti* means absence of knowledge but *bhrama* is treated as perception, thus there is no logic to accept it.

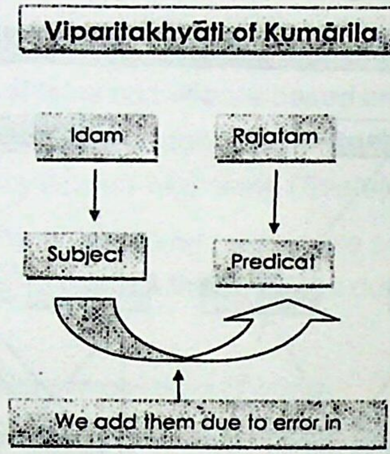
o Prabhākar accepts *svataḥ prāmāṇyvāda*, in this condition that there is no logic to accept *bhedāgraha*



Kumārila :

He accepts that *bhrama* is misapprehension. When we misapprehen silver in śukti then we say that *'idam rajatam'*. It is *Viparītakhyāti*[3]. Here subject "*idam*" is separate and pradic "*rajatam*" is separate, but we add two different subject and predicate. Thus, here '*bhrama*' is not due to objects but it is only due to its relation. According to Kumāril, it is not an incomplete knowledge but it is a knowledge in which we add two wrong cognitions. Here there is no *'bhedāgraha'*. It is only due to '*śadṛśhyatā*' or errors in eyesight.

Thus, according to Kumārila, *bhrama* is not non apprehension but it is misapprehension.



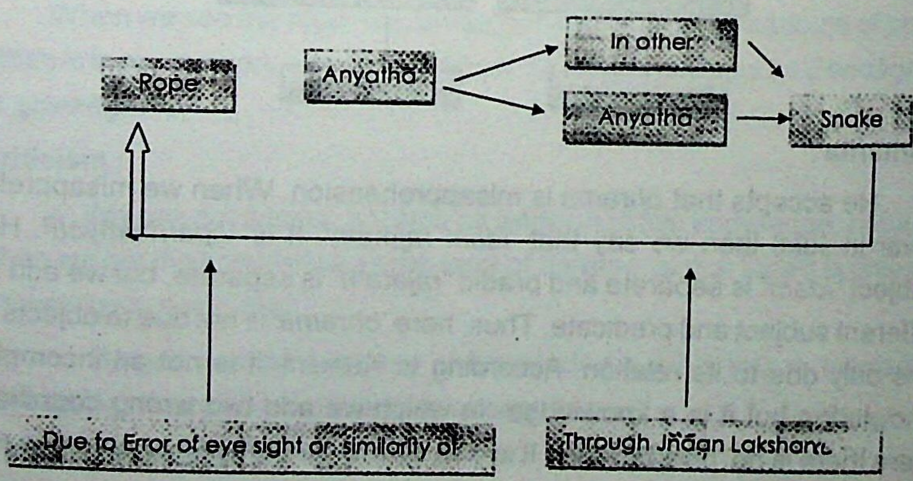
Criticism :

If we accept this theory then we have to leave realism. Kumārila accepts realism and this theory violets that one.

Kumārila accepts *Svataḥ prāmāṇyavāda*, then wrong knowledge is logically not acceptable.

***nyathākhyāti* of Naiyāyikas :**

According to Nyāya[4], we perceive an other thing which exists in other spite of that object which is in front of us. We may perceive other thing existing in other place by *Jnānalakṣaṇa*.



Criticism :

This theory violets realism. Here our sense feels the object which is really present but we perceive other thing.

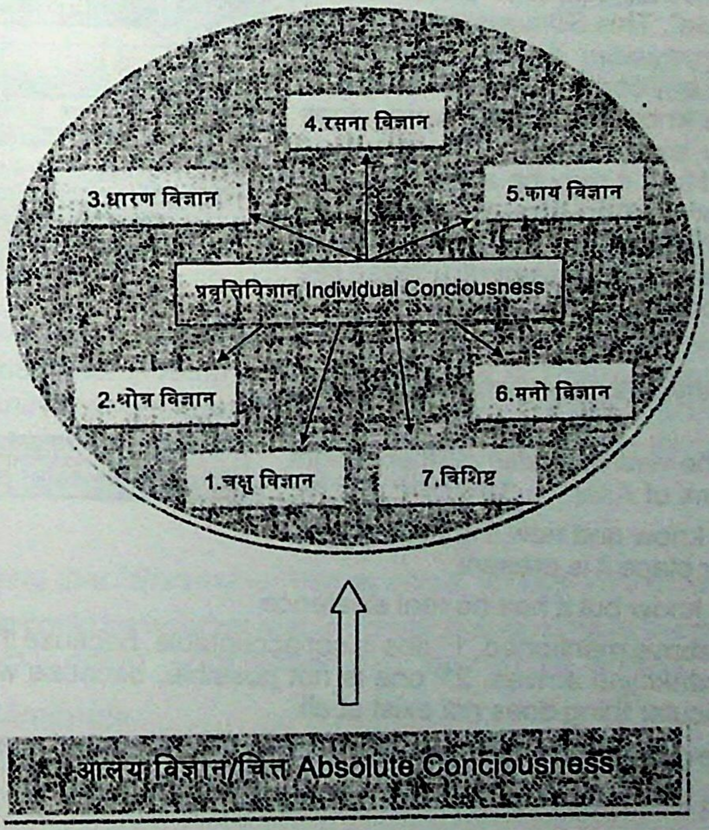
If we accept this theory then psychologically inference is not possible, because we may perceive that major term (*vahni*) also through *Jñānalakṣaṇa.*

Through this process we may perceive every thing in every time and space, that is not logically correct.

Naiyāyika accepts that we meet *bhrama* due to relation of two objects, then we have to accept that to get rid of *bhrama* it is necessary to know the relation of those objects.

***Āatmakhyāti* of Vijñānavādin :**

Yogāchāra Vijñānavādin accepts that only Vijñāna exists and nothing else[5]. That is *Vijñāna* which appears also in the form of external world. Here '*bhrama*' is also the knowledge of that *Vijñāna* or self. Thus, yogācāra-vijñānavādin accepts *bhrama* as *Ātmakhyāti* or Vijñānakhyāti.



Process :

Here through 1st five *vijñānas* help to know the object. Through the 6th one consideration and through 7th one object may be perceived. Thus *bhrama* is also the form of *Vijñāna*.

Criticism :

If we accept this theory (*Ātmakhyāti*), then there would be no difference between valid and invalid (knowledge).

As we know that it is necessary for knowledge process, it must be knower-knowable object and knowledge. But in *Ātmakhyāti* there is no difference among knower- knowable and knowledge.

***Asatkhyāti* of *Śūnyavādin* :**

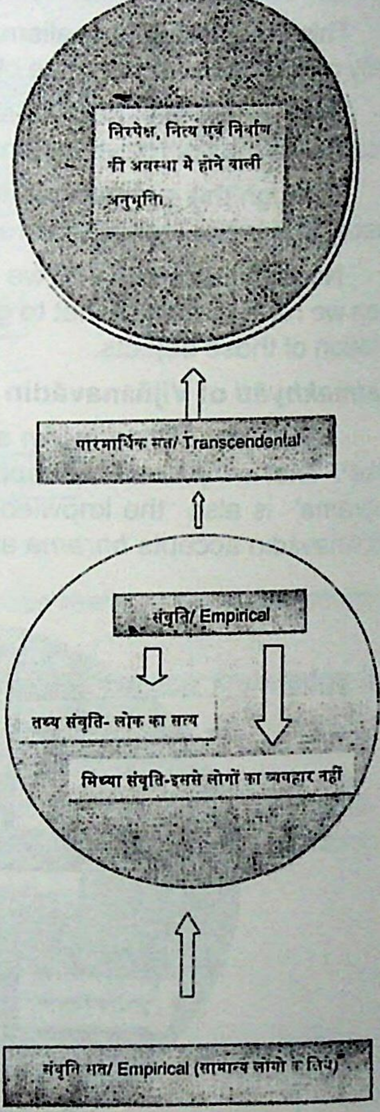
Mādhyamika Śūnyavādin accepts that only "*Śūnya*" exists nothing else. Here *Śūnya* means not "Nihilism" but it means "Indescribable". This *Śūnya* is the absolute reality. *Śūnyavādin*[6] doesn't accept the existence of any other thing than *Śūnya*. In *'bhrama'* we know that object which does not actually exist. Hance it is called as *Asatkhyāti*. Here it may be a question that if nothing exists then how we get that. To give the answer, they explain the type of reality and answers as *samvṛiti* (Please see in the next page).

Criticism :

Asat khyāti is not acceptable because :

1. In the view of *asatkhyāti* there might be two forms of *Asat* :

- We know and now it is absent here but in other place it is present.
- We know but it has no real existence



In above mentioned, 1st one is not acceptable, because if it is accepted then *Viparītakhyāti* arrives. 2nd one is not possible, because we can't know that a particular thing does not exist at all.

2. If every thing is *asat* then there is no difference between *Pramā* and *Bhrama*.

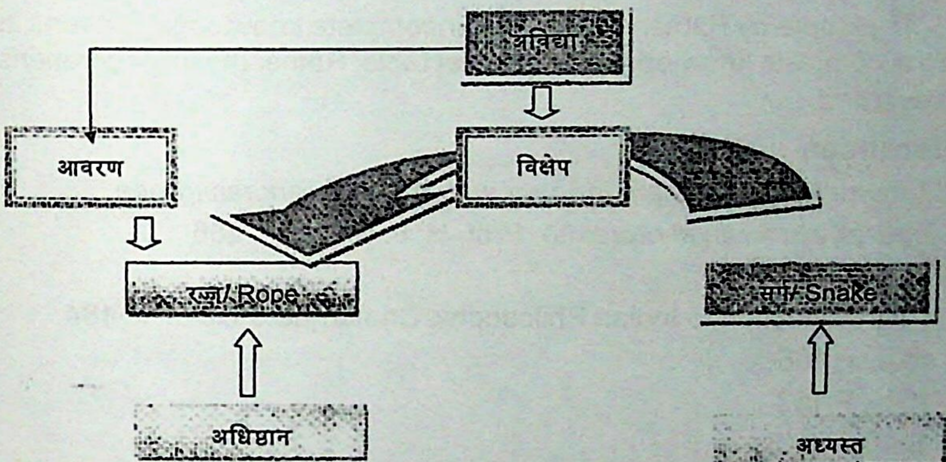
Anirvacanīyakhyāti of Āacārya Śaṅkara :

According to Śankara[7] during "*bhrama*" which is perceived that object is '*anirvachanīya*'. '*Bhrama*' is *avidyā*.

Avidyā has two aspects –

- Āavaraṇa
- Vik-̣ epa

Through *Āavaraṇa avidyā* covers the real aspect of the object and by *Vikṣepa Avidyā* makes overlap other thing on that particular object. Hence the object is observed as other object, this is called *"Adhyāsa"* or *Bhrama*. We present through diagram in the following a way :



In this *Bhrama* snake does not exist because after sometime it appears false due to behavior (*Pratibhāsa*) and other it is not unreal like sky flower. Hence it is '*Anirvacanīya*'. Here it should be noted that not only this process is *Bhrama* but also to know the rope' as a rope itself is also *Bhrama*, which appears to be false after getting *Paramārtha jñāna*.

Criticism :

The saying that "*Bhrama* is *Anirvacanīya*" is also "*nirvac-anīya*".

Any thing could be whether real or unreal. It doesn't have the third option. If the third path is opted , error named 'excluded middle' arrives.

Satkyāti of Rāmānuja :

The theory of error by Rāmānuja is known as *Khyātivāda*. *Rāmānuja* says that the whole world is *sat* (real). Because it is truly the product of

bramha (*bramha-pariṇāma-vāda*). Any area of knowledge is not unreal. Knowledge and knowable is always real. Now the question arises how error occurs. In this regard Rāmānuja says that according to the theory of 'Pañcikaraṇa', the shell (*śukti*) and Silver are similar in many aspects. The difference between both is not elementary but Practical. *Bhrama* is incomplete but the real knowledge. In the state of complete knowledge, the *bhrama* is accepted. But the incomplete knowledge converts itself into the complete knowledge. This principle arrives very close to *ākhyātivāda*.

Criticism :

Rāmānuja accepts The error as sat (real). But it cannot be accepted as *sat*. Shell and silver might be very similar but this similarity can not make them eligible to be 'one'.

The quote by Rāmānuja that "the incomplete knowledge converts itself into the complete knowledge" is not acceptable. Rather the mis-apprehension is prevented.

References :

1. *Tadvati tatprakârakam jñânam yathârtham*, *Tarkasaṅgraha*
2. *Bhāratīy darśan ki rūprekhâ*, Prof. H. P. Sinha, P. 286
3. Ibid, P. 286
4. An introduction to Indian Philosophy, Chatterjeẹ & Dutta, P. 184
5. Ibid, P.166
6. Ibid, P.162
7. Ibid,·, P.348

Books of References:

1. Sinha , Prof. H.P., *Bhāratīy darśana ki rūprekhâ*, pustaka Bhandar publishing house, Patna
2. Chatterjee & Dutta, An introduction to Indian Philosophy, Motilal Banarasidas, 2007
3. Sharma, Dr. R.P. Teach Yourself Philosophy , Bharati Bhawan, 2003
4. Bhargav , Dayanand, Tarkasaṅgraha, Motilal Banarasidas, 2004
5. Sharma, C.D. Bhāratīya darśana : Ālocanā evam anuśīlan, Motilal Banarasidas, 2004
6. Jha, Ram nath, A reader in Indian Philosophy, vidyanidhi prakashan, New Delhi
7. Avasthi , Bachchoo Lal, Bhāratīya Bṛhaddarśana koṣa, Sharada Publishing House, New Delhi, 2004

□□

अर्वाचीन संस्कृत-साहित्यकारों की वैश्विक दृष्टि

कौशल कुमार तिवारी

संस्कृत–साहित्य के विषय में जैसा कि सब को विदित है कि यह संसार का सर्वप्राचीन साहित्य है, यह आरोप प्रायः संस्कृतेतर–भाषीय आलोचकों द्वारा लगाया जाता रहा है कि संस्कृत–साहित्य में एक प्रकार की संकीर्णता विद्यमान है फिर चाहे यह संकीर्णता देश की हो, काल की हो या फिर वर्णित विषयों से संबंधित।

किन्तु अर्वाचीन संस्कृत साहित्य को देखे तो हमें अनुभव हो जाता है कि स्थिति ऐसी नहीं है। आज का संस्कृत–साहित्यकार तमाम संकीर्णताओं से ऊपर उठकर **'यत्र विश्वं भवत्येकनीडं'** की उक्ति को चरितार्थ कर रहा है। काव्य–रचना के प्रत्येक स्तर पर संस्कृत–कवि अपनी उपस्थिति दर्ज करवा रहा है। अर्वाचीन संस्कृत–साहित्य को यदि मात्रा की दृष्टि से परखा जाये तो यह सिद्ध हो जाता है कि गत दो शताब्दियों में जितनी प्रभूत मात्रा में संस्कृत में सृजन–कर्म हुआ है सम्भवतः उतना कभी नहीं हुआ। यही कारण है कि 'अभिराज' राजेन्द्र मिश्र ने इस युग को 'स्वर्णकाल' कहा है। अर्वाचीन संस्कृत–साहित्यकार ने न केवल अपनी रचनाओं की विषयवस्तु में व्यापक परिवर्तन किया है अपितु अन्य भाषीय साहित्य से प्रभावित होकर नवीन विधाओं को भी आत्मसात् कर रहा है। हम कह सकते हैं कि आज संस्कृत–साहित्यकार नवीन तेवर के साथ सहृदय–पाठकों को रससिक्त कर रहा है –

कविता हृदयस्य कापि भाषा मुखरा मौनमयी वधूर्नवैव।
न हि शक्तिरथो न तत्र भक्तिः प्रतिप्रत्तिस्तु समर्पणाय मार्गः।।
कविता हृदयस्य वाक्यशेषः कथितेऽनुक्ततया प्रकाशमानः।
कविता कविता कथा पुराणी न पुराणी न नवा, सुराङ्गना सा।।[1]

यहाँ अर्वाचीन संस्कृत–साहित्यकारों की उन कतिपय विशेषताओं पर विचार करेंगे जिनसे इन साहित्यकारों की वैश्विक दृष्टि प्रमाणित हो जाती है।

विषयवस्तु :

प्राचीन साहित्य में प्रायः कवि अपनी रचनाओं का विषय या तो पौराणिक चरित्र के आधार पर निश्चित करते थे या फिर उसमें कोरी कल्पना होती थी, किन्तु अर्वाचीन संस्कृत–कवि की रचनाओं की विषय–वस्तु में इधर व्यापक परिवर्तन हुआ है। संस्कृत–कवि सीमित देश व काल के बाहर की घटनाओं व चरित्रों के आधार पर भी

रचनाएं कर रहा है। इससे उसकी वैश्विक दृष्टि भी प्रकट हो जाती है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि विश्व के विभिन्न भागों में घटित घटनाओं का वर्णन करने हेतु उनको प्रत्यक्ष देखना अनिवार्य नहीं है क्योंकि आज के वैज्ञानिक युग में संचार के विभिन्न माध्यमों से कवि अनेक प्रकार की सूचनायें प्राप्त कर सकता है तथा उनके आधार पर काव्य भी रच सकता है। वस्तुतः प्रतिभाशाली कवि के लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है। काव्यमीमांसाकार राजशेखर भी कहते हैं – **'अप्रतिभस्य पदार्थस्यार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। केचन महाकवयोऽपि देशद्वीपान्तरकथापुरुषादिदर्शनेन तत्रत्यां व्यवहृतिं निबध्नन्ति स्म।'**[2]

राजस्थान–निवासी पं. मोहनलाल शर्मा पाण्डेय साहित्य के फलक पर ऐसे ही हस्ताक्षर हैं जो रूढ़ियों को त्यागकर नवीनता के पक्षधर बने हैं। आपकी कृति 'पत्रदूतम्' यूँ तो विधा की दृष्टि से दूतकाव्य–परम्परा का अनुसरण करती है, किन्तु इसका विषय सर्वथा नवीन है। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में खाड़ी युद्ध ऐसी घटना थी, जिसने सम्पूर्ण विश्व का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था। इस युद्ध में एक तरफ थे ईराक के राष्ट्राध्यक्ष सद्दाम हुसैन और दूसरी तरफ थी विश्व की तथाकथित महाशक्तियाँ। 1990 में हुए इस युद्ध ने विश्व के सामान्य जनमानस पर व्यापक प्रभाव डाला था। यही कारण है कि कवि पाण्डेय ने भी विदेशी धरती पर हुए इस युद्ध से विचलित होकर 'पत्रदूतम्' खण्डकाव्य की रचना की। इसमें कवि ने युद्ध के दौरान अमेरिका के एक वायुसेनाधिकारी द्वारा अपनी पत्नी को लिखे गये पत्र के व्याज से युद्ध की विभिषिकाओं का मार्मिक वर्णन किया है। सद्दाम के बर्बर सैनिकों द्वारा कुवैत में किये नरसंहार के मामिक चित्रण का उदाहरण द्रष्टव्य है –

अत्याचारा असंख्या बहुविधभयदा घोरबाधाः कृतास्तै–
र्नासाग्रीवाश्च भिन्ना युवनरवृषणाः स्फोटितास्तीक्ष्णशस्त्रैः।
सद्यो जाता हि डिम्भा गदहरणपदे मारिता अङ्गभङ्गम्
स्त्रीणां भग्नं सतीत्वं युवजनरुधिरं प्रोद्धृतं नालयन्त्रैः।।[3]

रामाशीष पाण्डेय (रांची) ने भी दूतकाव्य के माध्यम से अपनी वैश्विक दृष्टि का परिचय प्रस्तुत किया है। आपकी **'मयूखदूतम्'** नाम रचना में नायक **पौर्वात्य** है तो नायिका पाश्चात्त्य। इसमें नायक मयूख को दूत बनाकर उसे भारत के पटना नगर से इंग्लैण्ड भेजता है। यह 'मयूखदूतम्' पटना से काशी, आगरा, दिल्ली होते हुए कराची, मक्केश्वर, यूनान, रोम, पेरिस व लन्दन के रास्ते इंग्लैण्ड जाता है। कवि ने इन स्थानों के भौगोलिक व प्राकृतिक दृश्यों का रसास्वादन पाठक को मन्दाक्रान्ता छन्द के माध्यम से करवाया है। प्रो. रामकरण शर्मा ने **'तैलावलिः प्लवमाना'** कविता में खाड़ी–युद्ध

के दौरान समुद्र में फैले तेल के माध्यम से आज की बीभत्स राजनीति और मृतप्राय मानवता का मार्मिक बोध इस प्रकार करवाया है –

नाहमस्मि जलदो जलधिर्वा
मानसं नहि सरोऽस्मि सरिद्वा।
दानवव्यथितधातुमालाया
मातुरस्मि वमनावलिरुर्व्याः।।
अद्य कोऽत्र सुलभः स महेशो
यः पिबेन्मम विषायतिमुग्राम्।
सर्वतोऽमृतवचांसि मुखाग्रे
बीजवन्ति च विषाणि कराग्रे।।[8]

यहाँ कवि सत्यव्रत शास्त्री का महाकाव्य **'श्री रामकीर्ति-महाकाव्य'** विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसकी विशेषता यह है कि इसकी कथा का आधार भारत देश में प्रचलित कोई रामकथा न होकर थाईलैण्ड की रामकथा है। कवि ने थाई देशों में प्रचलित रामकीर्ति नामक रामगाथा को इसका उपजीव्य बनाया है। इस महाकाव्य में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जो भारतीय रामकथाओं में उपलब्ध नहीं होते, यथा विभीषण की पुत्री वेंजकीय से हनुमान का रमण व उससे असुरफद नामक पुत्र की उत्पत्ति। यह कथा सुखान्तक है क्योंकि इसमें राम व सीता का मिलन हो जाता है। यह हर्ष का विषय है कि संस्कृत–पाठक अब भारत के बाहर की रामकथा का भी रसास्वादन कर सकता है।

वैश्वीकरण के इस युग में पश्चिम के प्रभाव से संस्कृत–कविता अस्तित्ववादी दर्शन व अतियथार्थवाद से भी सम्बद्ध हुई है। इस दृष्टि से केशवचन्द्र दाश एवं हर्षदेव माधव की रचनाएं पठनीय हैं। कवि दाश स्वयं को आषाढ़ की बूंद बतलाते हैं जो भूतल से मिलकर उसी में लीन हो जाना चाहती है –

नाहं निक्षिप्तकन्दुकः
प्रत्यागमिष्यामि
भूतलं संस्पृश्य
परमेको मिमिलिषुः
आषाढस्य बिन्दुः[9]

कवि माधव अपनी कविता में आधुनिक प्रौद्योगिकी व यूरोप के जीवन या समाज से संदर्भ लेकर भी कविताएं रचते हैं। यथा –

अकलनन्दे ! कुत्र त्वमसि ?
मम रेडियोतरङ्गदीर्घतायाः
प्रत्युत्तरो नास्ति
प्रेम्णो गणकयन्त्रे
किं ते मनोऽस्ति
एण्टीमैटर (अवस्तु) निर्मितम् ?[5]

वैज्ञानिक युग से प्रभावित होकर भी संस्कृत में काव्य रचे जा रहे हैं। 1966 में संगमनी पत्रिका (प्रयाग) में प्रकाशित **'एकविंशति शताब्दी–द्वाविंशति शताब्दी'** ऐसा ही रूपक है, जिसमें भविष्य की नाना प्रकार की कल्पनाएं की गई हैं, यथा–2060 में मनुष्य शुक्र ग्रह पर विचरण करेगा, मनुष्य की परमायु 30 वर्ष होगी। यह रूपक हिन्दी मूल का है, जिसके लेखक भगवान दास फड़िया है तथा इसका संस्कृतानुवाद प्रेमशंकर शास्त्री ने किया है। इस रूपक में स्थिति उस समय हास्यास्पद बन जाती है, जब एक पुरुष पात्र को ज्ञात होता है कि जिस सहयात्रिणी से वह प्रेम करने लगा था, वह तो प्लास्टिक की एक रॉबट मात्र है, स्त्री नहीं।

शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्धा में रत विश्व के राजनेता जब निरस्त्रीकरण सम्मेलन का आयोजन करते हैं तो महाराजदीन पाण्डेय जैसे साहसी कवि इसे फूंस की झोपड़ी में बच्चों द्वारा आग उलीचने का खेल जैसा ही मानते हैं। आप इस नवीन सभ्यता को भस्मासुर के समान ही स्वीकारते हैं–

शस्त्रीनिर्माणे प्रतिस्पर्धा
निरस्त्रीकरणसम्मेला
तृणकुटीके शिशूनामग्न्युपवनखेला
सभ्यता भस्मासुरीयति
मानयति मृत्यूत्सवम्
शिरसि कृत्वाण्वस्त्रपोट्टलिकाम्
स्खलन्ती रता नृत्ये
वदन्ती –––
अयि मां लोकय ![6]

विभिन्न कार्यवश जब अर्वाचीन संस्कृत–कवि विदेशों का भ्रमण करके आता है तो वहाँ के प्राकृतिक दृश्यों, सभ्यता, संस्कृति आदि से प्रभावित होकर उन्हें अपने काव्य में

उकेरने के लोभ का संवरण नहीं कर पाता। टी.वी. परमेश्वर अय्यर (केरल) ने **'स्विसदेश-प्रकृति-वर्णनम्'** तथा **'जर्मनीयात्रावर्णनम्'** दो वैदेशिक यात्रावृत्तपरक काव्य रचे हैं।

कविवर सत्यव्रत शास्त्री ने 1975 में की गई जर्मनी-यात्रा तथा 1977 में की गई थाईलैण्ड की यात्रा को क्रमशः **'शर्मण्यदेशः सुतरां विभाति'** तथा **'देशविलासम्'** में वर्णित किया है। 'अभिराज' राजेन्द्र मिश्र ने बालीद्वीप पर प्रवास–काल में बालीविलासम्, बालीप्रत्यभिज्ञान–शतकम् तथा यवसाहित्यशतकम् इन तीन लघुकाव्यों की रचना करके बाली द्वीप के आंतरिक एवं बाह्य सौन्दर्य का वर्णन किया है। कवि प्रभाकर नारायण कवठेकर ने पेरिस के संग्रहालय में सज्जित विश्वविख्यात कलाकृति मोनालिसा का सौन्दर्य पान करके **मोनालिसां तां मनसा स्मरामि'** नामक भावपूर्ण कविता लिखी है, जिसका प्रकाशन दूर्वा (अंक 23) पत्रिका में हुआ है।

इधर अर्वाचीन कवियों में प्रमुख विदेशी चरित्रों को नायक बनाकर काव्य–रचना की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। हिन्दी के प्रख्यात कवि नागार्जुन ने अपने रचनाकाल के आरम्भिक दौर में रूस के क्रान्तिकारी महान् नेता लेनिन पर लेनिनशतकम् नामक काव्य संस्कृत में लिखा था। इसी चरित्र पर आधारित पदम् शास्त्री का 15 सर्गात्मक महाकाव्य **'लेनिनामृतम्'** विशेष रूप से दर्शनीय है। सम्भवतः किसी विदेशी क्रान्तिकारी को आधार बनाकर लिखा गया यह संस्कृत का प्रथम महाकाव्य है। इस महाकाव्य में प्राचीन संस्कृत–कवियों की भांति लेनिन को अवतारी पुरुष के रूप में चित्रित न करके एक साधारण मनुष्य के रूप में दिखलाया है। पद्म शास्त्री ने इस महाकाव्य में बोल्शेविक क्रान्ति के जन्मदाता ब्लादिमीर लेनिन के चरित्र, जीवन, साम्यवादी दर्शन, रूस का भौगोलिक वर्णन एवं अन्त में भारत–रूस की मैत्री की चर्चा की है। कवि ने रूस व भारत की मैत्री की बात वोल्गा (रूस की एक नदी) से गंगा के मिलन के रूप में प्रकट की है –

प्रसरतु जनभूत्यै वोल्गया सार्धमेषा।
निजविमलजलाढ्या जाह्नवी जीवलोके।।[8]

कवि रघुनाथ प्रसाद द्विवेदी ने मैक्सिम गोर्की पञ्चशती काव्य में विश्व के महान् सर्वहारा लेखक मैक्सिम गोर्की के व्यक्तित्व व कृतित्व पर प्रकाश डाला है। आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अफ्रीका के स्वाधीनता सेनानी नेल्सन मण्डेला के कारागार से मुक्ति के प्रसंग को आधार बनाकर **'शकटारकाव्यम्'** लिखा है। आपने यूथिका नाटिका भी लिखी है, जो रोमियो– जूलियट की प्रेम–कथा पर आधारित है।

इनके अतिरिक्त डॉ. बनमाली बिश्वाल ने 'वेलेण्टाइन् डे' नामक पाश्चात्य–उत्सव पर आधारित प्रेमकाव्य **'वेलेण्टाइन–डे–संदेश'** की रचना कर सिद्ध किया है कि

प्रणय की कोई सीमा नहीं होती। अप्पाशास्त्री राशिवडेकर ने 'शाहोः कुमारावाप्तिः' एवं 'उद्वाहमहोत्सवम्' काव्यों के माध्यम से अपने समय के अंग्रेज राजकुमार प्रिंस ऑफ वेल्स की प्रशासनिक एवं वैवाहिक घटनाओं को निबद्ध किया है। लक्ष्मीनारायण द्विवेदी (जयपुर) ने पुरूसिकन्दरीयम् काव्य में अलेक्झेण्डर व पोरस से संबंधित घटनायें वर्णित की है। तिरूमल बुक्कपट्टन ने आंग्लजर्मनी–युद्ध–विवरणम् नामक महाकाव्य में इंग्लैण्ड व जर्मनी के मध्य हुए युद्ध का वर्णन किया है। जॉर्ज पंचम के निधन के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र एडवर्ड अष्टम द्वारा प्रेम के कारण वंश–परम्परा से प्राप्त साम्राज्य को ठुकरा देने की घटना से प्रभावित होकर ए. गोपालाचार्य ने युद्धवृद्वसोहार्दम् नामक काव्य की रचना की। पशुपति झा (नेपाल–निवासी) जहाँ अपने महाकाव्य 'नेपालसाम्राज्योदय' में अपने देश नेपाल का वर्णन करते हैं, वहीं भारत के संबंध में वे अपनी आस्था भी प्रकट करते हैं। राजा श्याम कुमार टैगोर द्वारा 'जर्मनिकाव्यम्' में जर्मनी देश का इतिहास वर्णित करना, अभिराज राजेन्द्र मिश्र द्वारा इण्डोनेशिया की भाषा में संस्कृत साहित्य का इतिहास वर्णित करना, भट्ट मथुरानाथ शास्त्री द्वारा साहित्यवैभवम् में मोटर कार, रेलयान, जहाज, बिजली, छायाचित्र को विषय बनाना इत्यादि ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो अर्वाचीन संस्कृत–कवि को वैश्विक स्तर पर नई पहचान दिला रहे हैं।

2. विधाएं :

जब से संस्कृत–कवि का संस्कृतेतर–भाषीय साहित्य से परिचय हुआ है, फिर चाहे वह साहित्य पौर्वात्य हो या पाश्चात्य, तब से अपने कथ्य को प्रस्तुत करने के लिए वह नवीन विधाओं रूपी कविता–कलेवर को भी अपनाने में हिचक नहीं रहा। गद्य–साहित्य के अन्तर्गत लघुकथा व अतिलघुकथा (शार्ट–शॉर्ट स्टोरी) जासूसी कथा (डिटेक्टिव स्टोरी), उपन्यास, ललित–निबन्ध, यात्रावृत्त, पत्रकारिता, विनोद–कणिकायें (चुटकुले) आदि विधाओं में सृजन–कर्म हो रहा है।

गद्य–साहित्य की इन विधाओं में ललित निबन्ध उल्लेखनीय है साथ ही उल्लेखनीय है इस विधा के प्रमुख रचनाकार यथा–हृषीकेश भट्टाचार्य, भट्ट मथुरानाथ शास्त्री, गणेशराम शर्मा, देवर्षि कलानाथ शास्त्री, परमानन्द शास्त्री आदि। देवर्षि कलानाथ शास्त्री संस्कृत–साहित्य में ललितनिबन्ध के उद्‌भव व विकास के विषय में अपने विचार कुछ यूँ प्रकट करते हैं–'व्यक्तिव्यंजक या ललितनिबन्ध का उद्‌भव यूरोप में, विशेषकर फ्रांस में हुआ। यदि ललितनिबन्धों के उदाहरण प्राचीन साहित्य में खोजे तो उन्हें भी अलंकृत शैली में लिखे गये स्तुतिपरक दण्डकों तक भी ले जाया जा सकता है, किन्तु वैसा साहित्य सही अर्थों में पाश्चात्त्य–साहित्य के सम्पर्क का परिणाम है, यह मानने में संकोच करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता'।[10]

पद्य–साहित्य में भी कई नवीन विधाओं ने प्रवेश किया है। एक और जहाँ 'अभिराज' राजेन्द्र मिश्र जैसे कवि कजरी, नकटा, सौहर आदि लोकगीतों से प्रभावित होकर संस्कृत–गीत रच रहे हैं, वहीं उर्दू–फारसी की गजलशैली पर आधारित गीतध ारा एवं भावधारा भी सतत प्रवाहमान है। कमलेश मिश्र (बिहार) ने कमलेशविलासः में तथा भट्ट मथुरानाथशास्त्री ने अपने विविध काव्यों में कव्वाली, ठुमरी, लावणी के साथ गजलों का भी सुन्दर एवं शास्त्रीय प्रयोग किया है। गीतिवाणी (प्रकाशन्, 1927) में उर्दूभाषाचत्वर नामक खण्ड में भट्ट जी की 58 गजल–गीतियों का संकलन है। आचार्य जगन्नाथ पाठक ने 'कापिशायनी', 'मृद्वीका' 'पिपासा' रूपी सुराही से काव्यरसिकों को सुस्वादु चषकपान करवाया है। समीक्षक डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, पण्डित बच्चूलाल अवस्थी की गजल–गीतियों को शिल्प व भाव की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। अवस्थी जी की गजल–गीति का एक उदाहरण प्रस्तुत है –

पिका मौनं भजेरन् मासि वसन्ते कथंकारम्।
शरः शाकुन्तलः सिद्ध्येन्न दुष्यन्ते कथंकारम् ?।।
भ्रुवोर्भङ्गभ्रमाद् भूम्ना निषेधाः सम्प्रतीयेरन्।
कपोलप्रान्तसङ्केता निगुह्यन्ते कथंकारम् ?।।[11]

'अभिराज' राजेन्द्र मिश्र ने भी कई लोकप्रिय गजलों की रचना की हैं और अपने आधुनिक काव्यशास्त्र 'अभिराजयशोभूषणम्' में संस्कृत–गजल के लिए 'गलज्जलिका' शब्द गढ़ा है।[12]

'विमानकाव्यविधा' संस्कृत–कविता में एक नवीन विधा है, जिसने सभी का ध्यान आकर्षित किया है। जब संस्कृत–कवि ने विमानयात्रा का सुखद अनुभव किया तो स्वतः ही उसकी लेखनी से संस्कृत–कविता निःसृत होने लगी। इस अनुभव ने या तो खण्डकाव्य का रूप लिया या फिर वह मुक्तक रचना के रूप में प्रस्तुत हुआ। वेंकट राघवन् की कविता अभ्रमभ्रमभ्रविलासम् तथा प्रभाकरनारायण कवठेकर की भूलोकविलोकनम् मुक्तक रचनाएं हैं।[13]

'अभिराज' राजेन्द्र मिश्र ने **'विमानयात्राशतकम्'** नामक खण्डकाव्य की रचना कर नई दिल्ली से बाली द्वीप की राजधानी डेनसपार तक की अपनी हवाई यात्रा का वर्णन किया है। इस काव्य में विमान की आंतरिक सज्जा तथा विमानगवाक्ष से दिखते प्राकृतिक दृश्यों का मनोहारी वर्णन प्राप्त होता है। अभिराज जी को विमान के नीचे स्थित बादल दूर्वास्थली में तृण चरते मेषशावक से प्रतीत होते हैं –

विमानाधस्तले कीर्णा असंख्या श्वेतवारिदाः।

दूर्वास्थल्यामभासन्त चरन्तो मेषशावकाः।।[14]

किन्तु प्रो. रामकरण शर्मा की व्यथा यह है कि विमान में सैर करते हुये यात्री विमान के भीतर ही सब कुछ कर सकते हैं, बस गवाक्ष (खिड़की) नहीं खोल सकते–

पिबत खादत मोदत यात्रिणः
पठत जाग्रत माद्यत सीदत।
लिखत पश्यत धूमयतापि च
न तु गवाक्षमपावृणुत स्वयम्।।[15]

डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी ने भारत से पूर्वी जर्मनी तक की यात्रा के अनुभव **धरित्रीदर्शनलहरी** में उकेरे हैं, जो पाँच उन्मेषों में विभक्त है। आपके काव्य में पदे–पदे मेघदूत की छाया दृष्टिगत होती है। डॉ. त्रिपाठी ने व्योमबाला (एयरहोस्टेज) व यानाध्यक्ष (केप्टन) के स्वागतयुक्त वचनों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

आरूढश्च प्रमुदिमनाः प्रेर्यमाणो विमानं
स्थानं नीतः क्लमविगमकं व्योमबालाप्रदिष्टम्।
यानाध्यक्षो गमनसमयं चाथ संघोष्य यातृन्
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार।।[16]

संस्कृत–नाट्य–साहित्य में भी अनेक नवीन विधायें विकसित हुई हैं, यथा नुक्कड़ नाटक–स्ट्रीट प्ले (अभिराज राजेन्द्र मिश्र रचित चतुष्पथीयम् तथा डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी रचित प्रेक्षणकसप्तकम्), रेडियो नाटक (डॉ. रमाकान्त शुक्ल रचित नाट्यसप्तकम् तथा देवर्षि कलानाथ शास्त्री रचित नाट्यवल्लरी), संगीतिका या गीतिनाट्य–ऑपेरा (वनमाला भवालकर रचित रामवनगमनम् एवं पार्वतीपरमेश्वरीयम्), नृत्यनाटिका बैले (नलिनी शुक्ला रचित पार्वतीतपश्चर्या व राधानुननयः), एकाङ्की नाटक (अभिराज राजेन्द्र मिश्र, लीलाराव आदि नाटककार प्रमुख)।

3. छन्द :

छन्द की दृष्टि से 20वीं शताब्दी में बहुविध प्रयोग हुये हैं। भट्टामथुरानाथशास्त्री इस दृष्टि से प्रमुख प्रयोगकर्त्ता कहे जा सकते हैं। आपने ब्रजभाषा के छन्दों में दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया, धनाक्षरी आदि के साथ–साथ उर्दू के काव्य से गजल में प्रयुक्त छन्दों में भी रचनायें लिखी हैं। इसके पश्चात् अनेक संस्कृत–कवियों ने इनका सफल प्रयोग किया है। श्रीभाष्यम् विजयसारथि ने तेलुगु भाषा के छन्दों में भी संस्कृत–कवितायें लिखी हैं।

देशी छन्दों के साथ विदेशी छन्दों का भी प्रयोग संस्कृत में किया जाने लगा है। डॉ. हर्षदेव माधव इस विषय में अग्रणी है। आपने दो जापानी छन्दों– हाइकू व तांका का सुन्दर प्रयोग अपने कथ्य को प्रस्तुत करने के लिए किया है। हाइकू छन्द की विशेषता यह है कि इसके तीन पदों के कुल 17 वर्णो में कवि अपना अभिप्राय प्रस्तुत कर देता है– यथा–

रूग्णालयस्य
मक्षिकाः कुशलिन्यः
स्वस्था मशकाः।।[17]

'तांका' छन्द पंच पादयुक्त होता है जिसमें 31 वर्ण होते हैं। कवि माधव दक्षिण कोरिया के साहित्य से ग्रहण किये गये 'सीजो' छन्द में भी कविताएं रच रहे हैं। इस छन्द की तीन पंक्तियों में कुल 45 वर्ण होते हैं।

वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य ने अंग्रेजी कविता के प्रसिद्ध छन्द 'सानेट' का भी संस्कृत में प्रयोग किया है। एक सानेट में कुल 14 पंक्तियाँ होती हैं तथा इनमें एक कविता भी पूर्ण हो जाती है। आपने सानेटों के लिए संस्कृत में **संस्तबक** शब्द प्रयुक्त किया है। आपके सानेटों (संस्तबकों) का उत्तम संग्रह **कलापिका** (कोलकत्ता, 1969) के नाम से प्रकाशित हुआ है। इधर पिछले कुछ दशकों से प्राचीन छन्दों के बंधन तोड़ते हुए मुक्तछन्द में भी कविताएं लिखने की प्रवृत्ति बढ़ी है, किन्तु कहीं–कहीं यह प्रयोग पद्य को गद्य के निकट ले आता है, यदि उसमें काव्य–लय विद्यमान नहीं है तो। मुक्तछन्द की दृष्टि से केशवचन्द्र दाश उल्लेखनीय है। आप प्रायः मुक्तच्छन्द में ही कवितायें रचते हैं। यथा–

निधिभवनस्य/अलिन्दे यथा/श्रूयते भौतिकतास्वरः/
विक्षिप्तदीनतासु च/चीत्करोति/शैलकल्पक्षुधा/
कमहं श्रावयिष्यामि/प्रसूतिकाव्यथां मम ?[18]

4. अनुवाद :

अर्वाचीन संस्कृत–कवि न केवल मौलिक सृजन में व्यस्त है अपितु वह विदेशी भाषाओं की प्रमुख रचनाओं को संस्कृत में अनूदित भी कर रहा है। इससे दो तरफा लाभ होता है। एक तो संस्कृत के पाठक को विदेशी भाषाओं के साहित्य का रसास्वादन हो जाता है तथा दूसरा इससे संस्कृत के भाण्डागार में भी श्रीवृद्धि होती है। यथा–राजराज वर्मा ने शेक्सपीयर के ऑथेलो नाटक का गद्य–रूपान्तरण किया था। लक्ष्मण शास्त्री तैलंग (काशी) ने शेक्सपीयर के मर्चेंट ऑफ वेनिस तथा हेमलेट के काव्यात्मक सार

वेतस्वती सार्थवाहः तथा हेमन्तकुमारः के नाम से किये। श्री शैल दीक्षित ने शेक्सपीयर के कॉमेडी ऑफ एरर्स का गद्यरूप में अनुवाद **भ्रान्तिविलासम्** के नाम से किया। श्री आर. कृष्णमाचार्य ने शेक्सपीयर के 'मिडसमर नाइट्स ड्रीम' के आधार पर वासन्तिकस्वप्न की रचना की। डॉ. हरिहर वि. त्रिवेदी एवं लक्ष्मीनारायण ओ. जोशी द्वारा अनूदित अंग्रेजी कविताओं का संकलन 'आंग्लरोमञ्चम्' (चौखम्भा, 1974) नाम से प्रकाशित हुआ है। कवि रामानन्दाचार्य ने शेक्सपीयर, ब्राउनिंग आदि की कतिपय प्रमुख कविताओं को लघुकाव्यमाला (मद्रास, 1914) में प्रकाशित करवाया था।

गोविन्दचन्द्र पाण्डेय ने भी 'अस्ताचलीयम्' संग्रह में अंग्रेजी कविताओं का अनुवाद किया है। यहाँ उल्लेखनीय है कि दूर्वा पत्रिका का एक सम्पूर्ण अंक 'विश्वकविताङ्क' एवं विश्वकथाङ्क के नाम से प्रकाशित हुआ था, जिसमें विश्व की विभिन्न भाषाओं के कवियों एवं कथाकारों की कविताओं एवं कथाओं का संस्कृतानुवाद प्रस्तुत किया गया है।

झालरापाटन (राज.) निवासी गिरिधर शर्मा नवरत्न ने उमर खैयाम की रूबाईयों का संस्कृतानुवाद 'उमरसूक्तिसुधाकर' संग्रह में किया था, यह पृथिवी वृत्त में रचित है। अशोक अस्लूजकर ने उर्दूकाव्यमधु के नाम से उर्दू कविताओं का अनुवाद किया जो शारदा पत्रिका (1966) में प्रकाशित हुआ। देवर्षि कलानाथ शास्त्री ने भी 'कवितावल्लरी' में कतिपय गजलों का सुन्दर संस्कृतानुवाद किया है। कवि रामशास्त्री में सिन्दबाद की हानियों को सिन्धुवादवृत्तम् में संस्कृतरूपान्तर करके प्रस्तुत किया है। टी.व्ही. रमेश्वर अय्यर (केरल) ने स्विट्जरलेण्ड, जर्मनी, स्वीडन आदि देशों के राष्ट्रगीतों का संस्कृत में पद्यानुवाद किया है, ऐसा भी उल्लेख प्राप्त होता है।

इस प्रकार अर्वाचीन संस्कृत–कवि रचना के प्रत्येक स्तर पर अपनी वैश्विक दृष्टि का परिचय दे रहा है। अब कवि पाण्डित्य–प्रदर्शन के स्थान पर अपने कथ्य को प्रस्तुत करने में ध्यान देने लगा है। इसके लिये वह नवीन विधाओं को आत्मसात् करके बहुविध विषयों को प्रकट कर रहा है। व्याकरण–नियमों में भी शिथिलता आई है। देशी व विदेशी शब्दों का भी संस्कृतीकरण किया जा रहा है, या तो अन्य भाषीय शब्दों को ज्यों का त्यों ग्रहण किया जा रहा है या फिर नवीन शब्द आवश्यकतानुसार गढ़े जा रहे हैं। प्रतीक, बिम्ब, मिथक, फ्लेश बैक आदि का भी प्रयोग हो रहा है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अर्वाचीन संस्कृत–कवि वैश्विक दृष्टि से अन्य किसी भाषा से बढ़कर नहीं है तो कम भी नहीं है। आनन्दवर्धनाचार्य की यह उक्ति इस सन्दर्भ में प्रासंगिक ही है–

वाचस्पतिसहस्त्राणां सहस्रैरपि यत्नतः।
निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव।।[19]

सन्दर्भ :

1. शतपत्र काव्य से उद्धृत (श्लोक–क्रमांक–7 व 95), रचयिता–आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी
2. काव्यमीमांसा (चतुर्थ अध्याय से उद्धृत)
3. पत्रदूतम् (श्लोक क्रमांक–39)
4. दीपिका से उद्धृत (पृष्ठ–151, 152), शारदा प्रका. दिल्ली (1992)
5. ईशा (पृष्ठ–1)
6. अलकनन्दा (पृष्ठ–18)
7. मौनवेधम् (पृष्ठ–34)
8. लेनिनामृतम् (15 / 74)
9. मद्रास से प्रकाशित (1937)
10. संस्कृंत वाङ्मय का वृहद् इतिहास, सप्तम खण्ड (पृष्ठ–499) प्रका. उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ (2000)
11. वही (पृष्ठ–299 से उद्धृत)
12. अभिराजशोभूषणम् (प्रकीर्णतत्त्वोन्मेष)
13. डॉ. रमाकान्त शुक्ल (वैमानिकम्), डॉ. हरिदत्त शर्मा (चल–चल विमानराज रे) कविताओं का भी उल्लेख मिलता है।
14. विमानयात्राशतकम् (श्लोकक्रमांक–52)
15. वीणा से उद्धृत (पृष्ठ–77)
16. धरित्रीदर्शनलहरी (1 / 6)
17. नखदर्पण से उद्धृत (पृष्ठ–99)
18. ईशा (पृष्ठ–4)
19. ध्वन्यालोक (4 / 10)

□□

संस्कृत-काव्यशास्त्र में रसानुमितिवाद का सम्प्रत्यय

अपराजिता मिश्रा

नाना शास्त्रों से आलोडित तथ्यों से निर्मित संस्कृत-साहित्यशास्त्र के दो सहस्त्र वर्षों के विकास-क्रम में यद्यपि सभी शास्त्रों का न्यूनाधिक रूप में योगदान रहा। परन्तु व्याकरण और दर्शनशास्त्र का सर्वाधिक प्रभाव साहित्यशास्त्र पर पड़ा। व्याकरण ने साहित्य को शब्दार्थात्मक शरीर रूप प्रदान किया है तो दर्शन उसकी आत्मा के विश्लेषण में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुआ है।[1] दर्शन की लगभग सभी आस्तिक और नास्तिक विधाओं ने काव्यशास्त्र को अत्यधिक प्रभावित किया है। दर्शनशास्त्र की विविध विचार धाराओं का सर्वाधिक प्रभाव काव्यशास्त्रीय रस-सिद्धान्त पर दिखाई पड़ता है। दर्शनशास्त्र की विविध धाराओं में प्रमुख 'न्यायदर्शन' जिसमें प्रमेयों की अपेक्षा प्रमाणों पर अधिक बल दिया जाता है, इस दर्शन का काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रमाणों में भी अनुमान-प्रमाण का जितना गहन, विस्तृत एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन न्याय-दर्शन में हुआ है उतना अन्यत्र नहीं उपलब्ध होता।

संस्कृत-काव्यशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन (नवी शती का मध्य काल) से पूर्व ध्वनि का उल्लेख नहीं मिलता है। आनन्दवर्धन द्वारा शब्द के व्यञ्जना-व्यापार पर आधारित ध्वनि की स्थापना के साथ ही इसका विरोध भी आरम्भ हो गया। नवी शती के ही पूर्वार्द्ध में आचार्य श्रीशङ्कुक ने भरत के रससूत्र की व्याख्या करते हुए सामाजिक को रस की अनुमिति होती है यह मत प्रस्तुत करते हुए रसानुमिति के सिद्धान्त से भारतीय काव्यशास्त्र को परिचित कराया। सम्भवतः तब तक आनन्दवर्धन का ध्वनि-सिद्धान्त इनकीं दृष्टि में नहीं आया था। अतः इन्होंने व्यञ्जनाश्रित ध्वनि का विरोध नहीं किया अपितु नाट्य के प्रसङ्ग में रस को अनुमेय माना। लगभग इसी समय नवी शती के मध्यकाल में आनन्दवर्धन ने काव्यशास्त्र के नवीन प्रस्थान ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की। जयन्तभट्ट (850-910 ई.) जो विशुद्ध रूप से नैयायिक थे, इन्होंने ध्वनि का खण्डन न्यायदर्शन के अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'न्यायमञ्जरी' में किया है। इस ग्रन्थ में अर्थापत्ति-प्रमाण के निराकरण के सन्दर्भ में व्यञ्जना का विरोध करते हुए ध्वनि का भी खण्डन किया गया है। इनके अनुसार ध्वनि को मानने की आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि अपनी सामर्थ्य से ही शब्द ऐसे स्थलों में अभिप्रेत अर्थ का बोध करा देते हैं। अन्य प्रमाण से प्रमेय होने योग्य अर्थ के प्रकाशन में भी शब्द समर्थ होता है।[2] यद्यपि जयन्त भट्ट का यह ध्वनिविरोध न्यायदर्शन के प्रमाण स्थापना के सन्दर्भ में था, काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं के सन्दर्भ में नहीं। तथापि निःसन्देह महिमभट्ट ने बीज रूप के इन्हीं सिद्धान्तों का पोषण और विशदीकरण 'व्यक्तिविवेक' के रूप में किया। आचार्य भरत के रस-सिद्धान्त के व्याख्याताओं में नवीं शती के पूर्वार्द्ध

में प्रादुर्भूत श्री शङ्कुक ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने रस को अनुमान की सरणि पर व्याख्यायित किया है। श्रीशङ्कुक के बाद महिमभट्ट (1135-1145 ई.) ने काव्य के क्षेत्र में अनुमितिवाद का सिद्धान्त अपनाया और अनुमान के आधार पर काव्यतत्त्वों की व्यवस्था की। शङ्कुक का मूल ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण लोचन, अभिनवभारती तथा काव्य-प्रकाश में उपलब्ध इनकी टीका के उद्धरणों के आधार पर ही इनके मत का मूल्यांकन किया जाता है। 'बालबोधनी टीका' और 'काव्यानुशासन' भी रससूत्र की शङ्कुककृत व्याख्या पर प्रकाश डालते हैं।

शङ्कुक ने भरत के 'रससूत्र' में प्रयुक्त 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' शब्दों को अनुमान- प्रक्रिया के आधार पर व्याख्यायित करते हुए 'निष्पत्ति' का अर्थ अनुमिति तथा 'संयोगात्' शब्द का अर्थ व्याप्यव्यापकरूप सम्बन्ध माना है।[3] 'अभिनवभारती'[4] में अभिनवगुप्त ने श्रीशङ्कुक के मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि रति आदि स्थायीभावों की वास्तविक स्थिति वस्तुतः अनुकार्य अर्थात् रामादि पात्रों में होती है। नट उसका अनुकरणमात्र करता है किन्तु प्रेक्षक रूपी सहृदय सामाजिक विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारीभावरूपी लिङ्गों के आधार पर नट में इसका अनुमान करके हर्ष विभोर होकर आनन्दादि की प्राप्ति करता है। शङ्कुक के अनुसार अभ्यासवशात् अनुकर्त्ता या नट अनुकार्यगत भावों का इस प्रकार कुशल प्रदर्शन करता है जिससे सामाजिक उन कृत्रिम व अनुकरणरूप भावों को सत्य मानकर अनुकर्त्ता में रस का अनुमान करता है। काव्यशिक्षाभ्यासादि के कारण विभाव आदि का तो अनुकरण सम्भव है परन्तु स्थायीभाव का अनुकरण असम्भव है। स्थायीभाव का तो मात्र अनुमान ही किया जा सकता है। स्थायीभाव की यह अर्जित अवस्था मात्र अनुकरण से प्राप्य नहीं है।[5] इसी प्रकार 'ध्वन्यालोकलोचन',[6] काव्यप्रकाश[7], भक्तिरसार्णव[8] और काव्यप्रकाश की टीका 'बालबोधनी'[9] में उद्धृत शङ्कुक के मत का निर्गलितार्थ यह है कि कृत्रिम विभावादि जिनकी सत्य प्रतीति होती हैं यहीं रस के गमक या लिङ्ग होते हैं। इन विभावादि एवं रस के मध्य गम्यगमकभाव सम्बन्ध होता है। इन विभावादि रूप लिङ्ग द्वारा सामाजिक अनुकर्त्ता द्वारा अनुक्रियमाण व उसमें स्थित अनुकृत रत्यादि रूप रस की अनुमिति करके आनन्दानुभूति को प्राप्त करता है। शङ्कुकानुसार विभावादि के द्वारा अनुमाप्यानुमापक सम्बन्ध से रस की अनुमिति होती है। अतः शङ्कुक के विचार में रस अनुमान का विषय है। अनुकरण की चतुराई से इसे अनुमान का विषय माना गया हैं। इस अनुमित स्थिति में विशेष सौन्दर्य होता है जो कि सामान्य अनुभूति और अनुमान से सर्वथा भिन्न होता है। अतः प्रेक्षक की रसानुभूति अनुमानाश्रित है।[10]

श्रीशङ्कुक के बाद काव्य के क्षेत्र में अनुमितिवाद के सिद्धान्त के सबल समर्थक के रूप में महिमभट्ट का नाम आता है। ध्वनि-सिद्धान्त के खण्डन हेतु रचे गए इनके ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' में काव्यरस की अनुमितिपरक व्याख्या अभूतपूर्व रूप से की गई है। श्रीशङ्कुक के विवेचन में जो कमी रह गई थी उसे पूर्ण करते हुए महिमभट्ट ने अभिनवगुप्त द्वारा उद्भावित विप्रतिपत्तियों का भी यथावसर

निराकरण किया।

व्यक्तिविवेक के प्रथम विमर्श में ध्वनि के लक्षण पर आक्षेप है। ध्वनिलक्षण के खण्डन के साथ शब्द-व्यवहार की अनुमानरूपता प्रदर्शित की गई है। आनन्दवर्धनकृत ध्वनि के लक्षण में दस प्रकार के दोषों की उद्भावना करते हुए ध्वनि का शुद्ध लक्षण देकर उसकी अनु॰ परक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस विमर्श के अन्त में वक्रोक्ति का अन्तर्भाव भी अनुमान में प्रदर्शित किया गया है। द्वितीय विमर्श में मुख्यतः काव्यदोषों का विवेचन है। ग्रन्थ के तृतीय विमर्श में महिमभट्ट ने ध्वनि के अनुमान में अन्तर्भाव का निरूपण विविध उदाहरणों के माध्यम से किया है। आनन्दवर्धन द्वारा ध्वन्यालोक में उदाहृत ध्वनि के चालीस उदाहरणों में अनुमिति की प्रक्रिया का दिग्दर्शन महिमभट्ट ने विधिपूर्वक किया है। विभावादि के साधारणीकरण से होने वाली रसानुभूति की व्याख्या भी अनुमितिपरक प्रस्तुत किया गया है।

रसानुमितिवाद के विपक्ष में जो भी तर्क सम्भव हो सकते थे उन सभी का अत्यन्त युक्तिपूर्वक खण्डन 'व्यक्तिविवेक' में उपलब्ध होता है। सम्पूर्ण शाब्द व्यवहार में साध्यसाधन भाव सम्बन्ध स्वीकार करने पर ही रस की अनुमेयता सिद्ध हो सकती है। साध्यसाधन भाव शब्दार्थ के बिना भाव-सम्बन्ध पर आधारित है। इसमें शब्द साधन होते हैं अर्थ उनके साध्य। शब्द अपने द्वारा अविनाभाव से सम्बद्ध अर्थ का वाचक होता है। वाच्यार्थ और अनुमेयार्थ भेद से यह शब्द दो प्रकार का होता है। इनमें शब्द का अभिधा वृत्ति द्वारा गम्य अर्थ या विषय वाच्यार्थ रूप में परिगणित किया जाता है। इस वाच्य द्वारा अनुमित अर्थान्तर अनुमेयार्थ होता है। इस प्रकार अनुमेय अर्थ का प्रत्यायक कोई शब्द नहीं होता अपितु अर्थ ही इसका अनुमापक होता है। वाक्यार्थ सदा अनुमेय ही होता है क्योंकि वाच्य तो पद का ही अर्थ होता है। वस्तु, अलंकार और रसादि रूप से यह अनुमेय अर्थ त्रिविध होता है। इनमें रसादि रूप अर्थ तो केवल अनुमेय ही होता है।

इस प्रकार अनुमितिवाद वाच्य को रसानुमिति का साधन मानता है। अतः साधन और साध्यरूप सम्बन्ध के कारण वाच्य और अनुमेय की प्रतीति एक ही समय में भिन्न-भिन्न रूप में होना सम्भव नहीं है। वाच्य और रस के मध्य पूर्वापर भाव के स्वीकार करने पर भी पूर्वासिद्ध होने के कारण लिङ्ग-लिङ्गीभाव मानना ही उचित प्रतीत होता है। अतः काव्यार्थरूप अनुमेय रस की प्रतीति वाच्य से क्रमशः होती है, कभी भी सहभाव से नहीं होती। रसादि स्थल में वाच्य और अनुमेय की एक साथ प्रतीति भ्रान्ति ही है। इसीलिए विभावादि की प्रतीति और अविनाभावी रसादि की प्रतीति में कार्यकारणभाव की उत्पत्ति का क्रम अवश्यम्भावी है। रस को अलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वाच्यार्थ और रस की प्रतीतियों के बीच क्रम अवश्य होता है अर्थात् पहले वाच्यार्थ की प्रतीति होती है तदनन्तर ही रस की। किन्तु सूक्ष्मता के कारण इस प्रकार उनके पूर्वापर भाव की प्रतीति सुतरां वैसी नहीं हो पाती जैसी वस्तु और अलङ्कार-ध्वनियों के स्थल में होती है। प्रतीतियों का यह पूर्वापरभाव ही व्यंग्य की

अनुमेयता के लिए पर्याप्त है।[11] महिमभट्ट के मतानुसार काव्य में साधन अर्थात् हेतु के उपादान से ही साध्य की प्रतीति हो जाती है। ऐसे साधन जो कि व्याप्तिग्रहण के बिना ही साध्य की प्रतीति कराने की सामर्थ्य रखते हों, वहाँ प्रयुक्त होते हैं। इस तथ्य की पुष्टि प्राचीन विद्वानों के मतों द्वारा भी होती है कि साध्य हेतु भाव की सामर्थ्य को न समझने वाले अल्पज्ञ व्यक्ति के लिए ही व्याप्ति में दृष्टान्त अपेक्षित होता है। विद्वानों के लिए तो मात्र साध्यहेतु का कथन ही पर्याप्त होता है। दृष्टान्त के बिना भी मात्र हेतु से उसके सामर्थ्य के कारण साध्य की प्रतीति सहृदय-हृदय को स्वयमेव हो जाती है।[12] जिस रस को अनुमेय बताकर श्री शङ्कुक ने उसकी विलक्षणता प्रतिपादित की थी[13] उसे ही विस्तार प्रदान करते हुए यह सिद्ध किया कि काव्य में व्याप्तिग्राहक प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। काव्य में हेतु की सशक्त उपस्थिति से साध्य का साक्षात् बोध हो जाता है। काव्य में प्रायः लोकप्रसिद्ध हेतु ही प्रयुक्त होते हैं। उनसे ही व्याप्ति के बिना ही साध्य का अनुमान सम्यग्रूपेण किया जाता है।

महिमभट्ट द्वारा स्थापित रसानुमिति के सिद्धान्त का पश्चाद्वर्ती सभी प्रमुख काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने खण्डन किया है। इनमें काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इस मत में अनेक दोषों का प्रदर्शन कर इसका निरर्थकत्व प्रकाशित किया। अनुमितिवाद पर लगाये गए दोषों में उस पर अप्रामाण्य का आरोप मुख्य है। क्योंकि सद्हेतु की उपस्थिति अनुमान के लिए आवश्यक है, जबकी काव्य में वर्णित हेतु हेत्वाभास के अन्तर्गत आते हैं। सद्हेतु के अभाव में साध्यभाव की कल्पना प्रक्रिया का अंनुसरण मात्र है। काव्य में व्याप्ति सम्भव नहीं है तथा व्याप्ति के अभाव में ज्ञप्ति अनुमानाभास मात्र ही सिद्ध होती है न कि प्रामाण्यबोध। महिमभट्ट ने इसका खण्डन किया है उनके अनुसार काव्य में साधन अर्थात् हेतु के उपादान से ही साध्य की प्रतीति हो जाती है। ऐसे साधन जो कि व्याप्तिग्रहण के बिना ही साध्य की प्रतीति कराने की सामर्थ्य रखते हों, काव्य में प्रयुक्त होते हैं।

महिमभट्ट के अनुसार काव्य में प्रामाण्य और अप्रामाण्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। काव्यगत वर्णनों से ही पाठक को कृत्याकृत्यविवेक हो जाता है, अतः उनमें प्रत्यायक विषयवस्तुओं की परीक्षा का अवसर नहीं होता। इसलिए वहाँ हेत्वाभास का दोषारोपण उचित नहीं है। काव्य में अविद्यमान भी रत्यादिभाव से बौद्धिक तादात्म्य के कारण सामाजिक को रस की अनुभूति होती है। काव्य में प्रदर्शित भाव विशेष की प्रतीति ही काव्य का सार है। इस पर अनुमेय के वास्तविक अथवा कृत्रिम होने का विचार निरर्थक है। काव्य में हेतु चाहे वास्तविक हो या अवास्तविक दोनों ही स्थितियों में चमत्कार की प्रतीति कराने वाली अर्थ-क्रिया सम्पन्न होती ही है। अन्य स्थलों पर अनुमान तथा काव्य-विषयक अनुमान में यही भेद है।

जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने काव्य के समस्त तत्त्वों का अर्न्तभाव ध्वनि में करते हुए ध्वनि को महाविषय के रूप में स्थापित किया था उसी प्रकार महिमभट्ट ने अनुमान की महाविषयता को सिद्ध करने के लिए ध्वनि का अन्तर्भाव भी अनुमान में साधित किया है। वाच्य और प्रतीयमानार्थ में व्यङ्ग्य-

व्यञ्जक-भाव के स्थान पर लिङ्ग-लिङ्गीभाव की स्थापना से सम्पूर्ण ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव सम्भव है। अतः अनुमान महाविषय है अर्थात् उसका क्षेत्र अधिक व्यापक है। वाच्य और प्रतीयमान अर्थ के सर्वत्र लिङ्ग और लिङ्गी भाव की उपस्थिति के कारण ध्वनि-स्थलों में सर्वत्र अनुमान की सम्भावना होती ही है। जहाँ रसध्वनि नहीं है, अलङ्कार है, उसके भी गर्भ में साध्य-साधन भाव है। जहाँ ध्वनि है वहाँ अनुमान की प्रक्रिया काम करती ही है। जहाँ ध्वनि नहीं है वहाँ भी अनुमान की प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त महिमभट्ट के अनुसार लक्षणा का भी अनुमान में अन्तर्भाव होने से वहाँ भी अनुमान का सद्भाव सिद्ध होता है तथा गुण अलङ्कार से रहित स्थलों अर्थात् शास्त्र-पुराणादि में अनुमान के सद्भाव होने से उसका महाविषयत्व न केवल ध्वनि की ही अपेक्षा वरन् समस्त विषयों की अपेक्षा होता है। अतः अनुमान की महाविषयता ध्वनि से भिन्न भी पर्यायोक्ति आदि अलङ्कारों में तथा गुणीभूतव्यंग्य आदि सभी विषयों में सम्भव है।[14]

सन्दर्भ

1 संस्कृत—काव्यशास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव, लेखिका डॉ. अमरजीत कौर द्वारा प्राक्कथन में

2 एतेन शब्दसामर्थ्यमहिम्ना सोऽपि वारितः।
यमन्यः पण्डितम्मन्यः प्रपेदे कञ्चन ध्वनिम्।
विधेर्निषेधावगतिर्विधिबुद्धिर्निषेधतः।
यथा- भम धम्मिअ वीसत्थो, मां स्म पान्थ गृहं विश।
मानान्तरपरिच्छेद्यवस्तुरूपोपदेशिनाम्।
शब्दानामेव सामर्थ्यं तत्र तत्र तथा तथा।।
अथ वा नेदृशी चर्चा कविभिः सह शोभते।
विद्वांसोऽपि विमुह्यन्ति वाक्यार्थगहनेऽध्वनि।।
तदलमनया गोष्ठ्या विद्वज्जनोचितया चिरं
परमगहनस्तर्कज्ञानामभूमिरयं नयः।
प्रकृतमधुना तस्माद् ब्रूमो न भात्यनुमानत-
स्तनुरपि सतामर्थापत्तेर्विशेष इति स्थितम्।।
- न्यायमञ्जरी, प्रथम भाग, सम्पादक डॉ. किशोर नाथ झा, हिन्दी अनुवाद- पं. आनन्द झा, प्रथम संस्करण 2001 ई., पृ. 113

3 श्रीशङ्कुकस्तु विभावादिभिः सह स्थायिनः संयोगात् व्याप्यव्यापकरूपात्सम्बन्धाद्रसस्य निष्पत्तिरनुमितिरित्यर्थः। - रसचन्द्रिका, पृ. 44

4 हेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैरनुभावात्मभिः, सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैः अनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः। अनुकरणत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः। विभावा हि काव्यबलानुसन्धेयाः। अनुभावाः शिक्षातः। व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभवार्जनबलात्। स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेयः। अत एव स्थायिपदं सूत्रे भिन्नविभक्तमपि नोक्तम्। तेन 'रतिरनुक्रियमाणा शृङ्गारः' इति। तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं चायुक्तम्। अर्थक्रियापि मिथ्याज्ञान-दृष्टा-

''मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।

मिथ्याज्ञानविशेषोऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति।।'' इति।।

न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्तिः। नाप्ययमेव राम इति। न चाप्ययं न सुखीति। नापि रामः स्याद्वा न वायमिति। नापि तत्सदृश इति। किन्तु सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षण चित्रतुरगादिन्यायेन यः सुखी रामः असावयमिति प्रतीतिरस्तीति। तदाह-

''प्रतिभाति न सन्देहो, न तत्त्वं, न विपर्ययः।

धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि।।

विरुद्धबुद्धिसंभेदाद् अविवेचितसम्प्लवः।

युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवःकया।'

- अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र, प्रथम खण्ड, पृ. 272-73 (बड़ौदा)

5 रससिद्धान्त की दार्शनिक मीमांसा, लेखिका डॉ. कानन शर्मा, पृ. 113

6 ध्वन्यालोकलोचन, द्वितीय उद्योत, 4 की वृत्ति

7 राम एवायम् अयमेव राम इति, न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद् वा न वाऽयमिति .... चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः। - काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास

8 भक्तिरसार्णवः- सम्पा. श्री हरिहरानन्द सरस्वती, पृ. 59

9 अन्यो योऽनुमीयमानो वह्न्यादिरूपो लौकिकविषयस्तस्माद्विलक्षणो विभिन्नः। ननु रामनिष्ठस्य रत्यादेर्नटेऽसत्त्वात्कथं नटेऽनुमानमत आह स्थायित्वेनेति .... साध्यमाह इत्यादिर्भाव इति।

- काव्यप्रकाश, बालबोधनी टीका, झलकीकर वामन, पृ. 90

10 पी.वी.काणे, संस्कृत-काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ. 455

11 रससिद्धान्त की दार्शनिक मीमांसा, लेखिका- डॉ. कानन शर्मा, पृ. 118

12 अथ यदि सर्व एव वाक्यार्थः साध्यसाधनभावगर्भ इत्युच्यते। तद्यथा साध्यसाधनयोस्तत्र नियमेनोपादानं तथा दृष्टान्तस्यापि स्यात्। तस्यापि व्याप्तिसाधनप्रमाणविषयतयावश्यापेक्षणीयत्वात्। प्रसिद्धसामर्थ्यस्य साधनस्योपादानादेव तदपेक्षया प्रतिक्षेपात्। - व्यक्तिविवेक, पृ. 64-65

13 अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणो रसः।

- काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास

14 रससिद्धान्त की दार्शनिक मीमांसा, पृ.- 125

❑❑

BOOK REVIEW

I

Book : The *Vyākaraṇamahābhaṣyam*, with *Vidyānidhi* Hindi Commentary; **authored by :** Prof. Bhim Singh Vedalankara, Kurukshetra : *Vidyānidhi-Śodha-Saṃsthāna*, 1839-A/8, Sheela Colony, Amin road, 2006; Vol. I, Part-I (I.1.1-5) ; pp.xxxv+568; **Price :** Rs. 1500=00; Part-2 (I.1.6-9); 2006, pp.ix+569-1400; **Price :** 2,000.00.

One cannot fathom the depth of Pāṇini's *Aṣṭādhyāyī* without going through Patañjali's *Mahābhāṣya*, which is in itself not an easy task. There are two famous Sanskrit Commentaries on Patañjali's *Mahābhāṣya* viz. Kaiyaṭa's *Mahābhāṣyapradīpa* and Nāgeśabhaṭṭa's *Mahābhāṣyapradīpoddyota;* still, it remains difficult for the students of Pāṇinian grammar to comprehend the entire purport of Patañjali and a need has long been left for its comprehensive and lucid elucidation with all the salient points adduced by Kaiyaṭa and Nāgeśabhaṭṭa. As a result, we have Pt. K.V. Abhyankar's translation of the complete *Mahābhāṣya* in Marāthi and Prof. S.D.Joshi's exposition of some of its parts in English. In Hindi, we come across Pt. Yudhisthira Mimāṃsaka's commentary on the first two chapters and Pt. Cārudeva Śāstri's gloss on the first *Navāhnika*. Some such glosses as the ones by Dr. Ved Prakāsh, Dr. Avanīndra Kumar, etc. confine themselves only to the first two or three *Āhnikas* and cater only to the needs of the common students. An exhaustive exposition of Patañjali's *Mahābhāṣya* has thus been a long desideratum. Fortunately Prof. Bhim Singh Vedalaṅkāra (Department of Sanskrit, Pali & Prakrit, Kurukshetra university, Kurukshetra, Haryana), son of a great Vaiyākaraṇa Pt. Vidyānidhi and himself a devout scholar of Pātañjala *Mahābhāṣya* who has such remarkable publications to his credit as *Pātañjala-Mahābhāṣya meṃ Pratyākhyāta Sūtra : Eka Samīkṣātmaka Adhyayana* (Kurukshetra : Nirmal Book Agency, 1987), *Pātañjala Mahābhāṣya meṃ Apūrva Kalpanāeṃ* (Delhi : Parimal Publications, 1988), *Vyākaraṇaśāstrīya-lokanyāyaratnākara* (Delhi : Penman Publishers, 2001), *Samskṛtavyākaraṇadarśana* (Kurukshetra : Vidyānidhi-Śodha-Samsthāna, 2004) and *Samskṛta-Panjabi-Śabdkoṣa* (Patiala: Punjabi University, 2002; edited) has embarked upon such an exposition of the *Mahābhāṣya*

in eight volumes, of which volume I in two parts has been published and is the subject of the present review. When completed, it will indeed be a great service to the scholars and the students of Patañjali's *Mahābhāṣya.*

Volume I in two parts has some characteristic features of its own :

1. For the sake of easy reference, the text of the *Mahābhāṣya* has been divided into paragraphs, which are enumerated.
2. The number on the right side of a *Sūtra* indicates the number in the *Aṣṭādhyāyī,* where as the number on the left side shows the number of the *sūtra* explained in the *Mahābhāṣya.*
3. Pāṇini's *sūtras* left out and not commented on by Patañjali have also been explained with apt examples in the foot notes.
4. For the sake of convenience in study, volume I, parts 1-2 contain four indices; the first offers a list of the *sūtras* and the *Vārttikas* (Part-2, pp. 1389-1399), and the fourth furnishes an alphabetical list of the *Ślokavārttikas* (Part-2, p.1400). In addition to this, the subject matter dealt within the *Āhnikas* has also been indicated briefly.
5. The commentary first gives a general gloss of the *Mahābhāṣya* text and then offers its critical elucidation with all important points on the subject in Kaiyaṭa's *Mahābhāṣyapradīpa* and Nāgeśabhaṭṭa's *Mahābhāṣyapradīpoddyota* as well as the commentator's own critical remarks. It, thus, caters to the needs of both a general reader and a scholar of the *Mahābhāṣya.*

Prof. Singh has thus tried to make his Hindi commentary on Patañjali's *Mahābhāṣya* as authentic and useful as possible. Commendable in all respects, it may be confidently recommended to all readers of the *Mahābhāṣya.* The commentator deserves our congratulations for the *yeoman*'s service he has rendered to the students of the *Mahābhāṣya.*

Both of the parts of Volume I are excellently printed and nicely got up, though a bit hightly priced.

Maan Singh

II

पुस्तक : अभिराजयशोभूषणम् ; लेखक : अभिराज राजेन्द्र मिश्र ; प्रकाशक : वैजयन्तप्रकाशन, 8, बाघम्बरीमार्ग, भरद्वाजपुरम्, प्रयाग ; संस्करण : प्रथम, जुलाई 2006 ई. ; मूल्य : पाँच सौ रूपये ; पृष्ठ : 336

अर्वाचीन संस्कृत-साहित्य में अपनी बहुआयामी रचनाधर्मिता, निर्विवाद वैदुष्य तथा समन्वयवादिता से आचार्यत्व की महनीय पदवी पर प्रतिष्ठित 'अभिराज राजेन्द्र मिश्र' का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'अभिराजयशोभूषणम्' दिग्भ्रान्त रचनाकारों, समीक्षकों एवं शास्त्र-अध्येताओं को नव्यालोक प्रदान करता है। 'अभिराजयशोभूषणम्' पाँच उन्मेषों में विभक्त है।

प्रथम 'परिचयोन्मेष' में काव्य-परिचय के उद्देश्य से काव्यप्रशंसा, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यलक्षण और काव्यविभाजन पर विमर्श है। द्वितीय 'शरीरतत्त्वोन्मेष' में शब्दार्थ, शब्दशक्ति, वृत्ति, रीति, गुण और अलंकार-सन्दर्भ को विवेचित किया गया है। तृतीय 'आत्मतत्त्वोन्मेष' में काव्यात्ममीमांसा के अन्तर्गत रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और औचित्य के काव्यात्मत्व पर विचार के साथ ही प्रतीयमानार्थ की काव्यात्म के रूप में स्वीकृति पर विचार है। चतुर्थ 'निर्मितितत्त्वोन्मेष' में गद्य, पद्य तथा मिश्र-काव्य, दृश्य-काव्य, श्रव्य-काव्य पर विमर्श के साथ ही उपन्यास, एकांकी, लहरी-काव्य आदि नवीन विधाओं का युक्ति-युक्त लक्षण किया गया है। पञ्चम 'प्रकीर्णतत्त्वोन्मेष' में आद्यन्त ग्रन्थकार का मौलिक चिन्तन परिलक्षित होता है। इसमें गीति-प्रकरण में गजल, छन्दोमुक्त काव्य, लोकगीत-प्रकरण में कजरी, नत्तक (नकटा), स्कन्धहारीय (कँहरवा), चैत्रक (चैता), सूतगृहगीत (सोहर), प्रचरण (पचरा) आदि का लक्षण तथा स्वरचनाओं से उनके उदाहरण उद्धृत हैं।

यह सत्य है कि संस्कृत-जगत् में साहित्य-शास्त्रीय चिन्तन की धारा पण्डितराज जगन्नाथ (17 शती ई.) के पश्चात् भी निर्बाध गति से प्रवाहमान रही। उनके पश्चाद्वर्ती आचार्यों का योगदान मौलिकता की दृष्टि से अत्यल्प होते हुए भी प्रवाह की अविच्छिन्नता की दृष्टि से उल्लेखनीय है। प्रायः इन सभी ने पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणों और उदाहरणों को ही विशद और सरलतर रूप में प्रस्तुत किया।

विगत कुछ दशकों में काव्यशास्त्र के कुछ अन्य ग्रन्थ भी प्रकाश में आए परन्तु काव्यशास्त्रीय विषयों के सांगोपांग विवेचन और काव्यशास्त्रीय नवीन विधाओं और प्रतिमानों को सरलतर भाषा में विवेचित करने वाले ग्रन्थ की आवश्यकता की पूर्ति करते हुए अधुनातन संस्कृत-साहित्य की प्रवाहमान सर्जनात्मक विविधता को नियामक शास्त्रीय आधार प्रदान करने वाला 'अभिराजयशोभूषणम्' काव्यशास्त्र के नव्यतम प्रयासों में विशिष्ट पदवी का अधिकारी है। ग्रन्थ- अभिधान की दृष्टि से मिश्र जी ने आचार्य विद्यानाथ की 'यशोभूषण'- परम्परा का निर्वाह किया है। शैलीगत वैशिष्ट्य की दृष्टि से कारिका और उसकी गद्यवृत्ति के द्वारा पहले पूर्वाचार्यों के मत को उपस्थित कर तत्पश्चात् उन सभी की तर्कसंगत समीक्षा के उपरान्त स्वमत की स्थापना करना उनके समन्वयवादी दृष्टिकोण की ही परिपुष्ट अभिव्यक्ति है। ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने स्वयं को काव्यदर्शन के 'शाश्वततावादी सिद्धान्त' का पक्षधर स्वीकार किया है। परम्परा से सर्वथा विद्रोह

उनको अभीष्ट नहीं है। काव्यपरम्परानुसार जो शाश्वत सत्य हैं वही उन्हें रुचिकर हैं परन्तु अपेक्षित नवीनता के प्रति दुराग्रह से भी इनकी लेखनी मुक्त है। परन्तु नवीनता के बाज से पाश्चात्य जगत् से आयातित 'आधुनिकता' और उत्तर 'आधुनिकतावाद' की आड़ में नूतनता का महोन्माद इन्हें स्वीकार नहीं। नव विधाओं के नियामक लक्षणों तथा उनके स्वोपज्ञ लक्ष्यों का सन्निवेश उनके समन्वयात्मक लेखन में परिलक्षित होता है। पूर्वाचार्यों के मतोल्लेख के साथ ही समकालीन आचार्यों - राधावल्लभ त्रिपाठी, शिवजी उपाध्याय, ब्रह्मानन्द शर्मा, रेवाप्रसाद द्विवेदी, रहसबिहारी द्विवेदी के मतों की भी यथास्थान सप्रमाण, सतर्क समीक्षा इस ग्रन्थ को निखिल काव्यशास्त्र- परम्परा के युगपद् बोध का आकर सिद्ध करती है, जिससे इन सभी मतों का तुलनात्मक अध्ययन भी सुकर हो जाता है। ग्रन्थ में विषयानुक्रमणिका का अभाव है, यद्यपि 'नान्दीवाक्' के माध्यम से लेखक द्वारा ग्रन्थ में विवेचित विषयों की रूपरेखा स्पष्ट की गई है तथापि विषयों का सूचीबद्ध-स्वरूप पाठकीय सौकर्य की दृष्टि से अधिक उपयुक्त होता। ग्रन्थकार द्वारा सम्पूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी भाषानुवाद के साथ प्रकाशन अल्पज्ञ विद्यार्थियों के लिए इसकी सुग्राह्यता एवं उपयोगिता का वर्धक है। निष्कर्षतः अभिनव काव्यशास्त्र में प्रवाहमान विषय तथा विधा-नावीन्य के विस्तार को निर्भ्रान्त, सुस्पष्ट, तर्कसंगत रूप से उपन्यस्त करने वाला यह ग्रन्थ भविष्य में नि:संदेह काव्यशास्त्र-जिज्ञासुओं के लिए प्रामाण्य सिद्ध होगा।

अपराजिता मिश्रा

III

Book : श्रीउदयन-ग्रन्थावलिः (Vol. 1-3, Parts 1-4) ; **Authored by** : उदयनाचार्य; **Edited and published by** : Dr. Kishorenath Jha (Ex. Reader G.N.Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeeth, Allahabad), Vill. Bittho, Po. Sarisab Pahi, Dist Madhuvani – 847424 (Bihar); **Ist Edition :** 2008 (Ist Vol. Parts 1-2), 2009 (2nd Vol. Part-3), 2009 (3rd Vol. Part-4); **Pages :** 64+268, 19+62, 9+10 (Ist Vol.), 83+374 (2nd Vol.), 8+483 (3rd Vol.); **Price :** not printed in the books I consulted.

The title which is being reviewed here is the 1st, 2nd and 3rd volumes of **श्रीउदयन-ग्रन्थावलि** divided into four parts embodying four of his famous works : **आत्मतत्त्वविवेक** (Ist Vol. Part 1), **न्यायपरिशिष्ट** (Ist Vol. Part-2), **लक्षणमाला, न्यायकुसुमाञ्जलि** (2nd vol. Part 3, 3rd Vol. Part 4), The volumes are published with the financial assistance of Śrīvallabha vidyāpitha śriviṭṭhaleśa prabhucharan, A. H. Trust, Vaibhav Co-operative society, Pune Bangalore Road, Kolhapur, Maharashtra - 416008 and printed at Academy Press, Daraganj, Allahabad - 211 006. However, the burden of editing the rare compilation was borne by no other than Dr. Kishorenath Jha who has almost dedicated his life for this sort of work.

In different texts of न्यायदर्शन, वाचस्पति मिश्र (the author of तात्पर्य-टीका) is designated as तात्पर्याचार्य and the present author उदयनाचार्य is generally known as only आचार्य. The author has two व्याख्याग्रन्थ-s, two लक्षणग्रन्थ-s and two प्रकरणग्रन्थ-s to his credit. The commentaries of सूत्र-s embodied in the fifth chapter of न्याय-दर्शन are popularly known as *न्यायपरिशिष्ट* or *प्रबोधसिद्धि.* Similarly, *परिशुद्धि* the commentary on *तात्पर्यटीका* is also famous as *न्यायनिबन्ध* and *किरणावली* is the name of the commentary of *प्रशस्तपादभाष्य* (i.e. पदार्थधर्मसंग्रह). The definition of sixteen पदार्थ-s of न्यायदर्शन are available in *लक्षणमाला* and the definition of seven पदार्थ-s of वैशेषिक-दर्शन are available in *लक्षणावली.* The nature of soul as acceptable to *न्यायदर्शन* has been discussed in *आत्मतत्त्वविवेक* and in *न्यायकुसुमाञ्जलि,* the ईश्वर has been established. *न्यायकुसुमाञ्जलि* is available in two forms : One contains only कारिका-s on which the first commentary was written by हरिदास भट्टाचार्य followed by many sub-commentaries and the other one is available with स्वोपज्ञव्याख्या in the कारिका-form. In fact, this is the original *कुसुमाञ्जलि.* The former one with the commentary of हरिदास भट्टाचार्य is the abridged form of the other.

आचार्य उदयन is considered as a brightest star in the galaxy of Indian philosophers. In the conclusion of *आत्मतत्त्वविवेक* he says that he has destroyed the fig in the form of the conceptual views raised by the opponents on the लोक-व्यवहार taught by न्यायशास्त्र and *आगम (वेद)* . Thus, he has widen the way of liberation acceptable to न्यायशास्त्र :

बहुतरपरतन्त्रप्रान्तरध्वान्तभीते–
स्तिमितपथिकरक्षासार्थवाहेन यत्नात्।
तदिदमुदयनेन न्यायलोकागमानां
व्यतिहतिमवधूय व्यञ्जितं वर्त्म मुक्तेः।।

As we all are aware, our ancient scholars never bothered to write their autobiography neither in their own works nor in any other pretext. In fact, they only believed in the solidity of their contributions. आचार्य उदयन is not an exception to it. Therefore, for his life-sketch, we have to depend on the legends. In the first quarter of Twentieth century, महामहोपाध्याय परमेश्वर झा says in his *मिथिलातत्त्वविमर्श* (पूर्वार्द्ध, p.106) that आचार्य उदयन was born in a village named Kariyan. The village is still famous near Kamtaul Railway station in Darbhanga District where his family mebers are

still living and they also bear the surname आचार्य. On the basis of this, in his History of *Navya Nyāya* in Mithilā (P. 5), Prof. दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य also accepts this place as the birth place of आचार्य उदयन.

The followers of other legends believe that उदयन was born in Bengal in a वारेन्द्र-family and he was famous as उदयन भादुरी. However, this view is not correct, because, the Bārendra-family came in to existence only in 12th century when the Bengal-king वल्लाल सेन has classified the ब्राह्मणs in Bengal. Therefore, it is not possible that Udayana whose time is accepted as 11th century, would have been born there. Even some scholars believe that Udayana was born in 10th century. As they say :

तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्।।

According to this verse, Udayana has composed his *लक्षणावली* in शकवर्ष 906. If converted, the time comes to 940 AD (i.e. 1st half of 10th century).

Udayana has refuted some of the concepts of *ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली* and *रत्नकीर्तिनिबन्धावली*. This shows that the scholarship of Udayana might have come into light in the later half of 11th century. Because, ज्ञानश्रीमित्र has refuted the views of वाचस्पति मिश्र (तात्पर्य-टीकाकार). The time of वाचस्पति मिश्र is given in *न्यायसूची-निबन्ध* as :

न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे।।

वस्वङ्कवसुवत्सर means शकाब्द 898. If converted, the year comes to 976 AD. Therefore, the time of ज्ञानश्रीमित्र must be in the later half of 10th century or the first half of 11th century AD. If we accept the time of Udayana after ज्ञानश्रीमित्र then his ideal time would be the later half of the 11th century AD. Prof. दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य also accepts this view in his History of *Navya Nyāya* in Mithilā (P. 5).

Since *आत्मतत्त्वविवेक* is published with the commentary *कल्पलता* of शङ्कर मिश्र, it will not be out of context to say a few words about the time of शङ्कर मिश्र also. This famous philosopher was born in the village Sarisab pahi in 15th century AD. It is worth-noting that Dr. K. N. Jha, the Editor of this volume also belongs to village neary by situated in Madhuvani District of Bihar near God *Siddheśvara* and the

goddess *Siddheśvarī*. The specific features of this commentary is, it absorbs a long tradition of around 500 years starting from the important work : ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली.

I. आत्मतत्त्वविवेक (with शङ्करमिश्र's commentary कल्पलता)

आत्मतत्वविवेक, the first volume of the collection is devided into four sections : 1. क्षणभङ्गवाद, 2. बाह्यार्थभङ्गवाद, 3. गुण-गुणी अभेदवाद and 4. अनुपलम्भवाद. In these four sections, the following issues have been refuted with the arguments and evidences. Here the पूर्वपक्षs, raisd by the main opponents Buddhists with regard to the refutation of आत्मा and the establishment of नैरात्म्य, have been refuted by आचार्य उदयन and the concept of आत्मतत्त्व has been established.

Equal number of appendices (परिशिष्ट-s) are added in the end of the book : परिशिष्ट -1 contains the आचार्य-s, सम्प्रदाय-s, ग्रन्थ-s quoted in the book. परिशिष्ट -2 contains the quotations quoted with original references and the परिशिष्ट - 3 contains the matter where उदयनाचार्य refutes the viws of ज्ञानश्रीमित्र by slightly changing his statements here and there. The परिशिष्ट - 4 contains the list of the sayings used by उदयनाचार्य.

In the first chapter, the क्षणभङ्गवाद and the temporaryness of पदार्थs have been refuted. अपोहवाद-अतद्व्यावृत्तत्व propagated by बौद्धाचार्य ज्ञानश्रीमित्र, the बाह्याकारवाद accepted by सौत्रान्तिक, the बाह्यस्वलक्षणवाद accepted by वैभाषिक, the पिण्डैक्यवाद of आचार्य धर्मकीर्ति and the arguments of Buddhists against जाति have been refuted here by आचार्य उदयन through strong evidences.

Similarly, in the second chapter, the identical relationship between the knowledge (ज्ञान) and the knowable (ज्ञेय) as accepted by बौद्धाचार्य of योगाचार-school, have been refuted alongwith चित्रज्ञानवाद and the शून्यवाद of माध्यमिक-school. On the other hand, Udayana has re-established the अवयवी acceptable to नैयायिक-s with arguments and he has supported the concept of परमाणु. In addition to that, in this chapter he has refuted स्वतःप्रामाण्य type of knowledge.

In the third chapter, the author has refuted the identical relationship between गुण and गुणी as accepted by बौद्धाचार्य on the basis of सहोपलम्भ नियम. He has also argued and given evidences to show the difference between them.

In the last chapter (i.e. fourth), Udyana has refuted the arguments given against आत्मसिद्धि with proper evidences. He has established the soul with the cognitions, namely, प्रत्यक्ष, अनुमान and आगम. The author intends to establish manyness of the

individual soul, who is नित्य, विभु and the locus of knowledge i.e. ज्ञानाधिकरण . Therefore, one can find here the refutation of इन्द्रिय-आत्मवाद, मन-आत्मवाद and शरीर-आत्मवाद with evidences. The establishment of the authenticity of आम्नाय, the establishment of ईश्वर as the maker of the world (जगत्), and supporting the view of liberty (अपवर्ग) in the form of दुःखात्यन्ताभाव as acceptable to the **Naiyāyikas**. In addition to that, here an attempt has been made to establish a mutual understanding among all आस्तिक-दर्शन-s.

The world is full of manifold sorrows, namely, आध्यात्मिक, आधिदैविक and आधिभौतिक etc. In the process of getting rid of these sorrows once for all, he attains the knowledge of आत्मतत्त्व as a means of attaining मोक्ष. In the conext of this आत्मतत्त्व, the Indian philosophers have been divided into two groups : (i) The Buddhists accept नैरात्म्य-ज्ञान as तत्त्वज्ञान.They feel that this can provide निर्वाण (मोक्ष) i.e. the permanent relief of sorrows (आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति). (ii) On the other hand, the नैयायिक-s, who believe in Vedic tradition, go for आत्मतत्त्वज्ञान for the same purpose. However, in both the cases, the knowledge of आत्मतत्त्व is needed in the form of निषेध्य and विधेय respectively. According to the नैयायिक-s, नैरात्म्यज्ञान cannot be considered as तत्त्वज्ञान.

In this particular text, the author has refuted the आकारवाद of सौत्रान्तिक-सम्प्रदाय. Similarly, he has refuted the स्वलक्षणवाद of वैभाषिक-सम्प्रदाय. Finally, he has refuted the पिण्डैक्यवाद of धर्मकीर्ति.

The attainment of उत्तम-योग refers to the attainment of आत्मज्ञान after crossing the three steps, namely, श्रवण, मनन and निदिध्यासन. Through this achievement of आत्मज्ञान the false knowledge (मिथ्याज्ञान) is destroyed. With this the faults like राग, द्वेष and मोह etc. are destroyed. In the absence of these faults, प्रवृत्ति has been destroyed. In the absence of प्रवृत्ति, the cycle of birth also ceases. In the absence of birth, naturally the worldly displeasures will not exist. Thus, the आत्मज्ञान is established as the meanse to मोक्ष in the form of दुःखात्यन्ताभाव. Gautama's न्यायसूत्र- दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः (1.1.2) also implies the same thing.

Several editions of आत्मतत्त्वविवेक has been published so far. First of all' प. जयनारायण तर्कपञ्चानन and प. मदनमोहन तर्कपञ्चानन has edited this text and it was published from Calcutta in 1849. The text was again published from नवद्वीप in 1900. The third edition was again published from Calcutta in 1901. The Navadvipa edn. included रघुनाथ शिरोमणि's दीधिति and गदाधर's दीधिति व्याख्या and मथुरानाथ's रहस्य व्याख्या as well.

Pt. Shri Vinayanand Jha has given this in सारस्वत सुषमा published from मिथिला. However, the Editor Dr. K. N. Jha claims in his Introduction that he could not trace those editions though he has tried for this.

In the first half of ventieth century *आत्मतत्त्वविवेक* was published with many commentatries. It has been published under the editorship of महामहोपाध्याय विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी and महामहोपाध्याय लक्ष्मणशास्त्री द्रविड़ from Asiatic Society, Calcutta with four commentaries which includes the *कल्पलता* of शङ्कर मिश्र, the *प्रकाशिका* of भगीरथ ठक्कुर, *दीधिति* of रघुनाथ भट्टाचार्य and the रहस्य-व्याख्या of मथुरानाथ तर्काचार्य.

Out of these, the last commentary *रहस्य* is available partially and it contains only the first portion. The rest of the commentaries are available in complete form. The second edition of the above book was published in 1986 and it is available today. Just after the first edition, the book was re-edited by पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री along with शंकर मिश्र's *कल्पलता,* रघुनाथ शिरोमणि's *दीधिति* and श्रीराम तर्कालंकार's *दीधिति-टिप्पणी* and published from चौखम्बा संस्कृत सीरिज with the order of महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज. However, it could be published only upto the first half of बाह्यार्थभंगवाद, since the publication of later part was affected for some unknown reasons.

Again in 1940, it was published from चौखम्बा संस्कृत सीरिज with नारायणाचार्य's commentary which is edited by ढुण्ढिराज शास्त्री, the disciple of वामाचरणभट्टाचार्य. In its परिशिष्ट, रघुनाथ शिरोमणि's *दीधिति* and गदाधर भट्टाचार्य's *दीधितिव्याख्या* are also published. Later केदारनाथ त्रिपाठी has translated it into Hindi and it was published in 1983.

The क्षणभङ्गवाद and the initial part of बाह्यार्थ भङ्गवाद, have been translated into Bengali with सुबोध-व्याख्या by दीननाथ त्रिपाठी and it is published from Calcutta Sanskrit College. Though it is said that he has translated the complete text, the rest of the portion is not yet found published.

II. न्यायपरिशिष्ट :

From the colophone of this text, it is clear that this परिशिष्ट is also otherwise known as प्रबोधसिद्धि or बोधसिद्धि. Prof. Anantlal Thakur is of the opinion that this बोधसिद्धि must be the commentary of complete न्यायसूत्र-पञ्चाध्यायी and not just the available commentary on the fifth chapter. He feels that the first four chapters must have been destroyed for some reasons and now only the commentary of the fifth chapter is available to us (vide the Introduction to लक्षणावली, p. 2, मिथिला संस्कृत-शोध-संस्थान, दरभंगा Edition). However, others are of the opinion that Udayana has

written his commentary only on the fifth chapter, seeing the toughness of its topics. such as जाति and निग्रहस्थान etc. Thus, the title बोधसिद्धि is also well justified. In fact, *न्यायनिबन्ध* or *तात्पर्यपरिशुद्धि* i.e. the commentary on *तात्पर्य-ṭikā* has been already written by that time. Therefore, it might have been named as परिशिष्ट. This also indicates the toughness of the fifth chapter of न्यायदर्शन. A question arises if *परिशुद्धि* was in well existence at that time then what was the need of writing this commentary again? It indicates that the author was aware of the toughness of this chapter and, therefore, he was kind enogh to help the readers by writing a commentary on it. Through this ancient commentary the intendended meaning of न्यायसूत्र becomes clear to its readers. An important point to be noted here is that though the commentary is found with every deatail, still no complicacy of any शास्त्रार्थ is seen here i.e. neither any conceptual refutation nor any establishment are noticed in this commentary.

In the year 1938, नरेन्द्र चन्द्र (वागची) वेदान्ततीर्थ has published this *न्यायपरिशिष्ट* for the first time under a series of Calcutta Sanskrit Granthamālā (No. 22) with the commentary *प्रकाश* of वर्धमान उपाध्याय. Subsequently it was again published in 1976 from केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ (now राष्ट्रिय विद्यापीठ), तिरुपति with वामेश्वर ध्वज's commentary *पञ्जिका*.

The editor Dr. Jha has retained the text as per Calcutta edition which he has procured from Prof. Sanjit Kumar Sadhu khan. Though here the text differs from the Tirupati editions, still since the Calcutta edition matches with the commentary of वर्धमान उपाध्याय, the editor has gone for Calcutta edition, as he takes वर्धमान उपाध्याय as more authentic.

जाति and निग्रहस्थान which are the main topics of this *न्यायपरिशिष्ट* has been used in the context of जल्प and वितण्डा कथा-s. From ancient times in our tradition, we find the debate of शास्त्रs (शास्त्रार्थ-विचार) through कथा-s. Till the first half of 20th century, in South and in North it was very much in use but ofcourse it was taken in very light mood and through this the knowledge of the scholars was spreaded throughout the country. Later, the trend turned to its serious side and it took the form of a debate.

The subjects covered in this particular text, can be understood from its chapters noted below : जात्युत्तरपरिचय, साधर्म्यवैधर्म्यसमप्रकरण, उत्कर्षसमादिजातिषट्क-प्रकरण, प्राप्त्यप्राप्तियुगनद्धवाहिविकल्पोपक्रमजातिद्वयप्रकरण, युगनद्धवाहिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमजातिद्वयप्रकरण, अनुत्पत्तिसमप्रकरण, संशयसमप्रकरण, प्रकरणसमप्रकरण, अहेतुसमप्रकरण, अर्थापत्तिसमप्रकरणम्

अविशेषसमप्रकरण, उपपत्तिसमप्रकरण, उपलब्धिसमप्रकरण, अनुपलब्धिसमप्रकरण, अनित्यसमप्रकरण, नित्यसमप्रकरण, कार्यसमप्रकरण, and षट्पक्षीरूपकथाभासप्रकरण. Similarly द्वितीयाह्निक contains the प्रकरण's like निग्रहस्थान प्रभेदोद्देश, प्रतिज्ञाहानिलक्षण, प्रतिज्ञान्तरलक्षण, प्रतिज्ञाविरोधलक्षण, प्रतिज्ञासंन्यासलक्षण, हेत्वन्तरलक्षण, अर्थान्तरलक्षण, निरर्थकलक्षण, अविज्ञातार्थलक्षण, अपार्थकलक्षण, अप्राप्तकाललक्षण, न्यूनलक्षण, अधिकलक्षण, पुनरुक्तलक्षण, अननुभाषणलक्षण, अज्ञानलक्षण, अप्रतिभालक्षण, विक्षेपलक्षण, मतानुज्ञालक्षण, पर्यनुयोज्योपेक्षणलक्षण, निरनुयोज्यानुयोगलक्षण, अपसिद्धान्तलक्षण and हेत्वाभास-विचारोपसंहार.

III. लक्षणमाला

In the लक्षणमाला, आचार्य उदयन has given the definition of sixteen पदार्थ-s approved by न्यायशास्त्र. While defining the second प्रमेय, the author has given the definitions of six पदार्थ-s, namely soul etc. When there was a scope for defining the प्रमेय-s like प्रवृत्ति etc. he did not define it thinking that they are comparatively easier and needed no explanation. However, here the definition of six भावपदार्थ-s alongwith their types approved by वैशेषिकदर्शन, are given. While defining 24 गुण-s, he has not defined बुद्धि, may be to avoide repetition, because as a fifth प्रमेय, it is already defined earlier as 'अर्थप्रकाशो बुद्धिः'.

Immediately after the मङ्गलपद्य, the text deals with the definitions of some of the *Nyāya*-concepts like प्रमा, प्रमाण, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, प्रमेय, आत्म, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि and मनस् etc.

The definitions of six प्रमेय-s, namely, प्रवृत्ति etc. are not found in this text, may be due to their clarity. Two types of पदार्थलक्षण-s acceptable to वैशेषिक-s, are also given here. In addition to that, the definitions of nine द्रव्य-s, 24 गुण-s, संशय, प्रयोजनदृष्टान्त, सप्रकारसिद्धान्त, अवयव, तर्कनिर्णय, वाद जल्प-वितण्डात्मककथा, सप्रकारहेत्त्वाभास, सप्रकारछल, 24 जति-s and सप्रकारनिग्रहस्थान etc. are also given here. Here we find some मङ्गलs at the end of the text also.

The author has pointed out towards नैयायिक's अनियतपदार्थवादिता in the concluding part of the प्रमेयलक्षण : 'यद्यपि प्रमेयान्तरमस्ति तथापि एतावदेवोक्तम् अपवर्गोपयोगात्'. That means, though there are more प्रमेय-s, here only twelve are discussed, because they are needed for the attainment of अपवर्ग in न्यायशास्त्र.

The purpose behind composing this work in minimized form, must be to help the beginners who want to study the पदार्थ-s of न्यायशास्त्र in easier way. Through this abridged work *लक्षणावली*, the author has also introduced the पदार्थs of वैशेषिक - school.

In शास्त्र-s, लक्षण has been described in two ways : तटस्थलक्षण and स्वरूपलक्षण. To introduce these two types of लक्षण, भिक्षु गौरीशङ्कर says in his *लक्षणसंग्रह* : 'कादाचित्कत्वे सति व्यावर्तकत्वम् तटस्थलक्षणम्'. That means, that which is occasionally available and shows the discrimination from others, is called तटस्थलक्षण. Similarly, स्वरूपलक्षण has been defined as 'इतरानिरूप्यम् स्वरूपलक्षणम्' i.e. that which itself is the conveyer of discrimination from others is called स्वरूपलक्षण. It is otherwise described as सद्व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम्. That means : that which is the discriminator in the form of *vidhi* (through विधिमुख).

S. Subrahmanya Shastri has published it for the first time in the 19th issue of प्राच्यविद्या-अनुसन्धान-पत्रिका published from Chennai in the middle period of Twentieth century. But he has mistaken it as the work of शिवादित्य मिश्र. He has procured this manuscript from अनन्तशयन हस्तलेखागार and has edited it carefully before publishing it. The reason behind the above confusion regarding the authorship of *लक्षणमाला* is. the manuscript he has consulted, did not contain the name of the author and there is a reference to शिवादित्य मिश्र's *लक्षणमाला* in *नयनप्रसादनी* (the commentary on तत्त्वप्रकाशिका by चित्सुखमुनि) as well as in the introduction of *महाविद्या-विडम्बनम्*. However, दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य has proved it in 'मिथिला में नव्यन्याय के इतिहास' through evidences that the author of *लक्षणमाला* is non other than उदयनाचार्य. To provide internal evidences in this regard he has argued that since the मङ्गलपद्य of *लक्षणमाला* tallies with that of Udayana's *गुणकिरणावली*, the authorship of *लक्षणमाला* shouia be attributed to Udayana only. So the author of both the works must be one and the same. In this text, he has provided some external evidences also. For example, *तार्किकरक्षा-सारसंग्रह* retains many definitions from *लक्षणमाला*. While commenting on them *मल्लिनाथ* claims in his *निष्कण्टका व्याख्या* that those definitions belonged to Udayana. I will here quote only one example : in *तार्किकरक्षा-सारसंग्रह* there is a statement : 'निरुपाधिकसाध्यसंबन्धशालि लिङ्गम्'. The commentary *निष्कण्टका* contains the following remarks on it : 'उदयनसंमतिमाह - निरुपाधिकेति'. Moreover, there is a statement in the conclusion of *सारसंग्रह*, which also supports the above view :

'आलोड्य दुस्तरगभीरतरान् प्रबन्धान्
वाचस्पतेरुदयनस्य तथा परेषाम्
सारो मयात्र समगृह्यत'।

III. न्यायकुसुमाञ्जलि पूर्वार्ध and उत्तरार्ध in two volumes (with four commentaries)

Ācārya Udayana has written this particular text to establish ईश्वर. The text is divided into five स्तवकs where he has refuted the views of different schools who do not accept ईश्वर . In the first *stavaka* he has refuted the views of Cārvākas, in the second that of *Mīmāmsaks*, in the third that of *Bauddhas*, in the fourth, that of Jainas and finally in the fifth *stavaka* he has refuted the views of *sānkhyas*. In the beginning itself Ācārya has clearly stated about the subject he is going to deal :

स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः।
यदुपस्तिमसाक्त परमात्मा निरूप्यते।।

The पूर्वार्द्ध contains two of the five **stavakas** of कुसुमाञ्जलि whereas the उत्तरार्द्ध the rest three **stavakas** with four commentaries : **Āmoda** by शङ्कर मिश्र, प्रकाश by वर्धमान उपाध्याय, *makaranda* by रुचिदत्त मिश्र and **Bodhanī** by वरदराज मिश्र. The परिशिष्ट contains कारिकार्थ–सूची of the first two **stavakas** of न्यायकुसुमाञ्जलि. Of these, the first three commentaries are given at the bottom of the text, whereas the last commentary *Bodhani* is given at the end of the text. Like the other volumes the present volume also contains a detailed introduction of the editor highlighting the author and the commentators of the text.

I hope and believe that the present edition containing the complete works of Udayanācārya will be well-received by the students as well as the scholars of Nyāyadarśana.

Banamali Biswal

IV

Book : Vasiṣṭhas' contribution to Ṛgvedic Philosophy ; **Authored by :** Vinod Kumar Dixit ; **Published by :** Guru Mantra Prakashan, Gorakhpur (**Distributor :** smt. Nirmala Dixit, 71 / 2, East of Shiva Mandir, Nehru Nagar, New Colony, Deoria,, U. P.) ; **First Edition** 2007; **Pages :** 313; **Price :** Rs. 600=00

Ṛgvedasaṃhitā is a collection of *mantra-s* seen by a number of *Ṛṣi-s*. In fact, *Ṛgveda* bears the starting traits of philosophy in Indian History. Dr. Vinod Kumar Dixit, the author of the book under review, has tried to bring out a general concept of Indian Philosophy, more particularly in the vedic concept with a special reference to Vasiṣṭhas'

contribution to Ṛgvedic Philosophy. Not only Vasiṣṭha but some other members of his family also have been taken into consideration in this book along with their contributions to Ṛgvedic Philosophy. Since it is the high time now to globalize the solid and deep thinking of our vedic *Ṛṣi-s*, the author has come forward to present some relevant interpretations of *Vasiṣṭhas*' mantras tuned to bestow welfare to man-kind in the form of pleasure and peace.

The author Dr. Dixit has classified the present contribution of his research into seven chapters except the brief Introduction and the conclusion. In the 1st chapter he has identified Vasiṣṭha and his family including Śakti, Gaurīvīti, Parāśara, Vasiṣṭha and Tṛtsu-s. The 2nd chapter defines the concept of Ṛgvedic Philosophy, which incorporates the sub-headings such as '*Ṛta* its meaning and concept', 'polytheism in the *Ṛgveda* and humanisation of the Ṛgvedic gods', 'monotheism in the *Ṛgveda*' and 'the Philosophy of creation (*Ṛgveda* X.129)'. The 3rd chapter is titled as 'Ṛgvedic Philosophy and the Vasiṣṭhas' which really rejoinds the above two chapters. This shows what the Vasiṣṭhas have to say on the concept of Ṛgvedic Philosophy. The chapter has the sub-titles as under : *Ṛta* and the Vasiṣṭhas, poly-theism and the Vasiṣṭhas, mono-theism and the Vasiṣṭhas, creation and the Vasiṣṭhas, Vasiṣṭhas' influence on the various systems of Indian Philosophy.

In the 4th chapter, the author of the book has tried to establish Vasiṣṭha's link with man and religion. Here the author has tried to justify Vasiṣṭha's as religious conciliators. The 5th chapter highlights the power and influence of Vasiṣṭha's hymns. In this chapter, he has taken care of the hymns such as *Daśarājña* war, the hymn No. VII. 50, VII 55, VII 103. The 6th chapter expresses Vasiṣṭhas attitude to evil spirits. The last but not the least, the 7th chapter describes the Vasiṣṭhas, impact on Ṛgvedic culture followed by the conclusion and an exhaustive Bibliography.

Dr. Dixit has sincerely followed the norms of modern research methodology throughout the book. In the beginning he has given a complete list of abbreviation preceded by the Diacritical hints. I hope and believe that the work will receive due response from the scholarly world of Indology in general and the vedic scholars in particular.

Banamali Biswal

V

कृति : सवत्सा गौ अथवा सवत्स धेनु ; लेखक : डॉ. ए.एल.श्रीवास्तव ; प्रकाशक : सूकर शोधसंस्थान, कासगंज (उ.प्र.) ; प्रथम संस्करण : 2006 ; पृष्ठ : 42 ; चित्र : 22 ; मूल्य : रूपये 100/-

विवेच्य पुस्तक डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव की नूतन कृति है। लेखक भारतीय मूर्तिकला एवं मांगलिक प्रतीकों के मूर्धन्य विद्वान् हैं। अद्यावधि उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ एवं शोधपत्र प्रकाशित किया है।

कला-प्रतीकों तथा भारतीय संस्कृति का घनिष्ठ संबन्ध है। भारतीय संस्कृति के मर्म को समझने हेतु भारतीय कला-प्रतीकों का समुचित ज्ञान अर्जित करना आवश्यक है।

पूर्व में भारतीय कला-प्रतीकों के अध्येताओं ने विभिन्न मांगलिक प्रतीकों का गंभीर अध्ययन किया है। यद्यपि सवत्सा गौ एक महत्त्वपूर्ण मांगलिक प्रतीक है, अभी तक किसी का ध्यान इस ओर नहीं गया। इस अछूते विषय पर प्रथम बार लेखनी चलाने का श्रेय डॉ. श्रीवास्तव को है।

पुस्तक पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में विद्वान् लेखक ने भारतीय लोक-जीवन में प्रचलित मान्यताओं के आधार पर शुभ शकुनों की परम्परा का संक्षिप्त परिचय दिया है। द्वितीय अध्याय में भारतीय आर्थिक, सामाजिक व धार्मिक जीवन में गाय के महत्त्व को दर्शाते हुये गौ की तुलना माँ एवं पृथ्वी से किया है। अपनी इस स्थापना की पुष्टि हेतु उन्होंने अनेक साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्य प्रस्तुत किया है। तृतीय अध्याय में भारतीय लोकप्रचलित विश्वासों एवं परम्पराओं के आधार पर गाय की पूजा-अर्चना के महत्त्व को दर्शाया है। चतुर्थ अध्याय में प्राचीन संस्कृत एवं हिन्दी-साहित्य के आधार पर सवत्सा गौ को एक शुभ शकुन अथवा मांगलिक प्रतीक सिद्ध किया है। पंचम अध्याय में विभिन्न पुरातात्विक साक्ष्यों : चित्रकला, मृण्मूर्तिकला, मूर्तिकला आदि के आधार पर सवत्सा गौ को एक शुभ शकुन अथवा मांगलिक प्रतीक प्रमाणित किया है। तदनन्तर संदर्भ एवं पाद-टिप्पणी, संदर्भ-ग्रन्थों की सूची, चित्रसूची व 22 श्याम-श्वेत चित्र संलग्न हैं।

पुस्तक दो कारणवश उल्लेखनीय है - प्रथम : 'सवत्सा गौ' पर यह प्रथम प्रामाणिक रचना है। द्वितीय : समस्त निष्कर्ष लोकजीवन, परम्पराओं, मान्यताओं, विश्वासों, साहित्यिक एवं पुरातात्विक प्रमाणों से पुष्ट हैं।

पुस्तक की भाषा परिमार्जित, शैली प्रभावी, मुद्रण एवं साज-सज्जा रम्य तथा श्याम-श्वेत चित्र नयनाभिराम हैं। आवरण पृष्ठ पर मुद्रित तंजोउर (तामिलनाडु) से प्राप्त सर्वदेवमयी 'सवत्सा गौ' की गोकुल में बाबा नन्द द्वारा पूजा-अर्चना तथा वंशीवादक बालक कृष्ण का रंगीन चित्र मनोहर है। मुझे विश्वास है कि डॉ. श्रीवास्तव की यह नवीनतम कृति, जिसे गागर में सागर कहना उचित होगा, भारतीय संस्कृति के गम्भीर अध्येताओं, शोधकर्ताओं तथा सामान्य पाठकों के लिये समान रूप से उपयोगी सिद्ध होगी।

इस विद्वत्तापूर्ण उत्कृष्ट ग्रन्थ को प्रस्तुत करने हेतु विद्वान् लेखक, प्रकाशक, सज्जाकार तथा मुद्रक को हार्दिक बधाई।

कृष्ण कुमार

VI

पुस्तक : प्राचीन भारत के शिक्षा-मनीषी; लेखक : डॉ. रामशकल पाण्डेय; प्रकाशक : शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद; प्रथम संस्करण : 2002 ई.

कम्प्यूटर-तकनीक में दक्ष पेशेवरों की नई पीढ़ी वाला देश, दुनिया का सबसे बड़ा लोकतन्त्र, अपार सम्भावनाओं वाला विश्व उपभोक्ता बाजार, दुनिया की वृहत्तम युवा जनसंख्या वाला देश, फोर्ब्स की धनाढ्यों की सूची में सम्मिलि होते नित नए नाम, संयुक्तराष्ट्र सुरक्षा-परिषद् के दशद्वार पर दस्तक देता देश, एक ऐसा देश जिसके साथ परमाणु समझौते को अमली जामा पहनाने के लिए दुनिया का दादा भी अपने कानूनी पेंच ढीले करने को तत्पर; लेकिन इन सब सकारात्मक बिन्दुओं के बावजूद भारत की महत्ता का परम-आधार आप किसी से पूछकर देखिए। अधिकतम संभावना इसी बात की है कि गर्व, श्रद्धा अथवा दोनों से सनी वाणी में आपको जबाब मिलेगा – 'जनाब ! भारत तो विश्वगुरु है, यह सहस्राब्दियों से दिग्भ्रान्त मानवता को मार्ग दिखाते रहा है'। ऐसे में इस मान्यता की मूलाधार गौरवमयी प्राचीन भारतीय मनीषी परम्परा के लोक में प्रवाहपूर्ण एवं रोचक शैली द्वारा पर्यटन कराती डॉ. रामशकल पाण्डेय की कृति 'प्राचीन भारत के शिक्षा मनीषी' एक सुखद अनुभूति का आस्वादन कराती है।

डॉ. रामशकल पाण्डेय एक लब्धप्रतिष्ठ शिक्षाशास्त्री एवं गवेषक हैं। इस पुस्तक में उन्होंने प्रायः एक ऐतिहासिक कालानुक्रम के अनुसरण का उपक्रम करते हुए प्राचीन भारत की शिक्षा-व्यवस्था एवं शिक्षा-परम्परा का चित्र उकेरने का प्रयास किया है। इसमें प्राचीन भारत के चिन्तकों, ऋषियों, शिक्षकों, आचार्यों, कुलपतियों आदि के जीवन-परिचय के साथ-साथ ही उनके उन विचारों का विश्लेषण किया गया है, जिनका सम्बन्ध शिक्षा से है। डॉ. पाण्डेय के अनुसार "मनीषी का अर्थ है प्रज्ञा, बुद्धिमत्ता या विद्वत्ता। मनीषा में 'इनि' प्रत्यय लगाने पर मनीषी शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है प्रज्ञावान्, विद्वान्, विचारशील, चिन्तक। शिक्षा का अर्थ है सीखना, अधिगम, ज्ञानार्जन या मानसिक विकास। ज्ञानार्जन के विषय में विचार करने वाला ही शिक्षा-मनीषी है। प्राचीन भारत के ऋषि या शिक्षक गण इस दृष्टि से शिक्षा-मनीषी सिद्ध होते हैं, इसीलिए मैंने इस ग्रन्थ का नाम रखा है, 'प्राचीन भारत के शिक्षा-मनीषी'।"

पुस्तक अट्ठारह अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूची दी गई है। अध्यायों के नामकरण में काल, प्रणीत विद्या, व्यक्ति, स्थान या संस्था को आधार बनाया गया है। प्रथम अध्याय (वैदिक कालीन शिक्षा-मनीषी) में वैदिककालीन शिक्षा-पद्धति की विशेषताओं (शिक्षणविधि, अवधि, वित्तव्यवस्था, परीक्षाप्रणाली, स्त्रीशिक्षा, गुरुशिष्य-सम्बन्ध, पाठ्यचर्या आदि) पर प्रकाश डाला गया है। मनुस्मृति को स्वायंभुव मनु की शिक्षाओं का संग्रह मानते हुए उसमें निरूपित शिक्षा-व्यवस्था-विषयक विचारों को स्पष्ट किया गया है। कश्यप, वशिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य, बृहस्पति, शुक्राचार्य, भारद्वाज, अत्रि, कण्व, भृगु, च्यवन एव शौनक के जीवन एवं शैक्षणिक कर्तृत्व को भी निरूपित किया गया है। द्वितीय अध्याय में उपनिषत्-कालीन शिक्षाप्रणाली तथा तत्कालीन महान् शिक्षकों महीदास, ऐतरेय,

शांडिल्य, याज्ञवल्क्य, गार्गी, वाचक्नवी, मैत्रेयी आदि के विषय में निरूपण किया गया है। परशुराम, वाल्मीकि, द्रोणाचार्य एवं सान्दीपनि को महाकाव्यकालीन शिक्षा मनीषी बताते हुए इन्हें तृतीय अध्याय में रखा गया है। चतुर्थ अध्याय (षड्दर्शन प्रणेता शिक्षा-मनीषी) में पूर्वमीमांसा के आचार्य जैमिनी, सांख्याचार्य कपिल, योगाचार्य पतंजलि, न्यायाचार्य गौतम और वैशेषिकाचार्य कणाद के दर्शनों एवं व्यक्तित्व का परिचय दिया गया है। उत्तरमीमांसा के दो प्रमुख आचार्यों शंकर (अद्वैत) एवं रामानुज (विशिष्टाद्वैत) के विशिष्ट महत्त्व को देखते हुए इनके व्यक्तित्व एवं शिक्षाव्यवस्थाविषयक विचारों को क्रमशः सोलहवें एवं सत्रहवें अध्यायों में चित्रित किया गया है। वर्धमान महावीर एवं गौतम बुद्ध के शिक्षाव्यवस्था-सम्बन्धी विचारों को क्रमशः छठें एवं सातवें अध्याय में निरूपित किया गया है। डॉ. रामशकल पाण्डेय ने वर्धमान महावीर एवं गौतम बुद्ध, शंकराचार्य व रामानुजाचार्य के लिए चार स्वतंत्र अध्यायों की योजना की है, जो डॉ. पाण्डेय की इस मान्यता को प्रदर्शित करता है कि इन आचार्यों ने प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली को अत्यन्त गहराई से प्रभावित किया है। व्यास को ब्रह्मसूत्र, महाभारत, पुराणों आदि का रचयिता माना जाता है। षड्दर्शन-प्रणेता शिक्षा-मनीषियों वाले अध्याय में उनके विषय में प्रतिपादन किया गया है। काल, व्यक्ति एवं विद्याप्रणयन के आधार पर नियोजित किए गए उपरि चर्चित आठ अध्यायों के अतिरिक्त नव अध्यायों की योजना स्थान या संस्था को केन्द्र में रखकर की गई है। इसी क्रम में एक अन्य अध्याय-जो कि पुस्तक का अन्तिम अध्याय भी है, की योजना 'अन्य विश्वविद्यालयों के शिक्षा मनीषी' नाम से की गई है। इसमें उन सभी महत्त्वपूर्ण आचार्यों या स्थानों को रखा गया है जो पुस्तक के सत्रह पूर्ववर्त्ती अध्यायों में नहीं निरूपित किए जा सके थे किन्तु प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली, जिनके प्रभूत योगदान से भास्वर हुई है। उच्चशिक्षा का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र रहे तक्षशिला की शिक्षाव्यवस्था तथा वहाँ के आचार्यों एवं विख्यात विद्यार्थियों के विषय में सातवें अध्याय में जानकारी दी गई। तक्षशिला में संस्कृत-भाषा का आदर्श रूप प्रचलित था, जो कि इस दृष्टि से स्वाभाविक भी लगता है कि यहाँ पाणिनि जैसा उच्चकोटि का भाषाविद् व वैयाकरण हुआ। प्रसेनजित्, आत्रेय, सुश्रुत, चरक, जीवक, चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त के विषय में भी जानकारी इस अध्याय में दी गई है। काशी व श्रावस्ती की विद्या-परम्परा पर अष्टम अध्याय में प्रकाश डाला गया है। नवें एवं दसवें अध्यायों में नालन्दा एवं विक्रमशिला विश्वविद्यालयों की शिक्षा-व्यवस्था एवं शिक्षा-मनीषियों का निरूपण किया गया है। नालन्दा-विश्वविद्यालय के मेधावी विद्यार्थी एवं प्रथम श्रेणी के आचार्य रहे युवान् च्वांग (ह्वेन सांग) एवं प्रतिष्ठित विद्यार्थी तथा ग्रन्थसंग्रहकर्ता रहे ईत्सिंग सहित अन्य प्रसिद्ध आचार्यों, यथा शीलभद्र, शान्तरक्षित एवं धर्मकीर्ति आदि के विषय में नवम अध्याय में तथा विक्रमशिला विश्वविद्यालय के विद्वानों रत्नाकर शान्ति, दीपंकर श्रीज्ञान व शाक्य श्रीभद्र आदि के विषय में दशम अध्याय में प्रकाश डाला गया है। दशम अध्याय में ही विक्रमशिला में द्वारपण्डित (प्रवेश परीक्षा लेने वाला) रहे कुछ आचार्यों यथा रत्नाकर शान्ति, ज्ञानश्रीमित्र, प्रज्ञाकर मति, रत्नवज्र, नारोपा तथा वागीश्वर कीर्ति के विषय में भी प्रकाश डाला गया है। महाकवि अश्वघोष, वसुबन्धु एवं असङ्ग का परिचय गांधार के शिक्षा-मनीषी नामक ग्यारहवें अध्याय में दिया गया है। 'श्रीशैल विश्वविद्यालय के कुलपति' नामक बारहवें अध्याय में प्रसिद्ध रसायनज्ञ नागार्जुन का परिचय दिया गया है तथा बौद्ध माध्यमिक दर्शन के परमाचार्य

नागार्जुन तथा भारतीय रसायन के अधिष्ठाता नागार्जुन के एक ही व्यक्ति होने अथवा पृथक्–पृथक् व्यक्ति होने की सम्भावनाओं पर भी विचार किया गया है। 'अवन्ती की शैक्षिक परम्परा के अन्तर्गत मुंज और भोज, वराहमिहिर तथा भास्कराचार्य के बौद्धिक एवं शैक्षणिक अवदान पर दृष्टि डाली गई है। 'कश्मीर के शिक्षा–मनीषी' के रूप में कुमार जीव, गुणवर्मन्, शबर, आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त पर प्रकाश डाला गया है। पाटलिपुत्र के शिक्षक के रूप में आर्यभट्ट प्रथम के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की चर्चा की गई है। 'अन्य विश्वविद्यालयों के शिक्षा–मनीषी' संज्ञक अंतिम अध्याय में प्राचीन भारतीय शिक्षण–परम्परा में प्रतिष्ठित शिक्षाकेन्द्रों के रूप में चर्चित जगद्दला, वलभी, ओदन्तपुरी, मिथिला एवं नवद्वीप के शिक्षा–मनीषियों एवं शिक्षा–व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है।

पुस्तक की एक प्रमुख विशेषता इसकी दृष्टि एवं शैली है। डॉ. पाण्डेय ने प्राचीन ग्रन्थों, पुरातात्त्विक और ऐतिहासिक साक्ष्यों का विश्लेषण एवं निर्वचन करते हुए प्राचीन भारतीय शिक्षा–व्यवस्था के सम्भावित परिदृश्य का चित्र खींचने का प्रयास किया है। उन्होंने विभिन्न स्रोतों का पाठ–विश्लेषण एवं निर्वचन इस दृष्टि से किया है कि जिससे तत्कालीन शिक्षा–प्रणाली एवं शैक्षणिक परिदृश्य (शिक्षणविधि, शिक्षा के उद्देश्य, अवधि, पाठ्यचर्या, वित्तव्यवस्था, शैक्षिक संस्कृति, परीक्षाप्रणाली, शिक्षण–संस्थाओं का सांगठनिक व प्रशासनिक ढाँचा, गुरु–शिष्य–सम्बन्ध, दिनचर्या, अध्ययन–काल, अध्ययन एवं अध्यापन की पात्रता, शिक्षकों एवं विद्यार्थीयों की श्रेणियाँ, उत्कृष्ट शोध या बौद्धिक अवदान आदि) का प्रामाणिक अनुमान किया जा सके। ऐसा करते हुए लेखक ने शोधप्रविधि एवं तथ्यों के विश्लेषण–निर्वचन में उच्च मानदण्डों का अनुपालन किया है। यद्यपि आधुनिक विद्वानों के एक वर्ग को इस बात पर आपत्ति हो सकती है कि वैदिक एवं पौराणिक आख्यानों के जिन पात्रों–शुक्राचार्य, परशुराम, द्रोणाचार्य आदि को गैर–ऐतिहासिक (Ahistorical) माना जाता है, उनके विषय में डॉ. पाण्डेय ने संकोचरहित स्थिरता के साथ विवरण दिया है। अतः कुछ लोग इस पुस्तक के कुछ अंशों को नरेन्द्र कोहली मार्का साहित्य की कोटि में रखने की बात कर सकते हैं। इस स्थल पर ध्यातव्य है कि डॉ. पाण्डेय ने पुस्तक के किसी भी स्थल पर स्थापित एवं प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यों से विमुख होने का कोई भी प्रयास नहीं किया गया है तथा तथ्यों के उनके निर्वचनों को तटस्थ, ईमानदार लेकिन भारतीय संस्कृति की समझ से लैस मानसिकता के परिप्रेक्ष्य में समझा जाना चाहिए। इसी क्रम में शैली की रोचकता का बिन्दु भी प्रासङ्गिक हो उठता है। डॉ. पाण्डेय ने अनेक स्थलों पर आख्यान- शैली का आश्रय लिया है, जिससे कि पुस्तक साधारण जिज्ञासुओं के लिए भी रोचक बन पड़ी है। पुस्तकों को रोचक शैली में लिखने के अनेक नए विद्वान् हामी हैं। इलाहाबाद के ही प्रगतिशील विद्वान् एवं इतिहासकार प्रो. लाल बहादुर वर्मा भी इसी कोटि में आते हैं तथा उन्होंने यूरोप के इतिहास पर आख्यान शैली का अनुसरण करते हुए कुछ रोचक पुस्तकें लिखीं हैं जो सामान्य पाठकों में भी अत्यन्त लोकप्रिय हुई हैं। डॉ. पाण्डेय की समीक्ष्य पुस्तक प्रतिपादन की रोचकता के कारण लेखकों के इस रोचकतावादी आन्दोलन में एक और कड़ी मानी जा सकती है। यह पुस्तक पाठकों को न केवल भारतीय परम्परा के गौरव, ऊँचे मूल्यों, आदर्शों, एवं आचरण से परिचित कराती है, वरन् उन शाश्वत द्वन्द्वों एवं आमन्त्रणों पर भी प्रकाश डालती है जो आज के शिक्षकों के लिए भी प्रासङ्गिक हैं। विक्रमशिला के

विचारशील एवं बौद्धदर्शन के प्रकाण्ड पण्डित आचार्य रत्नाकर शान्ति ने देशभर में बौद्धधर्म का झण्डा गाड़ दिया था किन्तु विहारों मे प्रचलित भ्रष्टाचार से वे पीड़ित थे। वे तत्त्वज्ञानी थे और सदा जिज्ञासु रहते थे। आईए उनके अन्तर्द्वन्द्व पर दृष्टि डालते हैं – "मेरे कई आचार्य थे। कालरूप वज्र तो प्रश्न पूछते ही क्रोधित हो उठते थे पर जेतारि बहुत धैर्यवान् थे। उनसे मैंने दूसरे दिन पूछा था, 'आचार्यवर, जब सब वस्तुएँ धर्मशून्य हैं और उनकी शून्यता का सम्यक् परिज्ञान ही निर्वाण है, तब शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन को स्वर्णसिद्धि क्यों करनी पड़ी'? 'संघ के कल्याण के लिए' जेतारि ने कहा आगे बोले, 'शैव आचार्य से स्वर्णसिद्धि का रहस्य जानकर आए थे और नालन्दा में उस समय सद्धर्म संकट में था। उन्होंने आकर स्वर्ण बनाया और धर्म को बचाया।' 'धर्म अपने को बचाने के लिए स्वतः यथेष्ट नहीं होता। आचार्य इतना दुर्बल होता है कि उसे बचाने के लिए स्वर्ण की आवश्यकता पड़े'? जेतारि क्षण भर मेरे मुख की ओर देखते रहे, फिर मुँह पर आयी बात दबाते हुए बोले, 'यह रहस्य की बात है, आगे जानोगे।' और सचमुच आगे चलकर जाना। अच्छा होता कि न जानता। लेकिन न मालूम इस रत्नाकर शान्ति के भाग्य में जानना ही जानना क्यों बना है?" (पृष्ठ 125)

दूसरी ओर रत्नाकर शान्ति के शिष्य दीपंकर श्रीज्ञान थे। उन्हें धर्म के रहस्यों से कोई मतलब नहीं था। संघ की रक्षा में वे प्राणपण से जुटे हुए थे। बड़े व्यावहारिक थे। विक्रमशिला के आसपास के सामुदायिक जीवन में दीपंकर को कोई पूछता नहीं था, किन्तु विदेशों में वे बौद्धधर्म की पताका फैलाने को आतुर थे। (पृष्ठ 125-126)

इस प्रकार यह पुस्तक न केवल प्राचीन भारतीय शिक्षा एवं शिक्षण–परम्परा से परिचित होने की दृष्टि से उपादेय है, वरन् आज के प्रश्नों से मुठभेड़ को तैयार करने के लिए रसद भी मुहैया कराती है। शैक्षणिक गतिविधियों से जुड़े लोगों के लिए विशेषरूप से प्रेरक, प्रासङ्गिक एवं उपादेय भी हैं।

पवन कुमार

VII

ग्रन्थः – श्रीशङ्कराचार्यचरितम्; रचनाकारः हिन्दी–अनुवादकश्च – पं. शिवनारायणशास्त्री; प्रकाशकः – परिमल पब्लिकेशन्स, 27128, शक्तिनगरम्, दिल्ली–110007; प्रथम–संस्करणम् : 2003; मूल्यम् : 150.00 रुप्यकाणि

'श्रीशङ्कराचार्यचरित'मित्याख्यस्य काव्यस्य कर्त्ता श्रीराधाकृष्णशास्त्रीति पूर्वनामधेयोऽसौ संन्यासी दण्डीस्वामी निगमबोधतीर्थः 1936तमे ईस्वीये संवत्सरे हरियाणाप्रान्ते लब्धसत्ताकं भिवानीमण्डलान्तर्गतं 'लुहाटीजाटू'रित्याख्यं ग्रामं स्वजनुषाऽलंचकार। कविरसौ स्वकीयाभिः पञ्चाभिरेव रचनाभिराधुनिककाव्यजगद्विभूषयतितमाम्।

अलङ्कारशास्त्रिण आचार्यदण्डिनः लक्षणानुगतं महाकाव्यकोटिकं काव्यमिदं त्रयोदशसर्गात्मकं 625 संख्याकैः पद्यैरुपनिबद्धं सद् विश्वप्रसिद्धचरितस्य श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यस्योदात्तचरितं विषयीकरोतीति कृत्वा चरितप्रधानमिदमिति सुनिश्चितिः।

"शृङ्गारवीरशान्तानामेकोङ्गी रस इष्यते" इति लक्षणानुसारमेव महाकाव्यस्यास्याङ्गी रसो रतिस्थायीभावकः शान्तः। नायकोऽस्योदात्तगुणोपेतादिशङ्कराचार्यः। कविना निगमबोधेन महाकाव्यस्यास्य प्रारम्भः नमस्कारात्मकमङ्गलाचरणप्रतिपादनपुरस्सरं कृतः। तद्धि –

श्रीशङ्कर दिव्यविभाप्रधानं देवाधिदेवैरपि कीर्त्यमानम् ।

भक्तार्त्तिविध्वंसनसावधानं देव्या समं नौमि कृपानिधानम् ।। (श्री शं.च. 1/1)

महाकाव्येऽस्मिन् प्रामुख्येन उपजात्यनुष्टप्छन्दसोः प्रयोगः दृश्यते। महाकाव्यलक्षणानुसारमेव सर्गान्ते छन्दःपरिवर्त्तनं कृतम् । तत्र सर्गान्ते शिखरिणी, मालिनी, वसन्ततिलका, स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडितं चेत्येतेषां छन्दसां प्रयोगः प्रामुख्येन दरीदृश्यते।

भावानुगतानामलङ्काराणां प्रयोगोऽत्रेति काव्यस्यास्य वैशिष्ट्यम् । तत्रोपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकम्, अतिशयोक्तिः, अर्थान्तरन्यासः, दृष्टान्तश्चेत्यादय अलङ्काराः प्रामुख्यं भजन्ते। मालोपमायाः संविधानेऽसौ कविः स्वकीयं रचनानैपुण्यं प्रकटयति। तदत्र दिङ्मात्रम् –

सद्रत्नगर्भामिव भूतधात्रीं शमीमिवाभ्यन्तरलीनवह्निम् ।

नदीमिवान्तःसलिलां पवित्रां शिवः सगर्भां दयितां ददर्श।। (तत्रैव 1/36)

अपि च पर्वतराजस्य हिमालयस्य, तीर्थराजस्य प्रयागस्य त्रिलोकवाहिन्याः गङ्गायाश्च पवित्रातिशयितां वर्णयन् कविरसौ स्वकीयां राष्ट्रप्रीतिं प्रकटयतीत्यपरं वैशिष्ट्यम् । आदिशङ्कराचार्यस्य जनिस्थानं केरलप्रान्ताधिगतं 'कालडी'त्याख्यं ग्रामं वर्णयता कविना तथ्यमिदं प्रकटीकृतम् ।

तद्धि –

गङ्गा पवित्राऽऽस्ति यथा नदीषु ख्यातश्च तीर्थेषु स तीर्थराजः।

यथा नगेन्द्रेषु तुषारशैलो ग्रामस्तथाऽत्रास्ति हि कालडीति।। (तत्रैव 1/17)

कवावस्मिन् कविताकामिनीकान्तस्य कालिदासस्य प्रभावः बहुत्र दरीदृश्यते। प्रसङ्गेऽस्मिन् ननु द्रष्टव्यं निम्नाङ्कितं पद्यम् –

पपात मातुश्चरणाब्जयोश्च भावाभिभूतो जगदेकबन्धः।

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं निशम्य तस्या वच उत्थितोऽसौ।। (तत्रैव 3/3)

पद्यमिदं रघुवंशमहाकाव्यस्य द्वितीयसर्गोपेतां नन्दिन्या राज्ञः दिलीपस्य निष्ठापरीक्षणसम्बन्धिपद्यगतच्छायामादधाति।

काव्येऽस्मिन् कवेर्भाषाशैली सुगमा, प्रसादमयी, सरला, लघुसमासोपेता, व्याकरणानुगता च।

पण्डितवरेण शिवनारायणशास्त्रिमहोदयेन काव्यस्य हिन्दीभाषानुवादकरणेन ग्रन्थोऽयं विज्ञाविज्ञबोधगम्यः कृतः। अपि च श्रीमच्छङ्कराचार्यप्रतिपादितानां जीवनरहस्यतत्त्वानां वेदान्तदर्शनगतसिद्धान्तानां सर्वजनसंवेद्ययोग्यमुन्मीलनं कृतमिति कृत्वाऽनुवादकोऽसौ नितरां श्लाघ्यः श्रेयभाक् च।

सर्वोपरि भारतवर्षस्यैतिह्यं गौरवास्पदं वेदवेदान्तादिशास्त्रनिष्णातं महापुरुषस्यादिशङ्कराचार्यस्यालौकिकचरितं ख्यापयन्महाकाव्यमिदं सत्काव्यमिति निश्चप्रचम्।

पूर्णचन्द्र उपाध्यायः

VIII

Book : Vyākaraṇatattvālocanam ; **Authored by :** Banamali Biswal, **Published by :** Padmaja Prakashan, 57, Vasant Vihar, Jhusi, Allahabad - 211019; **First Edition** 2006; **Pages :** 144; **Price : RS.** 300=00

In *Saṃskṛtavāṅmaya*, grammar has a very long tradition having various branches. We come to know that eighty five grammarians came into existence before the great grammarian Pāṇini. No doubt, the real number is still unknown. It may rise more. Pāṇini has done a very stupendous and wonderful task by making a concise form of Sanskrit grammar. Grammar of any language is its back-bone. The importance of Sanskrit grammar has been quoted well by the writer Dr. Biswal. In almost every branch of Sanskrit, directly or indirectly. *Anubandhacatuṣṭaya* has been discussed and considered well. It is a good tradition, because a person, even if he deserves, cannot be motivated and devoted to some study, job or responsibility, if he does not know the *'Prayojana'*. But it is more important to reconsider and discuss it in the new aspect of the modern globalisation. The writer has rightly discussed it in the 8th chapter of the book.

The origin of *Samāsa* goes as back as the *Ṛgvedasaṃhitā* where we find the words like *Dhṛtavratāya*, *Urucakṣasam* etc. *Samāsa* has been defined and discussed well by Pāṇini and the followers of his tradition. In the various branches of Indian Philosophy like *Nyāya* and *Mīmāṃsā* etc. *Samāsaśakti* has been discussed and taken variously. What is the special contribution of Dr. Biswal through this book, is the fact that he has presented a perusal of *Samāsaśaktisiddhānta* followed by three other chapters under various captions. The chapter 3rd *Samāse Dhvanigataparivartanam* is very much useful and informative from linguistic point of view also.

The *Prātiśākhya-s* are related with the branches of the vedic *Saṃhitā-s* presenting various aspects of their grammar. In the 5th chapter the writer has made a very good and interesting discussion of the seven *Svara-s* in the *Saṅgīta* on account of the *Prātiśākhya-s* compared with the later important works of *Saṅgītaśāstra*.

In chapter 6th the writer has brought to us a detailed notice of the contribution of Vaijaladeva of *Utkala* to Sanskrit grammar through *Prabodhacandrikā*. His analytical and detailed information about the said work is sufficient to prove its usefulness and importance.

In the tradition of Sanskrit grammar, the philosophers like Bhartṛhari started some very important chapters like *Śabdabrahma* etc. He says in his very first Kārikā of his great work *Vākyapadīyam* :

Anādi Nidhanaṃ Brahma Śabdatattvaṃ Yadakṣaram.
Vivartate'rthabhāvena Prakriyājagato Yataḥ..

The writer has, very rightly, not overlooked this important point and has given place to it in the 7th chapter. The conclusion of the chapter gives the hints of various opinions in this regard.

The book closes with the chapter on *Dhātukāvya* of Nārāyaṇabhaṭṭa. On the one hand, we are made aquainted with Nārāyaṇabhaṭṭa and on the other we come to know the use and importance of the book. The references, quotations and the Bibliography given in the book expose the exhaustiveness of the work. The author Dr. Banamali Biswal has made a good contribution through this book and has brought many points of attraction for the deep study and research to be done by the new generation.

Vinod Kumar Dixit

❑❑

गैर्वाणवाणी-गौरव-ग्रन्थमाला - 28
गैर्वाणवाणी-गौरवभूत-प्रत्न-नूतन-लघुग्रन्थानां सङ्कलनम्
गङ्गानाथ-झा-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ-शोधपत्रिकायाः
परिशिष्टम्

वाक्यवादः

(Theory of Sentence)

हिन्द्याङ्ग्लानुवाद-समेतः / संस्कृत-हिन्द्याङ्ग्ल-व्याख्योपेतश्च

अनुवादको व्याख्याकर्ता सम्पादकश्च
बनमाली बिश्वालः

राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानम्
गङ्गानाथ-झा-परिसरः
चन्द्रशेखर-आजादोद्यानम्
प्रयागः - 211002
2010

ISSN 0016-4461

Published under *Gairvāṇavāṇī-Gaurava-Granthamālā* series - 28

Vākyavādaḥ

(Theory of Sentence)

With Hindi - English Translation

Explanatory Notes in Sanskrit - Hindi - English

Translated & Edited with Explanatory Notes by

Banamali Biswal

Rashtriya Sanskrit Sansthan

Ganganath Jha Campus

Chandrashekhar Azad Park

Allahaad - 211002

2010

वाक्यवादः

(हिन्द्याङ्ग्लानुवादसमेतः / संस्कृत-हिन्द्याङ्ग्ल-व्याख्योपेतश्च)

अनुवादको व्याख्याकर्ता सम्पादकश्च

बनमाली बिश्वालः

इलाहाबाद

2010

गैर्वाणवाणी-गौरव-ग्रन्थमाला - 28
गङ्गानाथ-झा-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठस्य शोधपत्रिकायाः
६४-तम-भागात् पुनर्मुद्रितम्

Reprint of the 64th Volume of the Journal of
Ganghanatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha

प्रधान-सम्पादकः प्रकाशकश्च
प्रो. सुरेन्द्र झा, प्राचार्यः
राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानम्
गङ्गानाथ-झा-परिसरः
चन्द्रशेखर-आजादोद्यानम्
इलाहाबाद - २११००२

Published by :
Prof. Surendra Jha, Principal
Rashtriya Sanskrit Samsthan
Ganghanatha Jha Campus
Chandrashekhar Azad Park
Allahabad-211002 (U.P.)

मूल्यम् :

Price :

मुद्रकः
एकेडमी प्रेस
६०२, दारागंज, इलाहाबाद

Printed at :
Academy Press
602, Daraganj, Allahabad

समाशंसा

गैर्वाणवाणी-गौरव-ग्रन्थमालानुस्यूताष्टाविंशतिप्रसूनरूपेण डा. बनमाली-बिश्वालेन सम्पादितमनूदितञ्चेमं भारतीय-वाक्यसिद्धान्तपरकं दुर्लभं महत्त्वपूर्णञ्च वाक्यवादाख्यं लघुग्रन्थमद्य समेषां प्राच्यविद्यानुरागिणां समक्षं प्रस्तूय प्रसीदामः। लघुग्रन्थोऽयं गङ्गानाथ-झा-केन्द्रीय-रांस्कृत-विद्यापीठस्य शोधपत्रिकायाश्चतुषष्टितमाद् भागात्पुनर्मुद्रितोऽस्ति। अत्रोल्लेख्यं वर्तते यदियमस्माकं शोधपत्रिका राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानाङ्गभूतया सुप्रतिष्ठितया शोधसंस्थया प्रकाश्यते यत्र प्राच्यविद्यासम्बद्धा विविध-विषयकाः पञ्चाशत्सहस्राधिकाः हस्तलेखाः संरक्षिता राजन्ते। अतोऽस्यां शोधपत्रिकायामस्माभिः हस्तलेखाधृताः, दुर्लभग्रन्थाधृताः, पाण्डुलिपिविज्ञानसम्बद्धाः, पाठालोचनाधृताश्च आलेखाः समधिकतया प्रकाश्यन्ते। अस्याः शोधपत्रिकायाः परिशिष्टरूपेण गैर्वाणवाणी-गौरव-ग्रन्थमालाऽपि प्रकाश्यते। अस्यां ग्रन्थमालायामप्रकाशितानि पुनःप्रकाशितानि च विविध-ग्रन्थप्रसूनानि संगृहीतानि भवन्ति। एतानि पुस्तकानि स्वतन्त्रतयाऽपि स्वल्पमूल्येन क्रेतुं शक्यन्ते इत्यतस्तेषां पुनर्मुद्रणमपि प्रायः क्रियते।

अत्रैतदप्युल्लेख्यं वर्तते यदनेन परिसरेण प्रकाशयोग्यानि स्वपुस्तकानि प्रायः धाराद्वये एव प्रकाश्यन्ते। एकाऽस्ति गङ्गानाथ-झा-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ-सिरिज-रूपा मुख्या धारा यस्यामद्यावधि सप्तत्यधिकाः सम्पादिताः मौलिकाश्च ग्रन्थाः प्रकाशिताः सन्ति। यथा - महाकालसंहिता (चत्वारो भागाः), अजिता (भागद्वयम्), मीमांसाररसपल्वलम्, गौतमीयसूत्रप्रकाशः, न्यायतात्पर्यदीपिका, अन्वीक्षानयतत्त्वबोधः, वैशेषिक-सूत्रवृत्तिः, साहित्यकौमुदी, बौधायनश्रौतसूत्रम्, (सायणभाष्योपेतम्), द्राह्यायणश्रौतसूत्रम् (धन्विभाष्योपेतम्), सुभाषितहारावली, रतिमन्मथनाटकम्, काशिकावृत्तिसारः, न्यायतत्त्वालोकः, भाट्टभास्करः, वेदावित्तप्रकाशिका चेत्यादयः। एवमेव गैर्वाणवाणी-गौरव-ग्रन्थमालायाञ्च गौणधारायां प्रायोऽस्मत्परिसरीय-विद्वद्भिरेव सम्पादिताः परिसरीयाप्रकाशित-हस्तलेखाधृताः लघुग्रन्थाश्च प्रकाश्यन्ते। अस्यां ग्रन्थमालायां प्रकाशितेषु लघुग्रन्थेष्वप्यधोलिखिता उल्लेखमर्हन्ति - श्रीकान्तकविताकलापः, कटकराजवंशावलिः, रसार्णवः, शान्तिशतकम्, मृत्कूटम्, भल्लटशतकम्, गोवर्धनकाव्यम्, शैवरामायणम्, शब्दार्थतर्कामृतम् चेत्यादयः।

प्रस्तुतो लघुग्रन्थः वाक्यवादः परिसरस्य हस्तलेख-संग्रहालये संरक्षितस्य हस्तलेखस्य (अधिगमसंख्या ४३३३) पाठालोचनाधारेण सम्पादितः प्रकाश्यते। ग्रन्थप्रतिपादितस्य विषयस्य

४शास्त्रीयां क्लिष्टतामनुभूय एतत्सम्पादकेन विदुषा डा. बिश्वालेन ग्रन्थोऽयं त्रिभाषीय-विस्तृत-भूमिकाभिः हिन्द्याङ्ग्लानुवादसमेतः संस्कृत-हिन्द्याङ्ग्ल-व्याख्योपेतश्च सम्पादितः। एतेन संस्करणमिदं विद्वद्भिः पाठकैः सह जिज्ञासूनां विद्यार्थिनां कृतेऽप्युपयोगि सेत्स्यतीति कथनस्यावश्यकता नास्ति।

'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्य-कलत्रयोः' इति सिद्धान्तमङ्गीकृत्य मन्ये मूलग्रन्थकारेण ग्रन्थे न कुत्रापि स्वनामोल्लेखः कृतः। लिपिकारेण रामदत्तेनापि न कुत्रचिद् ग्रन्थकारस्य परिचयः प्रदत्तः। रघुनाथ-अचलोपाध्याय-हरियशोमिश्र-हरिशरण-तर्कवागीशनामानश्चत्वारो लेखकाः आसन् यैः वाक्यवादशीर्षकेण स्व-स्वरचनाः प्रस्तुताः इति औफ्रेट् महोदयः कैटालोगोस् कैटालोगोरुम इत्यत्र सूचयति। परन्तु डा. बिश्वालेन सम्पादितो वाक्यवादः उपर्युक्त-लेखकेषु कस्यचिद् वर्तते न वेति विज्ञापयितुं इतोऽप्यधिका गवेषणा अपेक्ष्यते। सम्पादकेन अस्यां दिशि अग्रिमसंस्करणेष्वनुसन्धानं विधास्यते इति विश्वसिमः। परन्तु ग्रन्थकारः षोडश-सप्तदश-शताब्दीयः मिथिलावास्तव्य आसीदिति सम्पादकीयामुखाज्ज्ञायते। अस्यां कृतौ मूलग्रन्थकारेण मौथिलविदुषां महामहोपाध्याय-श्रीवंशमणि-मधुसूदनठक्कुरादीनां गौरवं ख्यापितमित्युपर्युक्तानुमानस्य समर्थने युक्तिस्तत्र प्रदर्शिता वर्तते।

वाक्यं (सार्थकं पदसमूहं) विना भाषाभिव्यक्तिर्न सम्भवति। भाषां विना च जागतिको व्यवहारो नैव सम्पादयितुं शक्यते। अतः व्याकरण-न्याय-मीमांसा-वेदान्तालङ्कारादिशास्त्रेषु वाक्यवादविषयको विचारो दरीदृश्यते। व्याकरणनिकाये कात्यायनादारभ्य वाक्यविषयकं विशद-चिन्तनमारब्धं यच्च परवर्तिनि काले पतञ्जलि-भर्तृहरि-कौण्डभट्ट- नागेशादिभिश्चाग्रेसारितम्। वाक्यस्वरूपादिविचारप्रसङ्गे भर्तृहरिः सर्वाधिकतया जागरूको दृश्यते। तेन स्ववाक्यपदीये पूर्वाचार्यैः प्रतिष्ठापितं सुप्रसिद्धमष्टविधं वाक्यस्वरूपं विवेचितम्। तेष्वष्टस्वरूपेषु सः स्वयं 'निरवयवशब्दः वाक्यम्' इत्यस्य पक्षपाती दृश्यते। स च तत्र अखण्डवाक्यस्फोटमङ्गीकरोति। एवमेव नैयायिकैः, वेदान्तिभिरालङ्कारिकैश्च स्वशास्त्रोचित-रीत्या वाक्यस्वरूपं प्रतिपादितम्। अस्य पुस्तकस्य भूमिकाभागे त्वेतद्विषये सम्पादकेन साङ्गोपाङ्गं विवेचनं प्रस्तुतमस्ति। तस्य पुनः पिष्टपेषणस्यावश्यकता नैव प्रतीयते। अतोऽन्ते केवलमेतत्प्रयासाय सम्पादकं डा. बिश्वालमहोदयमभिनन्द्य विरमामि।

०७. ०७. २०१० सुरेन्द्र झा
इलाहाबाद प्राचार्यः

Contents (विषयानुक्रमणिका)

Fore-word

It is a matter of great pleasure that Dr. Banamali Biswal has edited *Vākyavāda* on the basis of a single manuscript preserved in the manuscript - library of Rashtriya Sanskrit Sansthan, Ganga Nath Jha Campus, Allahabad which is well known for having been serving several purposes of manuscripts for many decades.

Dr. Biswal has already shouldered the responsibility of the editorship of *Dṛk* (22 issues till the date), Kathāsarit (10 issues till the date), *Uśatī* (couple of special issues), some Oriya periodicals and some Felicitation as well as Commemoration Volumes. He has already proved himself in the field of editing with the critical editions of various texts. The scholars still relish his substancial work in the form of the critical edition of *Samāsaśaktinirṇaya* of Kauṇḍabhaṭṭa along with an exhaustive Explanatory Notes and elaborative thought provoking Introduction in English. Besides, doing and guiding research, making poetic compositions, writing prose in various forms and attending as well as addressing seminars conferences are some of his other academic activities.

In the present work, Dr. Biswal has translated a small but important text entitled *Vākyavāda* into Hindi and English with a good informative introduction and Notes in Sanskrit, Hindi and English languages. Besides, the multi-fold appendices given at the end of the work are equally important , because, they are like a key to untie the text and to enter the domain of the subject i.e. the theory of sentence. The glossary (containing the meaning of the technical terms in English) is helpful for those who want to read the text with the help of English Translation and Notes). The readers may refer to this Glosssary for the terms which are not explained in the English Translation and used in their original forms.

This, ofcourse, proves not only the fact that his every moment is devoted towards the service of Sanskrit language and literature but it also confirms that he has taken by heart the real aim of higher education in India, i.e. collection of knowledge, creation of knowledge and dissemination of knowledge. I am fully sure that no one would like to disagree with me on this point.

So far as the cause of manuscripts is concerned, lacs of manuscripts in our country are waiting quite impatiently the kind fingers and pens of the devoted scholars.

Just before a few years, I attended two National Seminars organised by the National Mission for Manuscripts (famous as NMM) and the Department of Sanskrit, H. S. Gaur university of Sagar, where Dr. Smt. Sudha Bal Krishnan and Dr. D. K. Rana, the then Director and Deputy Director of NMM, Delhi had managed well to give very updated and detailed information about the manuscripts.

I also remember the words of Prof. Radha Vallabh Tripathi, the then head of the Department of Sanskrit, University of Sagar (at present the Vice-Chancellor of Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi) when he addressed the Inaugural session of the seminars. He had very rightly said that one single manuscript may make the history and may also change the history. I would also like to quote the lines of Dr. Kishore Nath Jha, written by him in his Introduction to *Yogaratnāvalī* of Thakkan Jha : मया चिन्तितं यद् वापीकूपतडागादीनां जीर्णोद्धारे सति यदि भवति पुण्यं तर्हि सारस्वतकर्मणोऽस्य प्रकाशने सत्यपि पुण्यमवश्यं भविष्यति। किञ्च कृतेः प्रकाशने प्रचारे च सति ग्रन्थकर्तुस्तस्य दिव्यात्मन आशीर्वादो लभ्यते, जिज्ञासूनां विद्यार्थिनामुपकारोऽपि भवेदिति बुद्ध्या ममाभूदिह प्रवृत्तिः. I think it will not be out of context to mention here that *Yogaratnāvalī* has been edited for the first time by Dr. Jha and later has been traslated into Hindi and English by us (Dr. Biswal and myself).

Dr. Biswal has joined the field of the editing of the manuscripts which, no doubt, may serve double purposes i.e. the one hinted by Dr. K. N. Jha and the other opined by Prof. Radha Vallabh Tripathi. Dr. Biswal's commitment and devotion are a great inspiration to others to march ahead in this field. It is

Fore-word

It is a matter of great pleasure that Dr. Banamali Biswal has edited *Vākyavāda* on the basis of a single manuscript preserved in the manuscript - library of Rashtriya Sanskrit Sansthan, Ganga Nath Jha Campus, Allahabad which is well known for having been serving several purposes of manuscripts for many decades.

Dr. Biswal has already shouldered the responsibility of the editorship of *Dṛk* (22 issues till the date), Kathāsarit (10 issues till the date), *Uśatī* (couple of special issues), some Oriya periodicals and some Felicitation as well as Commemoration Volumes. He has already proved himself in the field of editing with the critical editions of various texts. The scholars still relish his substancial work in the form of the critical edition of *Samāsaśaktinirṇaya* of Kauṇḍabhaṭṭa along with an exhaustive Explanatory Notes and elaborative thought provoking Introduction in English. Besides, doing and guiding research, making poetic compositions, writing prose in various forms and attending as well as addressing seminars conferences are some of his other academic activities.

In the present work, Dr. Biswal has translated a small but important text entitled *Vākyavāda* into Hindi and English with a good informative introduction and Notes in Sanskrit, Hindi and English languages. Besides, the multi-fold appendices given at the end of the work are equally important , because, they are like a key to untie the text and to enter the domain of the subject i.e. the theory of sentence. The glossary (containing the meaning of the technical terms in English) is helpful for those who want to read the text with the help of English Translation and Notes). The readers may refer to this Glosssary for the terms which are not explained in the English Translation and used in their original forms.

This, ofcourse, proves not only the fact that his every moment is devoted towards the service of Sanskrit language and literature but it also confirms that he has taken by heart the real aim of higher education in India, i.e. collection of knowledge, creation of knowledge and dissemination of knowledge. I am fully sure that no one would like to disagree with me on this point.

So far as the cause of manuscripts is concerned, lacs of manuscripts in our country are waiting quite impatiently the kind fingers and pens of the devoted scholars.

Just before a few years, I attended two National Seminars organised by the National Mission for Manuscripts (famous as NMM) and the Department of Sanskrit, H. S. Gaur university of Sagar, where Dr. Smt. Sudha Bal Krishnan and Dr. D. K. Rana, the then Director and Deputy Director of NMM, Delhi had managed well to give very updated and detailed information about the manuscripts.

I also remember the words of Prof. Radha Vallabh Tripathi, the then head of the Department of Sanskrit, University of Sagar (at present the Vice-Chancellor of Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi) when he addressed the Inaugural session of the seminars. He had very rightly said that one single manuscript may make the history and may also change the history. I would also like to quote the lines of Dr. Kishore Nath Jha, written by him in his Introduction to *Yogaratnāvalī* of Thakkan Jha : मया चिन्तितं यद् वापीकूपतडागादीनां जीर्णोद्धारे सति यदि भवति पुण्यं तर्हि सारस्वतकर्मणोऽस्य प्रकाशने सत्यपि पुण्यमवश्यं भविष्यति। किञ्च कृतेः प्रकाशने प्रचारे च सति ग्रन्थकर्तुस्तस्य दिव्यात्मन आशीर्वादो लभ्यते, जिज्ञासूनां विद्यार्थिनामुपकारोऽपि भवेदिति बुद्ध्या ममाभूदिह प्रवृत्तिः. I think it will not be out of context to mention here that *Yogaratnāvalī* has been edited for the first time by Dr. Jha and later has been traslated into Hindi and English by us (Dr. Biswal and myself).

Dr. Biswal has joined the field of the editing of the manuscripts which, no doubt, may serve double purposes i.e. the one hinted by Dr. K. N. Jha and the other opined by Prof. Radha Vallabh Tripathi. Dr. Biswal's commitment and devotion are a great inspiration to others to march ahead in this field. It is

the need of the day to make India run fast with her both legs, the one Science & Technology and the other Indology which is represented by Sanskrit in the major part.

So far as the work *Vākyavāda* is concerned, Dr. Biswal has translated the text and has added an elaborative trilingual Notes to it. The importance of its content lies in the fact that on the one hand it is related with the traditional branches like *Vyākaraṇa, Nyāya, Mīmāṃsā* and *Sāhityaśāstra* etc. on the other with the modern linguistics too.

Thus, the present work will be quite helpful to the modern as well as traditional students along with the scholars of Sanskrit grammar to a great extent. Dr. Biswal deserves appreciation for this commendable endeavour. I pray to the Almighty that this Edition may prove to be a harbinger for other Editors by Dr. Biswal.

Dr. Vinod Kumar Dixit

Preface

A sentence gives an idea in a single unit of expression consisting of the verb with its *Kāraka* or instrument and adverbs : *Ākhyātaṃ sāvyayaṃ sakārakaṃ sakārakaviśeṣaṇaṃ vākyasañjñaṃ bhavatīti vaktavyam. Sāvyayam uccaiḥ paṭhati, sakārakam odanaṃ pacati, sakārakaviśeṣaṇam odanaṃ mṛdu pacati* (*Mbh.* on P. 2.1.1 on *Vārtika* 10). Regarding the different theoretical ways of a sentence one can refer to *Vākyapadīya* 2.2 where a number of definitions of *Vākya* are given and the *Akhaṇḍavākyasphoṭa* is established as the sense of a sentence. According to Bhartṛhari, a sentence is either a verbal form of words (*ākhyātaśabdaḥ)*, or a collection of words (*saṅghātaḥ śabdaḥ*), or a class or universal manifested by the collection (*jātiḥ saṅghātavartinī*), or one and indivisible (*eko'navayavaḥ śabdaḥ*), or under pertaining to the words in a sentence (*kramaḥ*), or mental impression (*buddhyanusaṃhṛtiḥ*), or the first inflected word (*padamādyam*) and all words differing from one another but mutually expecting each other (*pṛthak sarvapadaṃ sākāṅkṣam*).

Padaprakṛṛtibhāvaśca vṛttibhedena varṇyate
padānāṃ saṃhitā yoniḥ saṃhitā vā padāśrayā..
(*Vākyapadīyam* - 2. 58)

According to the grammarians who accept *sphoṭātmaka vākya* as the significant unit of speech, a sentence is either a universal manifested by the collection (*jātiḥ saṅghātavartinī*), or the one and indivisible word (*eko'navayavaḥ śabdaḥ*), or the intellectual assimilation (*buddhyanusaṃhṛtiḥ*). The first two represent *vācika sphoṭa* or *bāhya sphoṭa* and the last one the *ābhyantarasphoṭa* when the grammarians divide *sphoṭa* in two ways. This is according to the opinion of those who consider sentence as indivisible.

Bhartṛhari's position is also linguistically correct, because a sentence is a composite whole, a unit of speech, no meaning being possible without a sentence-idea which emphasises a certain action. At the same time it is correct from super-empirical point of view also, because it accords no place to divisions and parts, as reality being one (without a second) and eternal.

The commentator Puṇyarāja says : Bhartṛhari has prejudice for the fourth category because it is closer to *vākyasphoṭa*. However, Bhartṛhari does not say anything about *sphoṭa* in this context. The commentator Puṇyarāja accepts these definitions of sentence as related to *Mīmāṃsā*- theory. According to him, the second and fifth definitions refer to *abhihitānvayavāda* whereas the first, seventh and eighth definitions refer to *anvitābhidhānavāda*. On the other hand, the Mīmāṃsaka-s like Kumārila, Śālikanātha, Sucaritamiśra, etc. accept these theories as of grammarian's because they appear in Bhartṛhari's *Vākyapadīya*.

So far as the Śāstric controversies related to sentence are concerned, the main debate continues between the *Mīmāṃsā*-school and the school of Grammar. According to the Mīmāṃsaka-s, the words (rather inflected words or *Pada*-s), which constitute a sentence, are the significant units on which depends the ultimate meaning of a sentence. On the other hand, according to the grammarians, the words whether isolated or used in a sentence are never significant themselves. Because, when taken by themselves they lose their essential nature in the meaning of the sentence. In fact, the synthetic impression of the sentence in the form of a single manifestation (i.e.*vākyasphoṭa*) which is one, indivisible or inseparable and understood from the highest point of iew, is significant. Bhartṛhari has elaborately discussed these views in the econd chapter of the *vākyapadīya* called *vākya-kāṇḍa*. In this context he has voiced the opinion of his predecessors and has given eight different views with regards to the nature and definition of a sentence where he has emphasised the indivisibility of a sentence. According to him, it is the *vākya-sphoṭa* which is most significant.

It can be observed from another stand-point that the view of the grammarians with regard to the nature of a sentence is correct both scientifically

as well as traditionally. As we have already seen, speech is indivisible. It stands unanalyzed and unexplained (*avyākṛta*). The ancient Hindus assigned this work of explaining speech to Indra (mythologically understood as a super-human agency). Even the first and early utterances of the Aryans were in the form of hymns (i.e. *mantra*-s). In fact, all utterances of the primitive men are prone to be sentences. The *saṃhitā* on the close knotting together of the hymns was the original form of the *Vedas*. Here, we consider an earlier form in comparison with the *Pada*-constitution of the text of the *Vedas*.

About the Present Edition

The small but important text *Vākyavāda* has been edited on the basis of a single Manuscript received from the Manuscript library of Rashtriya Sanskrit Sansthan, Ganganath Jha Campus, Allahabad with accession No. 4333. The size of the Manuscript is 29.5 X 12.8. Cm. and the script is *Devanāgarī*. The Manuscript contains five folios (i.e. ten pages) in all and each page contains eleven lines. Each line has around thirty six letters. The manuscript is readable from top to bottom. But it is slightly worm-eaten, and therefore, some readings are missing in some places. It is also mis-spelled in a number of occurings which either block the comprehension or lead to miscomprehension. All such cases have been mostly corrected in the present edition. At a couple of places where it was not possible, a blank space has been left with some dot marks (.......) . Those wrong readings , however, prove the carelessness of the scribe and not the shortcomings of the text. The text has been critically edited with Hindi - English translation along with Trilingual Explanatory Notes in Sanskrit, Hindi and English. The edited text is preceded by a detailed Introduction in English and Hindi languages.

The Author

Surprisingly enough, the scribe has not given the name of the original author neither in the beginning nor in the ending colophon. The ending colophon, however, contains the name of the scribe as Rāmadatta who has written it for the purpose of his own study : *Likhito Rāmadattena svapaṭhanārtham* (T16). Thus, nothing can exactly be said about the author of

the text except some guess works.

Theodor Aufrecht records atleast four works under a single title *vākyavāda* from different sources in his Catalogus Catalogorum, the authorship of which is attributed to four different authors, namely, Raghunath (Vide A catalogue of Sanskrit Manuscripts existing in Central Provinces - 158, ed. by F. Kielhorn and Notices of Sanskrit Manuscripts by Rajendralal Mitra - 1692), Achal Upadhyaya (Notices of Sanskrit Manuscripts - 1940 and List of Sanskrit Manuscripts - XVII 22 discovered in Oudh during 1876 prepared by Pt. Deviprasad), Hariyaśomiśra (Notices of Sanskrit Manuscripts by Rajendralal Mitra 1692 and Report of Sanskrit Manuscripts 18, Report XX) and Hariśaraṇa Tarkavāgīśa (List of Sanskrit Manuscripts discovered in Oudh XV, 1o2)

I am not sure whether the work edited by me is related to either of these or not. This needs a further research which I could not do at present due to my busy academic shedule. However, I will try to do justice to this aspect of my work in my forthcoming editions. On the basis of informations I possess, I am in a position to say that the author belonged to Mithila region of Bihar as he many times highlights the Maithili scholars in his work. He quotes the views of Vaṃśamaṇi as he says : *Iti śrīmahāmahopādhyāya- maithila-śrīvaṃśamaṇervimarśaḥ* (T8).

In addition to that, he has taken the name of Madhusudan Thakkura, the author of *Kaṇṭakoddhāra* (T3) in his work. The History of Indian Philosophy says that Madhusudan Thakkura was s son of Govinda Thakkura, Grand son of Keshava Thakkura, Great Grand son of Buddhi Thakkura and Great Great grand son of Ravikar Thakkura. He belonged to *Ghusauṭe Nagvāra Vatsagotra* family of Mithila.

His work *Kaṇṭakoddhāra* is a running commentary on the commentary *Āloka* on Gaṅgeśa's *Tattvacintāmaṇi*. Unfortunately, the comm. is published only upto the *Maṅgalavāda* under Sarasvati Bhavan Text Series from Vārāṇaseya Sanskrit University. But the complete manuscripts are available in various places. It is worth-mentioning in this context that this Kaṇṭakoddhāra is different from the other *Kaṇṭakoddhāra* available as the commentary on Nāgeśa's *Paribhāṣenduśekhara* by Mannudeva.

He was a good scholar of his time. The following verse records the importance of Madhusudan Thakkura :

Madhasūdanasadyuktisamutsāritakaṇṭakāḥ.

Ālokavyaktamārgeṇa maṇiṃ gṛhṇanti paṇḍitāḥ..

That means, let the Paṇḍita-s obtain the jwele (understand the *Cintāmaṇi*) through the passage indicated by the *Āloka,* whose thorns (obscurities) have been removed (from the path) by the correct arguments of Madhusūdana.

In addition to that, Madhusūdana speaks himself about his scholarship also in his *Kaṇṭakoddhāra* -

Yastarke Jaiminīye Phaṇipatibhaṇitau brahmavidyāvicāre.
Kāṇāde Kāvyaśāstre paṭuviśadamatirdharmatantre'tha mantre..
Duṣprāpaṃ prāpa tīvraṃ guruparicaraṇakleśamasyākhilasya.
Prekṣyatāṃ puṇyabhājaḥ phalatatimuditāmatra santaḥ kiyantaḥ..

(*Kaṇṭakoddhāra, Śloka* - 4)

In addition to *Kaṇṭakoddhāra,* Madhusūdana also wrote a digest called *Jīrṇoddhāra* both on *Smayapradīpa* of Śrīdattopādhyāya and also on the *Dvaitanirṇaya* of Vācaspati Miśra II. A manuscript of *Jīrṇoddhāra* is preserved in Darabhaṅgā Sanskrit University where the author refers to his own other work *Śāradāṭīkā* which is yet to be traced. He lived earlier than La Sam. 459 i.e. 1578 A.D. when the manuscript of *Kaṇṭakoddhāra* was copied. On the basis of this, the Historians fix his time as later half of 16th century A.D.

Besides, he mentions the names of Mukuṭa and Miśra in his work. As per Catalogus Catalogorum, Mukuṭa is the abridged name of Rāyamukuṭa. Rāyamukuṭa is also otherwise called as Bṛhaspati, the son of Govinda and father of Viśrāma and Rāma. He wrote *Padacandrikā*, a comm. on *Amarakośa* composed in 1431 A.D. Besides, he wrote a work on *Smṛti* which is titled as *Rāyamukuṭapaddhati* by Raghunandan in his *Śrāddhatattva*.

About Miśra we are not very much sure. There are number of Miśra-s famous in Indian Philosophy. Many of them hailed from Mithila. It is quite possible that here Miśra may refer to the famous *Mīmāṃsaka* : Maṇḍanamiśra.

Besides, directly or indirectly, the author has quoted Pāṇini, Kātyāyana, Patañjali, Yāska and Helārāja etc. in his work.

In the outer page (i.e. before the commencement of the text) of the manuscript I consulted, the scribe has scripted six verses which have been borrowed from the *Mahābhārata* in the form of a dialogue between Yakṣa and Yudhiṣṭhira. In fact, the scribe might have quoted them as his own *Maṅgalācaraṇa*. Since the verses are no way related to the subject of the manuscript and since they are tremendously mis-spelt, I have not included them in my edition.

After those quoted verses, the text proper starts with a querry that what exactly the sentence is : *Atha Kimidaṃ Vākyaṃ Nāma* ? The reasons behind opening a text with the auspicious word *Atha* could be many. But here it might be used as *Maṅgalācaraṇa*. In our tradition a famous verse is available which describes that the word *Atha* has come out from the throat of Brahmā (the creator of the universe) along with the word *Om*. The verse is as under :

Oṃkāraścāthaśabdaśca dvāvetau brahmaṇaḥ purā.
Kaṇṭhaṃ Bhittvā Viniryātau Tasmānmāṅgalikāvubhau..

Then to answer the above querry the author quotes the definition of sentence from *Mahābhāṣya* as : *Ekatiṅ vākyam* followed by the mostly accepted grammarian's definition of the sentence : *Ekatiṅantārthamukhya- viśeṣyaka-bodhajanaka-padasamūho vākyamiti vaiyākaraṇāḥ*. The details of the concept of sentence reflected in the present text can be seen analysed in my Hindi - English Translation along with the Trilingual Explanatory Notes preceded by the detailed Introduction in Hindi and English along with a brief outline on the concept of Sentence in Sanskrit under the title *Mitañca Sārañca*. The work ends with seven types of appendices of which the glossary, containing the meaning of the technical terms in English and the Bibliography need a special mention. The technical terms which are not explained in the English Translation to avoide elaboration, have been explained in the glossary whereas the Bibliography may prompt the readers and the researchers that where exactly they should look forward to continue their deeper study on this issue. Honestly speaking, I am yet to go through some of the works listed in the Bibliography.

While editing the work, I felt that this type of tough and technical text cannot be studied without tears unless it is translated to a language understood by the maximum. For this I had no better option than Hindi which is being spoken in entire North belt of our country. While translating in Hindi, I felt that the people of Non-Hindi-speaking states may not gain from this effort of mine. Therefore, I translated it into English also. After I translated the work into Hindi and English I have shown it to my colleague, Dr. Lalit Kumar Tripathi for his comments. After going through it he suggested me to publish it with Explanatory Notes so that it can very well serve the purpose of being a user - friendly hand-book for the students of garammar. I readily agreed to his suggestion and tried to explain the text in Sanskrit, Hindi and English by analysing and clarifying the contents briefly but authentically in a simple and quite understandable method. However, while doing so I felt some problems at few places and for that I consulted Dr. Tripathi who helped me in untying some of the knots of the Text. I will certainly fail in my duty if I do not thank him for his kind gesture.

I know my limitations very well and I am sure that there is still a lot of scope for the improvement of the present Edition. For that, I can only assure right now that I will try my best to overcome all such shortcomings in the next revised Editions. Till then, I hope and believe that the present Edition of the text through the renderings and Notes in Sanskrit, Hindi and English can be helpful to the students of Sanskrit with basic knowledge of Sanskrit Grammar.

For the lapses, there will be no better excuse for me in this context than the following famous verses of *Ślokavārtika* :

tadvidvāṃso'nugṛhṇantu cittaśrotraiḥ prasādibhiḥ.
santaḥ praṇayivākyāni gṛhṇanti hyanasūyavaḥ..

&

gacchataḥ skhalanaṃ kvāpi bhavatyeva pramādataḥ.

Banamali Biswal

Introduction

(Modern & Traditional Theories of Sentence)

When we talk of the structure of the language we have to first of all think of the structure of the sentence, because the variation in the style of our thinking is expressed through sentences.Though some linguists are still not convinced that the speech starts from the sentence still the modern research has already proved that the sentences or rather the sentence-words play a vital role in the initial stage of the use of the language . If we cast a glance at the procedure of the language learning of a child we can find that he learns the sentences first and then he thinks and understands through sentences. Then gradually he knows about words. Though a sentence has separate units still it is the complete unit which has the ability to express our thoughts. That which is a sentence from the semantic point of view is a collection of phonemes from morphological or rather phonological point of view. The parts or the units of the sentences are developed gradually and the analysis became possible through words. Today, the existence of the sentence and the words are accepted separately.

For our convenience this Inroduction is divided into two parts. The part - I contains the modern theories presented with a special reference to English Language whereas the part - II contains the traditional theories of sentence presented with special reference to Sanskrit Language.

PART - I

Modern Theories (with special reference to English Language)

I.1 The Definition of Sentence :

A word is famous as a meaningful collection of letters. When these words are put together to convey a meaning it is known as a sentence. That means,

sentence is a group of words which makes complete sense. Placing of words in a sentence is very important. Just by changing the position of the words and the punctuation marks in a sentence, a completely different meaning can be deciphered. For example : "This is a cat". It is a simple sentence which conveys that this specific creature is a cat. Here we can change the order of the sentence and say "Is this a cat?" By changing the order the meaning is changed. In the second sentence, a question is being asked that " Is this creature a cat"?

Thus, from the above examples it is clear that the same set of words when put differently convey an altogether different meaning. The first sentence does not convey anything less or more. It simply states a fact. However, the second sentence is a question.

In the terminology of modern linguistics, a sentence is an expression in natural language, often defined to indicate a grammatical and lexical unit consisting of one or more words that represent distinct concepts. A sentence can include words grouped meaningfully to express a statement, question, exclamation, request or command.

As with all language expressions, sentences contain both semantic and logical elements (words, parts of speech) and also include action symbols that indicate sentence starts, stops, pauses, etc. In addition, sentences also contain properties distinct to natural language, such as characteristic intonation and timing patterns. Sentences are generally characterized in most languages by the presence of a finite verb. For example : "The quick brown fox jumps over the lazy dog".

I.2 : The parts of Sentence

A sentence can be generally splitten into two parts, namely, Subject and Predicate.

I. 2 .1 : Subject : A subject is the noun or thing the sentence is about. It is often the first word of a sentence. A sentence can have either an apparent subject or an implicit or tacit subject. For example : Humpty Dumpty sat on a wall. Here the subject is Humpty Dumpty which is an apparent subject. On the other hand, "Come in" can be quoted as an example of implicit subject where

the sentence can be read as "(You) come in ."

I. 2. 2 : Predicate : What ever is spoken or written about the subject is known as the predicate. For example in the same sentence : Humpty Dumpty sat on a wall "sat on a wall" is the predicate.

Let us now look at the traditional parts of speech and the most common sentence structures in the following paragraphs :

I.3 : The Clauses or the Components of Sentence :

A clause consists of a subject and a predicate. The subject is typically a noun phrase, though other kinds of phrases (such as gerund phrases) work as well, and some languages allow subjects to be omitted. The predicate is a finite verb phrase: a finite verb together with zero or more objects, zero or more complements, and zero or more adverbials.

There are two types of clauses : the principal or independent and subordinate or dependent. An independent clause demonstrates a complete thought to make a complete sentence. For example : "I am sad." On the other hand, the dependent or the subordinate clause is not a complete sentence. For example, "because I had to move."

A simple complete sentence consists of a single clause (subject and predicate). Other complete sentences consist of two or more clauses (see below).

1.4 : Classification of Sentence

In a broader frame the sentences can be classified into two groups, namely, major sentences as well as minor sentences :

Major Sentence : A major sentence is a regular sentence which has a subject and a predicate. For example : I have a ball. In this sentence one can change the persons : We have a ball.

Minor sentence : A minor sentence is an irregular type of sentence. It does not contain a finite verb. For example, "Mary!" "Yes." "Coffee." etc. Other examples of minor sentences are headings (e.g. the heading of this entry), stereotyped expressions (Hello!), emotional expressions (Wow!), proverbs, etc. This can also include nominal sentences like : The more, the merrier. These do not contain verbs in order to intensify the meaning around the nouns

and are normally found in poetry and catchphrases. Sentences that comprise a single word are also called word sentences.

1.4 .1 : Classification of Sentence by structure :

English sentences can be structurally classified into four different groups, namely, Simple sentences, Compound Sentences, Complex Sentences and Complex-Compound Sentences. This classification is based on the number of independent and dependent clauses a sentence contains. An independent clause forms a complete sentence on its own, while a dependent clause needs another clause to make a complete sentence.

1.4.1.1 : Simple sentence : A sentence with one independent clause and no dependent clauses, is called a simple sentence. For Example : "My aunt enjoyed taking the hayride with you" or "China's Han Dynasty marked an official recognition of Confucianism."

1.4.1. 2 : Compound Sentence : A sentence with multiple independent clauses but no dependent clauses is called a compound sentence. These clauses are joined together using conjunctions, punctuation, or both. For Example : "The clown frightened the little girl, and she ran off screaming ".

1.4.1.3 : Complex Sentence : A sentence with one independent clause and at least one dependent clause, is called a complex sentence. For Example : "After Mary added up all the sales, she discovered that the lemonade stand was 32 cents short While all of his paintings are fascinating, Hieronymus Bosch's triptychs, full of mayhem and madness, are the real highlight of his art."

1.4.1.4 : Complex-Compound Sentence : A sentence with multiple independent clauses and at least one dependent clause, is called a complex - compound sentence or a compound - complex sentence. For example :

1.4 . 2 : Classification of Sentence by purpose :

As pointed out in the beginning, the sentence is a collection of words put together to convey a meaning. Just by changing the position of the words the same set can be used to convey a different meaning. Such sentences are classified mainly into four kinds based on their purposes such as Assertion, Interrogative, Imperative and Exclamation :

1.4 . 2 .1 : Statements or Assertions : These are simple sentences. They simply state a fact. They use a full stop (.) to mark their end. Example : Hari has a gold chain.

1.4 . 2. 2 : Interrogative : Sentences used to ask questions are known as Interrogative Sentences. They end with a question mark (?). Example: Does Hari have a gold chain?

1.4.2. 3 : Imperative : Sentences conveying commands and requests are known as Imperative Sentences. Like Assertions they end with a full stop (.). Example: Show me your gold chain.

1. 4 . 2. 4 : Exclamations : Sentences used to convey strong feelings are known as Exclamatory Sentences. These sentences use the exclamation mark just after the exclamatory words and a full stop at the end of the sentence. Example: Oh ! What a beautiful chain.

I.5 The basic sentence structures

I.5.1: The Parts of Speech : One way to begin studying basic sentence structures is to consider the traditional parts of speech (also called word classes): nouns, pronouns, verbs, adjectives, adverbs, prepositions, conjunctions, articles, and interjections. Except for interjections ("ouch!"), which have a habit of standing alone, and articles (a, an, the), which appear in front of nouns, the parts of speech come in many varieties and may show up just about anywhere in a sentence. To know for sure what part of speech a word is, we have to look not only at the word itself but also at its meaning, position, and use in a sentence.

I.5.2 : Subjects, Verbs, and Objects : The basic parts of a sentence are the subject, the verb, and (often, but not always) the object. The subject is usually a noun (a word that names a person, place, or thing). The verb (or predicate) usually follows the subject and identifies an action or a state of being. An object receives the action and usually follows the verb.

I.5.3: Adjectives and Adverbs : A common way of expanding the basic sentence is with modifiers-words that add to the meanings of other words. The simplest modifiers are adjectives and adverbs. Adjectives modify nouns, while adverbs modify verbs, adjectives and other adverbs.

I.5.4: Prepositional Phrases : Like adjectives and adverbs, prepositional phrases add meaning to the nouns and verbs in sentences. A prepositional phrase has two basic parts : a preposition plus a noun or a pronoun that serves as the object of the preposition.

I.5.5: Coordination : A common way to connect related words, phrases, and even entire clauses is to co-ordinate them, i.e., connect them with a basic co-ordinating conjunction such as "and" or "but."

I.5.6: Adjective Clauses : To show that one idea in a sentence is more important than another, we rely on subordination, i.e., treating one word group as secondary (or subordinate) to another. One common form of subordination is the adjective clause, i.e. a word group that modifies a noun. The most common adjective clauses begin with one of these relative pronouns: who, which, and that.

I.5.7: Appositives : An appositive is a word or group of words that identifies or renames another word in a sentence, most often a noun that immediately precedes it. Appositive constructions offer concise ways of describing or defining a person, place, or thing.

I.5.8: Adverb Clauses : Like an adjective clause, an adverb clause is always dependent on (or subordinate to) an independent clause. Like an ordinary adverb, an adverb clause usually modifies a verb, though it can also modify an adjective, an adverb, or even the rest of the sentence in which it appears. An adverb clause begins with a subordinating conjunction i.e an adverb that connects the subordinate clause to the main clause.

I.5.9: Participial Phrases : A participle is a verb form used as an adjective to modify nouns and pronouns. All present participles end in 'ing'. The past participles of all regular verbs end in 'ed'. Irregular verbs, however, have various past participle endings. Participles and participial phrases can add vigor to our writing as they add information to our sentences.

I.5.10: Absolute Phrases : Among the various kinds of modifiers, the absolute phrase may be the least common but one of the most useful. An absolute phrase, which consists of a noun plus atleast one other word, adds

details to an entire sentence-details that often describe one aspect of someone or something mentioned elsewhere in the sentence.

Part - II

The Traditional Theoris (With special reference to Sanskrit Language

From these introductory paragraphs it is clear that the sentences are most important in the usage of language. Because, it is not possible to use language without a sentence. One can notice a semantic similarity in the etymology of both language (*bhāṣā*) and sentence (*vākya*): *Bhāṣyate iti bhāṣā* (bhāṣa + aṅ+ ṭāp) and *Ucyate iti vākyam* (*vac* + *ṇyat*). Therefore, in addition to the grammar our other traditional schools like *Nyāya, Mīmāṃsā, Vedānta* and *Sāhityasāstra* etc. have also discussed about the concept of sentence. Before concentrating on the grammarians' concept of sentence it will not be out of context to have a look at the views of others on this important issue. The words and alphabets are no doubt the background of a sentence. As the sentence (*vākya*) is generally defined as the collection of words *padasamudāya*, similarly the word (*pada*) is also defined as the collection of phonemes (*varṇasamudāya*) :

Akārādikṣakārāntā-nyakṣarāṇi samīrayet.

Akṣarebhyo padāni syuḥ padebhyo vākyasambhavaḥ..

(Yogaśikhopaniṣad 35. 6)

However, it will be better to define the sentence as the collection of words semantically connected each other. Because, we cannot call a mere collection of words as a sentence unless they are semantically connected. Therefore, Gaṅgeśa defines *vākya as Vākyatvaṃ ca viśiṣṭārthaparaśabdatvam* in his *Tattvacintāmaṇi.*

The Naiyāyika-s accept *vākya* as of two types : *pramāṇavākya* and *apramāṇavākya.* The *pramāṇavākya* refers to the collection of words consisting of *ākāṅkṣā, yogyatā* and *sannidhi*. For example, *gāmānaya* (*Vākyaṃ dvividham, pramāṇavākyam apramāṇavākyañceti, tatra pramāṇavākyam*

ākāṅkṣā-yogyatā -sannidhimatām padānām samūhaḥ yathā gāmānaya ityādi, vide *Tarkabhāṣā, Tarkasaṅgraha, Sāhityadarpaṇa* etc.) . On the other hand, the collection of words bereft of *ākāṅkṣā, yogyatā* and *sannidhi* is known as *apramāṇavākya*. For example, *vahninā siñcati* (sprinkles with fire) and *hrado vahnimān* (the lake possessing fire). In the auto commentary of *Śabdaśaktiprakāśikā* of Jagadīśa the sentence is defined as *Yādṛśaśabdānām yādṛśārthaviṣayitākānvayabodhaṃ prati anukūlā parasparākāṅkṣā tādṛśaśabdastoma eva tathāvidhārthe vākyam* (*Svopajñavṛtti* on *Śabdaśaktiprakāśikā*, verse No. 13) . Such sentences are of four types : *subanta. tiṅanta, subantaikasamanvita* and *suptiṅantobhayagarbhita* :

Subantaṃ ca tiṅantaṃ ca subantaikasamanvitam.

Suptiṅantadvayagarbhaṃ vākyamevaṃ caturvidham..

(*Rāmarudrī* & *Kṛṣṇakāntī Ṭīkā* on *Śabdaśaktiprakāśikā*. verse 13)

The grammarians have accepted *Ekatiṅ* as sentence. While explaining the *Vārtika 'Ekatiṅ'* Patañjali has defined *Vākya* in his *Mahābhāṣya* as *Ekatiṅ vākyasañjñaṃ bhavatīti vaktavyam*. On the basis of this definition the following definition of sentence has been widely accepted in the *Vyākaraṇa* - school : *Ekatiṅantārtha-mukhyaviśeṣyaka- bodhajanaka-padasamūho vākyam.* Thaṭ means : The collection of words is a sentence which is the cause towards the understanding possessing the principal qualificandness of the meaning of the words ending with a single *tiṅ* (i.e.*ekatiṅantārtha*). Therefore, the state of being a single sentence (*ekavākyatā*) of the sentences like *Pacati bhavati. Paśya mṛgo dhāvati* and *Brūhi brūhi devadatta* etc. is not violated even though there are more than one verbal forms.

In *Amarakośa* (1.6.2), keeping all the alternatives in mind, Amarasiṃha has defined *vākya* as *Suptiṅantacayo vākyam* (The collection of *sup* and *tiṅ* is called sentence) . However, in *Śabdaśaktiprakāśikā* (verse No. 13), Jagadīśa has accused this definition as affected by the flaws called *avyāpti* and *ativyāpti* as he says :

Suptiṅantacayo naivamativyāptyādidoṣataḥ. Some others define the sentence *Svārthabodhasamāptaḥ padasamūhaḥ vākyam*. That means, the

collection of words, is called a sentence which are *svārthabodhaparyavasāyin*.

The Mīmāṃsaka-s define sentence as *Samabhihāro vākyam*. That means, the simultaneous utterance of the *śeṣaśeṣīvācaka*-words in the absence of the case-endings like accusative etc. expressing *sādhyatva* etc. is called a *vākya*. On the other hand, the *vākya* incorporating the words of *liṅ-lakāra*, is of two kinds, namely, *vidhivākya* and *niṣedhavākya*. *Svargakāmo yajeta* is the example of *vidhivākya* whereas *Na kalañjaṃ bhakṣayet* is the example of *niṣedhavākya*.

Four faults have been linked to sentence. They are : *bhrama*, *pramāda*, *vipralipsā* and *karṇapāṭava*. The respective definitions of those faults are : *Ekapadārthe aparapadārthasaṃsargāropo bhramaḥ*, *avācye vācyatvāropaḥ pramādaḥ*, *anyathā jñātasyānyathā bodhayitumicchā vipralipsā* and *Śabdoccāraṇānukūla- tālvādivyāpāraśūnyatvaṅkarṇapāṭavam*. It is to be pointed out here that these faults are not applicable to the *pramāṇavākya*-s associated with *ākāṅkṣā*, *yogyatā* and *sannidhi*.

According to the Naiyāyika-s, the sentence can be otherwise classified into three types, namely, *subantasamūha*, *tiṅantasamūha* and *subanta-tiṅantasamūha*. The sentence '*Trayaḥ kālāḥ*' serves as the example of *subantasamūha* whereas '*Pacati bhavati*' is the example of *tiṅantasamūha* and '*Caitraḥ pacati*' can be treated as the example of *subanta-tiṅantasamūha*. In case of '*Trayaḥ kālāḥ*', since the tenses like *vartamāna* etc. cannot be justified, therefore, the verbal activity like *santi* etc. cannot be supplied to it through *adhyāhāra*.

The *vākya*-s are also otherwise divided into two types, namely, *vaidika* and *laukika* in the *Nyāya*-texts like *Tarkasaṅgraha* etc. Since the *vaidika* - sentences are based on Vedic as well as *smṛti*-texts and believed to be uttered by the gods, they are totally treated as authentic. However, in case of *laukika* - sentences, only the sentences uttered by the *āpta*-s are considered authentic. On the other hand, *laukika* - sentences not uttered by the *āptas* are non-authentic (*Vākyaṃ dvividham, laukikaṃ vaidikaṃ ca. Tatra vaidikamīśvaroktatvāt sarvameva pramāṇam. Anyadapramāṇam* - *Tarkasaṅgraha; Tatra vedaghaṭakaṃ vākyaṃ vaidikam, vākyavṛtti* - 4, p. 20;

Tasyeśvaroktatve pramāṇamanumānam. Tacca vedaḥ pauruṣeyo vākyatvād bhāratādivat iti - *Tarkadīpikā* - 4, p. 32 and *Siddhāntacandrodaya*).

The sentences are also otherwise divided into two different types, namely, *mahāvākya* and *avāntaravākya* or *khaṇḍavākya.* In *Śabdaśaktiprakāśikā,* the *mahāvākya* is defined as *Mahāvākyaṃ ca svaghaṭakānekanāmalabhyatādṛśārthabodhakaṃ vākyam (Svopajñavṛtti* on *Śabdaśaktiprakāśikā*, Verse No. 3, P. 38).

That means, the sentence expresses the meanings denoted by a number of words incorporated in it. In fact, the knowledge of the meaning of the *khaṇḍavākya* is the cause of the knowledge of the meaning of the *mahāvākya.* In *Tantravārtika* Kumārilabhaṭṭa says :

Svārthabodhe samāptānāmaṅgāṅgitvavyapekṣayā.

Vākyānāmekavākyatvaṃ punaḥ saṃhatya jāyate..

(quoted in Nyāyakośa by Jhalkikar as the verse from Vākyapadīya, but it is not available in it. May be it belongs to *Tantravārtika*)

In fact, the collection of sentences which are semantically connected each other is known as *ekavākya*. The Mīmāṃsaka-s accept that the principal *vākya* - *Darśapūrṇamāsābhyāṃ yajeta jyotiṣṭomena* has *ekavākyatva with guṇavidhi. Akhaṇḍārthabodhakavākya* is called a *mahāvākya*. The *Māyāvādi Advaitavedāntin*-s have accepted twelve *mahāvākya*-s in the form of *Prajñānaṃ Brahma, Ahaṃ Brahmāsmi, Tattvamasi, Ayamātmā Brahma* etc. Among the rhetoricians Viśvanātha Kavirāja has defined *vākya* as the collection of words possessed of *yogyatā, ākāṅkṣā* and *āsatti* which is of two kinds, namely, *vākya* and *mahāvākya* :

Vākyaṃ syādyogyatākāṅkṣā-
sattiyuktaḥ padoccayaḥ.
Vākyoccayo mahāvākya-
mitthaṃ vākyaṃ dvidhā matam..

(*Sāhityadarpaṇa* 2.1)

He has quoted the famous verse *Śūnyaṃ vāsagṛham* as the example of *vākya* and the great epics such as Rāmāyaṇa *Mahābhārata* etc. as mahāvākya.

In fact, the nature of *arthabodhajanaka vākya* is being discussed from ancient time. Though many theories are available with regard to the nature of sentence still the definition of Kātyāyana is still acceptable to all. While defining the nature of sentence Kātyāyana says : *Ākhyātaṃ sāvyayaṃ sakārakaviśeṣaṇaṃ vākyam*. patañjali has also supported the view of Kātyāyana in this regard and says : *Ākhyātaṃ sāvyayaṃ sakārakaṃ sakārakaviśeṣaṇaṃ vākyasañjñaṃ bhavatīti vaktavyam. Sāvyayaṃ uccaiḥ paṭhati, Sakārakaṃ odanaṃ pacati, Sakārakaviśeṣaṇaṃ odanaṃ mṛdu pacati* (*Mbh* on P. 2.1. 1 on *Vārtika* 10). To extend this discussion further Kātyāyana has given us another Vārtika : *Sakriyāviśeṣaṇaṃ ca. Patañjali* has given examples to this as *Suṣṭhu pacati, Duṣṭhu pacati* etc. Patañjali adds a word apūrva in this context as he says : *Idamādyāpūrvaṃ kriyate vākyasañjñā samānavākyādhikāraśca.* By adding the word *apūrva* here Patañjali has tried to establish that no one other than Kātyāyana has so far defined the sentence with so much of clarity. Therefore, Kātyāyana has been rightly called as *Vākyakāra*. Moreover, in the school of grammar, the terms vākya and *Vārtika* have been used as synonyms. Not only in the school of grammar but śaṅkara in his commentary to *harṣacarita* also has expressed similar view on this issue as he says : *Vākyaṃ vivaraṇaṃ vārtikañca, yatkaraṇātkātyāyano vārtikakāra ityucyate.*

Jaimini's definition of sentence is very old, no doubt, but it is difficult to decide whether it is older to Kātyāyana or not. However, on the basis of Patañjali's use of *Apūrva* one may consider the definition of Kātyāyana as older than that of Jaimini. Although before Kātyāyana, Vyāḍi also has discussed about the nature of sentence in his *Saṅgraha* still that definition has been treated as *laukika* and not as *Śāstrīya*. The ancient commentators of *Mīmāṃsāsūtra* do consider the definition of jaimini also as *laukika*. However, Kumārilabhaṭṭa and his followers do accept it as *śāstrīya*. similarly in the school of *Vyākaraṇa* the grammarians like Bhartṛhari, Kaiyaṭa, Bhoja, Biṭṭalācārya etc. do accept the definition of Kātyāyana as *śāstrīya*. However, Nāgeśa has accepted it as *laukika* and *śāstrīya* both.

With regard to the definition of Kātyāyana : *Ākhyātaṃ sāvyayaṃ*

sakārakaviśeṣaṇaṃ vākyam, a natural querry arises that whether each of these will be treated as a sentence or their collection only will be treated as a sentence ? Though the purpose of including *avyaya* in the definition was served by the inclusion of *kārakatva* and *viśeṣaṇatva*, Still it has been stated separately for clarity. In the statement *sakriyāviśeṣaṇa*, *kāraka* is understood and not *kriyā* due to proximity (*pratyāsatti*). By the word *ākhyāta* the prominence of *kriyā* indicated. Therefore, the *vākyatā* of the expression *Tena devadattena paṭhitavyam* is also established. From the word *saviśeṣaṇa*, the direct and indirect use of *viśeṣaṇa* is understood. Therefore, the *viśeṣaṇatva* of *nadyāḥ* in the expression *Nadyāstiṣṭha kūle* has been justified due to being in the same sentence. By keeping this view in mind, Amarasiṃha in his *Amarakośa*, has defined *vākya* as *Suptiṅantacayo vākyam kriyā vā kārakānvitā*'. In fact, there should not be any rigidity that whether the *kāraka* should be *tiṅantavācya* or *anyavācya*. Bhartṛhari has gone for a single definition for both the options i.e. *ekoddeśyakagarbhakạ* as well as *ekavidheyakatvagarbhaka* and says :

Sākāṅkṣāvayavaṃ bhede parānākāṅkṣaśabdakam.
Kriyāpradhānaṃ guṇavadekārthaṃ vākyamucyate..

(*Vākyapadīya* 2.4)

Here *vākya* refers to *ekavākya*. Therefore, on the basis of Jaimini's definition *Arthaikatvādekaṃ vākyaṃ sākāṅkṣaṃ ced vibhāge syāt* the possibility of *uddeśyānekatva* and *vidheyānekatva* arises which justify Mīmāṃsaka's view of *vākyabheda*. The intended meaning of the above mentioned definition of sentence given by Jaimini is : the collection of words having one meaning is called a sentence. It becomes *sākāṅkṣa*, if so desired by the user. However, this definition is not acceptable to the Mīmāṃsaka-s. Because in that case due to oneness of *prayojya* the expressions like *Ayaṃ daṇḍo harānena, Odanaṃ paca tava bhaviṣyati* etc. will also be called sentences. Accordingly, the unwanted accentuation (*nighāta*) will be effective. Keeping this problem in mind puṇyarāja has accepted kātyāyana's definition as flawless and therefore, best : *Tasmād vārtikakārīyameva vākyalakṣaṇaṃ jyāḥ*. Kaiyaṭa etc. also have accepted jaimini's definition as *laukika* and Kātyāyana's definition as *śāstrīya* : *Arthaikatvādekaṃ vākyaṃ sākāṅkṣaṃ ced vibhāge syāditi*

laukikaṃ vākyalakṣaṇam. iha tu vākyaṃ paribhāṣitaṃ ākhyātaṃ sāvyayaṃ kārakaṃ viśeṣaṇamiti (*Pradīpa* on Mbh. 8.1.18).

Bhartṛhari on the Nature of Sentence

Bhartṛhari has abridged the available theories of sentence and has presented some alternates about the definition of sentence in his *Vākyapadīya* by the help of which the concept of *akhaṇḍavākyasphoṭa* can be justified :

Ākhyātaśabdaḥ saṅghāto
jātiḥ saṅghātavartinī.
eko'navayavaḥ śabdaḥ
kramo buddhyanusaṃhṛtiḥ.
padamādyaṃ pṛthak sarvaṃ
padaṃ sākāṅkṣamityapi.
vākyaṃ prati matirbhinnā
bahudhā nyāyavādinām..

(*Vākyapadīya* 2.1-2)

These two verses contain eight definitions in all. They are :

1. *Ākhyātaśabdaḥ vākyam* (a verbal form of words)
2. *Saṅghātaḥ vākyam* (the collection of words)
3. *Saṅghātavartinī jātiḥ vākyam* (a class or universal manifested by the collection)
4. *Eko'navayavaḥ śabdaḥ vākyam* (one and indivisible)
5. *Kramaḥ vākyam* (under pertaining to the words in a sentence)
6. *Buddhyanusaṃhṛtiḥ vākyam* (mental impression)
7. *Ādyapadaṃ vākyam* (the first inflected word)
8. *Pṛthak sarvaṃ padaṃ vākyam* (all words differing from one another but mutually expecting each other)

It is still a controversy who really has propagated this multidimensional definition. Puṇyarāja links some of them to the school of *Mīmāṃsā*. He is of

the opinion that *saṅghātavāda* and *kramavāda* are the ideas of abhihitānyavādin-s. Similarly, *ākhyātaśabdavāda*, *ādyapadavāda* and *pṛthak-sākāṅkṣa-sarvapadavāda* are the ideas of anvitābhidānavādin-s. On the contrary, the famous Mīmāṃsaka-s like Kumārilabhaṭṭa, Śālikanātha and Sucaritamiśra etc. relate these definitions to the school of grammar. They feel so, because these definitions are mentioned in *Vākyapadīya*. Let us now analyse these eight definitions for the clarification of the concept :

1. Ākhyātaśabdaḥ vākyam :

The first definition accepts *kriyā* as *vākya*. Here *kriyā* is intended from the term *ākhyāta*. Because, for the clarity of meaning atleast one *kriyā* should be there in a sentence. Bhartṛhari also seems to be in the favour of this view. It is ofcourse a different issue that whether this kriyā should be *śrūyamāṇa* or *anumeya*. In this context, one should observe the remarks of *Harivṛtti* : *Tasyāśrūyamāṇaṃ kriyāpadamanumīyamānaṃ kriyāpadaṃ vā vākyameva sarvavyavahāreṣūpapadyate* (*Vākyapadīya* 2.430). However, this *kriyāpada* should not be a common one but it should of some specific nature, says the *ekatva-nityatvavādin*. Though the *kriyāpada* itself is a sentence still Bhartṛhari feels that the words are treated as sentence after being considered as incorporated verbal activity. According to him, clear understanding of a sentence is possible only through a *kriyāpada* :

Vākyaṃ tadapi manyeta
yatpadaṃ caritakriyam.
antareṇa kriyāśabdaṃ
Vākyādeva hi darśanāt.

(*Vākyapadīya* 2.326)

In fact, the term *ākhyāta* used in this definition might have its origin in Kātyāyana's *Vārtika* defining a sentence i.e. *Ākhyātaṃ sāvyayaṃ* etc. where he has accepted the *ākhyāta* as sentence which is qualified by *avyaya*, *kāraka* and *viśeṣaṇa*. The ākhyātaśabdavādin accepts *saviśeṣaṇam*, because, in the absence of this term also the qualifiers like *kāraka* etc. which are related to the verbal activity (*ākhyāta*) are naturally supplied through a principle called

adhyāhāra. Moreover, according to them, if the necessity of the qualifiers is not felt then even *ākhyāta* alone can also be treated as a sentence .

2. *Saṅghātaḥ Vākyam :*

The second definition refers to the collection of words. It seems that this definition is based on the ancient statement *Varṇasaṅghātajaṃ padam, Padasaṅghātajaṃ vākyam*. The followers of *ekatvavāda*, accept the collection of words denoting a single sense as a *vākya*. According to this view, just as the cooking is performed with the help of many instruments and just as many servants together carry the palnquee, similarly many words together denote the sense of a sentence. Bhoja in his *Śṛṅgāraprakāśa* has drawn our attention towards this fact as he says : *Yathā trayo'pi grāvāṇa uravāṃ dhārayanti. catvāro'pyudyantāraḥ śivikāmudyacchanti, sarvāṇi api kārakāṇi pākaṃ sādhayanti tathā padānyapi sarvāṇi vākyārthamanvavagamayanti.*

In this *saṅghātavāda* the words are dependent or independent is a question. In fact, on the basis of this question only the famous two concepts of *Mīmāṃsā*-school, namely, *abhihitānvayavāda* and *anvitābhidhānavāda* have come into existence. Although Puṇyarāja finds the *saṅghātavāda* as conducive to *abhihitānvayavāda*, still Kumārilabhaṭṭa has criticised this view in the *Vākyādhikaraṇa* of *Ślokavārtika*.

Evamādyantaṃ sarveṣāṃ
pṛthak saṅghātakalpane.
Anyonyānugrahābhāvāt
padānāṃ nāsti vākyatā..

(*Vākyādhikaraṇa, Śloka* 4)

According to Kumārilabhaṭṭa, the *vākyatva* of *padasaṅghāta* cannot be established in the absence of their favouring each other. In support of this view sucaritamiśra says in his commentary *Kāśikā* : *Padānāṃ pṛthagbhūtānāṃ saṅghātavartināṃ vā na vākyatvam. pṛthagbhūteṣu hi tāvad vākyabuddhireva notpadyate. Saṅghātakalpane'pi na pṛthak saṅgho'pi viśeṣaḥ. tadānīmapyanyonyānugrahasya teṣvanavagamāt. asati cāgrahe*

vākyatvakalpanāmātram ekaikasyāpi tatprasaṅgāt. In the school of grammar, Bhartṛhari has discussed about *saṅghātavāda*. He has sometimes supported this view and sometimes he has criticised it :

Sāmānyārthastirobhūto
na viśeṣe'vatiṣṭhate.
Upāttasya kutastyāgo
nivṛttaḥ kvāvatiṣṭhatām..

(*Vākyapadīya* 2.15)

Further also, Bhartṛhari has said that just as the individual letters in a word is meaningless, similarly the individual words of a sentence have no meaning. In fact, the letters and words do denote meanings collectively in a word and in a sentence respectively :

Yathā sāvayavā varṇā
vinā vākyena kenacit.
Arthavantaḥ samuditā
vākyamapyevamiṣyate..

(*Vākyapadīya* 2.54)

3. Saṅghātavartinī jātiḥ vākyam :

Third definition accepts a single word as vākya which should be bound with *jātitva* : *Ekaḥ śabdaḥ vākyam sa ca śabdaḥ jātinibandhanaḥ. evaṃ śabdajātireva vākyam. śabdajātereva vākyatve bhramaṇatvādayo dṛṣṭāntatvenopanyastāḥ*.

Here Bhartṛhari wants to say that *vākya* refers to *sabdajāti*. Just as *bhramaṇatvajāti* is expressed from the word bhramaṇa eventhough the other activities like *kampana, recana. utprekṣaṇa* etc. are possible in it, similarly *varṇa, pada* and *vākya* are expressed by *dhvani*.

Just as in *varṇāpacita dhvanivyaṅgya* and in other similar dhvanis, the componentless words (*niravayava pada*-s) are expressed, similarly, the *vākya* is expressed by dhvani-s either it may be *pracitatama sadṛśa or asadṛśa*. As it

is stated in the *Harivṛtti* of *Vākyapadīya* : *Śabdajātereva vākyatve bhramaṇatvādayo dṛṣṭāntatvenopanyastāḥ. Apacitadhvanivyaṅgyastāvadeko varṇaḥ, tasyābhivyakti- nimittaiḥ sadṛśairanyaiśca śrutibhinnairekaṃ niravayavañca padaṃ vyajyate. tathaiva tulyātulyaiḥ pracitatamaiḥ vākyamiti* (*Harivṛtti* on *Vākyapadīya* 2.21). Puṇyarāja has accepted this *śabdākṛtivākyavāda* as *jātisphoṭa*. As he says : *Tena bhinnaprayatnodīrita-dhvanyabhivyakto'yaṃ jātisphoṭo vilakṣaṇa eveti bodhyam.*

4. *Eko'navayavaḥ śabdaḥ vākyam* :

Fourth definition accepts *vākya* as *niravayava* and *avicchinna*. Here the features (*avayava*-s) are imaginative. Just as an art is visualised initially as one i.e. having no features or parts and consequently their parts are also observed, similarly a sentence also appears as one and complete, having no *avayava* or *ākāṅkṣā* in the initial stage and later for its understanding one starts analysing its parts such as words, letters etc. :

Citrasyaikasvarūpasya
yathā bhedanidarśanaiḥ.
nīcādibhiḥ samākhyānaṃ
kriyate bhinnalakṣaṇaiḥ..
Tathaivaikasya vākyasya
nirākāṅkṣasya sarvataḥ.
śabdāntaraiḥ samākhyānaṃ
sākāṅkṣairanugamyate.

Puṇyarāja accepts the *akramavākya* as *sphoṭa* and *anavayavāpekṣa vākya* as *vyaktisphoṭa* : *Paramārthastvasāvakrama eva sphoṭātmā pratibhāsaḥ. upādhivaśāttu tatra buddhiḥ vitatevānugamyate iti bodhyam* (*Puṇyarāja* on *Vākyapadīya* 2.13). Vācaspati Miśra has justified the sentence as *niravayava* in his *Tattvavindu*. According to him, the division of words and letters in a sentence is just an illusion : *Anavayavameva vākyam. anādyavidyopadarśitālīka- varṇapadavibhāgamasyāḥ nimittamiti kecit* (*Pramāṇavārtika* P. 6).

Dharmakīrti, however, has criticised *niravayavavāda*. He feels that in accepting *niravayavatva* in a sentence, its *kramābhāsa* will not be possible. Moreover, the *kālabheda* can also not be justified. Because, it is not possible to know an object gradually. If we accept the *vākya-varṇa* alternate then the knowledge of the complete sentence should occur even in hearing the sentence partly : *Ekatve'pi hyabhinnasya kramaśo gatyasambhavāt. kālabheda eva na yujyate. Na hyekasya pratipattiḥ yuktā. gṛhītīgṛhītayorabhedā gṛhītīgṛhītābhāvāt. krameṇa ca vākyapratipattiḥ dṛṣṭā. Sarvavākyasmaraṇa-kālasyānekakṣaṇanimeṣānukramaḥ parisamāptaḥ. Varṇa-rūpāsaṃsparśanaścaikabuddhipratibhāsinaḥśabdātmano'pratibhāsamānāt varṇasukramapratīteḥ. Tadaviśade'pyanukramakṛtatvāt vākya-bhedasyānukramavato vākyapratītiḥ. Varṇānukramopakārānapekṣaṇe taiḥ yathākathañcit prayuktairapi yat kiñcid vākyaṃ pratīyate. Vinā vā varṇaiḥ taiḥ anukramavadbhiḥ akramasyopakārāyogāt. Akrameṇa ca vyāhartumaśakyatvād gatyantarabhāvācca. naiva vākye varṇāḥ santi. Tadekameva śabdarūpaṃ vyañjakānukrama- vaśādanukramavadvarṇa-vibhāvavat pratibhāsīti cet anukramavatā vyañjakenākramasya vyaktiprayuktā vyaktāvyaktavirodhāt. avarṇabhāge ca vākye'sakalaśrāviṇo'sakala-vākyagatirna syāt. Ekasya sakalābhāvāt sakalaśrutirvā na kasyacit* (*Pramāṇavārtika* pp. 128-129)

Maṇḍanamiśra, however, has refuted these objections of Dharmakīrti on *niravayavavāda* in his *Sphoṭasiddhi*. To refute the first objection, he says : *Ekatve'pi kramaśo matiranapākhyeyopākhyeyākāra- pralayabhedena purastāt prapañcitā. vyañjakasādṛśyāstu śabdāntaragrahaṇābhimāninaḥ tena nāśravaṇaṃ sakalaśravaṇaṃ veti* (*Sphoṭasiddhi*, pp. 238-239). Similarly to refute the second objection, he says : *Tena kāraṇena paramārthābhāvapakṣe'pi bhāgaśo grahaṇamupapadyate eva. na punaḥ aśravaṇaṃ vā sakalaśravaṇaṃ vāpadyeteti* (*Sphoṭasiddhi*, p. 239).

5. *Kramaḥ vākyam* :

Fifth definition accepts *krama* as *vākya*. According to the followers of this theory there is no *vākya* except *krama*. They feel that the *krama* is the cause of the meaning understood from *dhvanisamūha* or *padasamūha* and

not the sentence. Therefore, the existence of the sentence is not acceptable to them. The *krama* which is understood from the words is only due to the incorporation of *kālaśakti*. Because, *kramavastu* is not different from *kālaśakti*. As it is stated in the *Harivṛtti* of *Vākyapadīya* : *Kramo hi śabdeṣu kālaśaktirūpaviśeṣasya niveśa eva. saḥ kālātmo na vyatiricyate* (*Vākyapadīya* 2.50).

In fact, *vākya* refers to definite placement of words. Since this is not possible without accepting a definite order, *krama* is to be accepted as a sentence. According to this theory the existence of meaning is accepted in the words and the sentence is considered just as a *pralāpa*. The *Harivṛtti* says : *Tena vākyamityavastukamevedamabhilāpamātraṃ padamevārthavaditi* (*Vākyapadīya* 2.50). In fact, *kramavāda vākya* has been severely criticised by the Mīmāṃsaka-s, because, they see faults in it and say that if we accept *krama* as *vākya* then there will be a flaw called *vākyabheda* due to *padakramabheda*. For example, in case of the two sentences : *gauḥ śuklaḥ* and *śuklaḥ gauḥ*, there will be possibility of *arthabheda* in the assumption of *vākyabheda* due to *padakramabheda*. Bhartṛhari also has refuted this theory as follows: *Tena vākyaṃ na bhidyate* (*Vākyapadīya* 2.50) and *padākhyā vākyasañjñā ca śabdatvaṃ neṣyate tayoḥ*. (*Vākyapadīya* 2.52)

In fact, *krama* is also a useful means so far as the process of the sentence is concerned. Therefore, *krama* also has been treated as a *vākya*.

6. Buddhyanusaṃhṛtiḥ vākyam :

In the sixth definition, sentences are accepted as inseparable (i.e.*akhaṇḍa*). In fact, *kalpita padabuddhi* is called *buddhyanusaṃhṛti*. The commentator says : Anukrameṇa saṃhṛtiḥ *anusaṃhṛtiḥ*, *kalpitānāṃ padabuddhinām anusaṃhṛtiḥ buddhyanusaṃhṛtiḥ*. That means, there are no words in a sentence, they are just imagined. The sentence is possible due to the imagination of the collection of words. According to this interpretation, the senteneeness of *bāhyarūpa-jātivyaktisphoṭa* cannot be established. On the other hand, only the *ābhyantarasphoṭa* can be treated as *vākya*. Bhartṛhari says in his *vākyapadīya* :

Yadantaḥśabdatattvaṃ tu nādairaṅke prakāśitam.

Tadāhurapare śabdaṃ tasya vākye tathaikatā..

(*Vākyapadīya* 2.30)

That means, though the *śabdatattva* in the form of understanding, resides in the heart as one, and therefore non-graded, still it is manifested by the graded *nāda*. This has been accepted by some scholars (*ācārya*-s) as the nature of words. As the above said nature of words has the property of oneness (*ekatā*) and identicalness of its own class (*svagata sajātīya bhedaśūnyatā*), similarly, a sentence can also have such oneness as well as identicalness.

7. *Ādyapadaṃ vākyam :*

The seventh definition accepts the first word of an expression as sentence. Bhartṛhari says :

Kevalena padenārtho

yāvānevābhidhīyate.

Vākyasthaṃ tāvato'rthasya

tadāhurabhidhāyakam.

For example, in the expression : "*Devadattaḥ gāmabhyāja daṇḍena*", devadatta which is studded with all qualifiers and denotes the meaning related to other *padārtha*, is accepted as the complete meaning of the sentence. Bhartṛhari has pointed out this fact in his *Vākyapadīya* when he says:

Viśeṣaśabdāḥ keṣāñcit

sāmānyapratirūpakāḥ.

Śabdāntarābhisambandhād

vyajyate pratipattṛṣu ..

(*Vākyapadīya* 2.17)

In fact, in the above statement "*Devadattaḥ gāmabhyāja daṇḍena*" Devadatta is qualified by *gāṃ vadhāna*. When the speaker utters the word Devadatta then it initially appears as Devadatta in general but later due to its being associated with the word go, a specific meaning is understood. Therefore,

it is stated above that devadatta being studded with several qualifiers, denotes the meaning of sentence by being related to other *padārtha*-s, The following *kārikā* available in Bhartṛhari's *Vākyapadīya* denotes similar view :

pūrvairarthairanugato

yathārthātmā paraḥ paraḥ.

Saṃsarga eva prakrānta-

stathādyeṣvarthavastuṣu..

(*Vākyapadīya* 2.411)

Here the intended meaning is : though there is variation of form in the uttered words devadatta etc. still the word uttered later is treated as associated or rather qualified with the words uttered earlier. Thus, due to the pervasion of *saṃsarga*, the initial word indulges by involving the meaning of genitive (*ṣaṣṭhyartha*) in it.

8. Pṛthak Sarvapadaṃ Vākyam :

In the eighth definition all the words (first, middle and the last) become sentence as a whole. Bhartṛhari holds :

Niyataṃ sādhane sādhyam

kriyā niyatasādhanā.

Sa sannidhānamātreṇa

niyamaḥ san prakāśate.

That means : *sādhya* and *sādhana* are definite to each other. They are expressed due to proximity of other words only due to expectancy (*ākāṅkṣā*). Therefore, a word hinted by another word is called a sentence. The specific meaning is understood from the general word because of *ākāṅkṣā*. That means, the *kāraka* expects another word being a guṇa to the verbal activity. Thus, all the words present in a sentence can be considered as *sākāṅkṣa* to each other.

To sum up : In the day-to-day activity, the collection of words denoting an integrated meanings, is called a sentence which has been supported by the

grammarians. The other definitions which have not gained the support of people, could not be established. Therefore, in the conclusion I would like to enlist some of the established definitions of sentence which have been accepted by the common people as well as by the distinguished *Ācārya-s* :

i) *Padasaṅghātajaṃ vākyam* (*Saṅgraha* of Vyāḍi)

ii) *Padasamūho vākyamarthasamāptau śaktam* (*Arthaśāstra*.179)

iii) *Ekārthaḥ padasamūho vākyam* (*Kāśikā* on P. 8.1.8)

iv) *Suptiṅantacayo vākyam kriyā vā kārakānvitā* (*Amarakośa* 1.6.2)

v) *Viśiṣṭaikārtha-Pratipādaka-Nirākāṅkṣa- Padasamūho vākyam* (*Candrālokaṭīkā*, P. 8)

Out of these definitions Bhartṛhari has prejudice for *Niravayavaśabdaḥ vākyam*, says Puṇyarāja. He feels that *Niravayavaśabdātmaka vākyavāda*" refers to *sphoṭa* which is nothing but a sentence both externally and internally : *Ṭīkākārāścāmumeva pakṣaṃ sūtrakārasyābhiprāya- samāśrayeṇa bāhyarūpaḥ āntaro vā nirvibhāgaḥ śabdārthamayo bodhasvabhāvaḥ śabdaḥ sphoṭalakṣaṇe eva vācyam* (*Puṇyarāja* on *Vākyapadīya* 2. 6). In the context of defining sentence Bhartṛhari has never used the term *sphoṭa*. However, Helārāja says that he has supported the concept of *sphoṭa* by accepting *Niravayava-vākyavāda : Vākyasyaiva niraṃśasya vācakatvādantarā padapratipattiḥ vibhrama iti* (*Helārāja* on *Vākyapadīya* 3.1).

Banamali Biswal

भूमिका

भाषा की संरचना पर विचार करते समय सबसे पहले वाक्य की संरचना पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि हमारी विचार–शैली का भेद वाक्य से ही प्रकट होता है। यद्यपि ह्विटने जैसे कुछ भाषावैज्ञानिक इस तथ्य से सहमत नहीं हैं कि वाक्य से भाषण का आरम्भ माना जाना चाहिये, किन्तु आधुनिक शोध ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भाषा की आरम्भिक दशा में वाक्यों अथवा वाक्यशब्दों का ही प्रयोग होता है। बच्चे की भाषा सीखने की प्रक्रिया पर ध्यान देने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह पहले वाक्य सीखता है फिर बोलता है और वाक्यों में ही सोचता–समझता है। धीरे–धीरे उसे पदों और शब्दों का ज्ञान होता है। इस प्रकार वाक्य के पृथक्–पृथक् अवयव होते हुये भी सम्पूर्ण विचारों के वाचक वाक्य ही हैं। अर्थ की दृष्टि से जो वाक्य हैं रूप की दृष्टि से वे ध्वनिसमूह हैं। क्रमशः वाक्यों के अवयवों का विकास हुआ और शब्दों से विश्लेषण सम्भव हुआ। आज वाक्य और शब्दों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत हो चुकी है।

इस पूर्वपीठिका से यह तथ्य स्पष्ट हो चुका है कि भाषा की प्रयोगदशा में वाक्यों का प्राधान्येन महत्त्व है। क्योंकि भाषा का प्रयोग वाक्यों के बिना सम्भव नहीं है। निर्वचन की दृष्टि से भाषा एवं वाक्य में अर्थसाम्य भी देखा जा सकता है – *भाष्यते इति भाषा (भाष+अङ्+टाप्)* और *उच्यते इति वाक्यम् (वच्+ण्यत्)*। अतः वाक्यसिद्धान्त पर चर्चा व्याकरण के अतिरिक्त न्याय, मीमांसा, वेदान्तदर्शन एवं साहित्यशास्त्रों में की गई है। व्याकरणोक्त वाक्यसिद्धान्त को जानने से पहले अन्यशास्त्रोक्त वाक्यविषयक विचारों पर दृक्पात अप्रासंगिक नहीं होगा।

पद एवं वर्ण वाक्य की पृष्ठभूमि है। वर्णसमुदाय पद है और पदसमूह वाक्य–यह एक सामान्य सी परिभाषा है पद एवं वाक्य की।

अक्षरादिक्षकारान्तान्यक्षराणि समीरयेत्।
अक्षरेभ्यः पदानि स्युः पदेभ्यो वाक्यसम्भवः।।

(योगशिखोपनिषद् 35.6)

किन्तु समर्थ पदसमूहों को वाक्य कहना अधिक उचित होगा क्योंकि जब तक

पदसमूह अर्थ की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध नहीं है तब तक वाक्य नहीं बनता। गङ्गेशोपाध्याय ने तत्त्वचिन्तामणि में वाक्य को परिभाषित करते हुये कहा है – वाक्यत्वं च विशिष्टार्थपरशब्दत्वम्। अर्थात् विशिष्टार्थपरक शब्द ही वाक्य है। नैयायिकों के अनुसार वाक्य दो प्रकार के हैं – प्रमाणवाक्य और अप्रमाणवाक्य। आकाङ्क्षा–योग्यता–संनिधियुक्त पदों के समूह को प्रमाणवाक्य कहते हैं। जैसे गामानय इत्यादि। *(वाक्यं द्विविधं प्रमाणवाक्यम् अप्रमाणवाक्यञ्चेति। तत्र प्रमाणवाक्यं आकाङ्क्षा–योग्यता– सन्निधिमतां पदानां समूहः*, यथा गामानय इत्यादि। तर्कभाषा 4, तुल. तर्कसंग्रह, साहित्यदर्पण) और आकाङ्क्षादिरहित को अप्रमाणवाक्य कहते हैं। जैसे *'वह्निना सिञ्चति', 'ह्रदो वह्निमान्'* इत्यादि। जगदीश की शब्दशक्तिप्रकाशिका की टीका में कहा गया है – *"यादृशशब्दानां यादृशार्थविषयिताकान्वयबोधं प्रति अनुकूला परस्पराकाङ्क्षा तादृशशब्दस्तोम एव तथाविधार्थे वाक्यम्।* (शब्दशक्तिप्रकाशिका, श्लोक 13 पर स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. 64)

अर्थात् जिस प्रकार के अर्थविषयक अन्वयबोध के प्रति जिन शब्दों की परस्पर आकाङ्क्षा कारण है उन शब्दों का समुदाय ही उन अर्थों के प्रति वाक्य कहलाता है। वे वाक्य चार प्रकार के हैं – सुबन्त, तिङन्त, सुबन्तैकसमन्वित एवं सुप्तिङन्तोभयगर्भित –

सुबन्तं च तिङन्तं च सुबन्तैकसमन्वितम्।
सुप्तिङन्तद्वयगर्भं वाक्यमेवं चतुर्विधम्।।

(शब्दशक्तिप्रकाशिका, श्लोक 13 पर रामभद्री टीका एवं कृष्णकान्ती टीका)

वैयाकरणों ने *'एकतिङ्'* को वाक्य माना है। *'एकतिङ्'* इस वार्तिक की व्याख्या करते हुये पतञ्जलि ने महाभाष्य में वाक्य को परिभाषित करते हुये कहा है – *'एकतिङ् वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्'।* इस परिभाषा के आधार पर ही व्याकरण–सम्प्रदाय में निम्नलिखित वाक्यलक्षण सर्वस्वीकृत है – एकतिङन्तार्थ–मुख्यविशेष्यक. बोधजनकपदसमूहो वाक्यम्। अर्थात् एकतिङन्तार्थ की मुख्य विशेष्यता वाले बोध के प्रति कारणीभूत पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। यद्यपि *पचति भवति, पश्य मृगो धावति, ब्रूहि ब्रूहि देवदत्त* इत्यादि प्रयोगों में क्रियापदों की अनेकता है तथापि इनमें भी एकवाक्यता भङ्ग नहीं होती।

अमरकोश में अमरसिंह ने वाक्य के सर्वतोव्यापी व्यावहारिक पक्ष को ध्यान में रखकर 'सुप्तिङन्तचयो वाक्यम्' (अमरकोश – 1.6.2) कहकर वाक्य को परिभाषित किया है। पर शब्दशक्तिप्रकाशिका में जगदीश तर्कालङ्कार ने इस लक्षण को अव्याप्ति–अतिव्याप्ति–दोषयुक्त माना है – सुप्तिङन्तचयो नैवमतिव्याप्त्यादि– दोषतः। (शब्दशक्तिप्रकाशिका, श्लोक 13).

कुछ लोगों ने 'स्वार्थबोधसमाप्तः पदसमूहः वाक्यम्' – ऐसा कहा है। अर्थात् ऐसे पदों के समूह को वाक्य कहते हैं जो स्वार्थबोधपर्यवसायी हों। मीमांसकों ने 'समभिव्याहारो वाक्यम्' कहा है। तदनुसार साध्यत्वादिवाचक द्वितीयादि के अभाव में भी शेष–शेषीवाचक पदों का सहोच्चारण वाक्य कहलाता है। पक्षान्तर में लिङ्लकार आदि पदघटित वाक्य द्विविध है – विधिवाक्य और निषेधवाक्य। *'स्वर्गकामो यजेत'* यह विधिवाक्य है। उसी प्रकार *'न कलञ्जं भक्षयेत्', 'न सुरां पिबेत्'* यह निषेधवाक्य है।

वाक्य के चार दोष माने गये हैं – भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और कर्णपाटव। इन दोषों के लक्षण इस प्रकार हैं – *एकपदार्थे अपरपदार्थसंसर्गारोपो भ्रमः, आवाच्ये वाच्यत्वारोपः प्रमादः,* अन्यथा *ज्ञातस्यार्थस्यान्यथा बोधयितुमिच्छा विप्रलिप्सा* तथा *शब्दोच्चारणानुकूलताल्वादिव्यापारशून्यत्वं कर्णपाटवम्।* ध्यातव्य है कि आकाङ्क्षा–योग्यता–सन्निधियुक्त प्रमाणवाक्यों में उपर्युक्त दोष नहीं होते हैं।

नैयायिकों के मत में प्रकारान्तर से वाक्य तीन प्रकार के भी हैं – सुबन्तसमूह, तिङन्तसमूह एवं सुप्तिङन्तसमूह। *'त्रयः कालाः'* यह वाक्य सुबन्तसमूह का उदाहरण है जबकि *'पचति भवति'* तिङन्तसमूह का और *'चैत्रः पचति'* सुबन्ततिङन्तसमूह का उदाहरण है। 'त्रयः कालाः' इस वाक्य में वर्तमानत्व सम्भव न होने के कारण 'सन्ति' इत्यादि का अध्याहार भी सम्भव नहीं है।

प्रकारान्तर से पुनः वाक्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है – वैदिक एवं लौकिक। वैदिक वाक्य का ईश्वरोक्त होने से सर्वात्मना प्रामाण्य है जबकि लौकिक वाक्यों का आप्तोक्त होने पर ही प्रामाण्य सिद्ध होता है। इसके भिन्न जो अनाप्तोक्त हैं वे अप्रमाणवाक्य हैं –

(क) *वाक्यं द्विविधम्, लौकिकं वैदिकं च। तत्र वैदिकमीश्वरोक्तत्वात्सर्वमेव प्रमाणम्। लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम्।* अन्यदप्रमाणम् (तर्कसंग्रह)

(ख) *तत्र वेदघटकं वाक्यं वैदिकम्* (वाक्यवृत्ति 4, पृ. 20)

(ग) *तस्येश्वरोक्तत्वे प्रमाणमनुमानम्। तच्च वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वाद्भारतादिवत् इति*

(तर्कदीपिका 4, पृ. 32, सिद्धान्तचन्द्रोदय 4, पृ. 32)

स्मृति एवं पुराणेतिहास आदि वेदमूलक हैं, अतः उनका सर्वात्मना प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है।

एक अन्य प्रकार से भी वाक्य का द्विविध विभाजन किया गया है – महावाक्य और अवान्तरवाक्य या खण्डवाक्य। शब्दशक्तिप्रकाशिका में महावाक्य को परिभाषित करते

हुए कहा गया है—महावाक्यं च स्वघटकानेकनामलभ्यतादृशार्थबोधकं वाक्यम्। (शब्दशक्तिप्रकाशिका, श्लोक 3 पर टीका, पृ. 38)

अर्थात् अपने में समाहित अनेक पदों से लभ्य अर्थों का बोधक वाक्य है। वस्तुतः महावाक्यार्थज्ञान के लिए खण्डवाक्यार्थज्ञान कारण है। तन्त्रवार्तिक में कुमारिलभट्ट ने कहा है –

स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते।।

(तन्त्रवार्तिक, न्यायकोश में भीमाचार्य झल्कीकर ने इसे वाक्यपदीय की कारिका बताया है। पर वहाँ यह कारिका उपलब्ध नहीं है)

वस्तुतः परस्पर सम्बद्धार्थक वाक्यसमुदायरूप को एकवाक्य कहते हैं। जैसा कि मीमांसकों ने माना है कि *दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत* इत्यादि प्रधानवाक्य का गुणविधि के साथ एकवाक्यत्व है। अखण्डार्थबोधक वाक्य को भी 'महावाक्य' कहा गया है। मायावादी अद्वैतवेदान्तियों के मत में – *प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म* इत्यादि द्वादश महावाक्य माने गये हैं। साहित्यशास्त्रियों में विश्वनाथ कविराज ने वाक्य को परिभाषित करते हुये कहा है:योग्यता–आकाङ्क्षा–आसत्तियुक्त पदसमूह वाक्य है, जो दो प्रकार के हैं – वाक्य और महावाक्य –

वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः
वाक्योच्चयो महावाक्यमित्थं वाक्यं द्विधा मतम्।

(साहित्यदर्पण 2.1)

उदाहरणक्रम में उन्होंने शून्यं... वासगृहम् को वाक्य एवं रामायण, महाभारत, रघुवंश आदि को महावाक्य माना है। वस्तुतः अर्थबोधजनक 'वाक्य' के स्वरूप की चर्चा प्राचीन काल से होती आ रही है। यद्यपि वाक्य के स्वरूप के बारे में अनेक वाद उपलब्ध हैं किन्तु कात्यायनकृत वाक्यलक्षण आज भी सभी को स्वीकृत है। वाक्य का स्वरूप बताते हुये कात्यायन ने कहा है – *आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्*। (वार्तिक 10, महाभाष्यम् 2.1.1)

पतञ्जलि ने भी इस मत का समर्थन किया है – *आख्यातं साव्ययं सकारकं सकारकविशेषणं वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्। साव्ययम् उच्चैः पठति, नीचैः पठति, सकारकम् ओदनम् पचति। सकारकविशेषणम् – ओदनं मृदु विशदं पचति।* इस विचार को आगे बढ़ाते हुये कात्यायन ने एक और वार्तिक लिखा – *सक्रियाविशेषणं च*। इस पर पतञ्जलि ने उदाहरण दिया – *सुष्ठु पचति, दुष्ठु पचति*। इन्होंने इसमें 'अपूर्व' शब्द

को जोड़ा है– 'इदमाद्यापूर्वं क्रियते वाक्यसंज्ञा समानवाक्याधिकारश्च'। (महाभाष्यम् 2. 1.1)

यहाँ अपूर्व शब्द जोड़कर पतञ्जलि ने माना है कि कात्यायन से पहले वाक्यस्वरूप के बारे में किसी ने इतनी स्पष्टता के साथ नहीं बताया था, इसीलिए कात्यायन को 'वाक्यकार' भी कहा गया है। व्याकरणसम्प्रदाय में 'वार्तिक' शब्द और 'वाक्य' शब्द भी पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है। हर्षचरित की टीका में शङ्कर ने कहा– *"वाक्यं विवरणं वार्तिकञ्च। यत्करणात्कात्यायनो वार्तिककार इत्युच्यते।"*

जैमिनिकृत वाक्यलक्षण प्राचीन है इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु कात्यायन के वाक्य–लक्षण और जैमिनि के वाक्य–लक्षण के पौर्वापर्य–निर्धारण कष्टसाध्य है। तथापि पतञ्जलि के 'अपूर्व' शब्द के प्रयोग से कात्यायन के वाक्य–लक्षण को प्राचीनतम माना जा सकता है। कात्यायन से पहले यद्यपि व्याडि ने भी 'संग्रह' में वाक्य–स्वरूप के बारे में चर्चा की है फिर भी उस वाक्य–लक्षण को लौकिक माना गया न कि शास्त्रीय। मीमांसा–सूत्र के प्राचीन टीकाकार भी जैमिनिकृत वाक्य–लक्षण को लौकिक मानते हैं। परन्तु कुमारिलभट्ट एवं उनके अनुयायियों ने इसे शास्त्रीय लक्षण माना है। व्याकरण–सम्प्रदाय में भर्तृहरि, कैयट, भोज, विट्ठलाचार्य आदि ने कात्यायनकृत वाक्य–लक्षण को शास्त्रीय माना है। किन्तु नागेश ने उसे लोक एवं शास्त्र उभय–साधारण माना है। साव्ययं कारकविशेषणम्' इस लक्षण में प्रत्येक को 'वाक्य' कहा जाय या समुदित को – यह जिज्ञासा स्वतः उत्पन्न होती है। यद्यपि अव्यय का कारकत्व एवं विशेषणत्व सम्भव है फिर भी उसका पृथगुल्लेख स्पष्टता के लिये किया गया है। सक्रिया–विशेषण कहने से प्रत्यासत्ति से 'कारक' के ही विशेषण का ग्रहण होता है न कि 'क्रिया' का। आख्यात शब्द से क्रिया–प्रधानत्व लक्षित है। अतः 'तेन देवदत्तेन पठितव्यम्' इस उक्ति की भी वाक्यता सिद्ध होती है। 'सविशेषणम्' इस पद से 'साक्षात्' या परम्पराप्राप्त उभयविध विशेषण ग्राह्य है। जिससे 'नद्यास्तिष्ठ कुले' इस प्रयोग में भी 'नद्याः' पद का समानवाक्यस्थ होने के कारण विशेषणत्व सिद्ध होता है। इसी आशय को ध्यान में रखकर अमरसिंह ने अमरकोश में वाक्य–लक्षण करते हुये कहा है– 'सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता।' वस्तुतः कारक तिङन्तवाच्य हो या अन्यवाच्य इसमें कोई आग्रह नहीं होना चाहिये। भर्तृहरि ने 'एकोद्देश्यकगर्भक' एवं 'एकविधेयकत्व–गर्भक' एक–वाक्य–लक्षण प्रस्तुत किया है–

साकाङ्क्षावयवं भेदे परानाकाङ्क्षशब्दकम्।
क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमुच्यते।।

(वाक्यपदीय– 2.4)

यहाँ 'वाक्य' से 'एकवाक्य' अर्थ गृहीत है। इसीलिये– *'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्यात्'* इस जैमिनीय उक्ति के आधार पर उद्देश्यानेकत्व एवं विधेयानेकत्व की स्थिति में मीमांसकों की वाक्यभेद जैसी उदघोषणा की संगति बैठती है। जैमिनि के उपर्युक्त वाक्यलक्षण का तात्पर्य है– एकार्थपदसमूह ही वाक्य है, जो विवक्षा होने पर साकाङ्क्ष होता है। पर मीमांसकों को यह वाक्यलक्षण अनुमत नहीं है। क्योंकि उस स्थिति में– *अयं दण्डो हरानेन, 'ओदनं पच तव भविष्यति'* इत्यादि प्रयोगों में भी प्रयोज्य के ऐक्य के कारण वाक्यत्व सम्भव होगा और तदनुसार अनभीष्ट निघात प्राप्त हो जायेगा। इसी दोष को ध्यान में रखकर पुण्यराज ने वार्तिककार के वाक्यलक्षण की उत्कृष्टता मानी है – *'तस्माद् वार्तिककारीयमेव वाक्यलक्षणं ज्यायः।'* कैयट आदि ने भी जैमिनि के वाक्य–लक्षण को लौकिक एवं वार्तिककार के वाक्य–लक्षण को शास्त्रीय माना है– 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्यादिति लौकिकं वाक्यलक्षणम्।' इह तु वाक्यं परिभाषितम् – 'आख्यातं साव्ययं कारकं' विशेषणमिति। (प्रदीप, म.भा. 8. 1.18)

अब प्रश्न उठता है कि वार्तिककार के वाक्यलक्षण शास्त्रीय है तो लौकिक वाक्यलक्षण क्या है ? इसको ध्यान में रखकर भर्तृहरि ने अपने समय तक प्रसिद्ध हुये वाक्य–सिद्धान्तों का संक्षेपीकरण करते हुये अपने वाक्यपदीय में वाक्यलक्षण के अनेक विकल्प रखे हैं जिनसे अखण्ड वाक्यस्फोट की सिद्धि होती है। उन्होंने अपने वाक्यपदीय में कहा है –

आख्यातशब्दसंघातो जातिः संघातवर्तिनी।
एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृतिः।।
पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं साकाङ्क्षमित्यपि।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्।।

(वाक्यपदीय 2.1–2)

इन दो कारिकाओं के आधार पर पुण्यराज ने आठ वाक्य–विकल्प दर्शाया है– 1. आख्यातशब्दो वाक्यम्, 2. संघातो वाक्यम्, 3. संघातवर्तिनी जातिर्वाक्यम्, 4. एकोऽनवयवः शब्दो वाक्यम्, 5. क्रमो वाक्यम्, 6. बुद्ध्यनुसंहृतिर्वाक्यम्, 7. आद्यपदं वाक्यम् तथा 8. पृथक्साकाङ्क्षं सर्वपदं वाक्यम्।

उपर्युक्त ये वाक्य–विकल्प किन दार्शनिकों के हैं इस पर भी विद्वानों में विवाद है। पुण्यराज इनमें से कुछ विकल्पों को मीमांसा–सम्मत मानते हैं। उनके अनुसार संघातवाद एवं क्रमवाद– ये दो वाक्य–विकल्प अभिहितान्वयवादियों के हैं। इसी प्रकार आख्यातशब्दवाद, आद्यपदवाद तथा पृथक्साकांड्क्ष–सर्वपदवाद – ये तीन विकल्प

अन्विताभिधानवादियों के हैं। किन्तु प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिलभट्ट, शालिकनाथ एवं सुचरितमिश्र आदियों ने इन वाक्य–विकल्पों का सम्बन्ध व्याकरण से जोड़ते हैं, क्योंकि ये विकल्प वाक्यपदीय में उल्लिखित हैं। यहाँ इन विकल्पों पर कुछ विश्लेषणात्मक विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा –

1. आख्यातशब्दो वाक्यम् – इस प्रथम विकल्प में 'आख्यात' शब्द से 'क्रिया' अर्थ अभिप्रेत है। अतः इसका तात्पर्य है क्रिया ही वाक्य है, क्योंकि स्पष्टार्थ–प्रतीति के लिए वाक्य में क्रिया का होना अत्यावश्यक है। भर्तृहरि का भी यही मानना है। यह अलग प्रश्न है कि वह क्रियापद श्रूयमाण हो या अनुमेय। इस प्रसंग में वाक्यपदीय की हरिवृत्ति प्रणिधानयोग्य है– *तस्याश्रूयमाणं क्रियापदमनुमीयमानं क्रियापदं वा वाक्यमेव सर्वव्यवहारेषूपद्यते।* (वाक्यपदीय 2. 430)

परन्तु यह क्रिया सामान्य क्रिया नहीं बल्कि विशिष्ट क्रिया हो– ऐसा एकत्वनित्यत्ववादियों का अभिमत है। यद्यपि क्रिया ही वाक्य है परन्तु वहाँ कुछ पद अन्तर्भूतक्रिया के रूप में विवेचित होते हुये वाक्य कहलाते हैं। जैसा कि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है–

वाक्यं तदपि मन्येत यत्पदं चरितक्रियम्।
अन्तरेण क्रियाशब्दं वाक्यादेव हि दर्शनात्।।

(वाक्यपदीय 2. 326)

वस्तुतः इस विकल्प में प्रयुक्त 'आख्यात' शब्द कात्यायन के 'आख्यातं साव्ययं सकारकं विशेषणं वाच्यम्' इस वार्तिक के आधार पर ही कहा गया है। क्योंकि कात्यायन ने अव्यय–कारक–विशेषण–विशिष्ट आख्यात को वाक्य माना है। आख्यात शब्दवादी 'सविशेषणम्' को मानते हैं, क्योंकि इस पद के अभाव में भी अवसर मिलते ही आख्यात–सम्बद्ध कारकादिविशेषण स्वतः अध्याहृत होते हैं। जहाँ विशेषणों की आवश्यकताओं का अनुभव नहीं होता वहाँ केवल आख्यात भी वाक्य होता है, ऐसा उन लोगों का मानना है।

2. संघातो वाक्यम् – *'वर्णसंघातजं पदम् पदसंघातजं वाक्यम्'* इस प्राचीनोक्ति के आधार पर ही यह विकल्प प्रचलित हुआ– ऐसा लगता है। एकत्ववाद के अनुयायियों ने एकार्थप्रतिपादक पदसमूह को वाक्य माना है। जैसे अनेक साधन मिलकर ही पाकक्रिया सम्पन्न करते हैं, या अनेक सेवक मिलकर शिविका का वहन करते हैं उसी प्रकार अनेक पद मिलकर ही वाक्यार्थबोध कराते हैं। भोज ने शृङ्गारप्रकाश में इस बात की ओर ध्यान दिलाया है– *''यथा त्रयोऽपि ग्रावाण उरवां धारयन्ति, चत्वारोऽप्युद्यन्तारः शिविकामुद्यच्छन्ति, सर्वाणि अपि कारकाणि पाकं साधयन्ति' तथा पदान्यपि सर्वाणि*

वाक्यार्थमन्ववगमयन्ति।'' वस्तुतः इस संघातवाद में पद स्वतन्त्र होते हैं या परतन्त्र इसी विवाद को आधार बनाकर ही मीमांसा–दर्शन में 'अभिहितान्वयवाद' एवं 'अन्विताभि–धानवाद'– ये सिद्धान्तद्वय प्रचलित हुये हैं। यद्यपि पुण्यराज ने संघातवाद को अभिहितान्वयवाद के अनुरूप माना फिर भी श्लोकवार्तिक के वाक्याधिकरण में कुमारिलभट्ट ने इसकी ओलाचना की है–

एवमाद्यन्तं सर्वेषां पृथक् संघातकल्पने।

अन्योन्यानुग्रहाभावात् पदानां नास्ति वाक्यता।।

(वाक्याधिकरण, श्लोक 49)

कुमारिल के मतानुसार परस्पर अनुग्रह के अभाव में पदसंघात का वाक्यत्व सिद्ध नहीं होता। उनका समर्थन करते हुए काशिका–टीका में सुचरित मिश्र ने कहा है – *''पदानां पृथग्भूतानां संघातवर्तिनां वा न वाक्यत्वम्। पृथग्भूतेषु हि तावद् वाक्यबुद्धिरेव नोत्पद्यते। संघातकल्पनेऽपि न पृथक् संघोऽपि विशेषः, तदानीमप्यन्योन्यानुग्रहस्य तेष्वनवगमात्। असति चाग्रहे वाक्यत्व–कल्पनामात्रम्, एकैकस्यापि तत्प्रसङ्गात्।''* व्याकरण–सम्प्रदाय में भर्तृहरि ने संघातवाद की चर्चा की है। उन्होंने कहीं इसकी आलोचना की है तो कहीं इनका समर्थन –

सामान्यार्थतिरोभूतो न विशेषेऽवतिष्ठते।

उपात्तस्य कुतस्त्यागो निवृत्तः क्वावतिष्ठताम्।।

(वाक्यपदीय 2.15)

आगे भर्तृहरि ने यह भी कहा है कि जैसे सावयव वर्ण निरर्थक होते हैं और समुदित ही सार्थक होते हैं उसी प्रकार समुदित पद ही वाक्य होते हैं न कि पृथक् पद–

यथा सावयवा वर्णा विना वाच्येन केनचित्।

अर्थवन्तः समुदिताः वाक्यमप्येवमिष्यते।।

(वाक्यपदीय 2 . 54)

3. संघातवर्तिनी जातिर्वाक्यम् – इस विकल्प में एक शब्द ही वाक्य है और वह शब्द 'जातिनिबन्धन' माना जाता है। अभिप्राय यह है कि 'शब्दजाति' ही वाक्य है। जैसे आक्षेपविशेष–जनित भ्रमण में कम्पन, रेचन, उत्प्रेक्षणादि की सम्भावना होने पर भी वहाँ एक ही भ्रमणत्वजाति अभिव्यक्त होती है, उसी प्रकार वर्ण, पद एवं वाक्य भी ध्वनिव्यञ्जित होते हैं। वर्णापचित ध्वनिव्यङ्ग्य एवं तत्सदृश अन्य ध्वनियों में निरवयव पद व्यंजित होते हैं। उसी प्रकार प्रचिततम सदृश एवं असदृश ध्वनियों से वाक्य व्यञ्जित होते हैं– वाक्यपदीय की हरिवृत्ति में कहा भी गया है – शब्दजातेरेव वाक्यत्वे

भ्रमणत्वादयो दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्ताः। अपचितध्वनिव्यंग्यस्तावदेको वर्णः। तस्याभिव्यक्तिनिमित्तैः सदृशैरन्यैश्च श्रुतिभिन्नैरेकं निरवयवं च पदं व्यज्यते। तथैव तुल्यातुल्यैः प्रचिततमैः वाक्यमिति। पुण्यराज ने इस शब्दाकृति वाक्यवाद को जातिस्फोट के रूप में माना है– *तेन भिन्नप्रयत्नोदीरित–ध्वन्यभिव्यक्तोऽयं जातिस्फोटो विलक्षण एवेति बोध्यम्।*

4. एकोऽनवयवः शब्दो वाक्यम् – इस विकल्प के अनुसार वाक्य के एकत्व, निरवयवत्व एवं अविछिन्नत्व प्रतिपादित हैं। यहाँ अवयव काल्पनिक है। जैसे– कोई भी चित्र पहले निरवयव एवं पूर्णरूप में दृष्टिगत होता है और बाद में उनके भिन्न–भिन्न भाग में दृष्टि जाती है, उसी प्रकार वाक्य भी परिपूर्ण, निरवयव एवं निराकाङ्क्ष है। उसके ज्ञान के लिये बाद में शब्दों के परस्पर सम्बन्ध का विश्लेषण किया जाता है–

चित्रस्यैकरूपस्य यथा भेदनिदर्शनैः।
नीचादिभिः समाख्यानं क्रियते भिन्नलक्षणैः।
तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकाङ्क्षस्य सर्वतः
शब्दान्तरैः समाख्यानं साकाङ्क्षैरनुगम्यते।।

(हरिवृत्ति, वाक्यपदीय 2.21)

पुण्यराज ने तो वाक्य के अक्रमरूप को स्फोटरूप से एवं अनवयवापेक्ष को व्यक्तिस्फोट रूप में माना है – *परमार्थतस्त्वसावक्रम एव स्फोटात्मारूप्रतिभासः। उपाधिवशात्तु तत्र बुद्धिः विततेवानुगम्यते इति बोध्यम्।* (पुण्यराजटीका, वाक्यपदीय 2.13)

वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वबिन्दु में वाक्य के निरवयवत्व का प्रतिपादन किया है। वाक्य में वर्णपद–विभाग मायाकृत है, ऐसा उनका मानना है– अनवयवमेव वाक्यम्। *अनाद्यविद्योपदर्शितालीकवर्णपदविभागमस्याः निमित्तमिति केचित्।* (प्रमाणवार्तिक – पृ. 6)

धर्मकीर्ति ने किन्तु निरवयववाद की आलोचना की है उनके अनुसार वाक्य के निरवयवत्व मानने से उसमें क्रमाभास सम्भव नहीं होगा एवं कालभेद भी सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि एक वस्तु का क्रम से ज्ञान असम्भव है। वाक्य–वर्ण–पक्ष को माने तो अपूर्णवाक्य को सुनते पूर्णवाक्य का ज्ञान होना चाहिए– *एकत्वेऽपि ह्यभिन्नस्य क्रमशो गत्यसम्भवात्। कालभेद एव न युज्यते। न ह्येकस्य प्रतिपत्तिः युक्ता। गृहीतागृहीतयोरभेदा गृहीतागृहीताभावात्। क्रमेण च वाक्यप्रतिपत्तिः दृष्टा। सर्ववाक्य–व्यवहार– श्रवण– स्मरण – कालस्यानेकक्षण–निमेषानुक्रमः परिसमाप्तः। वर्णरूपासंस्पर्शनश्चैकबुद्धिप्रतिभासिनः शब्दात्मनो– ऽप्रतिभासमानात् वर्णसुक्रमप्रतीतेः। तदविशदेऽप्यनुक्रमकृतत्वात् वाक्य–भेदस्यानुक्रमवतो वाक्यप्रतीतिः। वर्णानुक्रमोपकारानपेक्षणे तैः यथाकथञ्चित् प्रयुक्तैरपि यत् किञ्चिद् वाक्यं प्रतीयते। विना वा वर्णैः तैः अनुक्रमवद्भिः अक्रमस्योपकारायोगात्।*

अक्रमेण च व्याहर्तुमशक्यत्वाद्, गत्यन्तराभावाच्च। नैव वाक्ये वर्णाः सन्ति। तदेकमेव शब्दरूपं व्यञ्जकानुक्रमवशादनुक्रम– वद्वर्णविभाववद् प्रतिभासीति चेत् अनुक्रमवता व्यञ्जकेनाक्रमस्य व्यक्तिः प्रयुक्ता व्यक्ताव्यक्त–विरोधात्। अवर्णभागे च वाक्येऽसकलश्राविणोऽसकलवाक्यगतिर्न स्यात्। एकस्य सकलाभावात् सकलश्रुतिर्वा न कस्यचित्। (प्रमाणवार्तिक – पृ. 128–129)

निरवयववाद पर धर्मकीर्ति के इन आक्षेपों का खण्डन मण्डनमिश्र ने स्फोटसिद्धि में किया है। अखण्ड वाक्य स्वीकारने पर क्रम–प्रतीति का अभाव एवं वाक्य के एकांश के श्रवण में पूर्णवाक्यज्ञान की आपत्ति रूप इन दो आक्षेपों का खण्डन करने हेतु मण्डन मिश्र कहते हैं – *एकत्वेऽपि क्रमशो मतिरनुपाख्ययोपाख्येयाकारप्रलयभेदेन पुरस्तात् प्रपञ्चिता। व्यञ्जकसादृश्यात्तु शब्दान्तरग्रहणाभिमानिनः तेन नाश्रवणं सकलश्रवणं वेति।* (स्फोटसिद्धिः, पृ. 238–239)

द्वितीय आक्षेप का खण्डन करते हुये उन्होंने कहा है– तेन कारणेन परमार्थाभागपक्षेऽपि भागशो ग्रहणमुपपद्यते एव, न पुनः अश्रवणं वा सकलश्रवणं वापद्येतेति। (स्फोटसिद्धिः, पृ. 239)

5. क्रमो वाक्यम् – 'क्रम ही वाक्य है' – इस सिद्धान्त को मानने वाले आचार्यों के मत में क्रमातिरिक्त वाक्य नहीं है। ध्वनि–समूह से या पदसमूह से जो अर्थ प्रतिभासित होता है उसमें क्रम ही कारण है न कि वाक्य। अतः इस मत में वाक्ख की सत्ता स्वीकार नहीं किया जाता है। शब्दों में जो क्रमबोध होता है उसमें कालशक्ति का सन्निवेश जानना चाहिये। क्योंकि कालशक्ति के भिन्न क्रमवस्तु नहीं है। वाक्यपदीय की हरिवृत्ति में कहा ही गया है–

क्रमो हि शब्देषु कालशक्तिरूपविशेषस्य निवेश एव।

सः कालात्मा न व्यतिरिच्यते.................................।।

(वाक्यपदीय 2. 50)

पदों के नियत सन्निवेशजन्य विशेष ही वाक्य है– ऐसा मानने पर विशेष के क्रमजन्य होने से क्रम का ही वाक्यत्व सिद्ध होता है। इस मत में पदों में ही अर्थसत्ता मानी जाती है। वाक्य तो प्रलापमात्र है, ऐसा हरिवृत्ति में कहा गया है– तेन वाक्यमित्यवस्तुकमेवेदमभिलापमात्रं पदमेवार्थवदिति। (वाक्यपदीय 2.50)

वस्तुतः क्रमवाक्यवाद को बहुदोष–दुष्ट कहकर मीमांसकों ने आलोचना की है। पदों के क्रम को वाक्यरूप में स्वीकार करने से पदक्रम–भेद के कारण वाक्यभेद की आपत्ति होगी। जैसे– *'गौः शुक्लः'* अथवा *'शुक्लो गौः'* इन दो वाक्यों में पदक्रमभेद के कारण वाक्यभेद होने से अर्थभेद की आपत्ति होगी। भर्तृहरि ने भी 'तेन वाक्यं न भिद्यते'

(वाक्यपदीय 2.50) है।

'पदाख्या वाक्यसंज्ञा च शब्दत्वं नेष्यते तयोः' (वाक्यपदीय 2.52) कहकर क्रम के वाक्यत्व का खण्डन किया। वस्तुतः क्रम भी वाक्य–कार्य का वाहक है। अतः क्रम को वाक्य कहा गया है।

6. बुद्ध्यनुसंहृतिर्वाक्यम् – कल्पित पदबुद्धि की अनुसंहृति को बुद्ध्यनुसंहृति कहते हैं जिसे वाक्य माना जाता है। यहाँ 'पद' नहीं होते हैं किन्तु 'पद' पद–बुद्धि से कल्पित हैं। इस विकल्प में वाक्य अखण्ड होता है। अर्थात् इस पक्ष में पद–समुदाय रूप को बुद्धि से कल्पना करके वाक्यत्व–व्यवहार माना जाता है। इस प्रकार बुद्ध्यनुसंहृति वाक्य इस पक्ष में बाह्यरूप जातिव्यक्ति स्फोट का वाक्यत्व सिद्ध नहीं होता किन्तु आभ्यन्तर स्फोट का ही वाक्यत्व सिद्ध होता है। भर्तृहरि ने कहा है–

यदन्तःशब्दतत्त्वं तु नादैरङ्के प्रकाशितम्।
तमाहुरपरे शब्दं तस्य वाक्ये तथैकता।।

(वाक्यपदीय 2.30)

तात्पर्य यह है कि हृदय में अवस्थित बोधरूप शब्दतत्त्व एक एवं अक्रम होते हुये भी उसके विपरीत क्रमयुक्त नाद से प्रकाशित है। उसी को कुछ आचार्यों ने पद–स्वरूप माना। जिस प्रकार उस पदस्वरूप शब्द की एकता है, स्वगत सजातीय भेदशून्यता है उसी प्रकार वाक्य में भी सम्भव होने से उसमें भी एकता मानी जाती है।

7. आद्यपदवाक्यम् – इस परिभाषा के अनुसार किसी भी उक्ति के आद्य पद को 'वाक्य'–संज्ञा होती है। जैसे– 'देवदत्त गामभ्याज दण्डेन' इस प्रयोग में सकल–विशेषण–खचित पदार्थान्तर–सम्बद्ध अर्थ रूप देवदत्त पद ही वाक्यार्थ होता है। इस तथ्य की ओर भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में संकेत किया है –

विशेषशब्दाः केषाञ्चित् सामान्यरूप्रतिरूपकाः।
शब्दान्तराभिसम्बन्धाद् व्यज्यन्ते प्रतिपत्तृषु।।

(वाक्यपदीय 2.17)

अर्थात्, उपर्युक्त वाक्य में 'देवदत्त' पद 'गां वधान' से विशिष्ट होता है। अतः वक्ता के द्वारा जब 'देवदत्त' पद उच्चरित होता है तब यद्यपि भ्रम से सकल–साधारण जैसा प्रतीत होता है किन्तु परवर्ति काल में 'गो' आदि से सम्बद्ध होने से इसमें विशिष्ट प्रतिपत्ति अभिव्यक्त होती है। इसलिए कहा गया है कि सकल–विशेषण–खचित प्रथम पद अन्य पदार्थ–सम्बद्ध होकर वाक्यार्थ बनता है। इसी आशय की कारिका भर्तृहरि के वाक्यपदीय में उपलब्ध है–

पूर्वैरर्थैरनुगतो यथार्थात्मा परः परः।
संसर्ग एव प्रक्रान्तस्तथाद्येष्वर्थवस्तुषु।।

(वाक्यपदीय 2.44)

तात्पर्य यह है कि देवदत्तादि उच्चरित पदों में रूपभेद है फिर भी बाद में उच्चरित पद पूर्वानुसन्धान से विशिष्ट जाना जाता है। इस प्रकार यहाँ भी संसर्ग के प्रक्रान्त होने से प्रथम पद ही अपने में षष्ठ्यर्थ लेता हुआ प्रवृत्त होता है।

8. पृथक्–साकाङ्क्ष–सर्वपदवाक्यम् – आठवें वाक्यलक्षण के अनुसार वाक्य में विद्यमान सभी पद (आद्य, मध्य, अन्त्य) समुदित रूप में वाक्यार्थ है। भर्तृहरि ने कहा है–

नियतं साधने साध्यं क्रिया नियत–साधना।
स सन्निधान–मात्रेण नियमः सन् प्रकाशते।।

(वाक्यपदीय 2.411)

अर्थात् साध्य एवं साधन परस्पर नियत हैं। केवल आकाङ्क्षा के कारण अन्य पद के सन्निधान से नियम होकर प्रकाशित होता है। अतः अन्य–पद–आक्षिप्त पदान्तर पद ही वाक्य है। वाक्य में विद्यमान सभी पद साकाङ्क्ष होते हैं। पदों के परस्पर आकाङ्क्षा के कारण सामान्य में विशेष अभिधान होता है। अर्थात् 'कारक' पद क्रिया में गुणभूत होकर अन्य पद की आकाङ्क्षा करता है। क्रिया–पद भी प्रधानभाव में अवस्थित कारक–पदों की अपेक्षा करता है। इस प्रकार वाक्य में विद्यमान सभी पद साकाङ्क्ष होते हैं।

लोकव्यवहार में एकार्थक पदसमूह का ही वाक्यत्व स्वीकृत है, जिसे विभिन्न विचारक एवं वैयाकरणों का समर्थन प्राप्त है। अत एव लोक–व्यवहार–विरुद्ध होने के कारण अन्य वाक्य–विकल्प प्रतिष्ठित नहीं हो सके। अतः चर्चित कुछ आचार्यों के लोक–व्यवहार - प्रतिष्ठित वाक्य–लक्षणों को यहाँ सूचीबद्ध कर उपसंहार करना उचित होगा –

(i) पदसंघातजं वाक्यम् (व्याडिकृत संग्रह)

(ii) पदसमूहो वाक्यमर्थसमाप्तौ शक्तम् (कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र, पृ. 179)

(iii) एकार्थः पदसमूहो वाक्यम् (काशिका. पा. 8.1.8,)

(iv) सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता (अमरकोश–1.6.2)

(v) विशिष्टैकार्थप्रतिपादक–निराकाङ्क्ष–पदसमूहो वाक्यम् (वैद्यनाथ पायगुण्डे,

चन्द्रालोक–टीका, पृ. 8)

इन वाक्य–विकल्पों में "निरवयव शब्द ही वाक्य है" इस विकल्प पर भर्तृहरि का पक्षपात है– ऐसा पुण्यराज का मानना है। पुण्यराज के मत में निरवयव शब्दात्मक वाक्यवाद ही 'स्फोट' है, जो बाह्यरूप से और आन्तरिक रूप से वाक्य ही है। उनके शब्दों में– *"टीकाकाराश्चामुमेव पक्षं सूत्रकारस्याभिप्रायसमाश्रयेण युक्तियुक्तं मन्यमानाः बाह्यरूपः आन्तरो वा निर्विभागः शब्दार्थमयो बोधस्वभावः शब्दः स्फोटलक्षणे एव वाच्यम्"* (पुण्यराज, वाक्यपदीय 2 . 6)

यद्यपि भर्तृहरि ने वाक्यविचार–प्रसङ्ग में 'स्फोट' शब्द का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु हेलाराज का कहना है कि उन्होंने निरवयव–वाक्यवाद को स्वीकार कर स्फोट का समर्थन किया है– वाक्यस्यैव निरंशस्य वाचकत्वादन्तरा पदप्रतिपत्तिः विभ्रम इति। (हेलाराज, वाक्यपदीय 3.1)

सम्पादित संस्करण : एक दृष्टि में

प्रस्तुत लघुग्रन्थ का सम्पादन एक ही हस्तलेख के आधार पर किया गया है जो गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के मातृका–विभाग में सुरक्षित है। पञ्चपत्रात्मक इस मातृका की अधिगम संख्या है 4333 और इसकी लिपि देवनागरी है। मातृका आद्यन्त पठनीय है और पूर्ण भी। पर बीच–बीच में कीटदंष्ट है। कीटजन्य क्षतिग्रस्त पाठों को कहीं–कहीं अर्थ की दृष्टि से पूरा कर लिया गया है और कहीं–कहीं रिक्त स्थान (..............) छोडा गया है। मातृका त्रुटिपूर्ण भी है जो लिपिकार की अवधानहीनता की ओर सङ्केत करता है पर इन सबका यहाँ यथामति संशोधन कर दिया गया है। मातृका के प्रत्येक पृष्ठ में ग्यारह पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में प्रायः 36 वर्ण। मातृका का आकार– 29.5 × 12.8 से. मी. है। मातृका में लेखक (रचयिता) का नाम कहीं भी उल्लिखित नहीं है पर लिपिकार के रूप में रामदत्त का नाम पुष्पिका में उल्लिखित है जिन्होंने अपने अध्ययन के लिए इसकी प्रतिलिपि की थी– **लिखितो रामदत्तेन स्वपठनार्थम्।**

इस लघुग्रन्थ के आरम्भिक 6 पद्य महाभारत के यक्ष–प्रश्न–प्रसंग से गृहीत हैं जिनमें यक्ष युधिष्ठिर से चार प्रश्न पूछता है और सही उत्तर देने पर ही सरोवर से पानी पीने एवं ले जाने की अनुमति देने को कहता है। इन पद्यों का प्रतिपाद्य विषय से सम्बद्धता नहीं दिखती है। सम्भवतः ये पद्य लिपिकार को प्रिय रहे होंगे, अतः उन्होंने उन्हें ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण के रूप में लिपिबद्ध कर दिया होगा। वस्तुतः लिपिकार ने उन्हें अपनी स्मृति के बल पर ही लिख दिया है,ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि इन पद्यों के पाठ में बड़ी त्रुटियां हैं।

अतः हस्तलेख के आवरणपृष्ठ (बाह्यपृष्ठ) पर लिखित इन पद्यों को प्रस्तुत सम्पादित ग्रन्थ में सम्मिलित नहीं किया गया है।

कृति का आरम्भ वाक्य के लक्षण से किया गया है। 'अथ किमिदं वाक्यं नाम' इस प्रश्नात्मक बीजवाक्य से कृति का प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट हो जाता है। भाष्य के 'एकतिङ् वाक्यम्' इस उक्ति के आधार पर ग्रन्थकार ने आरम्भ में ही पूर्वपक्ष के रूप में वैयाकरण –सम्मत वाक्यलक्षण का उपस्थापन किया है – *एकतिङन्तार्थमुख्यविशेष्यक–बोधजनकपदसमूहो वाक्यमिति वैयाकरणाः।* पर अन्त में ग्रन्थकार न्यायमत को महत्त्व देते हुए उनके मत को प्रतिपादित करते दीखते हैं।

ग्रन्थ का आरम्भ ग्रन्थकार ने 'अथ' शब्द से किया है। ग्रन्थ के निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण करना हमारी प्राचीन परम्परा रही है। हमारी परम्परा में 'अथ' शब्द भी मांगलिक माना गया है। क्योंकि ओंकार और 'अथ' शब्द ब्रह्माजी के मुखपद्म से विनिसृत है ऐसी मान्यता है। एतत्सम्बद्ध अधोलिखित प्राचीन पद्य उल्लेखनीय है -

ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ।।

ग्रन्थकार ने ग्रन्थ में अपने वारे में कोई सूचना नहीं छोडी है। उन्होंने कहीं अपना नाम तक उल्लेख नहीं किया है। लिपिकार रामदत्त ने भी मूल-लेखक के वारे में कोई सूचना नहीं दी। अतः इस प्रसङ्ग में अनुमान के आधार पर ही कुछ कहा जा सकता है।

औफ्रेष्ट् के 'कैटालोगोस् कैटालोगोरम' में वाक्यवाद शीर्षक उल्लिखित है। कम से कम चार लेखकों ने इस शीर्षक पर अपनी स्वतन्त्र रचनाएं की हैं। वे हैं रघुनाथ, अचल उपाध्याय, हरियशो मिश्र एवं हरिशरण तर्कवागीश। यह सूचना उन्होंने एफ. किलहर्न के द्वारा सम्पादित A catalogue of Sanskrit Manuscripts existing in Central Provinces (158), पण्डित राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा संकलित Notices of Sanskrit Manuscripts (1692 और 1940), पण्डित देवीप्रसाद द्वारा प्रस्तुत List of Sanskrit Manuscripts discovered in Oudh (XVII 22 और XV, 1o2) तथा Report of Sanskrit Manuscripts (18, Report XX) आधार पर दिया है।

मेरे द्वारा सम्पादित यह 'वाक्यवाद' उपर्युक्त किसी लेखक का है या नहीं यह कहने की स्थिति में मैं इस समय नहीं हूँ। कुछ गवेषणा करने के पश्चात् ही इस पर टिप्पणी की जा सकती है जो इस समय अपनी कार्यव्यापृतता के कारण नहीं कर पा रहा हूँ। अग्रिम संस्करणों में इसका समाधान हो सकेगा - ऐसा विश्वास कर सकता हूँ। मेरे पास उपलब्ध सूचना के आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि लेखक मिथिला के रहे होंगे क्योंकि ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने मिथिला के विद्वानों को कुछ अधिक महत्त्व दिया

है। उन्होंने वंशमणि के मत का जिक्र करते हुए लिखा - *इति श्रीमहामहोपाध्याय-मैथिलश्रीवंशमणेर्विमर्शः* (T8)।

इसके अतिरिक्त उन्होंने कण्टकोद्धार के रचयिता मधुसूदन ठक्कुर (T3) की चर्चा की है। भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास के अनुसार मधुसूदन ठक्कुर गोविन्द ठक्कुर के पुत्र, केशव ठक्कुर के पौत्र, बुद्धि ठक्कुर के प्रपौत्र एवं रविकर ठक्कुर के प्र-प्र-प्रपौत्र हैं। वे मिथिला के 'घुसौटे नगवार वत्सगोत्र' के वंश के हैं। उनकी कृति 'कण्टकोद्धार' तत्त्वचिन्तामणि की आलोक टीका की टीका है। दुर्भाग्य से यह कृति सरस्वती-भवन-ग्रन्थमाला के अन्तर्गत वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालय से 'मंगलवाद' तक ही प्रकाशित है जब कि उक्त ग्रन्थ के सम्पूर्ण हस्तलेख भारतवर्ष में यत्र-तत्र उपलब्ध है। उल्लेखयोग्य है कि यह कृति मन्नुदेवकृत परिभाषेन्दुशेखर टीका कण्टकोद्धार से भिन्न है।

मधुसूदन ठक्कुर अपने समय के चर्चित विद्वान् रहे हैं। अधोलिखित कारिका उनकी महत्ता को कुछ इस प्रकार प्रकटित करती है -

मधसूदनसद्युक्तिसमुत्सारितकण्टकाः।
आलोकव्यक्तमार्गेण मणिं गृह्णन्ति पण्डिताः।।

अर्थात् विद्वान् लोग आलोक (आलोक टीका) के मार्ग से मणि (चिन्तामणि) को प्राप्त (अवबोध) करें जिस मार्ग से मधुसूदन ने सद् युक्ति (कण्टकोद्धार में उपस्थापित) के माध्यम से कण्टकों को अपसारित कर दिया है।

मधुसूदन ने स्वयं भी अपने वारे में कण्टकोद्धार में कहा है -

यस्तर्के जैमिनीये फणिपतिभणितौ ब्रह्मविद्याविचारे।
काणादे काव्यशास्त्रे पटुविशदमतिर्धर्मतन्त्रेऽथ मन्त्रे।।
दुष्प्रापं प्राप तीव्रं गुरुपरिचरणक्लेशमस्याखिलस्य।
प्रेक्ष्यतां पुण्यभाजः फलततिमुदितामत्र सन्तः कियन्तः।।

(कण्टकोद्धार, श्लोक - ४)

मधुसूदन ठक्कुर ने कण्टकोद्धार के अतिरिक्त जीर्णोद्धार भी लिखा है जो श्रीदत्तोपाध्याय के स्मयप्रदीप एवं वाचस्पति मिश्र (द्वितीय) के द्वैतनिर्णय पर आधृत है। जीर्णोद्धार का एक हस्तलेख दरभङ्गा संस्कृत-विश्वविद्यालय में संरक्षित है जिसमे उन्होंने अपनी अन्य एक कृति शारदाटीका के वारे में चर्चा की है। पर खेद है कि यह ग्रन्थ अब तक उपलब्ध नहीं हो सका है। इस हस्तलेख की प्रतिलिपि ल. सं. 459, तदनुसार ईस्वी वर्ष 1578 में हुई है । इससे यह सिद्ध होता है कि कण्टकोद्धार के रचयिता उसके कुछ पूर्व के या समकालीन रहे होंगे। इसके आधार पर इतिहासकार इनका समय १६वीं शताब्दी का उत्तरार्ध मानते हैं।

इसके अतिरिक्त वाक्यवाद के रचयिता ने अपने लघुग्रन्थ में मुकुट (T3) और मिश्र (T3) का नाम लिया है। कैटालोगोस कैटालोगोरम के अनुसार मुकुट रायमुकुट का संक्षिप्तीकरण है। रायमुकुट का अन्य नाम बृहस्पति भी है जो गोविन्द के पुत्र एवं विश्राम तथा राम के पिता माने जाते हैं। रायमुकुट ने अमरकोश की टीका *पदचन्द्रिका* लिखी है जिसका समय १४३१ ईस्वी माना जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्मृति पर एक ग्रन्थ लिखा जिसे रघुनन्दन ने अपने श्राद्धतत्त्व में 'रायमुकुटपद्धति' नाम से अभिहित किया है। जैसा कि हम उपर बता चुके हैं - लेखक ने अपने 'वाक्यवाद' में मिश्र का भी नाम लिया है। पर इसके वारे में यह तय करना कठिन है कि वे मिश्र कौन थे। न्याय एवं मीमांसा के विद्वान् के रूप में अनेकों मिश्र हमारे समक्ष हैं जिनमें से कई तो मिथिला के हैं। यहाँ उल्लिखित मिश्र, मीमांसक मण्डनमिश्र भी हो सकते हैं या अन्य कोई ।

इन सब साक्ष्यों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ग्रन्थकार मिथिला (बिहार) के रहे होंगे और उनका समय १६ वीं शताब्दी रहा होगा।

इन लेखकों के अतिरिक्त ग्रन्थकार ने सूत्रकार (पाणिनि), वार्तिक्ककार (कात्यायन), भाष्यकार पतञ्जलि, निरुक्तकार यास्क एवं हेलाराज (T5) जैसे प्राचीन भाषावैज्ञानिकों का नाम कभी प्रत्यक्ष तो कभी परोक्ष रूप में लिया है। कण्टकोद्धार, भाष्य, महाभाष्य के साथ-साथ व्याकरण, न्याय, मीमांसा जैसे सम्प्रदायों का भी उन्होंने अपने ग्रन्थ में नामतः एवं सिद्धान्ततः उल्लेख किया है और अन्त में न्यायसिद्धान्त को सही ठहराया है। इसी क्रम में उन्होंने कभी पतञ्जलि के मत की भी आलोचना की है - *किञ्च नहि क्रियाविनिर्मुक्तं वाक्यमस्तीति फणिनो धरणीभारविजृम्भणभणातिरेवेति भावः* (T4)।

ग्रन्थ की दुरूहता को देखते हुए हमने इसे हिन्दी - अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित करने का निर्णय लिया। अनुवाद के साथ सम्पादित इस ग्रन्थ को जब हमने अपने सहकर्मी डा. ललित कुमार त्रिपाठी को दिखाया तो उन्होंने अनुभव किया कि ऐसे ग्रन्थों का केवल अनुवाद कर देने से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अतः इन्हें कुछ विशेष टिप्पणियों के साथ प्रकाशित करना उचित होगा। हमने उनके सुझावों को सहर्ष ग्रहण किया और हिन्दी, अंग्रेजी एवं संस्कृत में इस पर टिप्पणियां लिखी। उन टिप्पणियों एवं अनुवाद के साथ आज इस ग्रन्थ को आपके समक्ष रखते हुए हमें बेहद प्रसन्नता है। टिप्पणी लिखते समय डा. त्रिपाठी ने कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थियों को सुलझाने में मेरी मदद की है। अतः हम उन्हें एतदर्थ धन्यवाद देना अपना परम कर्तव्य मानते हैं। हम धन्यवाद देते हैं डा. विनोद कुमार दीक्षित को जिन्होंने इस ग्रन्थ के लिए दो शब्द अनुशंसा (Fore-word) लिख कर हमें अनुगृहीत किया।

हमारे तमाम प्रयासों के बाबजूद इस ग्रन्थ में कुछ कमियां रह गई हैं, इसमें कोई दो राय नहीं है, क्योंकि हम अपनी सीमाओं के बारे में ... कवार्तिक

के अधोलिखित पद्य ही हमारा शरण है -

तद्विद्वांसोऽनुगृह्णन्तु चित्तश्रोत्रैः प्रसादिभिः।

सन्तः प्रणयिवाक्यानि गृह्णन्ति ह्यनसूयवः।। तथा

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।

अन्त में ग्रन्थ के अध्येताओं से आग्रह करना चाहेंगे कि वे कृपया अपनी सुझावों से हमें अवगत कराएं ताकि द्वितीय संस्करण में हम कुछ गुणात्मक सुधार ला सकें। हमारा यह लघु प्रयास सामग्रिक रूप में न सही अंशतः भी किसी को उपयोगी लगे तो श्रम सार्थक होगा। क्योंकि किसी विद्वान् ने उचित ही कहा है -

मधुलिह इव मधुबिन्दून् विरलानपि भजत गुणलेशान्।

बनमाली बिश्वाल

मितञ्च सारञ्च

1. अथ वाक्यानुशासनम्

वाक्यमयमिदं व्यवहारजगत्। वाक्यं च शब्दान् विना कल्पयितुं न शक्यते। शब्दाश्च वर्णैर्विना न सम्भवन्ति। योगशिखोपनिषदि उक्तं वर्तते -

अकारादिक्षकारान्तान्यक्षराणि समीरयेत्।

अक्षरेभ्यो पदानि स्युः पदेभ्यो वाक्यसम्भवः।। (योगशिखोपनिषद् ३५. ६)

अपरं च भर्तृहरिणापि वर्ण-पद-वाक्येषु न कश्चन भेदः प्रकल्पितः। तेनोक्तम् -

पदे न वर्णाः विद्यन्ते वर्णेष्ववयवाः न च।

वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।। (वाक्यपदीयम् १.७३)

पातञ्जलास्तु योगिनः प्रतिपादयन्ति यत् - श्रूयमाणा एव वर्णाः वाक्शब्देन व्यवह्रीयन्ते (पातञ्जलयोगसूत्रम्)। वैयाकरणेषु प्राचीना अपि वदन्ति यत् - वर्णमालायामेकं पदमेकं वाक्यमिति प्रतीतिरस्ति। अतः वाक्यविचारप्रसङ्गे वर्ण-शब्दयोश्चर्चा अप्रासङ्गिकी न वर्तते।

शब्दस्य महत्त्वमाचार्यैः बहुधा प्रतिपादितं वर्तते। संसारे यदि शब्दाख्यं ज्योतिर्नाभविष्यत् तर्हि भुवनत्रयं नूनं तमसावृत्तमभविष्यदिति दण्डिनोद्घोषितम् -

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।

यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।। (काव्यादर्शः १.४)

ज्ञानं नाम प्रकाशरूपम्, अज्ञानञ्च अन्धकार-रूपम्। संसारे एवं न किञ्चिज्ज्ञानं वर्तते यत् शब्दं विना व्यक्तं भवितुमर्हति। एतदेव वाक्यपदीये भर्तृहरिणा प्रतिपादितम् -

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।। (वाक्यपदीयम् १.१२३)

उपर्युक्तानां वर्ण-शब्द-वाक्यानामनुशासनं व्याकरणमेव सम्पादयति। वस्तुतः शब्दरूपेण व्याकरणं सर्वविधस्यापि प्रयोगस्य अनुशासनं करोति। अत एव शब्दानुशासनमिति व्याकरणस्य नामान्तरं प्रसिद्ध्यति। 'तदस्य तदस्मिन् स्यादि'ति पाणिनिसूत्रस्य (५.१.१६) व्याख्यानप्रसङ्गे कैयटः प्रतिपादयति - "यत्रार्थे लोकाः शब्दान् प्रयुञ्जते तदर्थाभिधायिन एव शास्त्रेणानुविधीयन्ते

प्रयोगमूलत्वाद् व्याकरणस्मृतेः (प्रदीपः पा. सू. ५.१.१६)। "महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः" इति (महाभाष्ये पस्पशाह्निकम्) वदता पतञ्जलिना शब्दस्य व्यापकत्वमपि प्रतिपादितम्। वाक्यपदीये भर्तृहरिः शब्दस्य ज्ञानमयत्वं प्रतिपादयति। वस्तुतः ज्ञानस्यैव शब्दरूपेण परिणामः भवति। शब्दश्च आनन्दरूपः स्वीकृतः आत्यन्तिकसुखदत्वात्, स्वर्गफलदत्त्वाच्च। तथा चोक्तं पतञ्जलिना महाभाष्ये - एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधूग् भवति (महाभाष्यम्, पा. ६.१.८४) इति। "यः शास्त्रपूर्वकं शब्दान् प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यते, अथवा पुनरस्तु ज्ञाने एव धर्मः" (महाभाष्यम्, १.१.१, पस्पशाह्निकम्) इत्यादि महाभाष्यवचनान्यपि शब्दस्य ब्रह्मत्वपक्षं समर्थयन्ति। मैत्रेयोपनिषदि उक्तमस्ति -

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्द-ब्रह्म परं च यत्।

शब्द-ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।। (मैत्रेयोपनिषद् ६.२२)

वैयाकरणैः न केवलं शब्दस्य किन्तु वर्णस्य, वाक्यस्यापि तुलना ब्रह्मणा क्रियते।

1.1 : अक्षरब्रह्म

महाभाष्ये वर्णसमाम्नायः ब्रह्मत्वेन वर्णितः। अक्षरसमाम्नाय-वर्णन-प्रसङ्गे पतञ्जलिः प्रतिपादयति - "सोऽयम् अक्षरसमाम्नायः वाक्समाम्नायः, पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकावत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः, सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयते" (महाभाष्यम्, १.१.२, प्रत्याहाराह्निकम्)। 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' इत्यत्र प्रणवः शब्द-ब्रह्मरूपेण वर्णितो वर्तते। सूतसंहितायां प्रणवः परापरभेदेन द्विविधः कल्पितः वर्तते - 'परः ब्रह्मात्मकः, अपरश्च शब्दात्मकः'। एषोऽक्षरशब्दः शब्दतत्त्वेन स्फोटात्मना स्फोटनाम्ना वा व्याकरणशास्त्रे सिद्धिपथमागतः।

1. 2 : शब्दब्रह्म

वैयाकरणेषु पतञ्जलिः शब्दब्रह्मविषये स्पष्टमुल्लिखति। सोऽपि प्रसङ्गेऽस्मिन् साङ्केतिकं वैदिकमभिमतं पल्लवयति। ऋग्वेदादुद्धृतस्य 'चत्वारि शृङ्गा' इत्यादिमन्त्रस्य व्याख्यानावसरे महाभाष्यस्य टीकाकारैः उक्तम् - महान् = परब्रह्मस्वरूपः, देवोऽन्तर्यामिरूपः, साम्यं सायुज्यमिति। अनन्तरं भर्तृहरिः एतदेवाभिमतं विस्तारितवान्। वाक्यपदीयस्य प्रथमे श्लोके सः शब्दब्रह्मणः अर्थरूपेण विवर्तनं दर्शयति। तस्य मतानुसारम् अनादि-निधनं सर्वग्राह्यग्राहकाकारवर्जितं तत् शब्दब्रह्म मायासहितं सत् नामरूपात्मकमिदमखिलं जगत् बुद्धौ आकलय्य स्वकालाख्यया शक्त्या तन्मात्रपदवाच्यानि आकाशादीनि उत्पादयति। वाक्यपदीये नैकेषु प्रसङ्गेषु शब्दब्रह्मविषये उल्लेखः प्राप्यते।

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।

विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रियाजगतः यतः।। (वाक्यपदीयम् १.१)

अनन्तरं नागेशादिभिः लघुमञ्जुषादिग्रन्थेषु शब्दब्रह्मणः महत्त्वादिविषये चर्चां कृतवन्तः। मञ्जूषायां नागेशः शक्त्याश्रयप्रकरणे शब्दब्रह्मणः स्वरूपं विवृणोति। प्रलयकाले माया परमात्मनि लीयते। परन्तु तस्याः आत्यन्तिको नाशो न भवति। तस्यामवस्थायां सर्वं सुप्तवत् तिष्ठति। ततः यथाकालं मायापुरुषयोः उत्पत्त्यनन्तरं बिन्दुरूपमव्यक्तं त्रिगुणं शक्तिमत्त्वं च जायते यस्य अचिदंशः बीजम्, चिदचिन्मिश्रोंऽशः नादः, चिदंशश्च बिन्दुरस्ति। तस्माद् बिन्दोः अव्यक्तात्मा वर्णादिविशेषरहितः नादमात्रं रवः समुत्पन्नः यः रवः शब्दब्रह्मेति संज्ञया निगद्यते।

1.3 : वाग्-ब्रह्म

एवमेव वागपि वेदेषु उपनिषत्सु च ब्रह्मत्वेन निगद्यते। अत्रास्माभिः विशिष्य वाग्ब्रह्मण एव चर्चा क्रियते। वस्तुतोऽस्त्परम्परायां वाचः जगत्कर्तृत्वं प्रसिद्धम्। 'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे', 'वाग्धि प्रजापतिः' (शतपथब्राह्मणः १.३.६.२७) 'वाग्वै प्रजापतिः' (शतपथब्राह्मणः ५.१.५.६, १३.४.१.१५) 'प्रजापतिर्वै वाक्पतिः' (शतपथब्राह्मणः ३.१.३.२२) इति ब्राह्मण-वाक्यानि तत्र प्रमाणभूतानि सन्ति। अपरं च प्रजापतिर्हि वाक् (तैत्तिरीयब्राह्मणः १.३.४.५) इत्यपरं वचनमपि तथ्यमेतत् समर्थयति।

वस्तुतो वागपि शब्दरूपाऽस्ति। अतएवानेकत्र च सा ब्रह्मरूपेण वर्णिता वर्तते। तद्यथा 'वाग् वै ब्रह्म' इति वचनम् ऐतरेयब्राह्मणे (६.३), शतपथब्राह्मणे (२.१.४.१०, १४.४.१.२३, १४.६.१०.५), वृहदारण्यकोपनिषदि (१.३.२१, ४.१.२) चोपलभ्यते। 'वाग्ब्रह्म' (गोपथब्राह्मणः - पूर्वभागः २.१०), 'वाग्धि ब्रह्म' (ऐतरेहब्राह्मणः २.१५.४.२१) , 'वागिति तद् ब्रह्म' (जैमिनीय उपनिषद् २.९.६) इत्येतानि यानि वचनान्तराण्युपलभ्यन्ते तान्यपि वाचः ब्रह्मत्वं प्रतिपादयन्ति। 'ते मृत्युमतिवर्तन्ते ये वै वाचमुपासते' इति छान्दोग्योपनिषद्वचनमपि (छान्दोग्योपनिषद् ६.३.२) वाचः ब्रह्मणा सादृश्यं साधयति। एवं वाचः ब्रह्मत्वे शब्दस्यापि ब्रह्मत्वमुपपन्नम्।

शब्दचर्चाप्रसङ्गे वाचः परा-पश्यन्ती-मध्यमा- वैखरी-रूपाः प्रसिद्धाश्चतस्रोऽवस्थाः विवेचनीयाः सन्ति। परा वाक् शब्दब्रह्मरूपा मूलाधारे अर्थात् कुण्डलिन्यां वर्तते, पश्यन्ती च नाभिप्रदेशे संस्थिता शोभते। मध्यमा हृदि तिष्ठति एवं च वैखरी कण्ठदेशे वर्तते इति परमलघुमञ्जुषायां स्फोटनिरूपणप्रसङ्गे नागेशः प्रतिपादयति। प्रसङ्गेऽस्मिन् सः अधोलिखितां कारिकामुद्धरति -

परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा।।

आसु चतसृषु वाक्षु वैखरी व्यवहारयोग्या भवतीति ज्ञापयितुं सः वदति -

"वैखर्या हि कृतो नादः परश्रवणगोचरः।
मध्यमया कृतो नादः स्फोटव्यञ्जक उच्यते।।"

अर्थात् यद्यपि मध्यमावैखरीभ्यामुभाभ्यां नादः क्रियते तत्र फले भेदः दृश्यते। अनयोर्मध्यमा-नादः स्फोटरूपशब्दस्य व्यञ्जकः, वैखरी-नादश्च सर्वेषां श्रावणप्रत्यक्षविषयो भवति। वस्तुतः परा, पश्यन्ती, मध्यमेति त्रय्यः वाचः सूक्ष्मरूपाः भवन्ति याः गुहायां निहिताः नेङ्गयन्ति, न चेष्टन्ते न वा निमिषन्ति। अतः वैखरीवाचमेव मनुष्या वदन्ति। एतत्प्रसङ्गे ऋग्वेदस्य कश्चन मन्त्रः महाभाष्यस्य पस्पशाह्निकेऽपि उद्धृतोऽस्ति -

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्मनीषिणः।

गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।।

(ऋग्वेदः - १.१६४.४५, महाभाष्यस्य पस्पशाह्निकेऽपि उद्धृतम्)

परा वाक् वर्णादिविशेषरहिता चेतनमिश्रा सृष्ट्युपयोगिनी जगदुपादानभूता कुण्डलिनीरूपेण प्राणिनां मूलाधारे वर्तते। सा च कुण्डलिन्याः प्राणवायुसंयोगे व्यज्यते। वाक्षु केवलमियमेव निःष्पन्दा वर्तते। अन्याः पश्यन्त्यादयश्च सस्पन्दाः सन्ति, याः एतस्याः विवर्तरूपाः सन्ति। इयमेव परा वाक् 'सूक्ष्मस्फोट' इत्युच्यते। अत एव भर्तृहरिणा व्याकरणस्य त्रिविधवाग्विषयत्वं प्रतिपादितम् -

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।

अनेकतीर्थभेदस्य त्रय्यः वाचः परं विदुः।। (वाक्यपदीयम् - १.१४४)

वस्तुतः एतासां चतसृणां वाचां क्वचिद् व्याकृताव्याकृतेति भेदद्वयेन वर्गीकरणं दृश्यते। व्याकृतेति शब्देन पश्यन्त्यादित्रय्याः, अव्याकृतेति शब्देन च शक्ति-शक्तिमदादिभेदशून्यायाः परावाचः व्यवहारः। एवमेव महाभारतेऽपि -

वाक्पूर्विकायाः सृष्टेः विषये चर्चा समुपलभ्यते -

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।

आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।

(महाभारतटीका, शान्तिपर्व - २३२.२४)

उपर्युक्तायां कारिकायां वाक्-पदेन पश्यन्ती एव ग्राह्या। वस्तुतः तस्या एव ओंकारो, [illegible]दः, शब्दब्रह्मेत्यादीनि नामान्तराणि प्रसिद्ध्यन्ति।

अस्मिन् प्रसङ्गे नैयायिक-मीमांसक-वैयाकरणाभिमत-शब्दस्वरूपविषये विशेषज्ञानार्थं मम शोधपत्रं (वैयाकरणाभिमतः शब्दब्रह्मसिद्धान्तः - एकं समाकलनम्, श्रुतिमहती, रामकरणशर्मणोऽभिनन्दनग्रन्थः, भागः - १, प्रतिभाप्रकाशनम्, दिल्ली, २००८, पृ. २९०-३०१) द्रष्टव्यम्।

2. अथ किमिदं वाक्यं नाम ? (वाक्यलक्षणम्)

विभिन्नैः शास्त्रकारैः वाक्यस्य लक्षणं भिन्न-भिन्नप्रकारेण कृतम्। न केवलं वैयाकरणाः किन्तु नैयायिकाः, मीमांसकाः, आलंकारिकास्तथा अन्ये शास्त्रकारा अपि स्वस्वशास्त्रदृष्ट्या वाक्यस्वरूपं विवेचितवन्तः। तेषां विचारेषु क्वचित् साम्यं वर्तते क्वचिद्वैषम्यं च परिलक्ष्यते। अत्र यद्यपि मुख्यतया वैयाकरणाभिमतं वाक्यस्वरूपं पुरस्कृत्यैव विचाराः प्रस्तूयन्ते तथापि प्रसङ्गतः नैयायिक-मीमांसकानामपि केचन विचाराः प्रस्तूयन्ते -

पदसंघातजं वाक्यम्, पदसमूहो वाक्यम्, एकार्थः पदमूहो वाक्यम्, विशिष्टार्थपरशब्दत्वं वाक्यम्, स्वार्थबोधसमाप्तः पदसमूहः वाक्यम्, समभिहारो वाक्यम्, सुप्तिङन्तचयं वाक्यम्, योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त पदोच्चयः वाक्यम्, विशिष्टैकार्थ-प्रतिपादक-निराकाङ्क्षपदमूहो वाक्यम्, एकतिङ् वाक्यम्, एकतिङन्तार्थ-मुख्यविशेष्यक- बोधजनक-पदसमूहो वाक्यं वेति अशेषं वाक्यलक्षणं तत्तत्शास्त्रेषु उपलभ्यते। तेषां तेषां वाक्यलक्षणानां चर्चाऽस्माभिः हिन्द्याङ्ग्लभाषानिबद्धयोः भूमिकयोः विस्तारपूरवकं कृता वर्तते। तेषां पुनःस्मरणं कारयितुमत्र केवलं बिन्दुशः उल्लेखः क्रियते।

एतानि वाक्यलक्षणानि अधिकृत्य नैकाः शङ्काः सम्भवन्ति। सुप्तिङन्तचयं वाक्यम् इत्यत्र यथा - सुबन्त-समुदायः तिङन्त-समुदायश्च सम्मिल्य वाक्यं भवति, अथवा सुबन्ततिङन्तयोः समुदायो वाक्यं भवति, अथवा सुबन्तानां समुदायः ⟶

⟶ तिङन्तानां समुदायश्च स्वतन्त्ररूपेण वाक्यं भवति? एवमेव पदसमूहो वाक्यम् इति लक्षणे च यथा - सार्थक-शब्दानामनर्थक-समुदायोऽपि वाक्यं भविष्यति। यथा 'गौः अश्वः पुरुषः हस्ती' यत्र शब्दास्तु सार्थकाः सन्ति किन्तु तेषां समुदायः सार्थको नास्ति। एकतिङ् वाक्यमिति पक्षे च 'एकतिङ्' इत्यंशे कर्मधारयं स्वीकृत्य 'एकमेव यत् तिङ् तद् वाक्यमस्ति' इति ज्ञातव्यम् अथवा बहुव्रीहिमङ्गीकृत्य 'एकमस्ति तिङ् यस्मिन् तद् वाक्यमस्ति' इति वा ज्ञातव्यम्।

उपर्युक्तानामेतासां तथाऽन्यासाञ्च शङ्कानां समाधानं प्रस्तुत-ग्रन्थस्य त्रिभाषीय-व्याख्यासु कृतमित्यतः अत्र पुनरावृत्तिः नैव क्रियते। पाठकैस्तदवश्यं द्रष्टव्यम्।

2.1: प्राचीनशास्त्राभिमतं वाक्यलक्षणम्

2.1.1 : अमरकोशकारोऽमरसिंहः

सुप्तिङन्तचयो वाक्यम् क्रिया वा कारकान्विता (अमरकोशः १.६.२)

2.1.2 : अर्थशास्त्रकारः कौटिल्यः

पदसमूहो वाक्यमर्थसमाप्तौ शक्तम् (अर्थशास्त्रम् १७९)

2. 2 : वैयाकरणाभिमतं वाक्यलक्षणम्

एकतिङन्तार्थ-मुख्यविशेष्यक- बोधजनक-पदसमूहो वाक्यम्

2. 2.1 : संग्रहकारो व्याडि

पदसंघातजं वाक्यम्

2. 2.2 : वार्तिककारः कात्यायनः

एकतिङ् वाक्यम्

2. 2.3 : महाभाष्यकारः पतञ्जलिः

- एकतिङ् वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्
- आख्यातं साव्ययं सकारकं सकारकविशेषणं वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्। साव्ययम् उच्चैः पठति, सकारकम् ओदनं पचति, सकारकविशेषणम् ओदनं मृदु पचति (महाभाष्यम्, पा.सू. 2.1.1 , वार्तिक १०)

2. 2.4 : वाक्यपदीयकारो भर्तृहरिः

साकाङ्क्षावयवं भेदे परानाकाङ्क्षशब्दकम्।
क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमुच्यते।।

(वाक्यपदीय २.४)

2. 2.5 : काशिकाकारौ जयादित्य-वामनौ

एकार्थः पदमूहो वाक्यम् (काशिका, पा.सू. 8.1.8)

2. 3 : नैयायिकाभिमतं वाक्यलक्षणम्

2. 3.1 : तत्त्वचिन्तामणिकारो गङ्गेशः

वाक्यत्वं च विशिष्टार्थपरशब्दत्वम् (तत्त्वचिन्तामणिः)

2. 3.2 : शब्दशक्तिप्रकाशिकाकारो जगदीशः

यादृशशब्दानां यादृशार्थविषयिताकान्वयबोधं प्रति अनुकूला परस्पराकाङ्क्षा तादृशशब्दस्तोम एव तथाविधार्थे वाक्यम् (स्वोपज्ञवृत्तिः, शब्दशक्तिप्रकाशिका - 13) ।

स्वार्थबोधसमाप्तः पदसमूहः वाक्यम्

2. 4 : मीमांसकाः

2. 4.1 : समभिहारो वाक्यम्

2. 4.1.1 : अङ्गत्वघटकीभूतपरोद्देश्यत्व-कृतिकारकत्वान्यतर-पदार्थबोधक-पदकल्पनानुकूलश्रुतपदसन्निधिः, स चाङ्गत्वघटकीभूत-करणत्व- कर्मत्वान्यतरविषयक-

शक्त्यजन्य- शाब्दबोधानुकूल-पदसमभिव्याहारो वाक्यम्।

2. 4.1.2 : अङ्गत्वघटक-परस्पर-पदार्थसंसर्गवृत्ति-शक्त्यप्रयोज्य-विषयताक- शाब्दबोधानुकूल-पदसमभिव्याहारो वाक्यम्।

2. 4.1.3 : तदर्थश्चाङ्गत्वघटकीभूतं यत्करणत्वं कर्मत्वं वा तदन्यतर-विषयताको यः शक्त्यजन्य- बोधस्तनुकूलः समभिव्याहारो वाक्यम् (मीमांसारसपल्वलम्, वाक्यविचारः, पृ.३४)।

2. 4.2 : मीमांसासूत्रकारो जैमिनिः

2. 4.2.1 : अवशिष्टस्तु वाक्यार्थः (मी.सू. 1.2.40)

अर्थात् लोके वेदे च वाक्यार्थः समानः

2. 4.2.2 : साकाङ्क्षं त्वेकवाक्यं स्यादसमाप्तं हि पूर्वेण

(मी.सू. 3.1.20)

2. 4.2.3 : समाप्तं च फले वाक्यम् (मी.सू. 2.3.7)

2.5 : वेदान्तिनः

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नामसम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः।।

(महावाक्यार्थप्रकरणम्, वेदान्तसारः)

2. 6 : आलङ्कारिकाः

2. 6.1 : विश्वनाथ कविराजः

विश्वनाथ कविराजः योग्यता-आकाङ्क्षा-आसत्तियुतं पदसमूहं वाक्यमिति वदति – वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः। (साहित्यदर्पण २.१)

2. 6.2 : चन्द्रालोकटीकाकारः

विशिष्टैकार्थ-प्रतिपादक-निराकाङ्क्ष-पदमूहो वाक्यम् (चन्द्रालोकटीका, पृ. 8)

3 : वाक्यविभागः

3.1 : नैयायिकाः

नैयायिकैः वाक्यं द्विविधमङ्गीक्रियते - प्रमाणवाक्यम् अप्रमाणवाक्यञ्चेति। तत्र प्रमाणवाक्यं नाम आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिमतां पदानां समूहः। यथा गामानय इत्यादि। अप्रमाणवाक्यं यथा - वह्निना सिञ्चति, ह्रदो वह्निमान् इत्यादि। (तर्कसंग्रह, तर्कभाषा)

तच्च कैश्चिद् अन्यथा विभज्यते। तैर्वाक्यं लौकिक-वैदिकत्वेन द्विविधमित्युच्यते। ईश्वरोक्तत्वात् वैदिकं सर्वमेव प्रमाणम्, लौकिकञ्चाप्रमाणम् - वाक्यं द्विविधम्, लौकिकं वैदिकं च. तत्र वैदिकमीश्वरोक्तत्वात् सर्वमेव प्रमाणम्. अन्यदप्रमाणम् (तर्कसंग्रहः)। तत्र वेदघटकं वाक्यं वैदिकम् (वाक्यवृत्ति - ४, p. 20)।

तस्येश्वरोक्तत्वे प्रमाणमनुमानम्. तच्च वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वाद् भारतादिवत् (तर्कदीपिका - ४, पृ. 32 तथा सिद्धान्तचन्द्रोदयः)।

3.2 : शब्दशक्तिप्रकाशिका

3.2 1: वाक्यं चतुर्विधम् - सुबन्तं, तिङन्तं, सुबन्तैकसमन्वितम्, सुप्तिङन्तद्वयगर्भञ्च -

सुबन्तं च तिङन्तं च सुबन्तैकसमन्वितम्।

सुप्तिङन्तद्वयगर्भं वाक्यमेवं चतुर्विधम्।।

(रामरुद्री - कृष्णकान्ती टीका, शब्दशक्तिप्रकाशिका - 13)

3.2.2 : तत्रैव वाक्यं पुनरन्यथा द्विधा विभज्यते - महावाक्यम्, अवान्तरवाक्यम् (खण्डवाक्यम्) इति। महावाक्यं च स्वघटकानेकनामलभ्यतादृशार्थबोधकं वाक्यम् (स्वोपज्ञवृत्तिः, शब्दशक्तिप्रकाशिका - 3).

3.2.3 : नैयायिकैः क्रियारहितमपि वाक्यत्वेन स्वीकृतमस्ति। अतः तेषां मतानुसारं - सुबन्तसमूहः, तिङन्तसमूहः तथा सुबन्त-तिङन्तसमूहश्चेत्येवंप्रकारकं त्रिविधं वाक्यं सम्भवति। यथा 'त्रयः कालाः' इति सुबन्तसमूहात्मकं वाक्यं भवति। एवमेव 'पचति भवति' इति तिङन्तसमूहात्मकं वाक्यं भवति तथा 'चैत्रः पचति' इति सुबन्त-तिङन्तयोः समुदायात्मकं वाक्यं भवति।

3.3 : मीमांसकाः

मीमांसकाः विधिवाक्यं निषेधवाक्यमिति द्विविधं वाक्यमङ्गीकुर्वन्ति। तत्र विधिवाक्यं यथा स्वर्गकामो यजेत तथा निषेधवाक्यञ्च यथा न कलञ्जं भक्षयेत्।

3.3.1 : स्वार्थबोधे समाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया।

वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते।। (तन्त्रवार्तिके कुमारिलभट्टः)

3.3.2 : वाक्यम् - दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत ज्योतिष्टोमेन (मीमांसा)

महावाक्य - अखण्डार्थबोधकवाक्यम्

3.3.3 : वाक्यबोधप्रसङ्गे अभिहितान्वयवादः अन्विताभिधानवादः इति मीमांसकानां वादद्वयं प्रसिद्ध्यति। अभिहितान्यवादिनां मते - संघातवादः क्रमवादः इति भर्तृहरिप्रतिपादितं वाक्यवादद्वयं फलितं भवति। एवमेव अन्विताभिदानवादिनां मते च आख्यातशब्दवादः, आद्यपदवादः पृथक्-

साकाङ्क्ष-सर्वपदवादश्चेति वादत्रयं फलितं दृश्यते।

3.4 : वेदान्तिनः

मायावादिभिः अद्वैतवेदान्तिभिः वाक्यं महावाक्यमिति द्विविधं वाक्यं स्वीकृतम्। तत्र च महावाक्यं यथा - प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म इत्यादि।

3.5 : आलङ्कारिकाः

साहित्यदर्पणकारस्य विश्वनाथकविराजस्य मतानुसारमपि वाक्यं द्विविधम् - वाक्यं तथा महावाक्यञ्च - वाक्योच्चयो महावाक्यमित्थं वाक्यं द्विधा मतम्।। (साहित्यदर्पण २.१)

तत्र च वाक्यं यथा -

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-

र्निद्राव्यजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।

विश्रब्धं जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीम्

लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता।।(साहित्यदर्पणः, प्रथमः परिच्छेदः)

महावाक्यं यथा - रामायण-महाभारतादि महाकाव्यम्।

3.6 : वैयाकरणाः (भर्तृहरिः)

वाक्यपदीये भर्तृहरिणा वाक्यस्य अष्टविधं स्वरूपं विमृष्टम्। तद्यथा -

१. आख्यातशब्दः वाक्यम्

२. संघातः वाक्यम्

३. संघातवर्तिनी जातिः वाक्यम्

४. एकोऽनवयवः शब्दः वाक्यम्

५. क्रमः वाक्यम्

६. बुद्ध्यनुसंहृतिः वाक्यम्

७. आद्यपदं वाक्यम्

८. पृथक् सर्वं पदं वाक्यम्

आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्तिनी।

एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृतिः।

पदमाद्यं पृथक् सर्वं पदं साकाङ्क्षमित्यपि।

वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्।। (वाक्यपदीय २.१-२)

(एतद्विषयिणी विशिष्टा चर्चा एतत्पुस्तकस्य त्रिभाषीय-व्याख्यासु द्रष्टव्या)

4 : वाक्यस्फोटः

वैयाकरणाः स्फोटात्मकं वाक्यमङ्गीकुर्वन्ति। स्फोटो नाम 'स्फुटत्यनेन अर्थ इति स्फोटः'। 'स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायमादुपजायते' इति वाक्यपदीयकारः अभिप्रैति। अभिव्यक्तवादको मध्यमावस्थ आन्तरः शब्दः इति प्रदीपे कैयटः प्रतिपादयति। स च स्फोटो द्विधा - व्यक्तिस्फोटो जातिस्फोटश्च। व्यक्तिस्फोटः पुनः अखण्डः सखण्डश्च। सखण्डः वर्ण-पद-वाक्यभेदेन त्रिधा। अखण्डश्च पद-वाक्यभेदेन द्विधा। एवं पञ्च व्यक्तिस्फोटाः। जातिस्फोटः वर्ण-पद-वाक्यभेदेन त्रिधा। इत्येवमाहत्य अष्टौ स्फोटाः। तत्र अखण्डवाक्यस्फोटः मुख्य इति नव्याः। वाक्यजातिस्फोट इति प्राञ्चः। वस्तुतः पद-प्रकृतिः संहिता इति प्रातिशाख्यमत्र मानम्। पदानां प्रकृतिरिति षष्ठीतत्पुरुषे अखण्डवाक्यस्फोटपक्षः। बहुव्रीहौ तु सखण्डवाक्यस्फोट

भर्तृहरिः वाक्यपदीयस्य वाक्य-काण्डे अखण्डवाक्यस्फोटमङ्गीकरोति -

पदप्रकृतिभावश्च वृत्तिभेदेन वर्ण्यते

पदानां संहिता योनिः संहिता वा पदाश्रया।।

(वाक्यपदीयम् - २. ५८)

पद-वाक्यस्फोटयोः मध्ये वाक्यस्फोटस्यैव मुख्यत्वमङ्गीकृतं वैयाकरणैः। अस्मिन् प्रसङ्गे नैयायिक-मीमांसक-शाब्दिकैः स्व-स्व-सिद्धान्तप्रतिपादकग्रन्थेषु महान्तो विचाराः प्रस्तुताः। शब्दः बोधे कारणं भवति। श्रोत्रग्राह्यः गुणः शब्दः इति न्यायमतमनुसृत्य श्रोत्रग्राह्याणां वर्णानामेव शब्दाभिधेयत्वम्। प्रत्येकं वर्णानामनर्थकत्वात् एकैकस्य वर्णस्य तत्र अर्थबोधकारणत्वं वक्तुं न शक्यते। अतः वर्णसंघातस्यैव कारणत्वं वक्तव्यम्। किन्तु उच्चरित-ध्वंसीनां वर्णानां तादृक् संघात एव एकदा श्रोत्रग्राह्यो न भवति। उक्तं च महाभाष्ये - एकैकवर्णवर्तिनी वागिति। न द्वौ वर्णौ युगपदुचार्येते। गौरिति गकारे यावद्वाग्वर्तते न औकारे न विसर्जनीये, यावदौकारे न गकारे न विसर्जनीये एवमेव यावद्विसर्जनीये न गकारे न औकारे उच्चरितप्रध्वंसित्वात्।

अस्य समाधानरूपेण मीमांसकाः वदन्ति - प्रत्येकवर्णानुभवजन्याः संस्काराः एकां स्मृतिमुपजनयन्ति। तस्यां च स्मृतौ सर्वे वर्णाः युगपदेव प्रतिभान्ति इति स्मृति-प्रतिभासितानां वर्णानामेव वाचकत्वम्। उक्तं हि कुमारिलभट्टेन -

यद्वा प्रत्यक्षतः पूर्वं क्रमजातेषु यत्परम्।

समस्तवर्णविज्ञानं तदर्थज्ञानकारणम्।।

महाभाष्ये पतञ्जलिरपि प्रतिपादयति -

बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तत्वन्नीतिः।

शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्।।

वस्तुतः क्रमवद्वर्णसमूह एव पदम्, वाक्यञ्च। तस्माद् वर्णा एव पदं वाक्यञ्च। उक्तं च शाबरभाष्ये - "अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीयाः इति भगवान् उपवर्षः" इति।

वेदान्तिनोऽपि मीमांसका इव प्रत्येकवर्णानुभवभावनानिचयलब्धजन्मस्मृतिदर्पणारूढानां वर्णानामेव वाचकत्वमङ्गीकुर्वन्ति। उक्तं च ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्ये - वृद्धव्यवहारे च इमे वर्णाः क्रमाद्यनुगृहीताः गृहीतार्थविशेषसम्बन्धाश्च सन्तः स्वव्यवहारेऽपि एकैकवर्णग्रहणानन्तरं समस्तवर्णप्रत्यवमर्शिन्यां बुद्धौ तादृशा एव प्रत्यवभासमानाः तं तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याययिष्यन्ति।

एवमेव नैयायिका अपि स्मृतानां तेषां वर्णानां वाचकत्वं मीमांसकाभ्युपगतमङ्गीकुर्वन्ति। उक्तं च जयन्तभट्टेन न्यायमञ्जर्याम् - क्रमोत्पन्नानामपि तेषां संस्कारद्वारा कार्यकरत्वं सम्भवति। वैयाकरणाः पातञ्जला योगिनश्च वर्णातिरिक्तं पदमुपपादयन्ति। प्राचीनाः वैयाकरणास्तु वर्णमालायामेकं पदमेकं वाक्यमस्तीति स्वीकुर्वन्ति। एवं तदेवेदं घटपदं तदेवेदं घटमानयेति वाक्यमिति प्रत्यभिजानन्ति। एतदनुरोधेन वर्णातिरिक्तस्य कस्यचित् अखण्डस्य पदस्य वाक्यस्य च स्वीकरणमावश्यकमिति ते स्वीकुर्वन्ति।

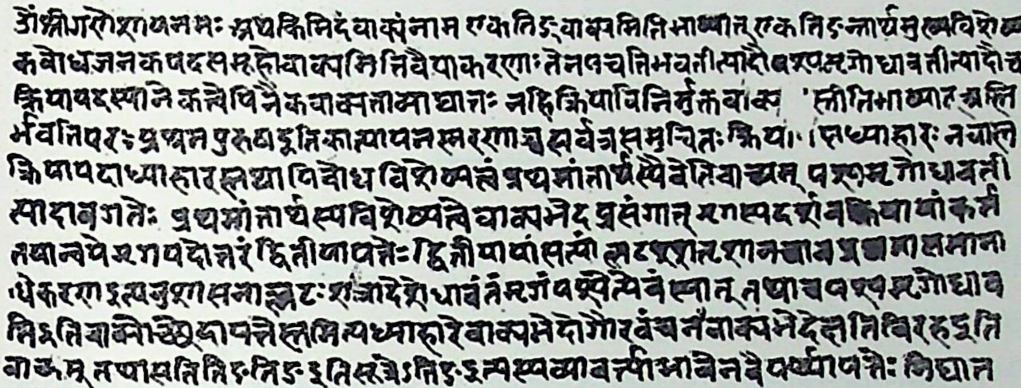
भर्तृहरिः निरवयवशब्दः.वाक्यम् इत्यस्य पक्षपाती वर्तते। तन्मते - निरवयवशब्दात्मको वाक्यवाद एवोचितः। वाक्यपदीयस्य टीकाकाराश्चामुमेव पक्षं मनसि निधाय 'सूत्रकारस्याभिप्रायसमाश्रयेण बाह्यरूपः आन्तरो वा निर्विभागः शब्दार्थमयो बोधस्वभावः शब्दः स्फोटलक्षणे एव वाच्यम्' (पुण्यराजः, वाक्यपदीय २. ६) इति प्रतिपादितवन्तः। 'निरवयव-वाक्यवाद : वाक्यस्यैव निरंशस्य वाचकत्वादन्तरा पदप्रतिपत्तिः विभ्रम' इति हेलाराजोऽपि प्रतिपादयति (वाक्यपदीय ३.१)।

उपर्युक्तविचाराधारेण एतदुपसंहर्तुं शक्यते यद् वाक्य-स्वरूपविचारप्रसङ्गे पाणिनिप्रभृतयः प्राचीनवैयाकरणा तथा जागरुकाः न दृश्यन्ते यथा तत्परवर्तिनः आचार्याः पतञ्जलिप्रभृतयः। वस्तुतः कात्यायनादारभ्य एतद्विषयकं विशद-चिन्तनं समुपलभ्यते। ततः पतञ्जलि-भर्तृहरि-कौण्डभट्ट-नागेशदिभिश्च तच्चिन्तनमग्रेसारितम्। वाक्यस्वरूपादिविषये तु पतञ्जलिरपि तथा मुखरो न दृश्यते यथा भर्तृहरिः। एकतिङन्तार्थमुख्यविशेष्यक- बोधजनकपदसमूहो वाक्यम्' इति वैयाकरणसम्मतं वाक्य-लक्षणं प्रायः सर्वैरङ्गीक्रियते। तत्रापि वार्तिककारीयमेव वाक्यलक्षणं ज्याः इति कैयटः प्रदीपे प्रकाशयति। जैमिनेः वाक्यपरिभाषा तु लौकिकी, कात्यायनस्य वाक्यपरिभाषा च शास्त्रीयेति कैयटस्याभिमतम्। तथा चोक्तं प्रदीपे - अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्यादिति लौकिकं वाक्यलक्षणम्। इह तु वाक्यं परिभाषितं आख्यातं साव्ययं कारकं विशेषणमिति (प्रदीपः, महाभाष्य. 8.1.18)। वस्तुतः परम्परायां कात्यायनः वाक्यकाररूपेण प्रसिद्ध्यति। श्रीशङ्करः स्वहर्षचरितटीकायां लिखति : वाक्यं विवरणं घार्तिकञ्च, यत्करणात्कात्यायनो वार्तिककार इत्युच्यते। अस्मिन् प्रसङ्गे

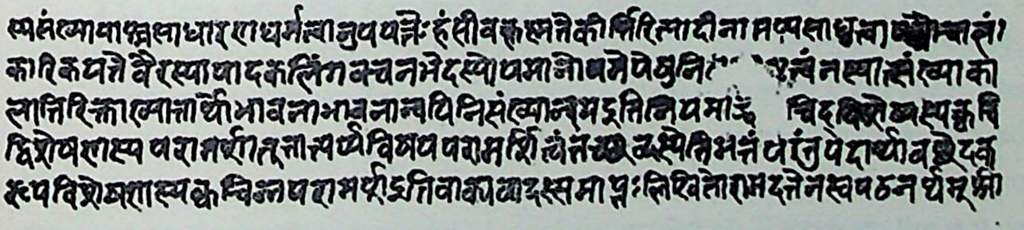
वाक्यवादविषयिण्यै विशेषप्रतिपत्तये तत्तद्वैयाकरणानां स्फोटवादप्रसङ्गान्तर्गतवाक्यसिद्धान्तविमर्शोऽनुध्यातव्यः। हिन्द्याङ्ग्ल-भूमिकासमेतां मत्प्रस्तुतां संस्कृतभाषानिबद्धां संक्षिप्ततमामिमां पूर्वपीठिकां पठित्वा ग्रन्थाध्ययनं क्रियते चेत् कदाचिद् ग्रन्थार्थावगमे सौकर्यं स्यादिति विचिन्त्यैतावानतिरिक्तोऽपि श्रमो मया कृतः। परन्तु यावदेतद्विदुषां लाभाय तोषाय च न भवति तावदेतद्विषयकं स्वश्रमं सार्थकं न मन्ये। अत्र तु कविकुलगुरुः कालिदास एवास्माकं प्रमाणम् -:

"आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्" इति।

सम्पादकः



वाक्यवादः



वाक्यवादः

ओं श्रीगणेशाय नमः

मूलग्रन्थः - १

T1. अथ किमिदं वाक्यं नाम। 'एकतिङ् वाक्य'मिति भाष्यात्। 'एकतिङन्तार्थमुख्यविशेष्यक-बोधजनकपदसमूहो वाक्य'मिति वैयाकरणाः। तेन पचति भवतीत्यादौ, पश्य मृगो धावतीत्यादौ च क्रियापदस्यानेकत्वेऽपि नैकवाक्यताव्याघातः। नहि क्रियाविनिर्मुक्त-वाक्यमस्तीति भाष्यात् 'अस्तिर्भवतिपरः प्रथमपुरुष' इति कात्यायनस्मरणाच्च सर्वत्र समुचितः क्रियापदाध्याहारः।

हिन्दी अनुवाद - १

T1. फिर यह वाक्य क्या है। भाष्य में 'एकतिङ् वाक्य' कहा गया है। अत एव वैयाकरण वाक्य के लक्षण करते हुए कहते हैं - 'एकतिङन्तार्थमुख्यविशेष्यकबोधजनकपदसमूहो वाक्यम्'। अर्थात् एकतिङन्तार्थ की मुख्यविशेष्यता वाले बोध के प्रति कारणभूत पदों का समूह वाक्य है। इसलिए 'पचति भवति, पश्य मृगो धावति' आदि वाक्यों में अनेक क्रियापद होने पर भी एकवाक्यता भङ्ग नहीं होती, क्योंकि क्रियारहित वाक्य नहीं है ऐसा महाभाष्यकार पतञ्जलि का मानना है। 'अस्तिर्भवतिपरः प्रथमपुरुषः' इस कात्यायनोक्त वार्तिक के स्मरण से सर्वत्र समुचित क्रियापद का अध्याहार किया जाना अपेक्षित है।

English Translaion - 1

T1. Then what the sentence is ? In *Mahābhāṣya*, *vākya* is defined as *ekatiṅ*. Therefore, while defining the sentence the grammarians say - *Ekatiṅantārthamukhyaviśeṣyaka- bodhajanakapadasamūho vākyam*. That means : The collection of words is called a sentence which is the cause towards the understanding possessing the principal qualificandness of the meaning of the words ending with a single *tiṅ* (i. e. *ekatiṅantārtha*). Therefore, the state of being a composite single sentence (*ekavākyatā*) of the sentences like *Pacati bhavati, Paśya mṛgo dhāvati* etc. is not violated eventhough there are more

than one verbal forms. Because, the author of the *Mahābhāṣya* (Patañjali) is of the opinion that verbless sentence is not possible. In each and every sentence a verbal form is to be supplied through *adhyāhāra* on the virtue of Kātyāyana's *Vārtika 'Astirbhavatiparaḥ prathamapuruṣaḥ'*.

संस्कृतव्याख्या- १

T1. 'सुप्तिङन्तचयम्' वाक्यमिति वाक्यलक्षणं प्रसिद्ध्यति। परन्त्वत्र विचारणीयमेतदस्ति यत् सुबन्त-समुदायः तिङन्त-समुदायश्च सम्मिल्य वाक्यं भवति, अथवा सुबन्ततिङन्तयोः समुदायो वाक्यं भवति, अथवा सुबन्तानां समुदायः तिङन्तानां समुदायश्च स्वतन्त्ररूपेण वाक्यं भवति? पक्षान्तरे यदि 'पदसमूहो वाक्यम्' इति वाक्य-लक्षणं स्वीकुर्मस्तर्हि सार्थक-शब्दानामनर्थक-समुदायोऽपि वाक्यं भविष्यति। यथा 'गौः अश्वः पुरुषः हस्ती'। अत्र सार्थकाः शब्दाः सन्ति किन्तु तेषां समुदायः सार्थको नास्ति। अतः इयं स्वाभाविकी जिज्ञासा समुदेति यद् वाक्यं नाम किम्? तस्योत्तरं प्रयच्छता ग्रन्थकारेण 'एकतिङ् वाक्यम्' इति महाभाष्य-वचनाधारेण 'एकतिङन्तार्थमुख्यविशेष्यक- बोधजनकपदसमूहो वाक्यम्' इति वैयाकरणसम्मतं वाक्य-लक्षणमुल्लिखितम्। लक्षणेऽस्मिन् 'एकतिङ्' इत्यंशे 'एकमेव यत् तिङ् तद् वाक्यमस्ति' इत्येतादृशः कर्मधारयोऽर्थोऽभीष्टो नास्ति। अन्यथा केवलं 'पचति' इत्यपि वाक्यं भविष्यति। अतः 'एकमस्ति तिङ् यस्मिन्' इत्येवं बहुव्रीहि-समासमङ्गीकृत्य अर्थः कर्तव्यः। एतदाधारेण 'एकतिङ्-घटितः पद-समुदायो वाक्यमित्येतद् वाक्य-लक्षणं निष्पन्नमस्ति। एतस्मिन् वाक्य-लक्षणे स्वीकृते सति यत्र द्वे तिङन्त-पदे स्तः तत्रापि एकस्यैव तिङन्तार्थस्य मुख्यविशेष्यतायां सत्यामेतस्य वाक्यलक्षणस्य समन्वयने न कोऽपि दोषः समापतति। एतल्लक्षणानुसारं वाक्ये एकस्य तिङन्तस्यानिवार्यता सिद्ध्यति, ततश्च स्वाभाविकी काचिद् जिज्ञासा जायते यत् किं सर्वेषु वाक्येषु एकस्य तिङन्त-पदस्य अनिवार्यता वर्तते? अस्याः जिज्ञासायाः समाधानं कुर्वता ग्रन्थकारेण कथितमस्ति यत् 'क्रियारहितं वाक्यं न भवति' इति महाभाष्यकारस्य मतमस्ति। कात्यायनेनाप्यभिमतं वर्तते यद् यत्र अन्यत् क्रियापदं न भवति तत्र 'अस्ति' इति क्रियापदस्य अथवा 'भवति' इति क्रियापदस्याध्याहारः कर्तुं शक्यते। अतः सर्वेष्वपि वाक्येषु एकं तिङन्तपदं भवितुं शक्नोति।

हिन्दी तात्पर्यार्थ - १

T1. 'सुप्तिङन्तचय' को वाक्य कहा गया है। यहाँ विचारणीय है कि सुबन्त-समुदाय और तिङन्त-समुदाय मिलकर वाक्य होते हैं, अथवा सुबन्त एवं तिङन्त का समुदाय वाक्य होता है, अथवा सुबन्तों का समुदाय एवं तिङन्तों का समुदाय स्वतन्त्र रूप से वाक्य होते हैं? और यदि 'पदसमूहो वाक्यम्' इस वाक्य-लक्षण को माने तो सार्थक शब्दों का अनर्थक समुदाय भी वाक्य हो जायेगा। जैसे 'गौः अश्वः पुरुषः हस्ती'। यहाँ सार्थक शब्द तो हैं किन्तु

उनका समुदाय सार्थक नहीं है। अतः यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि वाक्य क्या है? इसके उत्तर में ग्रन्थकार ने महाभाष्य के कथन 'एकतिङ् वाक्यम्' के आधार पर एकतिङन्तार्थमुख्यविशेष्यकबोधजनकपदसमूहो वाक्यम् इसे वैयाकरणसम्मत वाक्य-लक्षण स्वीकार किया है। इस लक्षण में 'एकतिङ्' इस अंश में 'एक जो तिङ् वही वाक्य है' - ऐसा कर्मधारय का अर्थ अभीष्ट नहीं है। अन्यथा केवल पचति यह भी वाक्य हो जायेगा। अतः 'एक है तिङ् जिस में' बहुव्रीहि समास के द्वारा ऐसा अर्थ करना चाहिए। जिस के आधार पर 'एकतिङ् से घटित पदों का समुदाय' वाक्य है - यह वाक्य-लक्षण निष्कृष्ट होता है। ऐसा वाक्य-लक्षण करने पर जहाँ दो तिङन्त पद हैं वहाँ भी एक ही तिङन्तार्थ की मुख्यविशेष्यता होने से वाक्यलक्षण संघटित होने में कोई दोष नहीं है। इस लक्षण में वाक्य में एक तिङन्त की अनिवार्यता का उल्लेख हो जाने से यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि क्या सभी वाक्यों में एक तिङन्त पद का होना अनिवार्य है? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि क्रियारहित वाक्य नहीं होता है - ऐसा महाभाष्यकार का कथन है। कात्यायन ने भी कहा है कि जहाँ अन्य क्रियापद नहीं है वहाँ 'अस्ति' या 'भवति' क्रियापद का अध्याहार हो जाता है। अतः सभी वाक्यों में एक तिङन्त पद का होना सम्भव है।

Explanatory Notes - 1

T1. The collection of *sup* and *tiṅ* has been accepted as a sentence (*vākya*). Here it is a matter to be discussed and decided that whether the collection of *sup* and the collection of *tiṅ* both are to be combinedly treated as a sentence or the collection of *sup* and the collection of *tiṅ* separately can also be considered as a sentece? Or the collection of *sup* and the collection of *tiṅ* are called a sentence individually? On the other hand, if we accept the other definition i. e. collection of words as sentence (*Padasamūho vākyam*) then the meaningless collection of the meaningful words can also be wrongly treated as a sentence. For example, *gauḥ aśvaḥ puruṣaḥ hastī* etc. Therefore, there should be a natural querry that what exactly the sentence is? To reply the querry the author has accepted the definition of sentence as *Ekatiṅantārtha-mukhyaviśeṣyaka-bodhajanaka-padasamūho vākyam* which has been approved by the grammarians. This definition ofcourse is based on the definition given in the *Mahābhāṣya* as *'Ekatiṅ vākyam'*. Here the question is what does the compound word *ekatiṅ* mean? The meaning (*Ekaṃ ca tat tiṅ*) possible from *karmadhāraya*, is not intended here. Because, in that case, only 'pacati' can also be wrongly called a sentence. Therefore, the *bahuvrīhi* compound (*Ekaṃ*

tiṅ yasmin) is to be accepted here. Then only the intended meaning i.e. the collection of words including atleast one tiṅ is a sentence, will come out.

In accepting this definition, however, it will not be wrong to accept the expressions consisting of two verbal forms (*tiṅ*) as sentence, because, there also the meaning of one *tiṅ* only can be considered as *mukhyaviśeṣyatā*. As per this definition when the existence of atleast one *tiṅ* becomes essential for sentence, a natural querry arises again that whether all the sentences should possess atleast one *tiṅ*? To answer this querry the author takes resort to the view of Patañjali and says that there can be no sentence without a verbal form. This view was acceptable even to Kātyāyana also as he says that if there is no verbal activity in a sentence then the verbal forms like *asti, bhavati* etc. are to be supplied there by the famous principle called *adhyāhāra*. Thus, there will be no problem in accepting the existence of atleast one verbal activity in each and every sentence.

मूलग्रन्थः - २

T2. न चास्तु क्रियापदाध्याहारस्तथापि बोधविशेष्यत्वं प्रथमान्तार्थस्यैवेति वाच्यम्। 'पश्य मृगो धावती'त्यादावगतेः प्रथमान्तार्थस्य विशेष्यत्वे वाक्यभेदप्रसङ्गात्। मृगस्य दर्शनक्रियायां कर्मतयाऽन्वये मृगपदोत्तरं द्वितीयापत्तेः। द्वितीयायां सत्यां 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरण' (पा. ३. २. १२४) इत्यनुशासनाल्लटः शत्रादेशे 'धावन्तं मृगं पश्ये'त्येवं स्यात्। तथा च 'पश्य मृगो धावति' इति वाक्योच्छेदापत्तेस्तमित्यध्याहारे वाक्यभेदो गौरवं च।

हिन्दी अनुवाद - २

T2. क्रियापद के अध्याहार न हो, फिर भी प्रथमान्तार्थ का ही बोधविशेष्यत्व है - ऐसा कहना चाहिए। 'पश्य मृगो धावति' इत्यादि वाक्यों में गत्यन्तर के अभाव में प्रथमान्तार्थ का विशेष्यत्व स्वीकार करने पर वाक्यभेद प्रसङ्ग उत्पन्न होता है। मृग का दर्शन-क्रिया में कर्म के रूप में अन्वय करने पर मृग के बाद द्वितीयां की आपत्ति होगी। किन्तु द्वितीया होने पर 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' इस सूत्र के अनुरोध से लट् के स्थान पर शतृ आदेश होने से 'धावन्तं मृगं पश्य' ऐसा ही प्रयोग होना चाहिए। यदि 'पश्य मृगो धावति' इस वाक्य के उच्छेद की आशङ्का से 'तम्' पद का अध्याहार किया जाय तो वाक्यभेद होगा एवं साथ ही गौरव भी होगा।

English Translation - 2

T2. It is to be assumed that only the *prathamāntārtha* is to be accepted as *bodhaviśeṣyatva* even without the adhyāhāra of the verbal form. In the sentences like *'Paśya mṛgo dhāvati'* etc. the context of *vākyabheda* can be raised in accepting the *viśeṣyatva* of *prathamāntārtha* in the absence of any other alternate way. In relating *mṛga* with *darśanakriyā* as *karma* there will be the applicability of accusative to the word *mṛga*. However, if there will be *dvitīyā* then there will be the possibility of the substitute of *śatṛ* in place of *laṭ* on the virtue of '*Laṭaḥ śatṛśānacāvaprathamāsamānādhikaraṇe*' and thus there will be only the usages like '*dhāvantaṃ mṛgaṃ paśya*'. In that case to avoide the possibility of the eradication of the sentences like '*Paśya mṛgo dhāvati*' etc. the *adhyāhāra* of the word '*tam*' will be essential which will lead to the flaws like *vākyabheda* and prolixity (*gaurava*) both.

संस्कृतव्याख्या- २

T2. वैयाकरणैः क्रियामुख्यविशेष्यकः शाब्दबोधः स्वीक्रियते इति सर्वविदितं तथ्यम्। अतः वाक्य-लक्षणे एंकतिङन्तार्थ-क्रियायाः मुख्यविशेष्यता उल्लिखिता वर्तते। एतन्मताधारेण पूर्वपक्षं प्रस्तुवता ग्रन्थकारेण शङ्का प्रकटिता यद् क्रियापदस्याध्याहारः सर्वत्र सम्भवतीति मतमङ्गीकृत्य यदि 'एकतिङन्त-घटितं पदसमूहं' वाक्यमङ्गीकुर्मस्तर्ह्यपि तिङन्तार्थ-क्रियाया मुख्यविशेष्यता-स्वीकरणापेक्षया प्रथमन्तार्थस्यैव मुख्यविशेष्यता किं न मन्तव्या। यतोहि नैयायिक-मतानुसारेण प्रथमान्तार्थ-मुख्यविशेष्यक एव शाब्दबोधः स्वीकर्तव्यो भवति। एतस्योत्तरं प्रयच्छन् ग्रन्थकारः कथयति यत् 'पश्य मृगो धावति'· इत्यस्मिन् वाक्ये प्रथमान्तार्थस्य मुख्य-विशेष्यत्वाङ्गीकारे वाक्यभेदो मन्तव्यः स्यात्। मृगः इति यत् प्रथमान्तं पदमस्ति, तस्य विशेष्यत्वाङ्गीकारे दर्शनक्रियायाः मृगे कर्मरूपेणान्वयः सम्भविष्यति, अतः मृगपदे द्वितीयापत्तिरपि सम्भविष्यति। 'मृग' इत्यनेन 'धावति'-क्रियायाः कर्तुः समानाधिकरणाद् 'धावति' इति तिङन्तस्य स्थाने 'धावन्त'मिति शत्रन्तः प्रयोगो भविष्यति। अतः 'पश्य मृगो धावति' इत्यस्य वाक्यस्य स्थाने 'धावन्तं मृगं पश्य' इत्येवं वाक्यं प्रयुक्तं भविष्यति। किन्तु व्यवहारे तु द्वयोरपि वाक्ययोः प्रयोगो दृश्यते तथा तयोः वाक्ययोः तात्पर्यमपि भिन्नं भिन्नमस्ति। 'पश्य मृगो धावति' इत्येतस्य वाक्यस्यार्थो भवति - मृगकर्तृकां वर्तमानकालिकीं धावनक्रियां पश्य। एवमेव 'धावन्तं मृगं पश्य' इत्येतस्यार्थो भवति - धावन्तं (धावनक्रियाव्यापृतं) मृगं पश्य। 'तम्' पदस्याध्याहारे ग्रन्थकारेण वाक्यभेदः गौरवदोषश्च प्रदर्शितः। किन्तु अत्रैतदवधेयमस्ति यत् यः आशयः

अभीष्टार्थो वा 'पश्य मृगो धावति' इत्येतस्माद् व्यक्तीभवति सः 'तम्' इति पदस्याध्याहारेण न सम्भविष्यति।

हिन्दी तात्पर्यार्थ - २

T2. वैयाकरणों के अनुसार क्रियामुख्यविशेष्यक शाब्दबोध होता है। इसीलिए वाक्य-लक्षण में एकतिङन्तार्थ क्रिया की मुख्यविशेष्यता का उल्लेख किया गया है। इस मत में पूर्वपक्ष की ओर से शङ्का प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि क्रियापद का अध्याहार सर्वत्र सम्भव मानकर 'एकतिङन्त घटित पदसमूह' को यदि वाक्य मान भी लिया जाय तो भी तिङन्तार्थ क्रिया की मुख्यविशेष्यता मानने की अपेक्षा प्रथमन्तार्थ की ही मुख्यविशेष्यता ही क्यों न मान ली जाय। नैयायिकों के मतानुसार प्रथमान्तार्थ मुख्यविशेष्यक ही शाब्दबोध स्वीकार किया जाता है। इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है कि 'पश्य मृगो धावति' इस वाक्य में प्रथमान्तार्थ को मुख्य विशेष्य मानने से वाक्यभेद मानना होगा। मृग जो प्रथमान्त पद है, उसे विशेष्य मानने पर दर्शन क्रिया का कर्म रूप में अन्वय मृग में होगा, अतः मृग पद से द्वितीया की आपत्ति भी होगी। मृग के साथ 'धावति' क्रिया के कर्ता का समानाधिकरण होने के कारण 'धावति' इस तिङन्त के स्थान पर शत्रन्त 'धावन्तं' प्रयोग ही होगा। अतः 'पश्य मृगो धावति' यह वाक्य ही प्रयुक्त न होकर 'धावन्तं मृगं पश्य' यही वाक्य प्रयुक्त होगा। जब कि व्यवहार में दोनों वाक्यों के प्रयोग होते हैं और दोनों वाक्यों का तात्पर्य भी अलग अलग है 'पश्य मृगो धावति' का अर्थ है - मृगकर्तृक वर्तमानकालिक धावनक्रिया को देखे जबकि 'धावन्तं मृगं पश्य' का अर्थ है - दौड़ते हुए मृग को देखे। 'तम्' पद के अध्याहार से ग्रन्थकार ने वाक्यभेद तथा गौरव दोष दिखलाया है। किन्तु यह अवधेय है कि जो आशय 'पश्य मृगो धावति' से होता है वह 'तम्' पद के अध्याहार से नहीं हो सकेगा।

Explanatory Notes - 2

T2. It is needless to say that the grammarians accept *kriyāmukhyaviśeṣyaka* as *śābdabodha*. Therefore, the *mukhyaviśeṣyatā* of *ekatiṅantārtha kriyā* has been stated in the definition of the sentence. The author puts forth the views of the opponents and says even if we accept *ekatiṅanta-ghaṭita padasamūha* as sentence by accepting the principle of *adhyāhāra* in each and every case then also instead of accepting *mukhyaviśeṣyatā* of *tiṅantārtha kriyā*, it is better to accept *mukhyaviśeṣyatā* of *prathamāntārtha*. The Naiyāyika-s accept *prathamāntārtha-mukhyaviśeṣyatā- śābdabodha*. To reply the opponent's view, the author says

that in accepting *prathamāntārtha* as *mukhya viśeṣya* in the expression '*paśya mṛgo dhāvati*' we will be forced to accept *vākyabheda*. Because, in accepting *prathamānta* word *mṛga* as *viśeṣya* , the *darśana-kriyā* will be related to mṛga as a 'karma.' Then there will be wrong application of accusative (*dvitīyā*) in the word *mṛga*. Moreover, because of the possible colocusness (*sāmānādhikaraṇya*) between the agent of the verbal activity *dhāvati* and the word *mṛga*, there will be a wrong usage of '*dhāvantaṃ*' ending with the suffix *śatṛ* in place of the verbal form '*dhāvati*' ending with the suffix *tiṅ*. Thus, there will be only a possibility of the expression '*dhāvantaṃ mṛgaṃ paśya*' and not the expression '*Paśya mṛgo dhāvati*'. However, in practice we find both the expressions as correct and they denote separate meanings. The expression '*paśya mṛgo dhāvati*' denotes 'see the *Mṛgakartṛka vartamānakālika dhāvanakriyā* whereas the expression '*Dhāvantaṃ mṛgaṃ paśya*' denotes 'see the deer running'. By the adhyāhāra of the word '*tam*' the author has tried to show the flaws such as *vākyabheda* and *gaurava*. However, one thing is to be remembered here that the meaning of sentence (*vākyārtha*) which is possible from '*Paśya mṛgo dhāvati*' can not be achieved through the *adhyāhāra* of the word *tam*.

मूलग्रन्थः - ३

T3. न च वाक्यभेदे क्षतिविरह इति वाच्यम्। तथा सति 'तिङतिङः' (पा. ८.१.२८) सूत्रे अतिङः इत्यस्य व्यावर्त्याभावेन वैयर्थ्यापत्तेः, निघातस्वरस्य चैकवाक्यत्वाधीनत्वात्। एकवाक्यत्वाभावे तदनुपपत्तेर्ननु 'हरेर्दशावताराः' इत्यत्र का क्रियाऽध्याहार्या भवन्तीत्येवेति। परन्तु यत्रायोग्यता न तत्र लडर्थवर्तमानत्वान्वयः। अविवक्षितत्वात् वर्तमानसामीप्ये वा लट्-सामीप्यं च भूतभविष्यद्रूपम्, अत एव 'जयन्ति कृष्णस्य दशावताराः' इति मुकुटः 'वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षयमन्नद' इत्यादौ न लडर्थवर्तमानविवक्षेति मिश्रः।

वर्तमानार्थक-लट्-प्रत्ययान्तत्वेनेत्यस्यालोकस्य तत्सामीप्यार्थक- लट्-प्रत्ययान्तत्वेनेति कण्टकोद्धारे मधुसूदनठक्कुराः। अत्र नैयायिकाः निष्क्रियस्यापि वाक्यस्य सत्त्वात् त्रिविधं वाक्यं, तथा हि सुबन्तसमूहस्तिङन्तसमूहः सुबन्ततिङन्तसमूहश्च। यथा 'त्रयः कालाः,' 'पचति भवति' 'चैत्रः पचती'त्यादौ 'धावनकर्तृक-मृगकर्मक-

दर्शनाश्रयस्त्व'मित्यन्वयबोधात् वाक्यार्थस्य कर्मतासंसर्गेण दर्शनक्रियायां वाक्यस्य चार्थवत्त्वाभावेनाप्रातिपदिकत्वान्न द्वितीयापत्तिः न च वाक्यभेदप्रसङ्गः।

हिन्दी अनुवाद - ३

T3. वाक्यभेद होने पर कोई क्षति नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि ऐसा मानने पर 'तिङतिङः' इस सूत्र में अतिङः इस पद के व्यावर्तक न होने से व्यर्थता की आपत्ति होगी, निघात स्वर के एकवाक्यत्व के अधीन होने के कारण। एकवाक्यत्व के अभाव में उसकी अनुपपत्ति होगी। 'हरेर्दशावताराः' (हरि के दश अवतार) इस वाक्य में 'भवन्ति' क्रिया का अध्याहार होता है। किन्तु जहाँ अन्वय की अयोग्यता है वहाँ लडर्थ वर्तमान काल का अन्वय नहीं है। अविवक्षित होने के कारण वर्तमान सामीप्य में अथवा लट्-सामीप्य में भूत एवं भविष्यत् का रूप है। अत एव 'जयन्ति कृष्णस्य दशावताराः' यह मुकुट का मत है। 'वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षयमन्नद' इस वाक्य में लडर्थ वर्तमान की विवक्षा नहीं है ऐसा मिश्र का मानना है। वर्तमानार्थक लट् प्रत्ययान्तत्व के आलोक में वर्तमान-सामीप्यार्थक लट् प्रत्ययान्तत्व है ऐसा कण्टकोद्धार में मधुसूदन ठक्कुर का मानना है। नैयायिकों के मतानुसार, क्रियारहित वाक्यों के होने के कारण वाक्य त्रिविध होते हैं -

सुबन्तसमूह, तिङन्तसमूह तथा सुबन्त-तिङन्तसमूह। वाक्य के इन तीन भेदों के उदाहरण यथाक्रम 'त्रयः कालाः,' 'पचति भवति' एवं 'चैत्रः पचति' हैं। इनकी एकवाक्यता तो एकमुख्यविशेष्यकबोधजनकत्व से सम्भव है। 'पश्य मृगो धावति' में भी इसकी उपपत्ति में कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार 'धावनकर्तृक मृगकर्मक दर्शनाश्रय तुम' इस अन्वय के बोध से वाक्यार्थ का कर्मतासंसर्ग से दर्शनक्रिया में (अन्वय के कारण) तथा वाक्य के अर्थवत्त्वाभाव के कारण प्रातिपदिकत्व के अभाव में न द्वितीया की आपत्ति होगी न वाक्यभेदप्रसङ्ग होगा।

English Translation - 3

T3. It is not proper to say that there is no harm in case of the *vākyabheda*. Because, there will be a redundancy of *atiṅaḥ* in the rule '*tiṅatiṅaḥ*' due to the absence of scope, as 'nighāta' also comes under *ekavākyatva*. It will not be applicable in the absence of *ekavākyatva*. Now a question arises that what verbal activity can be supplied through *adhyāhāra* in case of '*Harerdaśāvatārāḥ*' (ten incarnations of *hari*). The answer is obviously *bhavanti*. But when there is no compatibility of the sense there is no relation of *laḍartha vartamāna kāla*. Because of the absence of intention, the form of past and furure tenses exist in *vartamāna sāmīpya* or *laṭ-sāmīpya*. Therefore, *mukuṭa* goes in favour of the

expression '*Jayanti Kṛṣṇasya daśāvatārāḥ*'. However, according to Mishra, the meaning of laṭ is not intended as present tense in the context of '*Vāridastṛptimāpnoti sukhamakṣayamannada*' etc. Madhusūdana Ṭhakkura, however, is of the opinion in his *Kaṇṭakoddhāra* that here *Vartamāna-sāmīpyārthaka laṭ pratyayāntatva* is there in the light of *vartamānārthaka laṭ pratyayāntatva*.

On the basis of the acceptiblity of the sentences without verbal activity, the sentences are accepted as of threefolds by Naiyāyika-s, namely, *subantasamūha, tiṅantasamūha* and *subanta-tiṅantasamūha*. The exmples of these three types are : '*trayaḥ kālāḥ,*' '*pacati bhavati*' and '*caitraḥ pacati*' respectively. Its state of being a composite single sentence (*ekavākyatā*) is possible due to *Ekamukhyaviśeṣyaka bodhajanakatva*. There is no difficulty in its justification in case of the expression '*Paśya mṛgo dhāvati*' also. Thus, neither there will be any scope of *vākyabheda* nor the application of accusative in the absence of *prātipadikatva* due to the absence of *arthavattva* of the sentence and due to the relation (*anvaya*) of *vākyārtha* with *darśanakriyā* through a syntactical relationship (*saṃsarga*) called *karmatā* resulting out of the verbal interpretation '*Dhāvanakartṛka Mṛgakarmaka darśanāśrayaḥ tvam*'.

संस्कृतव्याख्या - ३

T3. पूर्वपक्षैरेषा शङ्का कर्तुं शक्यते यत् 'तम्' इति पदस्याध्याहारे यदि वाक्यभेदस्य प्रसङ्गः समुपस्थितो भवति तर्ह्यपि तत्र न कश्चिद् दोषो वर्तते। अस्याः शङ्कायाः समाधानं कुर्वता ग्रन्थकारेण 'तिङतिङः' इति सूत्रमुदाहृतं यस्यार्थो भवति - अतिङन्तपरस्य तिङन्तस्य निघातो भवति। यदि एकस्मिन् वाक्ये अनेकानि तिङन्तानि पदानि नैव सम्भवन्ति तर्हि 'अतिङन्त-परस्य' इति कथनमेव व्यर्थं स्यात्। यतोहि यदि एकस्मिन् वाक्ये एकाधिकं तिङन्तं सम्भवति तर्ह्येव तिङन्तात् परं तिङन्तं सम्भविष्यति यस्य व्यावृत्तये अतिङः इति कथनमावश्यकं भविष्यति।

सर्वत्र क्रियापदस्याध्याहार-सम्भावनामाशङ्कमानेन ग्रन्थकारेण शङ्का समुपस्थापिता यत् 'हरेर्दशावताराः' इत्यस्मिन् वाक्ये कस्याः क्रियायाः अध्याहारो भविष्यति। अस्य समाधानं तेन 'भवन्ति' इति बहुवचनान्तक्रियया विहितमस्ति। किन्तु यत्र लडर्थ-वर्तमानकालस्य अन्वयस्य योग्यता न भवति तत्र वर्तमानकालस्यान्वय-स्वीकारे आवश्यकता न भवति। अतः 'हरेर्दशावताराः' इत्यत्र 'भवन्ति' इति क्रिया- पदस्याध्याहारे कृते सत्यपि वर्तमानकालस्यान्वयं

विनाऽपि 'भवन्ति' इति क्रियापदस्य प्रयोगः संघटितो भविष्यति। अत्र द्वितीयोऽप्युपायो वर्तते अपि वर्तते यत् वर्तमान-सामीप्ये लट्-लकारो भवतीति तथ्यम्। तर्हि वर्तमान-सामीप्यार्थकलट्-लकारस्य प्रयोगमपि मत्त्वा 'भवन्ति' पदस्य लकारार्थस्योपपत्तिः कर्तुं शक्यते। मुकुटेन (रायमुकुटेन) तु 'जयन्ति कृष्णस्य दशावताराः' इति कथयित्वा जयन्ति पदेन तिङन्तपदस्य पूर्तिः कृताऽस्ति। परन्तु 'वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षयमन्नद' इत्यत्र लडर्थवर्तमानकालः विवक्षितो नास्ति - इत्येवं मिश्रेणाभिमतम्।

नैयायिकैः क्रियारहितमपि वाक्यत्वेन स्वीकृतमस्ति। अतः तेषां मतानुसारं - सुबन्तसमूहः, तिङन्तसमूहः तथा सुबन्त-तिङन्तसमूहश्चेत्येवंप्रकारकं त्रिविधं वाक्यं सम्भवति। यथा 'त्रयः कालाः' इत्येतत् सुबन्तसमूहात्मकं वाक्यं भवति। एवमेव 'पचति भवति' इत्येतत् तिङन्तसमूहात्मकं वाक्यं भवति तथा 'चैत्रः पचति' इत्येतत् सुबन्त-तिङन्तयोः समुदायात्मकं वाक्यं भवति।

एकः पदार्थोऽपि मुख्यविशेष्यता-बोधजनकता-कारणादेकं वाक्यमिति कथ्यते। एवंप्रकारकं एकवाक्यत्वमेषु त्रिषु वाक्येषु तु अस्त्येव किन्तु 'पश्य मृगो धावति' इत्यत्रापि भवति। नैयायिकानां मतानुसारं 'पश्य मृगो धावति' इत्यस्य शाब्दबोधः एवं भवति - 'धावनकर्तृकः मृगकर्मकः दर्शनाश्रयभूतस्त्वम्'। वैयाकरणैः मृगे या द्वितीयापत्तिः समुपस्थापिता वर्तते तस्याः वारणमपि नैयायिकैः 'मृगो धावति' इत्यस्य वाक्यार्थे कर्मत्वमङ्गीकृत्य परिहृतं मन्यते। यतोहि यावद् वाक्यमेतत् प्रातिपदिक-संज्ञकं न भवति तावत् ततः द्वितीया भवितुं न शक्नोति। एवमेवात्र वाक्यभेदोऽपि न भविष्यति। 'पश्य मृगो धावति' इत्यत्र वैयाकरणैरङ्गीकृता वाक्यभेदापत्तिरपि न सम्भविष्यति, यतोहि वाक्यार्थस्य कर्मत्वे 'तं' पदस्याध्याहारोऽपि अपेक्ष्यते।

हिन्दी तात्पर्यार्थ - ३

T3. पूर्वपक्ष की ओर से यह शङ्का की जा सकती है कि 'तम्' पद के अध्याहार से यदि वाक्यभेद का प्रसङ्ग है तब भी तो कोई दोष नहीं है। इस शङ्का का समाधान करते हुए ग्रन्थकार 'तिङतिङः' सूत्र का उदाहरण देते हैं जिसका अर्थ होता है - अतिङन्त से परे तिङन्त को निघात होता है। यदि एक वाक्य में अनेक तिङन्त होना सम्भव ही नहीं होगा तो 'अतिङन्त से परे' ऐसा कथन ही व्यर्थ होगा। क्योंकि यदि एक वाक्य में एकाधिक तिङन्त सम्भव हो तो तिङन्त से परे तिङन्त सम्भव है जिसकी व्यावृत्ति के लिए अतिङः कहना आवश्यक है।

सर्वत्र क्रियापद के अध्याहार की सम्भावना पर आशङ्का करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि 'हरेर्दशावताराः' इस वाक्य में किस क्रिया का अध्याहार होगा। इसका समाधान उन्होंने भवन्ति इस बहुवचनान्त क्रिया से किया है। किन्तु जहाँ पर लडर्थ वर्तमान काल के अन्वय की योग्यता न हो वहां वर्तमान काल का अन्वय मानने की आवश्यकता नहीं है। अतः 'हरेर्दशावताराः' में भवन्ति क्रिया पद के अध्याहार करने पर भी वर्तमान काल के अन्वय

के बिना भी भवन्ति क्रिया पद का प्रयोग संघटित हो जाएगा। दूसरा उपाय यह भी है कि वर्तमान सामीप्य में लट्-लकार होता है। यहाँ वर्तमान सामीप्यार्थक लट्-लकार का प्रयोग भी मानकर 'भवन्ति' पद के लकारार्थ की उपपत्ति की जा सकती है। मुकुट ने तो 'जयन्ति कृष्णस्य दशावताराः' कहकर जयन्ति पद से तिङन्त पद की पूर्ति की है। जबकि 'वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षयमन्नद' में लडर्थ वर्तमान काल विवक्षित नहीं है - ऐसा मिश्र ने माना है।

नैयायिकों ने क्रियारहित वाक्य को भी स्वीकार किया है। अतः नैयायिकों के अनुसार - सुबन्तसमूह, तिङन्तसमूह या सुबन्त-तिङन्तसमूह इस प्रकार तीन प्रकार के वाक्य सम्भव हैं। जैसे ' त्रयः कालाः' यह 'सुबन्तसमूहात्मक वाक्य है। 'पचति भवति' यह तिङन्तसमूहात्मक वाक्य है और 'चैत्रः पचति' सुबन्त एवं तिङन्त का समुदायात्मक वाक्य है।

एक पदार्थ भी मुख्यविशेष्यता के बोधजनकता के कारण एकवाक्य कहलाता है। इस प्रकार का एकवाक्यत्व इन तीनों में है तथा 'पश्य मृगो धावति' में भी है। नैयायिकों के मत में 'पश्य मृगो धावति' का शाब्दबोध इस प्रकार होता है - 'धावनकर्तृक - मृगकर्मक - दर्शन - आश्रयभूत तुम'। वैयाकरणों के द्वारा मृग में द्वितीयापत्ति का वारण भी नैयायिक 'मृगो धावति' इस वाक्यार्थ को कर्म मानने से परिहृत मान लेता है। क्योंकि यह वाक्य जब प्रातिपदिक संज्ञक नहीं है तो इससे द्वितीया नहीं हो सकती है। यहाँ वाक्यभेद भी नहीं होगा। वैयाकरणों के द्वारा प्रदत्त 'पश्य मृगो धावति' में वाक्यभेद की भी आपत्ति नहीं है, क्योंकि वाक्यार्थ कर्म होने के कारण 'तं' पद के अध्याहार की भी अपेक्षा नहीं है।

Explanatory Notes - 3

T3. Now a question may be raised by the opponents that even if there is a possibility of *vākyabheda* due to the *adhyāhāra* of the word *tam* then also it is not at all a fault. To answer this question the author says that the rule '*Tiṅatiṅaḥ*' (P. 8.1.2) teaches *nighāta* for *tiṅanta* if it comes after *atiṅanta*. However, if more than one *tiṅanta* is not possible in a sentence then it will be redundant to say *tiṅanta* coming after *atiṅanta*. In fact, if there will be atleast more than one *tiṅanta*-s in a sentence then only the possibility of *tiṅanta* coming after *tiṅanta* will arise and for its prohibition the use of the word *atiṅaḥ* will be required in the above mentioned rule.

In accepting the supply of a *kriyāpada* through *adhyāhāra* in each and every sentence there may be a querry that which *kriyā* should be supplied through *adhyāhāra* in case of '*Harerdaśāvatārāḥ*'. To this the author says that

it can be the plural form *bhavanti*.

He further says that where there is no compatibility (*yogyatā*) for present tense as a meaning of laṭ, there it is not necessary to relate it with the present tense. In fact, in case of '*Harerdaśāvatārāḥ*' where the *adhyāhāra* of the verbal form *bhavanti* is made, there also the use of verbal form *bhavanti* can be justified even without being related to the present tense. The other possible alternative is since *laṭ-lakāra* is also possible in case of *vartamāna sāmīpya*, the use of the verbal form *bhavanti* can be justified in the context of the present tense. Mukuṭa has provided us the sentence as '*Jayanti Kṛṣṇasya daśāvatārāḥ*' and he has accepted the appropriate verbal activity as '*jayanti*' in place of '*bhavanti*'. Whereas Miśra says that in the context of '*Vāridastṛptimāpnoti sukhamakṣayamannada*', the meaning of *laṭ* may necessarily not be intended as the present tense.

As pointed out earlier, the Naiyāyika-s have recognised even the verbless expressions as sentences.Threfore, according to them the sentence can be of three types, namely, *subantasamūha*, *tiṅantasamūha* and *subanta-tiṅantasamūha*. The sentence '*Trayaḥ kālāḥ*' serves as the example of *subantasamūha* whereas *pacati bhavati*' is the example of *tiṅantasamūha* and '*caitraḥ pacati*' can be treated as the exmple of *subanta-tiṅantasamūha*.

One *padārtha* is also considered as *ekavākya* due to *bodhajanakatā* of *mukhyaviśeṣyatā*. This sort of *ekavākyatva*, however, is there in all the three types of sentences mentioned above. Similarly, this sort of *ekavākyatva* is also possible in the context of '*Paśya mṛgo dhāvati*'. The Naiyāyika-s accept the *śābdabodha* of '*Paśya mṛgo dhāvati*' as '*Dhāvanakartṛkaḥ mṛgakarmakaḥ darśanāśrayabhūtastvam*'.

The grammarian's prohibition of the application of accusative in the word *mṛga* is achieved by the Naiyāyika-s by accepting the sentence-meaning as *karma* in case of 'mṛgo *dhāvati*', because, this sentence is not a *prātipadika* and the accusative will not be possible unless it is a *prātipadika*. Thus, *vākyabheda* will also not be possible in '*paśya mṛgo dhāvati*' as accused by the grammarians,

because, since the *vākyārtha* itself is the *karma*, there will be no more need to supply the word *tam* through the principle of *adhyāhāra*.

मूलग्रन्थः - ४

T4. किञ्च नहि क्रियाविनिर्मुक्तं वाक्यमस्तीति फणिनो धरणीभारविजृम्भणभणतिरेवेति भावः। तथा हि त्रयः कालाः इत्यादाविव क्रियाविनिर्मुक्तस्य वाक्यस्य सार्वजनीनत्वात् न त्वत्र कापि क्रिया अध्याहर्तुं शक्या। अपि च क्रियाया विशेष्यत्वेऽपि 'प्रयाति पुरुषस्तस्य चरणावभिवादये' इत्यादौ तच्छब्देन पुरुष-परामर्शो न स्यात्तस्य विशेषणत्वेचो(नो)पस्थितत्वात्। अन्यथा 'दशैते राजमातङ्गास्तस्यैवामी तुरङ्गमाः' इत्यादेरपि साधुत्वापत्तेरित्याद्यनल्पं जल्पन्ति स्म।

हिन्दी अनुवाद - ४

T4. वस्तुतः क्रियारहित वाक्य नहीं होता है - यह अभिमत फणी (पतञ्जलि) का पृथिवी के भार-वहन-जनित जह्माइ ही है (अर्थात् भ्रमात्मक ज्ञान है)। क्योंकि त्रयः कालाः जैसे क्रियारहित वाक्यों की सार्वजनीन स्वीकृति के कारण यहाँ किसी भी क्रिया का अध्याहार किया जा सकता है। साथ ही क्रिया के विशेष्य होने से 'प्रयाति पुरुषस्तस्य चरणावभिवादये' इत्यादि में 'तत्' शब्द से पुरुष-परामर्श नहीं होगा और वह विशेषण के रूप में उपस्थित होने लगेगा। अन्यथा 'दशैते राजमातङ्गास्तस्यैवामी तुरङ्गमाः' जैसे वाक्यों की भी साधुत्वापत्ति होगी - यह तो न्यून ही कहा गया है।

English Translation - 4

T4. In fact, the above view of Patañjali that there is no sentence without verbal activity, is erroneus and it is just like the yawning of Phaṇī (Śeṣanāga, i.e Patañjali) due to the load of the earth on its hood. Because, here any verbal activity can be supplied through the principle of *adhyāhāra* because of the universal acceptibility of the verbless sentence like *Trayaḥ kālāḥ*. In addition to that, when the *kriyā* will be accepted as qualificand (*viśeṣya*) the *puruṣa* will not consulted by the word '*tat*' in '*Prayāti puruṣastasya caraṇāvabhivādaye*' (Here goes the man and I bow to his feet) etc. and it will be understood as a qualifier (*viśeṣaṇa*). Otherwise, it is really less said that the sentences like '*daśaite rājamātaṅgāstasyaivāmī turaṅgamāḥ*' (these are ten royal tribals and these, are their horses) will be wrongly treated as correct.

संस्कृतव्याख्या- ४

T4. नैयायिकैरेवमपि कथ्यते यत् महाभाष्ये क्रियाविनिर्मुक्तं वाक्यं न भवतीति यत् कथनमस्ति तद् वस्तुतः किञ्चिद् अनवधानात्मकं कथनं वर्तते। यतोहि 'त्रयः कालाः' इत्येतत् सर्वथा क्रियारहितं वचनमपि वाक्यत्वेन लोके प्रसिद्धमस्ति। वस्तुतस्तस्य वाक्यत्वे न कोऽपि सन्देहो भवति। परन्तु अत्र न कस्या अपि क्रियायाः अध्याहारः सम्भवति, यतोहि 'त्रयः कालाः' इत्यनेन अन्वययोग्यस्य एकस्य कालस्य काचित् क्रिया कथं योजयितुं शक्यते। अतः अगत्या क्रियारहितमपि वाक्यं भवतीति स्वीकर्तव्यं वर्तते।

क्रियाविशेष्यकस्य शाब्दबोधस्य स्वीकारप्रसङ्गे नैयायिकैः काचिदापत्तिः प्रदर्शिता यत् 'प्रयाति पुरुषस्तस्य चरणावभिवादये' इत्यादिवाक्ये 'तत्' इति शब्देन मुख्यपुरुषस्य परामर्शः नैव भवितुमर्हति यतोहि तत्-शब्देन मुख्यविशेष्यस्य ग्रहणं भवति। क्रियाया मुख्यविशेष्यत्वाङ्गीकारे पुरुषः मुख्यविशेषणरूपेण उपस्थितो भविष्यति।

अतः अत्र 'तत्' शब्दः मुख्यविशेष्यभूतायाः क्रियायाः परामर्शको भविष्यति न तु विशेषणीभूतस्य पुरुषस्य। अस्यां स्थितौ तस्य पदेन पुरुषस्य परामर्शः न भवति चेत् 'प्रयाति पुरुषस्तस्य चरणावभिवादये' इत्यस्मिन् वाक्ये 'तस्य' इत्यनेन चरणौ इत्यस्यान्वयोऽपि न सम्भविष्यति। एवं 'दशैते राजमातङ्गास्तस्यैवामी तुरङ्गमाः' इति प्रयोगोऽपि साधुः भविष्यति यतोहि 'तस्य' इति पदेन बहुत्वभूतस्य राजमातङ्गस्य परामर्शः नैव भविष्यति।

हिन्दी तात्पर्यार्थ - ४

T4. नैयायिकों का यहाँ तक कहना है कि महाभाष्य में क्रियाविनिर्गुक्त वाक्य का अभाव माना जाना वस्तुतः एक प्रकार का अनवधानात्मक कथन है। क्योंकि 'त्रयः कालाः' जैसे वाक्य, जो सर्वथा क्रियारहित रूप में लोकप्रसिद्ध हैं, उन की वाक्यता में किसी को भी सन्देह नहीं है। यहाँ पर किसी भी क्रिया का अध्याहार करना सम्भव भी नहीं है क्योंकि 'त्रयः कालाः' के साथ अन्वययोग्य एक काल की कोई क्रिया कैसे हो सकती है। अतः क्रियारहित वाक्य भी होते हैं यह मानना आवश्यक है। क्रियाविशेष्यक शाब्दबोध स्वीकार करने पर नैयायिकों ने एक आपत्ति यह दी कि 'प्रयाति पुरुषस्तस्य चरणावभिवादये' इत्यादि वाक्य में 'तत्' शब्द से मुख्य पुरुष का परामर्श नहीं हो सकेगा क्योंकि तत् शब्द से मुख्य विशेष्य का ग्रहण होगा। क्रिया को मुख्य विशेष्य मानने पर पुरुष मुख्य विशेषण के रूप में उपस्थित होगा। अतः यहाँ 'तत्' शब्द मुख्य विशेष्यभूत क्रिया का परामर्शक होगा न कि विशेषणीभूत पुरुष का। इस स्थिति में तस्य पद से पुरुष का परामर्श नहीं होने पर 'प्रयाति पुरुषस्तस्य चरणावभिवादये' इस वाक्य में 'तस्य' के साथ चरणौ का अन्वय भी सम्भव न हो सकेगा। इस प्रकार तो दशैते राजमातङ्गारतरस्यैवामी तुरङ्गमाः' प्रयोग भी साधु हो जायेगा क्योंकि

'तस्य' पद से बहुत्वभूत राजमातङ्ग का परामर्श नहीं होगा।

Explanatory Notes - 4

T4. The Naiyāyika-s go to the extent of saying that it is really a blunder commited by Patañjali in his *Mahābhāṣya* in the form of not accepting the verbless sentences (*Kriyāvinirmukta vākya*). Because, there is no doubt over the state of being a sentence of the expression *Trayaḥ kālāḥ* which is famous as a verbless sentence. Moreover, here it is also not possible to think of *adhyāhāra* of any *kriyā*, because, how can a *kriyā* of a particular tense can be related to an expression like *Trayaḥ kālāḥ* meaning three tenses. In case of accepting *kriyāviśeṣyaka śābdabodha*, the Naiyāyika-s have raised another objection that in the sentences like '*Prayāti puruṣastasya caraṇāvabhivādaye*' etc. the *mukhya puruṣa* cannot be related by the word '*tat*', because, the word *tat* will relate itself to the prominent *viśeṣya*. In accepting *kriyā* as prominent *viśeṣya*, the *puruṣa* will present itself as prominent *viśeṣaṇa*. Thus, here the word '*tat*' will be realated to '*mukhya viśeṣyabhūta kriyā*' and not to '*viśeṣaṇībhūta puruṣa*'. In addition to that, *tasya* also cannot be related with caraṇau in case of the expression : '*Prayāti puruṣastasya caraṇāvabhivādaye*'. Thus, the expressions like *Daśaite rājamātaṅgāstasyaivāmī turaṅgamāḥ*' etc. can also be treated as correct, because, to the word *tasya* the plural form *rājamātaṅgāḥ* can also not be related.

मूलग्रन्थः - ५

T5. अत्रेदं भावयामः 'पश्य मृगो धावती'त्यत्र तादृशमृगस्य दर्शनक्रियायां कर्मतासंसर्गेणान्वयो न सम्भवति नामार्थ-धात्वर्थयोरभेदातिरिक्तसम्बन्धेन साक्षादन्वय-बोधस्याव्युत्पन्नत्वात्। अन्यथा 'तण्डुलः पचती'त्यादेरपि साधुत्वापत्तेः। न च तत्र धावनकृतिविशिष्ट-मृगस्य वाक्यार्थत्वेन नामार्थत्वसम्भवात् नोक्तदोष इति वाच्यम्। तथा सति मृगपदोत्तरं प्रथमाऽपि न। विवक्षास्थले एव प्रयुक्तस्य 'पश्य मृगो धावती'त्येतस्यैकवाक्यत्वं फणिसंमतं तच्चानुपपन्नमेव। फणिसंमतिस्तु हेलाराजेन स्पष्टीकृता। तथा हि,

सुबन्तं हि यथानेकतिङन्तस्य विशेषणम्।
तथा तिङन्तमप्याहुस्तिङन्तस्य विशेषणम्।।इति।

तेन धावनक्रिया स्यात्तस्यापि प्रातिपदिकाश्रयत्वात् ।

हिन्दी अनुवाद - ५

T5. यहाँ यह विचारणीय है कि 'पश्य मृगो धावति' इस वाक्य में इस प्रकार के मृग के दर्शन क्रिया में कर्मतासंसर्ग से अन्वय सम्भव नहीं है क्योंकि नामार्थ एवं धात्वर्थ का अभेदातिरिक्त सम्बन्ध से साक्षात् अन्वयबोध अव्युत्पन्न होता है। अन्यथा 'तण्डुलः पचति' जैसे वाक्यों की भी साधुत्वापत्ति होगी। पर वहाँ धावनकृतिविशिष्ट मृग का वाक्यार्थ के रूप में नामार्थत्व सम्भव न होने से यह दोष नहीं है - ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि ऐसे मानने पर मृग पद के अनन्तर प्रथमा की प्राप्ति नहीं होगी। विवक्षास्थल में ही प्रयुक्त 'पश्य मृगो धावति' का फणिसम्मत (भाष्यसम्मत) एकवाक्यत्व अनुपपन्न ही होगा। इस प्रसंग में फणिसम्मति (भाष्यसम्मति) क्या है- यह तो हेलाराज ने स्पष्ट किया है। इस प्रकार जैसे सुबन्त ही अनेक तिङन्त के विशेषण है उसी प्रकार तिङन्त भी तिङन्त का विशेषण है - ऐसा माना जाता है। इस प्रकार प्रातिपदिकाश्रय होने के कारण धावनक्रिया सम्भव है।

English Translation - 5

T5. This is to be discussed here that such *mṛga* cannot be related to *darśanakriyā* in a syntactical relationship (*saṃsarga*) called *karmatā,* because, the direct understanding of the relation (*anvayabodha*) cannot be derived of *nāmārtha* and *dhātvartha* in a relationship other than the identicl (*abhedātirikta*). Otherwise, the sentences like *'taṇḍulaḥ* pacati' etc. will be wrongly treated as correct. However, it is not proper to say that the above fault will not be applicable for the reason that the *nāmārthatva* is not possible in case of *dhāvanakṛtiviśiṣṭa mṛga* as the meaning of sentence. Because, in that case the nominative case ending will not apply to the word *mṛga*. The 'ekavākyatva' established in the *Mahābhāṣya* of Patañjali in the conteext of '*Paśya mṛgo dhāvati*', cannot be justified even when it is intended. What exactly is the stand of *Mahābhāṣya* in this context, has been clarified by Helārāja. Thus, it is accepted that just as the word ending in *sup* (*subanta*) is the qualifier of *tiṅanta*, similarly *tiṅanta* can also become the qualifier of *tiṅanta*. Thus, *dhāvanakriyā* is possible because of being the locus of *prātipadika* (*prātipadikāśraya*)

संस्कृतव्याख्या- ५

T5. उपर्युक्तवाक्यैः न्याय-मतोचिताः युक्तिरुपस्थाप्य ग्रन्थकारेण इदानीं तस्याः खण्डनं क्रियते। तस्य कथनमिदमस्ति यत् नौयायिकैः 'पश्य मृगो धावति' इत्यस्मिन् वाक्ये मृगस्य

दर्शनक्रियायां कर्मतासंबन्धेन योऽन्वयः स्वीकृतोऽस्ति सः समुचितो नास्ति, यतोहि एष एव सिद्धान्तो वर्तते यत् नामार्थस्य धात्वर्थेन सममभेदातिरिक्तः साक्षात् सम्बन्धो न भवति। नामार्थ-धात्वर्थयोर्मध्ये भेदसम्बन्धार्थं विभक्त्यर्थस्य माध्यमोऽपेक्षितोऽस्ति। मृगे प्रथमाविभक्त्यर्थस्तु नामार्थातिरिक्तं न किञ्चिदस्ति। यदि इमं सिद्धान्तं नाङ्गीकुर्मस्तर्हि 'तण्डुलः पचति' इत्येतद् वाक्यमपि साधुः भवितुं शक्नोति। यतोहि तण्डुलस्य कर्मतासंबन्धेन पाकक्रियायामन्वयोऽपि मन्तुं शक्यते। यदि नैयायिकैरेवमुच्यते यत् 'पश्य मृगो धावति' इत्यत्र धावनकृतिविशिष्टस्य मृगस्य कर्मतासंबन्धेन दर्शनक्रियायामन्वयोऽस्ति, तथा एषः नामार्थो न वर्तते इत्यतः नामार्थयोरभेदान्वयः इत्यस्य उपर्युक्त-सिद्धान्तस्य विरोधोऽपि न भवति तर्हि मृगे प्रथमाऽपि न भवितुं शक्नोति।

अपरञ्च, एतदपि ध्यातव्यमस्ति यत् मृगस्य धावनक्रियाया दर्शनक्रियायाः कर्मत्वेन यदङ्गीकरणमभीष्टमस्ति, तदपि न्याय-मतानुसारं नोपपद्यते। वस्तुतः महाभाष्यकारेण 'पश्य मृगो धावति' इत्यत्र एकवाक्यता अभीष्टाऽस्तीति तथ्यं हेलाराजेनापि स्पष्टीकृतं वर्तते।

हिन्दी तात्पर्यार्थ - ५

T5. ग्रन्थकार उपर्युक्त वाक्यों के द्वारा न्याय-मत की युक्तियाँ उपस्थापित कर अब उनका खण्डन करते हैं। ग्रन्थकार का कथन है कि नौयायिकों ने 'पश्य मृगो धावति' इस वाक्य में मृग का दर्शन क्रिया में कर्मता संबन्ध से जो अन्वय माना है वह समुचित नहीं है, क्योंकि यह सिद्धान्त है कि नामार्थ का धात्वर्थ के साथ अभेद के अतिरिक्त साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है। नामार्थ धात्वर्थ के बीच भेद सम्बन्ध के लिए विभक्त्यर्थ का माध्यम होना आवश्यक है। मृगः में प्रथमा विभक्त्यर्थ तो नामार्थ के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यदि इस सिद्धान्त को नहीं मानते हैं तो 'तण्डुलः पचति' यह वाक्य भी साधु होने लगेगा। क्योंकि तण्डुल का कर्मता संबन्ध से पाकक्रिया में अन्वय भी माना जा सकेगा। यदि नैयायिक 'पश्य मृगो धावति' के स्थल में धावनकृतिविशिष्ट मृग का कर्मता संबन्ध से दर्शनक्रिया में अन्वय है, ऐसा कहें और यह नामार्थ नहीं है, अतः उक्त सिद्धान्त नामार्थयोरभेदान्वयः का विरोध नहीं हो रहा है - यह स्थापित करें तो मृग से प्रथमा भी नहीं हो सकेगी और ध्यातव्य है कि जहाँ मृग के धावनक्रिया को ही दर्शनक्रिया का कर्म बनाना है, वह भी न्याय-मत में उपपन्न नहीं हो सकेगी।

महाभाष्यकार को 'पश्य मृगो धावति' में एकवाक्यता अभीष्ट है - यह बात हेलाराज ने स्पष्ट की है।

Explanatory Notes - 5

T5. The author has presented the arguments of the Naiyāyika-s in the

form of the above sentences. Now to refute them he says that in case of the sentence '*Paśya mṛgo dhāvati*', it is not proper to relate *mṛga* to *darśanakriyā* through a relationship called *karmatā*, as the Naiyāyika-s do. Because, conceptually *nāmārtha* cannot be related to *dhātvartha* directly except the identical relation (i.e. *abheda sambandha*). It is essential to accept the *vibhaktyartha* as the mediater for the non-identical relationship between *nāmārtha* and *dhātvartha*. The *prathamā-vibhaktyartha* in *mṛgaḥ* is nothing but *nāmārtha*. If we do not accept this concept then the sentences like '*taṇḍulaḥ pacati*' will also be treated as correct, because, the *taṇḍula* can also be accepted as related to *pākakriyā* through a relationship called *karmatā*.If Naiyāyika-s say that in the case of '*Paśya mṛgo dhāvati*' the word 'mṛga', qualified with *dhāvanakṛti*, gets related to *darśanakriyā* through a relation called *karmatā* and try to establish that since it is not a *nāmārtha* the principle *nāmārthayorabhedānvayaḥ* is not being violated, then even *prathamā* will also not be applicable to *mṛga*.

Another point is to be noted here that so far as the views of Naiyāyika-s are concerned, even the *dhāvanakriyā* of *mṛga* cannot be a *karma* to *darśanakriyā*. In fact, *ekavākyatā* is acceptable to Mahābhāṣyakāra Patañjali in the context of '*Paśya mṛgo dhāvati*' and it has been already clarified by Helārāja.

मूलग्रन्थः - ६

T6. किञ्च मृगकर्तृकोत्कटधावनस्य दर्शनक्रियायां कर्मत्वेन (...) विवक्षायां न प्रतीकार इत्याशयः। अन्यथा 'धावन्तं मृगं पश्ये'त्येवं ब्रूयात्। किञ्च 'त्रयः कालाः' इत्यत्र 'ज्ञायन्ते' इति क्रियान्वयंसम्भवात् क्रियाविनिर्मुक्तवाक्यस्यासंगत्यापत्तेः। किञ्च 'शृणु गर्जति मेघो', 'नटो गायति शृणु', 'घटोऽनश्यत्पश्ये'त्यादावव्याप्त्यापत्तेश्च। एतेन प्रथमार्थो मृगकर्मत्वमित्यपास्तम्।

हिन्दी अनुवाद - ६

T6. मृगकर्तृक उत्कट धावन का दर्शनक्रिया में कर्मत्व से (अन्वय) विवक्षा में प्रतीकार नहीं है - ऐसा आशय मानना है, अन्यथा 'धावन्तं मृगं पश्य' - ऐसा कहा जाता। किंच 'त्रयः कालाः' यहाँ 'ज्ञायन्ते' इस क्रिया का अन्वय सम्भव होने के कारण क्रियारहित वाक्य की

असंगति की आपत्ति होगी। किं च 'शृणु गर्जति मेघो', 'नटो गायति शृणु', 'घटोऽनश्यत् पश्य' इत्यादि प्रयोगों में अव्याप्ति की आपत्ति होगी। इस से प्रथमा का अर्थ मृगकर्मत्व है - यह मत अपास्त (निराकृत) हो जाता है।

English Translation - 6

T6. It is to be accepted that there is no remedy for the intention of the relation through *karmatva* in *darśanakriyā* of the fast running performed by the deer (*mṛgakartṛka utkaṭa dhāvana*). Otherwise the expression should have been '*dhāvantaṃ mṛgaṃ paśya*'. Moreover, since the verbal activity '*jñāyante*' can be related to '*Trayaḥ kālāḥ*' there will be an objection towards the inconsistancy of the verbless sentences. In addition to that, there will be a scope for the fault of *avyāpti* in usages like '*Śṛṇu garjati megho*', '*Naṭo gāyati śṛṇu*' and '*Ghaṭo'naśyat paśya*' etc. By this the view that *prathamā* denotes *mṛgakarmatva* is over- ruled.

संस्कृतव्याख्या- ६

T6. वस्तुतः क्रियाविनिर्मुक्तमपि वाक्यं भवतीति प्रतिपाद्य एव नैयायिकैः 'त्रयः कालाः' इति वाक्यमुद्धृतं वर्तते। वाक्येऽस्मिन् कस्यचित् कालविशेषस्य क्रियायाः अध्याहारोऽपि न सम्भवतीति नौयायिकैर्मन्यते। एतदभिलक्ष्य ग्रन्थकारस्य कथनमस्ति यत् 'त्रयः कालाः' इत्यस्मिन् वाक्ये 'ज्ञायन्ते' इत्यस्य क्रियापदस्याध्याहारः कर्तुं शक्यते। अतः क्रियाविनिर्मुक्तस्य वाक्यस्याङ्गीकरणं सङ्गतं नास्ति। वाक्ये क्रियायाः विशेष्यत्वाङ्गीकारे न्यायमते कश्चन दोषः प्रदर्शित आसीत् यत् 'प्रयाति पुरुषस्तस्य चरणावभिवादये' इत्यत्र 'तत्' शब्देन पुरुषस्य परामर्शो न भूत्वा क्रियायाः परामर्शो भविष्यति यदभीष्टं न वर्तते। एतदभिलक्ष्य ग्रन्थकारेण 'शृणु गर्जति मेघो', 'नटो गायति शृणु', 'घटोऽनश्यत् पश्य'- इत्यादीनि वाक्यान्युपस्थाप्य वाक्ये प्रथमान्तविशेष्यता-स्वीकारप्रसङ्गे अव्याप्तिदोषः समुपस्थापितः, यतोहि तेषु पूर्वोक्तयोः द्वयोः वाक्ययोः श्रवणस्य कर्म गर्जनं गायनञ्चास्ति न तु प्रथमान्तः मेघः, नटो वा। अतः 'पश्य मृगो धावति' इत्यत्र मृगे प्रथमाया अर्थः कर्म इत्यङ्गीकारोऽपि समुचितो न भाति।

हिन्दी तात्पर्यार्थ - ६

T6. नैयायिकों ने क्रियाविनिर्मुक्त भी वाक्य होता है यह प्रतिपादित करते हुए 'त्रयः कालाः' इस वाक्य को उद्धृत किया है। इस वाक्य में किसी कालविशेष के क्रिया का अध्याहार भी सम्भव नहीं है - ऐसा नौयायिकों का मानना है। इस पंर ग्रन्थकार का कथन है कि 'त्रयः कालाः' इस वाक्य में 'ज्ञायन्ते' इस क्रियापद का अध्याहार किया जा सकता है। अतः क्रियाविनिर्मुक्त वाक्य मानना सङ्गत नहीं है। किसी वाक्य में क्रिया में विशेष्य

मानने से न्यायमत में एक दोष यह दिया गया था कि 'प्रयाति पुरुषस्तस्य चरणावभिवादये' में 'तत्' शब्द से पुरुष का परामर्श न होकर क्रिया का परामर्श होने लगेगा जो अभीष्ट नहीं है। इस पर ग्रन्थकार ने 'शृणु गर्जति मेघो', 'नटो गायति शृणु' 'घटोऽनश्यत् पश्य'- इन वाक्यों को उपस्थित करते हुए वाक्य में प्रथमान्तविशेष्यता स्वीकार करने में अव्याप्ति दोष दिया है, क्योंकि इन दोनों वाक्यों में श्रवण का कर्म गर्जन तथा गायन है न कि प्रथमान्त मेघ या नट। इसलिए 'पश्य मृगो धावति' में मृग में प्रथमा का अर्थ कर्म मानना भी समुचित नहीं है।

Explanatory Notes - 6

T6. The Naiyāyika-s have quoted the sentence '*Trayaḥ kālāḥ*' by establishing their stand that there can be a sentence even without a *kriyā*. According to them, here the *adhyāhāra* of a *kriyā* of a particular tense (*kāla*) is not possible. However, the author says that the *adhyāhāra* of the verb '*jñāyante*' is possible in the context of the sentence : '*trayaḥ kālāḥ*'. Therefore, it is not proper to accept a sentence even without a *kriyā*. In accepting a qualificand (*viśeṣya*) in a *kriyā* in the context of a sentence, the Naiyāyika-s find a fault in case of the expression '*Prayāti puruṣastasya caraṇāvabhivādaye*' where the verb may be wrongly related by the word *tat* and not the *puruṣa* as intended. In this context, the author has quoted the sentences such as '*Śṛṇu garjati megho*', '*Naṭo gāyati śṛṇu*' '*Ghaṭo'naśyat paśya*' etc. and has tried to establish that there will be a scope for the fault *avyāpti* in case of accepting *prathamāntaviśeṣyatā* in a sentence. Because, in the above sentences the action of *śravaṇa* has its *karma* as *garjana* and *gāyana* and not the *prathamānta* words *megha* and *naṭa* respectively. Therefore, it is also not proper to accept the meaning of *prathamā* as *karma* in the word *mṛga* in the context of the sentence : '*Paśya mṛgo dhāvati*' .

मूलग्रन्थः - ७

T7. किञ्चैवं मृगे संख्यान्वयो न स्यात्, आख्यातोपस्थाप्य- संख्याप्रकारकान्वयबोधं प्रति मुख्यविशेष्यतया प्रथमान्तपदजन्योपस्थितेर्हेतुत्वात्। अन्यथा 'हंसीव धवला कीर्ति'रित्यत्र हंस्यामपि संख्यान्वयप्रसङ्गः। मृगे संख्यान्वये इष्टापत्तौ च 'पश्य धावति मृगा' इत्यादेरपि साधुत्वापत्तेः। किञ्च 'पटोलपत्रं पितघ्नं नाडी तस्य कफापहा' इति 'चैत्रो ग्रामं गतस्तत्र मैत्रः किं कुरुतेऽधुना' इत्यादिप्रयोगदर्शनात्। 'तत्' शब्देन

विशेषणस्यापि परामर्शः। परन्तु पदार्थतावच्छेदकरूपविशेषणस्य क्वचिन्न परामर्शस्तेन 'दशैते राजमातङ्गाः' इत्यादौ न काप्यनुपपत्तिरत एवोत्सर्गोऽयं न नियमस्तदुक्तं 'सर्वनाम्नामुत्सर्गतः प्रधानपरामर्शित्वमि'ति दिक्।

हिन्दी अनुवाद - ७

T7. मृग में संख्या का अन्वय नहीं हो सकता, क्योंकि आख्यात उपस्थाप्य संख्याप्रकारक अन्वयबोध के प्रति मुख्य विशेष्य के रूप में प्रथमान्तपदजन्य उपस्थिति कारण होता है। अन्यथा 'हंसीव धवला कीर्तिः' इस वाक्य में हसी में भी संख्यान्वय का प्रसंग उपस्थित होगा। मृग में संख्या के अन्वय से इष्टापत्ति होने पर 'पश्य धावति मृगाः' जैसे वाक्यों की साधुत्वापत्ति होगी। चुँकि 'पटोलपत्रं पितघ्नं नाडी तस्य कफापहा' तथा 'चैत्रो ग्रामं गतस्तत्र मैत्रः किं कुरुतेऽधुना' जैसे वाक्यों के प्रयोग देखे जाने के कारण 'तत्' शब्द से विशेषण का भी परामर्श सम्भव है। किन्तु पदार्थतावच्छेदक रूप विशेषण का कहीं भी परामर्श न होने से 'दशैते राजमातङ्गाः' जैसे वाक्यों में कोई अनुपपत्ति नहीं होगी। अत एव यह मत उत्सर्गरूप है न कि नियमरूप। इसलिए सिद्धान्ततः कहा भी गया है कि 'सर्वनाम्नामुत्सर्गतः प्रधानपरामर्शित्वम्'।

English Translation - 7

T7. *Saṅkhyā* cannot be related to *mṛga*, because, the understanding generated out of *prathamāntapada* as a principal qualificand towards the verbal understanding of composite (*anvayabodha*) qualified by number (*saṅkhyāprakāraka*) understood by the verb (*ākhyāta-upasthāpya*) is treated as the cause. Otherwise, in the context of the expression '*Haṃsīva dhavalā kīrtiḥ*' there will be a scope for the relationship of the number with *haṃsī* also. Though the relationship of the number with *haṃsī* is intended in this context still there will be the possibility of the correctness of the sentences like '*Paśya dhāvati mṛgāḥ*' etc. which is not intended. The consultancy (*parāmarśa*) of *viśeṣaṇa* is also possible by the word '*tat*' because of the availability of the usages like 'Paṭolapatraṃ pitaghnaṃ nāḍī tasya kaphāpahā' and '*Caitro grāmaṃ gatastatra maitraḥ kiṃ kurute'dhunā*' etc. However, there will be no difficulty in the justification of the sentences like '*Daśaite rājamātaṅgāḥ*' etc. because of the absence of the *parāmarśa* of *padārthatāvacchedaka rūpa viśeṣaṇa* everywher. Therefore, this is a general view (*utsargamata*) and cannot be treated as a *niyama*. Therefore, it is conceptually stated that

'*Sarvanāmnāmutsargataḥ pradhānap̣arāmarśitvam*'.

संस्कृतव्याख्या- ७

T7. न्यायमते 'तिङ्' इत्यस्यार्थः कृतिरित्यस्ति। अतः नैयायिकैः तिङर्थ-संख्याया अन्वयं मुख्यविशेष्यकप्रथमान्तपदार्थे कर्तुमाख्यातेनोपस्थाप्य-संख्याप्रकारक-बोधं प्रति मुख्यविशेष्यत्वेन प्रथमान्तपद-जन्योपस्थितिः कारणत्वेनाङ्गीक्रियते। किन्तु प्रथमान्तपदस्य कर्मत्वेन दर्शनक्रियायामन्वयाङ्गीकारे आख्यातोपस्थाप्य-संख्यायास्तत्रान्वयो न सम्भविष्यति। अपरञ्च यदि आख्यातोपस्थाप्य-संख्याप्रकारक-बोधं प्रति मुख्यविशेष्यतया प्रथमान्तपदजन्योपस्थितिः कारणत्वेन नाङ्गीक्रियते तर्हि 'हंसीव धवला कीर्तिः' इत्यत्र इवार्थे विशेषणत्वेनोपमानभूते हंसीति पदेऽपि संख्यान्वयः सम्भविष्यति यदभीष्टं नास्ति। यदि 'पश्य मृगो धावति' इत्यत्र मृगपदे तिङर्थसंख्याया अन्वयो न क्रियते तर्हि 'पश्य धावति मृगाः' इत्येवंरूपाः प्रयोगा अपि साधुत्वं प्राप्स्यन्ति। नैयायिकैः क्रियाविशेष्यकबोधे कश्चन दोषः प्रदर्शितः यत् 'प्रयाति पुरुषस्तस्य चरणावभिवादये' इत्यत्र 'प्रयाति' इति क्रियायाः विशेष्यत्वाङ्गीकारे 'तत्' पदं प्रथमायाः परामर्शि न भवति चेत्तर्हि तत् 'प्रयाणम्' इत्यस्याः क्रियायाः परामर्शं कारयिष्यति अथवा पुरुषस्येति। अस्याः शङ्कायाः समाधानं कुर्वता ग्रन्थकारेणोक्तं यत् कुत्रचित् 'तत्' इति सर्वनामपदं विशेषणस्यापि परामर्शं कारयिष्यति। यथा 'पटोलपत्रं पितघ्नं नाडी तस्य कफापहा' इत्यत्र 'तस्य' पदेन पटोलपत्रे विशेषणीभूतस्य पटोलस्य परामर्शो भवति। एवमेव 'चैत्रो ग्रामं गतस्तत्र मैत्रः किं कुरुतेऽधुना' इत्यत्र 'तत्र' पदे वर्तमानेन 'तत्' इत्यनेन पदेन ग्रामस्य परामर्शो भवति यद् विशेषणीभूतमस्ति न तु विशेष्यीभूतम्। किन्तु पदार्थतावच्छेदकरूपेण यद् विशेषणं भवति तस्य तत् पदेन कुत्रापि परामर्शो न भवति। अतः 'दशैते राजमातङ्गाः' इत्यत्र न कोऽपि दोषो वर्तते। अतः सर्वनामपदं सामान्यतः प्रधानस्य परामर्शि भवति इति कश्चन उत्सर्ग एव वर्तते न तु नियमः। अतः विशेषस्थितौ बाधः स्वाभाविक एवास्ति।

हिन्दी तात्पर्यार्थ - ७

T7. न्याय - मत में तिङ् का अर्थ कृति है। अतः नैयायिक तिङर्थ संख्या का अन्वय मुख्य विशेष्य प्रथमान्तपद के अर्थ में करने के लिए आख्यात द्वारा उपस्थाप्य संख्याप्रकारक बोध के प्रति मुख्य विशेष्य के रूप में प्रथमान्तपद-जन्य उपस्थिति को कारण मानते हैं। किन्तु प्रथमान्त पद का कर्मत्वेन दर्शनक्रिया में अन्वय मानने पर आख्यात-उपस्थाप्य संख्या का उसमें अन्वय सम्भव नहीं हो सकेगा। और यदि आख्यात-उपस्थाप्य संख्याप्रकारक बोध के प्रति मुख्यविशेष्यतया प्रथमान्तपदजन्य-उपस्थिति को कारण नहीं माने तो 'हंसीव धवला कीर्तिः' यहाँ पर इवार्थ में विशेषणत्वेन उपमानभूत हंसी में भी संख्यान्वय होने लगेगा जो अभीष्ट नहीं है। यदि 'पश्य मृगो धावति' में मृग पद में तिङर्थ संख्या का अन्वय नहीं करेंगे

तो 'पश्य धावति मृगाः' जैसा प्रयोग भी साधु होने लगेगा। नैयायिकों ने क्रियाविशेष्यकबोध में जो दोष दिया था कि 'प्रयाति पुरुषस्तस्य चरणावभिवादये' यहाँ 'प्रयाति' क्रिया को विशेष्य मानने पर 'तत्' पद प्रथमा का परामर्शी न होने के कारण 'प्रयाण' क्रिया का परामर्श करायेगा या पुरुष का - उसका समाधान करते हुए ग्रन्थकार का कथन है कि कहीं-कहीं 'तत्' सर्वनाम विशेषण का भी परामर्श कराता है। जैसे 'पटोलपत्रं पितघ्नं नाडी तस्य कफापहा' यहाँ तस्य पद से पटोलपत्र में विशेषणीभूत पटोल का परामर्श हो रहा है। इसी प्रकार 'चैत्रो ग्रामं गतस्तत्र मैत्रः किं कुरुतेऽधुना' में तत्र पद में 'तत्' से ग्राम का परामर्श हो रहा है जो विशेषणीभूत है न कि विशेष्यीभूत। किन्तु पदार्थतावच्छेदक के रूप में जो विशेषण होता है उसका तत् पद से कहीं भी परामर्श नहीं होता है। अतः 'दशैते राजमातङ्गाः' में कोई दोष नहीं है। इसीलिए सर्वनाम सामान्यतः प्रधान के परामर्श होते हैं जो उत्सर्ग है न कि नियम। अतः विशेष स्थिति में बाध होना स्वाभाविक है।

Explanatory Notes - 7

T7. In *Nyāya*-school *tiṅ* denotes *kṛti*. Therefore, the naiyāyika-s, for relating tiṅartha saṅkhyā in the sense of *mukhya viśeṣya prathamāntapada*, accept the undrstanding (*upasthiti*) generated by prathamāntapada in the form of *mukhya viśeṣya* towards the understanding of *saṅkhyāprakāraka* presented by *ākhyāta* as the cause. However, in accepting it as related to *darśanakriyā* as *karma*, the number understood by *ākhyāta*, cannot be related to it (i.e. *darśanakriyā*). Moreover, in not accepting the undrstanding (*upasthiti*) generated by *prathamāntapada* in the form of *mukhyaviśeṣya* towards the understanding of *saṅkhyāprakāraka* presented by *ākhyāta* as the cause, then in case of '*haṃsīva dhavalā kīrtiḥ*' the number will be wrongly related to haṃsī which is a *upamāna* qualified in the sense of *iva*. If we do not relate the *tiṅartha saṅkhyā* to the word *mṛga* in the expression '*Paśya mṛgo dhāvati*' then the wrong expressions such as 'Paśya dhāvati mṛgāḥ' will also be treated as correct. To reply the fault raised by the Naiyāyika-s with regard to *kriyāviśeṣyakabodha* in the form of whether the word tat will be related to the *prayāṇa kriyā* or *puruṣa*, if we accept the action 'prayāti' as *viśeṣya* in the expression '*Prayāti puruṣastasya caraṇāvabhivādaye*', the author says that sometimes the pronoun tat gets related to qualifier (*viśeṣaṇa*) also. For example, '*Paṭolapatraṃ pitaghnaṃ nāḍī tasya kaphāpahā*'. Here the word *tasya* relates to *paṭola* used as a qualifier in paṭolapatra. Similarly, in '*Caitro*

grāmaṃ gatastatra maitraḥ kiṃ kurute'dhunā' the word tat in *tatra* relates to *grāma* used as a qualifier and not as a qualificand. Howcver, that which becomes a *viśeṣaṇa* as *padārthatāvacchedaka*, can never be consulted by the word tat.' Therefore, there is no fault in the expression '*Daśaite rājamātaṅgāḥ*'. In fact, the pronouns (*sarvanāma*-s) are generally considered as *parāmarśa* to the principal member which is certainly an *utsarga* and not a *niyama*. Therefore, they can be understood in special cases.

मूलग्रन्थः - ८

T8. **विवेके चित्तं चेदधस्तादवशिष्टं चोपरिष्टात् स्पष्टीभविष्यति इति श्रीमहामहोपाध्यायमैथिलश्रीवंशमणेर्विमर्शः। मृगपदोत्तरं प्रथमाऽपि न स्यादिति धावनक्रियाविशिष्टस्य मृगस्य वाक्यार्थत्वेन नामार्थत्वात्प्रातिपदिकाश्रयीभूता प्रथमाऽपि न स्यादित्यर्थः। तथा च 'मृगो धावती'त्याख्यातोक्तसंख्याके कर्तरि नामार्थे प्रथमा पश्चात् पश्येति क्रियान्तरे वाक्यार्थतयाऽन्वयेऽपि प्राथमिकी प्रातिपदिकसंज्ञा कर्तुं शक्या इति को नाम प्रथमां विना शयितुमिष्ट इति।**

हिन्दी अनुवाद - ८

T8. विवेक में चित्त निविष्ट होने पर (अर्थात् सावधान होने पर) जो बात अधोलिखित में अवशिष्ट (या अस्पष्ट) है वह ऊपर स्पष्ट हो सकेगा - ऐसा महामहोपाध्याय मैथिल श्रीवंशमणि का विचार है। मृग पद के अनन्तर प्रथमा भी नहीं होगी। अर्थात् वाक्यार्थ के रूप में नामार्थत्व के अभाव में धावनक्रियाविशिष्ट मृग में प्रातिपदिकाश्रयीभूत प्रथमा भी नहीं होगी। वस्तुतः 'मृगो धावति' इस वाक्य में आख्यातप्रतिपादित संख्यारूप कर्ता में नामार्थ में प्रथमा है और बाद में 'पश्य' इस अन्य क्रिया में वाक्यार्थ के रूप में अन्वय करने पर भी प्राथमिक प्रातिपदिकसंज्ञा की जा सकती है। अतः प्रथमा के बिना किसका कार्य चल सकता है ।

English Translation - 8

T8. If concentrated properly then remaining matter to follow, can be clarified by the matter alredy stated above, says Mahāmahopādhyāya Maithila Śrīvaṃśamaṇi. There will be no nominative case-endings added to the word 'mṛga.' That means, in the absence of *nāmārthatva* as the sentence-meaning of the word mṛga qualified by the verbal activity in the form of running (*dhāvanakriyāviśiṣṭa*), there also will be no *prathamā* residing in *prātipadika*

(*prātipadikāśrayībhūta*) . In fact, in case of the sentence '*mṛgo dhāvati*', there is prathamā in *nāmārtha* in the form of number as agent which is explained by the verbal activity (*ākhyātapratipādita*) and later in relating it with the other verbal activity '*paśya*' as sentence-meaning (*vākyārtha*) there can be *prātipadikasañjñā* and thus there will be no difficulty in the application of Nominative case-ending (*prathamā*). Therefore, how can be *prathamā* avoided by any one?

संस्कृतव्याख्या- ८

T8. 'पश्य मृगो धावति' इत्यत्र मृगस्य दर्शनक्रियायां कर्मत्वाङ्गीकारे द्वितीयापत्तिरूपदोषस्य वारणार्थं नैयायिकैः धावनक्रियाविशिष्टो मृगः कर्मत्वेनाङ्गीकृतः यः वाक्यार्थोऽप्यस्ति। अतः नैयायिकैरेवं प्रतिपादितं यत् 'मृग' इत्यस्मिन् प्रातिपदिके द्वितीयापत्तिर्न भविष्यति। किन्तु एवं सति प्रथमाऽपि न भविष्यति, यतोहि सोऽर्थो वाक्यार्थोऽस्ति न तु प्रातिपदिकार्थः। अतस्तत्र प्रातिपदिकार्थे प्रयुज्यमाना प्रथमा कथं भवितुमर्हति - अस्याः शङ्कायाः न्याय-मते समाधानं कुर्वता ग्रन्थकारेणोक्तं यत् प्रथमतः आख्यातोक्ते संख्यायुक्ते नामार्थे प्रथमा भविष्यति तत्पश्चात् क्रियान्तरेण अन्वयो भविष्यति। अतः प्रथमायां सत्यां न काऽपि आपत्तिः भविष्यति।

हिन्दी तात्पर्यार्थ - ८

T8. 'पश्य मृगो धावति' में नैयायिकों ने मृग को दर्शनक्रिया में कर्म मानने पर द्वितीयापत्ति के दोष के वारणार्थ धावनक्रियाविशिष्ट मृग को कर्म माना जो कि वाक्यार्थ है। अतः नैयायिकों ने यह प्रतिपादित किया कि 'मृग' प्रातिपदिक से द्वितीया की आपत्ति नहीं होगी। किन्तु ऐसा मानने पर प्रथमा भी तो नहीं होगी, क्योंकि उक्त अर्थ वाक्यार्थ है न कि प्रातिपदिकार्थ। अतः प्रातिपदिकार्थ में होनेवाली प्रथमा कैसे हो सकती है - इस आशङ्का का न्याय-मत में समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रथमतः आख्यातोक्त संख्यायुक्त नामार्थ में प्रथमा हो जायेगी तत्पश्चात् क्रियान्तर के साथ अन्वय होगा। अतः प्रथमा होने में आपत्ति नहीं है।

Explanatory Notes - 8

T8. In the expression : '*Paśya mṛgo dhāvati*' the Naiyāyika-s have accepted the *vākyārtha : dhāvanakriyāviśiṣṭa mṛga* as *karma* to avoide the flaw of wrong applicability of accusative caused due to accepting *mṛga* as *karma* in relation to *darśanakriyā*. Thus, they have established that there will be no wrong application of accusative to the base word (*prātipadika*) *mṛga*.

However, the author says that in accepting this view there will be difficulty in the application of prathamā even. Because, that meaning is only *vākyārtha* and not the *prātipadikārtha*. In that case, how nominative case-ending (prathamā) will apply which is applicable to a *prātipadikārtha*? This querry has been replied in *nyāya* - view as follows : First of all, *prathamā* will apply to *Ākhyātokta saṅkhyāyukta nāmārtha* and then it will be related to other kriyā. This way, there is no problem in the application of *prathamā*.

मूलग्रन्थः - ९

T9. यत्तु मृगकर्तृकोत्कटधावनस्यैव दृशिक्रियायां कर्तर्यन्वयः विवक्षित इति भाष्यकृदाशयवर्णनम्। यदपि 'सुबन्तं हि यथानेकं तिङन्तस्य विशेषणं तथा तिङन्तमप्याहुस्तिङन्तस्य विशेषण'मिति हेलाराजसंमतिप्रदर्शनं तदुभयं न विचारचारु प्रकृति-प्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थप्राधान्यमिति नियमात् धात्वर्थनिष्ठ-प्रकारतानिरूपित-विशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति विशेष्यतया प्रत्ययजन्योपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावात् धात्वर्थ- प्रकारकापरधात्वर्थ-विशेष्यकान्वयबोध एव न सम्भवति। न चैवं 'भावप्रधानमाख्यातम् सत्त्वप्रधानानि नामानी'ति यास्कमुनिविशेषवचसाख्यातस्थले प्रत्ययार्थप्राधान्यं त्यजेत् इति वाच्यमाख्यातपदं तिङन्तेष्वेव रूढं न तु तिङन्तेषु इति आख्यातार्थेषु संख्यावर्तमानत्वादिषु भावस्यैव संख्याकालातिरिक्ताख्यातार्थस्यैव प्राधान्यमस्तीति नियमात्।

हिन्दी अनुवाद - ९

T9. मृगकर्तृक उत्कट धावन का दर्शनक्रिया में कर्तृवाच्य में अन्वय विवक्षित है - ऐसा भाष्यकार का आशय है। जैसे सुबन्त ही अधिकांश तिङन्त का विशेषण है उसी प्रकार तिङन्त भी तिङन्त का विशेषण कहा जाता है। इस सिद्धान्त पर हेलाराज ने अपनी संमति जताई है। ग्रन्थकार का कथन है कि यहाँ उभय का ही समर्थन करना सुचारु प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि यद्यपि प्रकृति एवं प्रत्यय साथ ही अर्थ प्रतिपादन करते हैं तथापि उनमें से प्रत्ययार्थ का प्राधान्य नियम अङ्गीकृत है। अतः धात्वर्थनिष्ठ प्रकारतानिरूपित विशेष्यता सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति विशेष्य के रूप में प्रत्ययजन्य उपस्थिति को कारण माना जाता है। इस कार्यकारणभाव से धात्वर्थप्रकारक अपरधात्वर्थविशेष्यक अन्वयबोध ही सम्भव नहीं है। 'भावप्रधानमाख्यातम् सत्त्वप्रधानानि नामानि' जैसे यास्क मुनि (निरुक्त) के विशेष वचन से आख्यातस्थल में प्रत्ययार्थप्राधान्य का त्याग करें - ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि आख्यात पद तिङन्त में ही रूढ है न कि तिङन्त में होनेके कारण आख्यात के अर्थ संख्या-वर्तमान आदि में भी। अतः संख्या-कालातिरिक्त-स्वरूप आख्यातार्थ का प्राधान्य होना ही यहाँ नियामक है।

English Translation - 9

T9. According to the author of *Mahābhāṣya* (i. e. patañjali), the fast running performed by *mṛga* is intended to be related to *darśana-kriyā* in an active voice. As a *subanta* is the qualifier of most of the *tiṅanta*-s, similarly, a *tiṅanta* is also the qualifier of *tiṅanta*-s. This view has been approved by Helārāja also. However, here the views of both Patañjali and Helārāja do not sound well, because though *prakṛti* and *pratyaya* denote their meanings simutaneously still the principle which considers the meaning of *pratyaya* as superior has been widely accepted and it has also been accepted that the understanding generated by the suffix as a qualifier towards the verbal interpretation (*śābdabodha*) with a relationship of qualificandness determined by the qualifireness present in the meaning of the root as the cause. Therefore, the *anvayabodha* in the form of *dhātvarthaprakāraka aparadhātvarthaviśeṣyaka* is not possible which is the cause of the cause and effect relationship. It is also not to be stated that let the principle of *pratyayārthaprādhānya* be abandoned in the context of verbal activity due to the specific statement '*Bhāvapradhānamākhyātam sattvapradhānāni nāmāni*' of Yāska (the author of *Nirukta*), because the word *ākhyāta* is accepted as only a conventional meaning (*rūḍha*) of *tiṅanta* and not also in the meanings of *ākhyāta* like *saṅkhyā*, *vartamāna* etc. for being present in *tiṅanta*. Here the prominence of the meaning of the *ākhyāta* which is beyond *saṅkhyā* and *kāla* plays the role of limitative (*niyāmaka*).

संस्कृतव्याख्या- ९

T9. वैयाकरणैः व्यापारमुख्यविशेष्यकः शाब्दबोधोऽङ्गीकृतः। 'पश्य मृगो धावति' इत्यत्र मृगकर्तृक-धावन-क्रियाया एव दर्शनक्रियायामन्वयं स्वीकुर्वद्भिस्तैरतत्र महाभाष्यकारस्य स्वीकृतिरप्यङ्गीकृता। अस्मिन् पक्षे हेलाराजस्य सम्मतिरपि तैरङ्गीकृता वर्तते। किन्तु न्यायमतं प्रस्तुवता ग्रन्थकारेण तत् समुचितं नाभिमतम्। यतोहि एष एव सिद्धान्तोऽस्ति यत् प्रकृति-प्रत्ययौ स्वं स्वमर्थ सहैव ब्रूतः। प्रकृति-प्रत्यययोरर्थे प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यं भवति। अतः तन्नियमानुसारेण नैयायिकैरेवं मन्यते यत् धात्वर्थनिष्ठप्रकारतानिरूपिता या विशेष्यता वर्तते तेन विशेष्यता-सम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति विशेष्यताप्रत्ययजन्योपस्थितिः कारणं भवति। अतः पचति इत्यादिषु धात्वर्थव्यापारः प्रकारः विशेषणं वा भवति तथा प्रत्ययार्थस्तु तिङर्थकृतिविशेष्यः।

उक्त-नियमानुसारं धात्वर्थप्रकारकः धात्वर्थविशेष्यकोऽन्वयबोधो न भवति।

हिन्दी तात्पर्यार्थ - ९

T9. वैयाकरणों ने व्यापारमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध माना है। पश्य मृगो धावति में वे मृगकर्तृक धावन क्रिया का ही दर्शनक्रिया में अन्वय स्वीकार करते हुए इस में महाभाष्यकार की स्वीकृति भी मानी है। इसी पक्ष में हेलाराज के कथन की भी सम्मति मानी है। किन्तु न्यायमत प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार ने इसे समुचित नहीं माना है। यह सिद्धान्त है कि प्रकृति एवं प्रत्यय अपने-अपने अर्थ को साथ-साथ कहते हैं। प्रकृति एवं प्रत्यय के अर्थ में प्रत्यय का अर्थ प्रधान होता है। अतः इस नियम के अनुसार नैयायिक यह मानते हैं कि धात्वर्थनिष्ठप्रकारता से निरूपित जो विशेष्यता है उस विशेष्यता-सम्बन्ध से शाब्दबोध के प्रति विशेष्यतया प्रत्ययजन्य उपस्थिति कारण है। अतः पचति इत्यादि के धात्वर्थव्यापार प्रकार या विशेषण होता है तथा प्रत्ययार्थ तिङर्थकृतिविशेष्य। उक्त नियम के अनुसार धात्वर्थप्रकारक धात्वर्थविशेष्यक अन्वयबोध होता ही नहीं है।

Explanatory Notes - 9

T9. The grammarians have accepted *vyāpāramukhyaviśeṣyaka śābdabodha*. In the context of the expression : '*paśya mṛgo dhāvati*' they have accepted the *mṛgakartṛka dhāvanakriyā* as related to *darśanakriyā* and they have got approval of the Mahābhāṣyakāra on this isuue. In this context, they have recorded the approval of Helārāja also. However, the author did not agree with the grammarians on this particular point and has gone Naiyāyika's way. Because, it is the famous principle that *prakṛti* and *pratyaya* denote their meanings simutaneously. Between the meanings of *prakṛti* and *pratyaya* the meaning of *pratyaya* has been considered superior. On the virtue of this principle, the Naiyāyika-s have accepted that the understanding generated through *viśeṣyatāpratyaya* as the cause towards the *śābdabodha* related to *viśeṣyatā* which is determined by *dhātvarthaniṣṭhaprakāratā*. Therefore, the *dhātvarthavyāpāra* of *pacati* etc. becomes *prakāra* or *viśeṣaṇa* and the *pratyayārtha* becomes tiṅarthakṛtiviśeṣya. In fact, as per this principle, *dhātvarthaprakāraka anvayabodha* or *dhātvarthaviśeṣyaka anvayabodha* is not at all possible.

मूलग्रन्थः - १०

T10. वस्तुतस्तु प्रथमान्तार्थ-प्राधान्येऽपि मृगकर्तृकोत्कटधावनस्य कर्मता-संबन्धेन

'दृशि' क्रियायां विशेषणतयान्वयो न विरुध्यते, यतो हि विशेष्यान्वयिनान्वयित्वमत्र विशेषणत्वं धावनक्रियाया विशेष्यो मृगस्तदन्वयिनी दर्शनक्रिया तदन्वयित्वरूपं विशेषणं धावनक्रियाया अक्षतमिति न भाष्यकृदुक्तिविरोधो, न वा हेलाराजोक्तिविरोध इति तत्त्वम्। स्पष्टं चेदं मीमांसायां 'सोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति, लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ती'त्यादौ। तथा हि पूर्ववाक्ये उष्णीषाणामपीष्टसाधनत्वे विशेषणतयान्वयः। तत्र विशेषणत्वं विशेष्यान्वयिनान्वयित्वेव। उष्णीषाणां विशेष्या ऋत्विजस्तदन्वयीष्टसाधनत्वम्। 'तदन्वयित्वमुष्णीषाणा'मिति उत्तर-वाक्यात् पूर्वलब्धस्योष्णीष- विशिष्टर्त्विक्-कर्तृकप्रचरणस्य नेष्टसाधनत्वेऽन्वयः किन्तु लौहित्यमात्रस्य तत्रापि परम्परयोष्णीषद्वारा ऋत्विक् रूपविशेष्यान्वयिनेष्टसाधनत्वे न लौहित्यस्यान्वयस्वीकारात् इति।

हिन्दी अनुवाद - १०

T10. वस्तुतः प्रथमान्तार्थ-प्राधान्य में भी मृगकर्तृक उत्कट धावन का कर्मता-संबन्ध से 'दृशि' क्रिया में विशेषण के रूप में अन्वय करने पर कोई विरोध नहीं है, क्योंकि विशेष्यान्वयि के द्वारा अन्वयित्व यहाँ विशेषणत्व है। धावनक्रिया में विशेष्य मृग है उसकी अन्वयनी दर्शनक्रिया। धावनक्रिया का उसके अन्वयित्वरूप विशेषण अक्षत है, अतः भाष्यकार के वचन का विरोध नहीं है न हि हेलाराज की उक्ति का विरोध है। वस्तुतः यही तथ्य है। मीमांसा में 'सोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति, लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यादि वाक्यों के प्रसंग में यह स्पष्ट है। (उपर्युक्त दो वाक्यों में से) पूर्ववाक्य में उष्णीषों का भी इष्टसाधनत्व स्वीकार करने पर विशेषण के रूप में अन्वय है। वहाँ विशेषणत्व विशेष्यान्वयि से अन्वयित्व ही है। उष्णीषों का विशेष्य ऋत्विज हैं और उसका अन्वयी इष्टसाधनत्व है। 'तदन्वयित्वमुष्णीषाणां' इस उत्तर-वाक्य से पूर्वलब्ध उष्णीषविशिष्ट ऋत्विक्-कर्तृक प्रचरण का इष्टसाधनत्व में अन्वय नहीं है, किन्तु लौहित्यमात्र का। क्योंकि वहाँ भी परम्परा से उष्णीष द्वारा ऋत्विक् रूप विशेष्य के अन्वयी के साथ इष्टसाधनत्व में लौहित्य के अन्वय स्वीकृत है ।

English Translation - 10

T10. In fact, there is no difficulty in relating *mṛgakartṛka utkaṭa dhāvana* as a qulifier with the '*darśana kriyā*' through a relation called *karmatā* even in accepting the prominence (*pradhānatā*) of *prathamāntārtha*. Because, here *anvayitva* is the qualifier with regard to anvayi which is a qualificand. In *dhāvanakriyā mṛga* is the qualificand (*viśeṣya*) and *darśanakriyā* is *anvayī* in it. Here the qualifier, in the form of *anvayitva* with *dhāvanakriyā*, is not affected•

Therefore, neither the view of Bhāṣyakāra nor that of Helārāja is affected here. In fact, this is the right stand which has been clearly proved in *Mīmāṃsā* in the context of the sentences like '*Soṣṇīṣā ṛtvijaḥ pracaranti, lohitoṣṇīṣā ṛtvijaḥ pracaranti*' etc. Here in the former sentence even the *uṣṇīṣa* has the relationship (*anvaya*) as qualifier in accepting its *iṣṭasādhanatva*. Therefore, *viśeṣaṇatva* has *anvayitva* with *viśeṣyānvayi*. Ṛtvija-s are the qualificands of *uṣṇīṣa*-s and its *anvayī* has *iṣṭasādhanatva*. Here from the reply sentence 'tadanvayitvamuṣṇīṣāṇāṃ', the movement (*pracaraṇa*) performed by Ṛtvik qualified by turban (*uṣṇīṣa*) understood earlier, has no relationship with *iṣṭasādhanatva* since it (*iṣṭasādhanatva*) is related to *lauhityamātra*. Because, there also the relationship of *lauhitya* with *iṣṭasādhanatva* is accepted along with the *anvayī* of the qualificand in the form of *Ṛtvik* indirectly (*paramparayā*) by *uṣṇīṣa*.

संस्कृतव्याख्या- १०

T10. न्याय-मतानुसारं प्रथमान्तार्थस्य प्रधानताङ्गीकारेऽपि मृगकर्तृकोत्कटधावनस्य कर्मता-संबन्धेन 'दर्शन'-क्रियायां विशेषणत्वेनान्वये न किमपि काठिन्यं वर्तते, यतोहि तत्र विशेष्यरूपे अन्वयिनि अन्वयित्वं विशेषणमेवास्ति। धावनक्रियायां विशेष्यो मृगोऽस्ति, तत्र दर्शनक्रिया च अन्वयिनी वर्तते। तत्र अन्वयित्वं विशेषणमेवास्ति यद् धावनक्रियायां सम्भवति। एवं प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधस्याङ्गीकारेऽपि भाष्यकारस्य वचनस्य विरोधो न भवति न वा हेलाराजस्योक्तेः। मीमांसायामपि एवम्प्रकारकं विशेषणं स्वीकृतं वर्तते। यथा 'सोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति, लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' च।

हिन्दी तात्पर्यार्थ - १०

T10. न्याय-मत में प्रथमान्तार्थ की प्रधानता मानने पर भी मृगकर्तृक उत्कट धावन का कर्मता-संबन्ध से 'दर्शन'-क्रिया में विशेषणत्वेन अन्वय होने में कोई कठिनाई नहीं है, क्योंकि यहाँ विशेष्य रूप अन्वयि में अन्वयित्व ही विशेषण है। धावनक्रिया में विशेष्य मृग है उस में अन्वयी दर्शनक्रिया है। उस में अन्वयी होना ही विशेषणं है जो कि धावनक्रिया में हो रहा है। इस प्रकार प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध मानने पर भी भाष्यकार के कथन का विरोध नहीं रह जाता है न ही हेलाराज की उक्ति का। मीमांसा में इस प्रकार के विशेषण भी स्वीकार किये गये हैं। उदाहरणार्थ 'सोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति, लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' आदि।

Explanatory Notes - 10

T10. According to the *nyāya*-view, even in accepting the prominence (*pradhānatā*) of *prathamāntārtha*, there will be no difficulty in relating *mṛgakartṛka utkaṭa dhāvana* as a qulifier with the *'darśana-kriyā'* through a relation called *karmatā*. Because, here 'anvayitva'is the qualifier with regard to 'anvayi'which is a qualificand. In *dhāvanakriyā mṛga* is the qualificand (*viśeṣya*) and darśanakriyā is 'anvayī' in it. Here becoming 'anvayī' is *viśeṣya* which is there in *dhāvanakriyā*. Thus, the view of patañjali and that of Helārāja does not get opposed even in accepting *prathamāntārthamukhyaviśeṣyaka śābdabodha*. In *mīmāṃsā*, this sort of 'viśeṣaṇa' has been accepted. For example, *'Soṣṇīṣā Ṛtvijaḥ pracaranti, Lohitoṣṇīṣā Ṛtvijaḥ pracaranti'* etc.

मूलग्रन्थः - ११

T11. यत्तु 'धावन्तं मृगं पश्ये'त्येवं कुर्यादिति तन्न, पर्यायशब्दानां प्रयोगे वक्तुरिच्छाया एव नियामकत्वेनेष्टापत्तेः। सर्वस्मात्तात्पर्याभावे 'मृग'पदं नोच्चारयेत्। किन्तु 'पश्य धावती'त्येवं रूपादिति न काऽप्यनुपपत्तिः। यत्तु 'त्रयः कालाः' इत्यत्र 'ज्ञायन्ते' इति क्रियाध्याहारसम्भवात् क्रियाविनिर्मुक्त-वाक्यस्योदाहरणस्यासंगत्यापत्तेः इति तन्न 'ज्ञानक्रियानाकाङ्क्षयोः 'कति कालास्त्रयः काला' इति प्रश्नोत्तरवाक्ययोः क्रियाविनिर्मुक्तत्वसम्भवादिति।

हिन्दी अनुवाद - ११

T11. केवल 'धावन्तं मृगं पश्य' इतना भी स्वीकार करना उचित नहीं है। क्योंकि पर्याय शब्दों के प्रयोग में वक्ता की इच्छा की ही नियामक के रूप में इष्टापत्ति है। सभी से तात्पर्य के अभाव में 'मृग' पद का उच्चारण न करें। किन्तु 'पश्य धावति' इस प्रयोग से कोई अनुपपत्ति नहीं है। क्रियारहित वाक्य का उदाहरण के रूप में असंगति की आपत्ति होगी इस आशय से अगर 'त्रयः कालाः' इस वाक्य में 'ज्ञायन्ते' इस क्रिया का अध्याहार सम्भव माना जाय तो उचित नहीं है, क्योंकि 'त्रयः कालाः' में 'ज्ञानक्रिया' की आकाङ्क्षा ही नहीं है। अतः कितने काल हैं? तीन काल' - इस प्रश्नोत्तर वाक्य के क्रियारहितत्व सम्भव है।

English Translation - 11

T11. It is not proper to accept the sentence as only *'Dhāvantaṃ mṛgaṃ paśya'*, because, in the context of using synonyms, the intention of the speaker is intended as limitative (*niyāmaka*). The word *'mṛga'* is not to be uttered since

the intentational meaning is not achieved from anything. However, nothing is affected or unjustified by the usages like '*paśya dhāvati*' etc. It is not proper to assume that the supply of the verbal activity '*jñāyante*' through *adhyāhāra* in the sentence '*Trayaḥ kālāḥ*' with a purpose that there will be the objection of inconsistency in the form of verbless sentence. Because, there is no expectancy of *jñānakriyā* in the context of '*Trayaḥ kālāḥ*'. Therefore, the verbless sentence is possible in the form of the question-answer statement : *Kati kālāstrayaḥ kālā* (what number of tenses is there, along with its answer 'three tenses').

संस्कृतव्याख्या- ११

T11. न्याय-मतानुसारं प्रथमान्तार्थ-मुख्यविशेष्यकबोधस्याङ्गीकारे वैयाकरणैः एको दोषः प्रदर्शितः यत् 'पश्य मृगो धावति' इत्यत्र प्रथमान्तार्थस्य विशेष्यत्वाङ्गीकारे 'पश्य' क्रियायाः कर्मत्वात् आख्यातार्थेन कृत्याश्रयेण सामानाधिकरण्याच्च 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' इत्यनेन पाणिनि-सूत्रेण शतृप्रत्ययान्तः प्रयोगः सम्भवति। अतः 'धावन्तं मृगं पश्य' इत्येवंप्रकारकः प्रयोगः सम्भविष्यति। एतस्य दोषस्य न्याय-मतानुसारेण समाधानं प्रस्तुवता ग्रन्थकारेणोक्तं यत् पर्यायशब्दानां प्रयोगे वक्तुरिच्छैव नियामिकाऽस्ति। यदि 'मृग' इति पदं दर्शनक्रियायाः कर्मत्वेनेष्टं न स्यात्तर्हि वक्त्रा 'मृग' पदस्योच्चारणमपि नैव कृतं स्यात् अपि तु केवलं 'पश्य धावति' इत्येवोक्तं स्यात्। वैयाकरणैः सर्वत्र क्रियायुक्तस्यैव वाक्यत्वमङ्गीकृतम्। 'त्रयः कालाः' इत्यत्रापि वैयाकरणैः 'ज्ञायन्ते' इत्यस्य क्रियापदस्याध्याहारं कृत्वा क्रियायुक्तता साधिताऽस्ति। एतत्प्रसङ्गे नैयायिकानां पक्षं प्रस्तुवता ग्रन्थकारेणोक्तं यत् 'त्रयः कालाः' इत्यत्र ज्ञानक्रिययोः आकाङ्क्षैव न वर्तते। अतः 'ज्ञायन्ते' इति क्रियापदस्याध्याहार उपयुक्तो नास्ति। अत एव क्रियविनिर्मुक्तं वाक्यमपि स्वीकर्तव्यं वर्तते।

हिन्दी तात्पर्यार्थ - ११

T11. वैयाकरणों ने न्याय-मत में प्रथमान्तार्थ मुख्यविशेष्यक बोध मानने में एक दोष यह दिया था कि 'पश्य मृगो धावति' इस में प्रथमान्तार्थ को विशेष्य मानने पर 'पश्य' क्रिया का कर्म होने के कारण आख्यातार्थ कृत्याश्रय के साथ समानाधिकरण होने से 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' से शतृप्रत्ययान्त प्रयोग प्राप्त होगा। अतः 'धावन्तं मृगं पश्य' यह प्रयोग होने लगेगा। इसका न्याय-मत में समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि पर्याय शब्दों के प्रयोग में वक्ता की इच्छा ही नियामिका है। यदि 'मृग' को दर्शनक्रिया का कर्म बनाना इष्ट नहीं होता तो वक्ता 'मृग' पद का उच्चारण भी नहीं करता केवल 'पश्य धावति' ही कह देता। वैयाकरणों ने सर्वत्र क्रियायुक्त को वाक्य माना है। 'त्रयः कालाः' में

भी वैयाकरणों ने 'ज्ञायन्ते' क्रिया पद का अध्याहार कर क्रियायुक्तता साधित कर दी है। इस पर नैयायिकों के पक्ष को प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि 'त्रयः कालाः' में 'ज्ञानक्रिया' की आकाङ्क्षा ही नहीं है। अतः 'ज्ञायन्ते' क्रियापद का अध्याहार उपयुक्त नहीं है। इस लिए क्रियविनिर्मुक्त वाक्य भी स्वीकार करना चाहिए।

Explanatory Notes - 11

T11. The grammarians have shown a fault in the context of *prathamāntārtha mukhyaviśeṣyaka bodhajanaka* accepted by nyāya-school that there will be a scope for the usage ending with *śatṛ*-suffix by the rule '*Laṭaḥ śatṛśānacāvaprathamāsamānādhikaraṇe*' in accepting *prathamāntārtha* as qualificand (*viśeṣya*) in case of the expression '*Paśya mṛgo dhāvati*' because of the colocusness (*sāmānādhikaraṇya*) of the verbal activity '*paśya*' being a *karma* with *ākhyātārtha kṛtyāśraya*. Accordingly, there will be a scope for the expression '*Dhāvantaṃ mṛgaṃ paśya*' which is not intended. The author gives a solution to this problem on the basis of the *Nyāya*-view that in the context of using synonyms, the intention of the speaker is the limitative (*niyāmaka*).

Had it not been the intention of the speaker to make '*mṛga*' as the *karma* of *darśanakriyā* then he would not have been uttered it. He would have simply said '*paśya dhāvati*'. The grammarians have always accepted a sentence as possessed of a *kriyā*. Even in case of '*Trayaḥ kālāḥ*', the grammarians have justified it as possessed of a *kriyā* by supplying a verbal form as '*jñāyante*' by 'adhyāhāra.' To this also the author differs by quoting the *nyāya*-view that in case of '*Trayaḥ kālāḥ*' there is no expectancy (*ākāṅkṣā*) for '*jñānakriyā*'. Therefore, it is not proper to supply the verbal form '*jñāyante*' by *adhyāhāra*. Because, they feel that the statements even bereft of *kriyā*, are also to be accepted as sentences.

मूलग्रन्थः - १२

T12. यत्तु 'शृणु गर्जति मेघो', 'नटो गायति शृणु', 'घटोऽनश्यत् पश्ये'त्यादावगतेश्चेति, तन्न सविशेषणे हि विधि-निषेधौ सति विशेष्ये बोधे (बाधे) विशेषणमुपक्रामत इति विशेषणेषु गर्जन-गानाभावेषु श्रवणदर्शनान्वयसम्भवादिति।

हिन्दी अनुवाद - १२

T12. 'शृणु गर्जति मेघो', 'नटो गायति शृणु', 'घटोऽनश्यत् पश्य' इत्यादि प्रयोगों में कोई अन्य गति (उपाय) नहीं है - ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि सविशेषण में ही विधि एवं निषेध होने से विशेष्य के बाध में विशेषण का बोध हो जाता है। अतः विशेषणों में गर्जन, गान के अभाव में श्रवण दर्शन के अन्वय सम्भव है।

English Translation - 12

T12. It is not proper to accept that there is no other way left in case of the expressions such as '*Śṛṇu garjati megho*', '*Naṭo gāyati śṛṇu*', '*ghaṭo'naśyat paśya*' etc. Because, the qualifier is automatically understood if the qulificand is debared, because of the principle that *vidhi* and *niṣedha* becme applicable only in case of *saviśeṣaṇa*. Therefore, the relation of *śravaṇa-darśana* is possible with qualifiers in the absence of *garjana* and *gāna*.

संस्कृतव्याख्या- १२

T12. प्रथमान्तार्थ-मुख्यविशेष्यक-बोधे 'शृणु गर्जति मेघो', 'नटो गायति शृणु', 'घटोऽनश्यत् पश्य' इत्यादिस्थलेषु दोषापादानं कुर्वद्भिः वैयाकरणैः क्रियाविशेष्यकशाब्दबोध एवाङ्गीकर्तव्यः इत्येषः सिद्धान्तः स्थिरीकृत आसीत्। एतत्प्रसङ्गे न्यायमतं प्रस्तुवता ग्रन्थकारेणोक्तं यत् सविशेषणे एव विधिनिषेधौ प्राप्नुवतः। विशेष्ये बाधे सति तौ विशेषणेष्वपि उपसङ्क्रान्तौ भवतः। प्रथमान्तार्थ-मुख्यविशेष्यकस्य शाब्दबोधस्याङ्गीकारे विशेष्यभूते मेघे तथा नटे च श्रवणस्यान्वयासम्भवाद् विशेषणभूतयोः गर्जन-गायनयोः क्रिययोः श्रवण- क्रियाया अन्वयो भवति। अतः प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक-शाब्दबोधस्याङ्गीकारेऽपि न कश्चिद् दोषो वर्तते।

हिन्दी तात्पर्यार्थ - १२

T12. वैयाकरणों ने प्रथमान्तार्थ मुख्यविशेष्यक बोध में 'शृणु गर्जति मेघो', 'नटो गायति शृणु', 'घटोऽनश्यत् पश्य' इत्यादि स्थलों में दोषापादान करते हुए क्रियाविशेष्यक शाब्दबोध ही मानना चाहिए - यह सिद्धान्त स्थिर किया था। इस पर न्यायमत को प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि सविशेषण में ही विधि एवं निषेध प्राप्त होते हैं। बाध होने पर विशेषणों में भी उपसङ्क्रान्त हो जाते हैं। प्रथमान्तार्थ मुख्यविशेष्यक शाब्दबोध मानने पर विशेष्यभूत मेघ एवं नट में श्रवण का अन्वय सम्भव न होने के कारण विशेषणभूत गर्जन एवं गायन क्रिया में श्रवण क्रिया का अन्वय होता है। अतः प्रथमान्तार्थ मुख्यविशेष्यक शाब्दबोध मानने में भी कोई दोष नहीं है।

Explanatory Notes - 12

T12. The grammarians have clarified their stand as it is necessary to

accept *kriyāviśeṣyaka śābdabodha* by showing possible faults in the concept of *prathamāntārtha mukhyaviśeṣyaka bodha* in the examples such as '*śṛṇu garjati megho*', '*Naṭo gāyati śṛṇu*' etc. To this, the author quotes the *Nyāya*-view and says *vidhi* and *niṣedha* are applicable to *saviśeṣaṇa* only. If opposed they are applied to *viśeṣaṇa* also. In accepting *Prathamāntārtha-mukhyaviśeṣyaka-śābdabodha*, since *śravaṇakriyā* has no possibility of being related to the qualificands *megha* and *naṭa*, it (*śravaṇakriyā*) will be related to the qualifiers *garjana* and gāyana. Therefore, there is no problem even in accepting the *prathamāntārtha mukhyaviśeṣyaka śābdabodha.*

मूलग्रन्थः - १३

T13. यत्तु 'शृणु गर्जति मेघ' इत्यादौ श्रवणे प्रथमान्तार्थ एव कर्मत्वमित्यपास्तमिति तन्न 'सविशेषणे हि' इति न्यायेन श्रवणे गर्जनविशिष्टमेघकर्मत्वबो(बा)धेऽपि गर्जन-कर्मत्वस्यान्वयसम्भवात् कर्मत्वं प्रथमार्थ इति सम्यगेवोक्तमिति पदार्थत्वेन प्रकारतया भानं विशेषः।

हिन्दी अनुवाद - १३

T13. 'शृणु गर्जति मेघः' इत्यादि प्रयोग में श्रवण में प्रथमान्तार्थ ही कर्मत्व है यह मत खण्डित हो जाता है - ऐसा मानना उचित नहीं, क्योंकि 'सविशेषणे हि विधि-निषेधौ सति विशेष्ये बाधे विशेषणमुपक्रामते' इस न्याय से श्रवण में गर्जनविशिष्ट मेघकर्मत्वबाध में भी गर्जन-कर्मत्व का अन्वय सम्भव होने से कर्मत्व प्रथमार्थ है - ऐसा उचित ही कहा गया है और पदार्थ के रूप में प्रकारता से होनेवाला भान विशेष है।

English Translation - 13

T13. It is not proper to accept that such view which accepts *prathamāntārtha* as *karmatva* in case of *śravaṇa* in the expressions '*Śṛṇu garjati meghaḥ*' etc., gets refuted, because, it has been rightly stated that the *karmatva* is the meaning of nominative case-ending because of the possibility of the relation of *garjana-karmatva* even in the understanding of objectness (*karmatva*) of the cloud qualified by thundering (*garjana*) in the verbal activity *śravaṇa* by the principle that '*Saviśeṣaṇe hi vidhiniṣedhau sati..*' etc. Moreover, the understanding as a'padārtha'by qualifierness is worth-mentioning.

संस्कृतव्याख्या- १३

T13. 'शृणु गर्जति मेघः' इत्यत्र श्रवणक्रियायां प्रथमान्तार्थस्यैव कर्मत्वमस्ति - इति न्यायमतं प्रस्तुवता तथा तन्मतनिराकणायोपस्थापितं मतं खण्डयता ग्रन्थकारेणोक्तं यत् "सविशेषणे हि विधि-निषेधौ सति विशेष्ये बाधे विशेषणमुपक्रामते" इति न्यायानुसारेण गर्जनविशिष्टस्य मेघस्य कर्मतायाः बाधेऽपि गर्जनकर्मतायाः अन्वयस्तु सम्भवत्येव। अतः कर्मत्वं प्रथमार्थोऽस्ति - इति मतमनुचितं नास्ति।

हिन्दी तात्पर्यार्थ - १३

T13. न्यायमत मे 'शृणु गर्जति मेघः' में श्रवणक्रिया में प्रथमान्तार्थ ही कर्मत्व है - इस न्यायमत को प्रस्तुत करते हुए उसे अपास्त सिद्ध करने वाले कथन का खण्डन करने की दृष्टि से ग्रन्थकार कहते हैं कि 'सविशेषणे हि विधि-निषेधौ सति विशेष्ये बाधे विशेषणमुपक्रामते' इस न्याय के अनुसार गर्जनविशिष्ट मेघ की कर्मता का बाध होने पर भी गर्जनकर्मता का अन्वय तो सम्भव है ही। अतः 'कर्मत्व प्रथमार्थ है' - ऐसा मानना अनुचित नहीं है।

Explanatory Notes - 13

T13. In the context of '*Śṛṇu garjati meghaḥ*' the author agrees to Naiyāyika's view and he tries to establish *Nyāya*-view that *prathamāntārtha* is the *karmatva* in *śravaṇakriyā* by refuting the arguments raised against this view. He says that the relationship (*anvaya*) of *garjanakarmatā* is possible even after understanding the *karmatā* of *garjanaviśiṣṭa megha*. Therefore, it is not inappropriate to accept *karmatva* as *prathamārtha.*

मूलग्रन्थः - १४

T14. वस्तुतस्तु विभक्तौ लक्षणेति नियमात् कर्मत्वं प्रथमार्थो न सम्भवति। किञ्च सा धातुत्वमात्रार्थिकायाः प्रथमायाः शक्याभावात् शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणाऽपि (न) सम्भवत्येवेति तत्त्वम् 'शङ्खाः श्रूयन्ते', 'भेर्यः श्रूयन्ते' इति महाभाष्यप्रयोगात्।

प्रबुद्धसेन्द्राम्बुदनादधीरं कृष्णार्णवाम्पर्णचरैकहंसः।
मन्द्रानिलापूरकृतादधानो निधानतश्श्रूयते पाञ्चजन्यः।।

इत्यतियुक्तप्रयोगाच्च 'सविशेषणे हीति न्यायस्य सर्वसम्मतत्वाच्चेति।

हिन्दी अनुवाद - १४

T14. वस्तुतः विभक्ति में लक्षणा नहीं है - इस नियम से कर्मत्व प्रथमार्थरूप में सम्भव नहीं है। किन्तु वहाँ धातुत्वमात्रार्थिका प्रथमा के शक्य के अभाव में शक्यसम्बन्धरूप लक्षणा

भी सम्भव है - यह मत तथ्यपूर्ण है जो 'शङ्खाः श्रूयन्ते', 'भेर्यः श्रूयन्ते' इस महाभाष्यप्रयोग से भी सिद्ध होता है।

प्रबुद्धसेन्द्राम्बुदनादधीरं कृष्णार्णवाम्पर्णचरैकहंसः।

मन्द्रानिलापूरकृतादधानो निधानतश्श्रूयते पाञ्चजन्यः।।

इस अतिशयोक्तिपूर्ण प्रयोग से भी 'सविशेषणे हि विधिनिषेधौ सति विशेष्ये बाधे विशेषणमुपक्रामते' यह न्याय सर्वसम्मत है।

English Translation - 14

T14. In fact, *karmatva* is not possible as the meaning of 'prathamā,' because of the rule that the *lakṣaṇā* is not possible in case-endings. However, it is a fact that in the absence of *śakya*, related to the nominative as *dhātutvamātrārthikā*, the *śakyasambandhalakṣaṇā* is not possible. This fact has been proved by the usages like '*Śaṅkhāḥ śrūyante*', '*Bheryaḥ śrūyante*' etc. of *Mahābhāṣya*. It is also proved from the following verse :

Prabuddhasendrāmbudanādadhīraṃ

kṛṣṇārṇavāmparṇacaraikahaṃsaḥ.

Mandrānilāpūrakṛtādadhāno

nidhānataśśrūyate pāñcajanyaḥ..

As per the above mentoned exagerative statement the famous principle '*Saviśeṣaṇe hi vidhiniṣedhau sati viśeṣye bādhe viśeṣaṇamupakrāmate*' has its wide acceptance.

संस्कृतव्याख्या - १४

T14. एषो मान्यः सिद्धान्तोऽस्ति यत् विभक्तौ लक्षणा न सम्भवति। अतः एतत्सिद्धान्तानुसारं प्रथमाया अर्थः कर्मत्वं नास्ति। लक्षणा शक्यसम्बद्धा वर्तते। मृगस्य धावनक्रियया शक्यसम्बन्धाभावे लक्षणाऽपि न् सम्भवति। अतः सविशेषणे हि विधिनिषेधौ सति विशेष्ये बाधे विशेषणमुपक्रामते' इति न्यायमेव स्वीकृत्य पश्य मृगो धावति इत्यत्र धावनकर्तृके मृगे विशेषणीभूतायां धावनक्रियायां दर्शनक्रियाया अन्वयः स्वीकर्तव्यः। महाभाष्यकारेण 'शङ्खाः श्रूयन्ते', 'भेर्यः श्रूयन्ते' इत्येवंविधः प्रयोगः स्वीकृतोऽस्ति। एवंविधात् प्रयोगादपि एवं प्रतीयते यद् ध्वनिविशिष्टाः शङ्खाः अथवा भेर्यः श्रूयन्ते। एतयोः द्वयोः वाक्यार्थयोः विशेष्ये क्रियाया अन्वयोऽभीष्टोऽस्ति। एवमेव अधोलिखितः श्लोकोऽपि द्रष्टव्यो वर्तते -

प्रबुद्धसेन्द्राम्बुदनादधीरं कृष्णार्णवाम्पर्णचरैकहंसः।

मन्द्रानिलापूरकृतादधानो निधानतश्श्रूयते पाञ्चजन्यः।।

श्लोकऽस्मिन् पाञ्चजन्यस्य श्रवणस्य तात्पर्यमिदमस्ति यद् ध्वनिविशिष्टस्य पाञ्चजन्यस्य श्रवणम् इत्यनेन तात्पर्येण एव विशेष्ये श्रवण-क्रियाया अन्वयं कृत्वैवोपपादनं कर्तव्यमस्ति।

हिन्दी तात्पर्यार्थ - १४

T14. यह मान्य सिद्धान्त है कि विभक्ति में लक्षणा नहीं की जाती है। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार प्रथमा का अर्थ कर्मत्व नहीं है। लक्षणा शक्य के साथ सम्बद्ध है । मृग का धावनक्रिया के साथ शक्यसम्बन्ध भी न होने के कारण लक्षणा करना भी सम्भव नहीं है। अतः 'सविशेषणे हि विधिनिषेधौ सति विशेष्ये बाधे विशेषणमुपक्रामते' यह न्याय ही स्वीकार करके पश्य मृगो धावति में धावनकर्तृक मृग में विशेषणीभूत धावनक्रिया में दर्शनक्रिया का अन्वय मानना चाहिए। महाभाष्यकार ने 'शङ्खाः श्रूयन्ते', 'भेर्यः श्रूयन्ते' जैसा प्रयोग किया है। इस प्रकार के प्रयोगों से भी यही लगता है कि ध्वनिविशिष्ट शङ्ख या भेरी सुनाई पडते हैं। इन दोनों वाक्यार्थों में विशेष्य में क्रिया का अन्वय किया जाना अभीष्ट है। इसी प्रकार अधोलिखित श्लोक द्रष्टव्य है -

प्रबुद्धसेन्द्राम्बुदनादधीरं कृष्णार्णवाम्पर्णचरैकहंसः।

मन्द्रानिलापूरकृतादधानो निधानतश्श्रूयते पाञ्चजन्यः।।

इस श्लोक में पाञ्चजन्य के श्रवण का तात्पर्य है ध्वनिविशिष्ट पाञ्चजन्य का श्रवण इस तात्पर्य के द्वारा ही विशेष्य में श्रवण-क्रिया का अन्वय कर उपपन्न करना चाहिए।

Explanatory Notes - 14

T14. It is only a concept that *lakṣaṇā* is not applied in the case-endings. According to this concept, *prathamā* does not denote *karma. lakṣaṇā* is related to *śakya*. Since *mṛga* has even no *śakyasambandha* with *dhāvanakriyā, lakṣaṇā* is not possible. Therefore, it is necessary to accept *darśanakriyā* as related to *dhāvanakriyā* which is qualified to *dhāvanakartṛka mṛga* in the expression '*paśya mṛgo dhāvati*' by accepting the famous maxim '*Saviśeṣaṇe hi vidhiniṣedhau sati viśeṣye bādhe viśeṣaṇamupakrāmate*'. Patañjali also has used the sentences like '*Śaṅkhāḥ śrūyante*' and '*Bheryaḥ śrūyante*'. From this sort of usages also it seems that *dhvaniviśiṣṭa śaṅkha* and *bherī* are being heared. In the meanings of both these sentences *kriyā* is needed to get related to the qualificands (*viśeṣya*). In this context the following verse is to be observed :

Prabuddhasendrāmbudanādadhīraṃ
kṛṣṇārṇavāmparṇacaraikahaṃsaḥ.
Mandrānilāpūrakṛtādadhāno
nidhānataśśrūyate pāñcajanyaḥ..

Here also *śravaṇakriyā* is needed to get related to the qualificand by the hearing of *dhvaniviśiṣṭa pāñcajanya*.

मूलग्रन्थः - १५

T15. यत्तु किञ्चैवं मृगे संख्यान्वयो न स्यात्। आख्यातोपस्थाप्य-संख्याप्रकारकान्वयबोधं प्रति मुख्यविशेष्यतया प्रथमान्तपदजन्योपस्थितेर्हेतुत्वात्। अन्यथा 'हंसीव धवला कीर्ति'रित्यत्र

हंस्यामपि संख्यान्वयप्रसङ्गः। मृगसंख्यानन्वये इष्टापत्तौ च 'पश्य धावति मृगाः' इत्यादेरपि साधुत्वापत्तेरिति तन्न , तत्र मुख्येति न वक्तव्यम्, चैत्र एव पचतीत्यादौ व्यभिचारात्। अन्ययोगव्यवच्छेदतयैवकारार्थैकदेशे चैत्रस्य विशेषणत्वेन मुख्यविशेष्यतया प्रथमान्तपदजन्योपस्थितिविषयत्वाभावात् 'चैत्रान्यो न पचति' 'चैत्रः पचति' इति तदर्थात्।

हिन्दी अनुवाद - १५

T15. मृग में संख्यान्वय नहीं होता है, क्योंकि आख्यात से उपस्थाप्य संख्याप्रकारक अन्वयबोध के प्रति मुख्य विशेष्य के रूप में प्रथमान्तपदजन्य उपस्थिति ही हेतु है। अन्यथा 'हंसीव धवला कीर्तिः' इस वाक्य में हंसी में भी संख्यान्वय का प्रसंग उपस्थित होगा। मृग में संख्या के अन्वय से इष्टापत्ति होने पर 'पश्य धावति मृगाः' जैसे वाक्यों की साधुत्वापत्ति होगी - यह कहना उचित नहीं है क्योंकि वहाँ 'मुख्य' ऐसा नहीं कहना चाहिए। वस्तुतः चैत्र एव पचति इस वाक्य में इसका व्यभिचार दिखाई देता है। अन्ययोगव्यवच्छेद के रूप में ही एवकारार्थ के एकदेश में चैत्र का विशेषण के रूप में मुख्यविशेष्यता से प्रथमान्तपदजन्य उपस्थिति-विषयत्व के अभाव में 'चैत्रान्यो न पचति' 'चैत्रः पचति' यह अर्थ उपस्थित होता है।

English Translation - 15

T15. The number is not related to *mṛga*, because, the understanding generated from the nominative word (*prathamāntapadajanyopasthiti*) as a qualificand is the cause with regard to the understanding of *ākhyātārtha-*

saṅkhyāprakāraka. Otherwise, in the expression '*Haṃsīva dhavalā kīrtiḥ*' the *saṅkhyā* will be wrongly related to *haṃsī*. Moreover, it is not proper to say that though by relating *mṛga* with the number, the intention is achieved still in doing so the usages like '*Paśya dhāvati mṛgāḥ*' will also be treated as correct, and therefore, '*mukhya*' is not to be stated. In fact, (the same principle) is found violated in the sentences like caitra eva *pacati* etc. Here the meaning '*Caitrānyo na pacati*' (no one other than caitra cooks) and '*Caitraḥ pacati*' (*Caitra* alone cooks) is achieved in the absence of *viṣayatva* related to the understanding generated out of nominative word as a principal qualificand to the qualifier of *caitra* in the *ekadeśa* of *evakāra* as *anyayoga-vyavaccheda*.

संस्कृतव्याख्या- १५

T15. साम्प्रतमियं शङ्का प्रस्तूयते यत् प्रथमान्तस्य मृगस्य यदि दर्शनक्रियायामन्वयः क्रियते तर्हि आख्यातार्थ-संख्याया मृग इति प्रथमान्तार्थेन अन्वयो नैव सम्भविष्यति, यतोहि "आख्यातोपस्थाप्य संख्याप्रकारकान्वयबोधं प्रति मुख्यविशेष्यतया प्रथमान्तपद- जन्योपस्थितिर्हेतुः" इत्येषो नियमोऽस्ति। अर्थात् आख्यातार्थ-संख्याप्रकारकं बोधं प्रति मुख्यविशेष्यरूपेण प्रथमान्तपदजन्योपस्थितिः कारणं वर्तते। एतदनुसारं 'मृग' इति पदं मुख्यविशेष्यं भवेत्। 'पश्य मृगो धावति' इत्यत्र 'मृग' इति पदं मुख्यविशेष्यं नास्ति किन्तु दर्शनक्रियायां विशेषणमेवास्ति। यदि उपर्युक्तं कार्यकारणभावं नाङ्गीकुर्मस्तर्हि 'हंसीव धवला कीर्तिः' इत्यत्र हंसी इत्यत्रापि संख्यान्वयः सम्भविष्यति। यदि मृगे आख्यातार्थ-संख्याया अन्वयः आवशयको नाङ्गीक्रियते तर्हि 'पश्य धावति मृगाः' सदृशाः प्रयोगा अपि साधवो भविष्यन्ति।

उपर्युक्ताशङ्कायाः निराकरणार्थं न्यायमतेन उत्तरं प्रयच्छता ग्रन्थकारेणोक्तं यत् आख्यातार्थ-संख्याप्रकारकं बोधं प्रति प्रथमान्तार्थस्य मुख्यविशेष्यतया उपस्थितिः आवश्यकी नास्ति। यतोहि कुत्रचित् अमुख्येनापि अस्यान्वय इष्टोऽस्ति। यथा चैत्र एव पचति। अत्र चैत्रभिन्नो नैव पचति, चैत्र एव पचति इत्ययमर्थो वर्तते। अत्र चैत्रस्य अन्यत्रोक्तेन अन्ययोगव्यवच्छेदेन पदार्थेन अन्वयो वर्तते। अतः चैत्रः मुख्यविशेष्यं नास्ति।

हिन्दी तात्पर्यार्थ - १५

T15. अब यह शङ्का प्रस्तुत करते हैं कि प्रथमान्त मृग का यदि दर्शनक्रिया में अन्वय करते हैं तो आख्यातार्थ संख्या का मृग - इस प्रथमान्तार्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकेगा, क्योंकि "आख्यातोपस्थाप्य संख्याप्रकारकान्वयबोधं प्रति मुख्यविशेष्यतया प्रथमान्तपद- जन्योपस्थितिर्हेतुः" यह नियम है। अर्थात् आख्यातार्थ-संख्याप्रकारक बोध के प्रति मुख्य विशेष्य के रूप में प्रथमान्तपदजन्य उपस्थिति कारण है। इसके अनुसार 'मृग' को मुख्यविशेष्य

होना चाहिए। पश्य मृगो धावति में मृग मुख्यविशेष्य न होकर दर्शनक्रिया में विशेषण हो रहा है। यदि उक्त कार्यकारणभाव नहीं मानेंगे तो 'हंसीव धवला कीर्तिः' यहाँ हंसी में भी संख्या का अन्वय होने लगेगा। यदि मृग में आख्यातार्थ संख्या का अन्वय करना आवश्यक नहीं मानते हैं तो 'पश्य धावति मृगाः' जैसा प्रयोग भी साधु होने लगेगा।

उक्त आशङ्का के निराकरण की दृष्टि से न्यायमत से उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि आख्यातार्थ-संख्याप्रकारक बोध के प्रति प्रथमान्तार्थ की मुख्य विशेष्यतया उपस्थिति आवश्यक नहीं है। क्योंकि कहीं कहीं अमुख्य से भी इसका अन्वय इष्ट है। जैसे चैत्र एव पचति। यहाँ चैत्र भिन्न नहीं पकाता है, चैत्र पकाता है - यह अर्थ है। यहाँ चैत्र का अन्यत्रोक्त अन्ययोगव्यवच्छेद पदार्थ के साथ अन्वय है। अतः चैत्र मुख्य विशेष्य नहीं है।

Explanatory Notes - 15

T15. Now a querry has been raised that if we relate *prathamānta mṛga* with *darśanakriyā* then *ākhyātārtha saṅkhyā* cannot be related to *prathamāntārtha mṛga*. Because, there is a famous principle that "*Ākhyātopasthāpya saṅkhyāprakārakānvayabodhaṃ prati mukhyaviśeṣyatayā prathamāntapadajanyopasthitirhetuḥ*". That means, the understanding generated from the nominative word (*prathamāntapadajanyopasthiti*) as a qualificand is the cause with regard to the understanding of ākhyātārtha-saṅkhyāprakāraka. As per this principle, the word *mṛga* should be the principal qualificand (*mukhyaviśeṣya*). In the expression *Paśya mṛgo dhāvati*, however, *mṛga* is not the principal qualificand (*mukhyaviśeṣya*) but it is the qualifier to the *darśanakriyā*. Otherwise, in the expression '*Haṃsīva dhavalā kīrtiḥ*' the'saṅkhyā' will be wrongly related to *haṃsī*. If it is not necessary to relate mṛga with the number of *ākhyātārtha* the usages like '*Paśya dhāvati mṛgāḥ*' will also be treated as correct.

To reply the above objection the author goes on naiyāyika's way and says that the presence of the *prathamāntārtha* as principal qualificand (*mukhya viśeṣya*) is not necessary for the understanding in the form of *ākhyātārtha-saṅkhyā-prakāraka*. Because, sometimes it happens in case of subordinate qualificand also. For example, *Caitra eva pacati*. It means no one other than *Caitra* cooks because caitra alone cooks. Here *Caitra* is related with *Anyatrokta anyayogavyavaccheda padārtha*. Here *Caitra* is not main but the suburdinate.

मूलग्रन्थः - १६

T16. तथा च 'चैत्र एव पचती'त्यत्र चैत्रे संख्यान्वयार्थमाख्यातोपस्थाप्य-संख्या-प्रकारकान्वयबोधं प्रति विशेष्यतया प्रथमान्तपदजन्योपस्थितिर्हेतुरित्येव कार्यकारण-भावोऽङ्गीकर्तुमुचितः। अन्यथा 'हंसीव कृष्ण ते कीर्तिः', 'स्वर्गङ्गामवगाहत' इत्याद्युपमाने संख्यान्वयाङ्गीकारे स्वर्गङ्गावगाहनाश्रयत्वस्याख्यातार्थस्य संख्यायाश्च साधारणधर्मत्वानुपपत्तेः।'हंसीव कृष्ण ते कीर्ति'रित्यादीनामप्यसाधुत्वापत्तौ चालङ्कारिकमते वैरस्यापादक-लिङ्गवचनभेदस्योपमानोपमेयेषु नि .....१ ...ष्त....त्वं न स्यात्। संख्याकालातिरिक्ताख्यातार्थो भावना भावनान्वयिनि संख्यान्वय इति नियमाच्च। क्वचिद् विशेष्यस्य क्वचिद् विशेषणस्य परामर्शात् तात्पर्यविषयपरामर्शित्वं तच्छब्दस्येति मतं, परन्तु पदार्थतावच्छेदकरूपविशेषणस्य क्वचिन्न परामर्श इति 'वाक्यवाद'स्समाप्तः। लिखितो रामदत्तेन स्वपठनार्थम्। श्रीः

हिन्दी अनुवाद - १६

T16. इस प्रकार 'चैत्र एव पचति' इत्यादि प्रयोग में चैत्र में संख्यान्वय के लिए आख्यातोपस्थाप्य संख्याप्रकारक अन्वयबोध के प्रति विशेष्य के रूप में प्रथमान्तपदजन्य उपस्थिति ही हेतु है - ऐसा कार्यकारणभाव स्वीकार करना उचित होगा। अन्यथा 'हंसीव कृष्ण ते कीर्तिः', 'स्वर्गङ्गामवगाहते' इस उपमान में संख्यान्वय की स्वीकृति के अभाव में आख्यातार्थ स्वर्गङ्गावगाहनाश्रयत्व का और संख्या का साधारणधर्मत्व की अनुपपत्ति होगी। 'हंसीव कृष्ण ते कीर्ति' इत्यादि प्रयोगों का भी असाधुत्व की आपत्ति होने पर आलङ्कारिक मत में वैरस्यापादक लिङ्गवचन भेद के उपमान-उपमेय में अन्वय न होगा। संख्याकालातिरिक्तस्वरूप आख्यातार्थ भावना है और भावनान्वयि मे संख्यान्वय - यह नियम है। कहीं विशेष्य के तो कहीं विशेषण के परामर्श से 'तत्' शब्द का तात्पर्यविषयपरामर्शित्व माना जाता है। किन्तु पदार्थतावच्छेदकरूप विशेषण का कहीं भी परामर्श नहीं है। इस प्रकार यह 'वाक्यवाद' समाप्त होता है।

रामदत्त ने (इसे) अपने ही अध्ययन के लिए लिखा है।

English Translation - 16

T16. Thus, it will be proper to accept the cause and effect relationship where the only understanding resulted from nominative case-ending is the cause in the form of qualificand towards the *Ākhyātopasthāpya saṅkhyāprakāraka anvayabodha* for relating the number with *Caitra* in the usages like '*Caitra eva pacati*' etc. Otherwise, in not accepting *saṅkhyānvaya*

in case of *upamāna* in the expressions such as '*Haṃsīva kṛṣṇa te kīrtiḥ*', '*Svargaṅgāmavagāhate*' etc. there will be difficulty in justifying the *sādhāraṇadharmatva* of the number and *svargaṅgāvagāhanāśrayatva* of the meaning of verb (*ākhyātārtha*). Moreover, since there will be the possibility of the incorrectness of the usages like '*haṃsīva kṛṣṇa te kīrti*' etc., ...in the views of the rhetoricians. There is the principle that bhāvanā refers to the meaning of verbal activity (*ākhyātārtha*) other than the number and tense (*kāla*). *Tātparyaviṣayaparāmarśitva* of the word '*tat*' is accepted sometimes in consultancy (*parāmarśa*) with the qualificand and sometimes with the qualifier. However, the qualifier in the form of *padārthatāvacchedaka* is never consulted with. Thus, ends the text '*vākyavāda*' which has been scribed by Rāmadatta for his own study purpose.

संस्कृतव्याख्या - १६

T16. उपर्युक्तयुक्त्या एतदेव सिद्धं भवति यत् आख्यातोपस्थाप्य-संख्याप्रकारकमन्वयबोधं प्रति मुख्यविशेष्यतया प्रथमान्तपदजन्योपस्थितेः कारणत्वाङ्गीकारे अन्ययोगव्यवच्छेदस्थलेऽपि दोषः सम्भविष्यति। अतः आख्यातोपस्थाप्य-संख्याप्रकारकं बोधं प्रति विशेष्यतया प्रथमान्तपदजन्योपस्थितिः कारणत्वेनाङ्गीकर्तव्या न तु मुख्य- विशेष्यतया। अतः 'चैत्र एव पचति' इत्यत्रापि न कश्चिद् दोषो वर्तते। यदि एवं नाङ्गीक्रियते तर्हि 'हंसीव कृष्ण ते कीर्तिः', 'स्वर्गङ्गामवगाहते' इति वाक्येषु उपमानभूते 'हंसी'ति पदे संख्याश्रयत्वानङ्गीकारे 'स्वर्गङ्गा' इत्यत्र अवगाहनत्वं तथा चाख्यातार्थ-संख्याया उपमानोपमेयगतं साधारणधर्मत्वञ्चोपपन्नं नैव भविष्यति।

हिन्दी तात्पर्यार्थ - १६

T16. उक्त युक्ति के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि आख्यातोपस्थाप्य संख्याप्रकारक अन्वयबोध के प्रति मुख्यविशेष्यतया प्रथमान्तपदजन्य उपस्थिति को कारण मानने में अन्ययोगव्यवच्छेद स्थल में दोष होगा। अतः आख्यातोपस्थाप्य संख्याप्रकारक बोध के प्रति विशेष्यतया प्रथमान्तपदजन्य उपस्थिति को कारण मानना चाहिए न कि मुख्यविशेष्यतया। अतः 'चैत्र एव पचति' यहाँ पर कोई दोष नहीं होगा। यदि ऐसा नहीं मानते हैं तो 'हंसीव कृष्ण ते कीर्तिः', 'स्वर्गङ्गामवगाहते' इन वाक्यों में उपमानभूत 'हंसी' में संख्या का आश्रय नहीं स्वीकार करने पर 'स्वर्गङ्गा' के अवगाहनत्व तथा आख्यातार्थ संख्या के उपमानोपमेयगत साधारणधर्मत्व की उपपत्ति नहीं होगी।

Explanatory Notes - 16

T16. By the above arguments it has been tried to establish that there will be a fault in the context of *anyayogavyavaccheda* in accepting *prathamāntapadajanya upasthiti* as the cause in the form of *mukhyaviśeṣya* towards the *anvayabodha* qualified by the number denoted by *ākhyāta* (i.e. *Ākhyātopasthāpya saṅkhyāprakāraka*). Therefore, *prathamāntapadajanya upasthiti* should be accepted as the cause in the form of *viśeṣya* and not as *mukhyaviśeṣya* towards the understanding qualified by the number denoted by *ākhyāta*. Thus, there will be no fault in case of '*Caitra eva pacati*'. Otherwise, in not accepting the *āśraya* of number in '*haṃsī*' which is a simily (*upamānabhūta*) in the expressions like '*Haṃsīva kṛṣṇa te kīrtiḥ*' etc. *avagāhanatva* of *svargaṅgā* and *sādhāraṇadharmatva* incorporated in the *upamānopameya* of *ākhyātārtha saṅkhyā* cannot be achieved.

❑❑

Appendices
(परिशिष्ट)

Appendix - 1
The complete Original Tesxt
सम्पूर्णो मूलग्रन्थः
ओं श्रीगणेशाय नमः

T1. अथ किमिदं वाक्यं नाम। एकतिङ् वाक्यमिति भाष्यात्। एकतिङन्तार्थमुख्यविशेष्यकबोधजनकपदसमूहो वाक्यमिति वैयाकरणाः। तेन पचति भवतीत्यादौ, पश्य मृगो धावतीत्यादौ च क्रियापदस्यानेकत्वेऽपि नैकवाक्यताव्याघातः। नहि क्रियाविनिर्मुक्त- वाक्यमस्तीति भाष्यात् 'अस्तिर्भवतिपरः प्रथमपुरुष' इति कात्यायनस्मरणाच्च सर्वत्र समुचितः क्रियापदाध्याहारः।

T2. न चास्तु क्रियापदाध्याहारस्तथापि बोधविशेष्यत्वं प्रथमान्तार्थस्यैवेति वाच्यम्। 'पश्य मृगो धावती'त्यादावगतेः प्रथमान्तार्थस्य विशेष्यत्वे वाक्यभेदप्रसङ्गात्। मृगस्य दर्शनक्रियायां कर्मतयाऽन्वये मृगपदोत्तरं द्वितीयापत्तेः। द्वितीयायां सत्यां 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरण' इत्यनुशासनाल्लटः शत्रादेशे 'धावन्तं मृगं पश्ये'त्येवं स्यात्। तथा च 'पश्य मृगो धावति' इति वाक्योच्छेदापत्तेस्तमित्यध्याहारे वाक्यभेदो गौरवं च।

T3. न च वाक्यभेदे क्षतिविरह इति वाच्यम्। तथा सति 'तिङतिङः' (पा. ८.१.२८) सूत्रे अतिङः इत्यस्य व्यावर्त्याभावेन वैयर्थ्यापत्तेः, निघातस्वरस्य चैकवाक्यत्वाधीनत्वात्। एकवाक्यत्वाभावे तदनुपपत्तेर्ननु 'हरेर्दशावताराः' इत्यत्र का क्रियाऽध्याहार्या भवन्तीत्येवेति। परन्तु यत्रायोग्यता न तत्र लडर्थवर्तमानत्वान्वयः। अविवक्षितत्वात् वर्तमान-सामीप्ये वा लट्-सामीप्यं च भूतभविष्यद्रूपम्, अत एव 'जयन्ति कृष्णस्य दशावताराः' इति मुकुटः 'वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षयमन्नद' इत्यादौ न लडर्थवर्तमानविवक्षेति मिश्रः। वर्तमानार्थक-लट्-प्रत्ययान्तत्वेनेत्यस्यालोकस्य तत्सामीप्यार्थक-लट्- प्रत्ययान्तत्वेनेति कण्टकोद्धारे मधुसूदनठक्कुराः। अत्र नैयायिकाः निष्क्रियस्यापि वाक्यस्य सत्त्वात् त्रिविधं वाक्यं, तथा हि सुबन्तसमूहस्तिङन्तसमूहः

सुबन्त-तिङन्तसमूहश्च। यथा 'त्रयः कालाः,' 'पचति भवति' 'चैत्रः पचती'त्यादौ 'धावनकर्तृक-मृगकर्मक- दर्शनाश्रयस्त्वमित्यन्वयबोधात् वाक्यार्थस्य कर्मतासंसर्गेण दर्शनक्रियायां वाक्यस्य चार्थवत्त्वाभावेनाप्रातिपदिकत्वान्न द्वितीयापत्तिः न च वाक्यभेदप्रसङ्गः।

T4. किञ्च नहि क्रियाविनिर्मुक्तं वाक्यमस्तीति फणिनो धरणीभारविजृम्भणभणतिरेवेति भावः। तथा हि त्रयः कालाः इत्यादाविव क्रियाविनिर्मुक्तस्य वाक्यस्य सार्वजनीनत्वात् न त्वत्र कापि क्रिया अध्याहर्तुं शक्या। अपि च क्रियाया विशेष्यत्वेऽपि 'प्रयाति पुरुषस्तस्य चरणावभिवादये' इत्यादौ तच्छब्देन पुरुष-परामर्शो न स्यात्तस्य विशेषणत्वेचो(नो)पस्थितत्वात्। अन्यथा 'दशैते राजमातङ्गास्तस्यैवामी तुरङ्गमाः' इत्यादेरपि साधुत्वापत्तेरित्याद्यनल्पं जल्पन्ति स्म।

T5. अत्रेदं भावयामः 'पश्य मृगो धावती'त्यत्र तादृशमृगस्य दर्शनक्रियायां कर्मतासंसर्गेणान्वयो न सम्भवति नामार्थ-धात्वर्थयोरभेदातिरिक्तसम्बन्धेन साक्षादन्वयबोधस्याव्युत्पन्नत्वात्। अन्यथा 'तण्डुलः पचती'त्यादेरपि साधुत्वापत्तेः। न च तत्र धावनकृतिविशिष्ट-मृगस्य वाक्यार्थत्वेन नामार्थत्वसम्भवात् नोक्तदोष इति वाच्यम्। तथा सति मृगपदोत्तरं प्रथमाऽपि न। विवक्षास्थले एव प्रयुक्तस्य 'पश्य मृगो धावती'त्येतस्यैकवाक्यत्वं फणिसंमतं तच्चानुपपन्नमेव। फणिसंमतिस्तु हेलाराजेन स्पष्टीकृता। तथा हि

सुबन्तं हि यथानेकतिङन्तस्य विशेषणम्।
तथा तिङन्तमप्याहुस्तिङन्तस्य विशेषणम्।। इति।

तेन धावनक्रिया स्यात्तस्यापि प्रातिपदिकाश्रयत्वात् ।

T6. किञ्च मृगकर्तृकोत्कटधावनस्य दर्शनक्रियायां कर्मत्वेन ... विवक्षायां न प्रतीकार इत्याशयः। अन्यथा 'धावन्तं मृगं पश्ये'त्येवं ब्रूयात्। किञ्च 'त्रयः कालाः' इत्यत्र 'ज्ञायन्ते' इति क्रियान्वयसम्भवात् क्रियाविनिर्मुक्तवाक्यस्यासंगत्यापत्तेः। किञ्च 'शृणु गर्जति मेघो', 'नटो गायति शृणु', 'घटोऽनश्यत्पश्ये'त्यादावव्याप्त्यापत्तेश्च। एतेन प्रथमार्थो मृगकर्मत्वमित्यपास्तम्।

T7. किञ्चैवं मृगे संख्यान्वयो न स्यात्, आख्यातोपस्थाप्य- संख्याप्रकारकान्वयबोधं प्रति मुख्यविशेष्यतया प्रथमान्तपद- जन्योपस्थितेर्हेतुत्वात्। अन्यथा 'हंसीव धवला कीर्ति'रित्यत्र हंस्यामपि संख्यान्वयप्रसङ्गः। मृगे संख्यान्वये इष्टापत्तौ च 'पश्य

धावति मृगा' इत्यादेरपि साधुत्वापत्तेः। किञ्च 'पटोलपत्रं पितघ्नं नाडी तस्य कफापहा' इति, 'चैत्रो ग्रामं गतस्तत्र मैत्रः किं कुरुतेऽधुना' इत्यादिप्रयोगदर्शनात्। 'तत्' शब्देन विशेषणस्यापि परामर्शः। परन्तु पदार्थतावच्छेदकरूपविशेषणस्य क्वचिन्न परामर्शस्तेन 'दशैते राजमातङ्गाः' इत्यादौ न काप्यनुपपत्तिरत एवोत्सर्गोऽयं न नियमस्तदुक्तं 'सर्वनाम्नामुत्सर्गतः प्रधानपरामर्शित्वमि'ति दिक्।

T8. विवेके चित्तं चेदधस्तादवशिष्टं चोपरिष्टात् स्पष्टीभविष्यति इति श्रीमहामहोपाध्याय-मैथिलश्रीवंशमणेर्विमर्शः। मृगपदोत्तरं प्रथमाऽपि न स्यादिति धावनक्रियाविशिष्टस्य मृगस्य वाक्यार्थत्वेन नामार्थत्वात्प्रातिपदिकाश्रयीभूता प्रथमाऽपि न स्यादित्यर्थः। तथा च 'मृगो धावती'त्याख्यातोक्तसंख्याके कर्तरि नामार्थे प्रथमा पश्चात् पश्येति क्रियान्तरे वाक्यार्थतयाऽन्वयेऽपि प्राथमिकी प्रातिपदिकसंज्ञा कर्तुं शक्या इति को नाम प्रथमां विना शयितुमिष्ट इति।

T9. यत्तु मृगकर्तृकोत्कटधावनस्यैव दृशिक्रियायां कर्तर्यन्वयः विवक्षित इति भाष्यकृदाशयवर्णनम्। यदपि 'सुबन्तं हि यथानेकं तिङन्तस्य विशेषणं तथा तिङन्तमप्याहुस्तिङन्तस्य विशेषण'मिति हेलाराजसंमतिप्रदर्शनं तदुभयं न विचारचारु प्रकृति-प्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थप्राधान्यमिति नियमात् धात्वर्थनिष्ठ-प्रकारतानिरूपित- विशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति विशेष्यतया प्रत्यय-जन्योपस्थितिर्हेतुरिति कार्यकारणभावात् धात्वर्थप्रकारकापरधात्वर्थ- विशेष्यकान्वयबोध एव न सम्भवति। न चैवं भावप्रधानमाख्यातम् सत्त्वप्रधानानि नामानी'ति यास्कमुनिविशेषवचसाख्यातस्थले प्रत्ययार्थप्राधान्यं त्यजेत् इति वाच्यमाख्यातपदं तिङन्तेष्वेव रूढं न तु तिङन्तेषु इति आख्यातार्थेषु संख्यावर्तमानत्वादिषु भावस्यैव संख्याकालातिरिक्ताख्यातार्थस्यैव प्राधान्यमस्तीति नियमात्।

T10. वस्तुतस्तु प्रथमान्तार्थ-प्राधान्येऽपि मृगकर्तृकोत्कटधावनस्य कर्मता-संबन्धेन 'दृशि' क्रियायां विशेषणतयान्वयो न विरुध्यते यतो हि विशेष्यान्वयिनान्वयित्वमत्र विशेषणत्वं धावनक्रियाया विशेष्यो मृगस्तदन्वयिनी दर्शनक्रिया तदन्वयित्वरूपं विशेषणं धावनक्रियाया अक्षतमिति न भाष्यकृदुक्तिविरोधो, न वा हेलाराजोक्तिविरोध इति तत्त्वम्। स्पष्टं चेदं मीमांसायां 'सोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति, लोहितोष्णीषा

ऋत्विजः प्रचरन्ती'त्यादौ। तथा हि पूर्ववाक्ये उष्णीषाणामपीष्टसाधनत्वे विशेषणतयान्वयः। तत्र विशेषणत्वं विशेष्यान्वयिनान्वयित्वमेव। उष्णीषाणां विशेष्या ऋत्विजस्तदन्वयीष्टसाधनत्वम्। 'तदन्वयित्वमुष्णीषाणा'मिति उत्तर-वाक्यात् पूर्वलब्धस्योष्णीषविशिष्टर्त्विक्-कर्तृकप्रचरणस्य नेष्टसाधनत्वेऽन्वयः किन्तु लौहित्यमात्रस्य तत्रापि परम्परयोष्णीषद्वारा ऋत्विक् रूपविशेष्यान्वयिनेष्टसाधनत्वे न लौहित्यस्यान्वयस्वीकारात् इति।

T11. यत्तु 'धावन्तं मृगं पश्ये'त्येवं कुर्यादिति तन्न, पर्यायशब्दानां प्रयोगे वक्तुरिच्छाया एव नियामकत्वेनेष्टापत्तेः। सर्वस्मात्तात्पर्याभावे 'मृग'पदं नोच्चारयेत्। किन्तु 'पश्य धावती'त्येवं रूपादिति न काऽप्यनुपपत्तिः। यत्तु 'त्रयः कालाः' इत्यत्र 'ज्ञायन्ते' इति क्रियाध्याहारसम्भवात् क्रियाविनिर्मुक्त- वाक्यस्योदाहरणस्यासंगत्यापत्तेः इति तन्न ज्ञानक्रियानाकाङ्क्षयोः 'कति कालास्त्रयः काला' इति प्रश्नोत्तरवाक्ययोः क्रियाविनिर्मुक्तत्वसम्भवादिति।

•

T12. यत्तु 'शृणु गर्जति मेघो', 'नटो गायति शृणु', 'घटोऽनश्यत् पश्ये'त्यादावगतेश्चेति तन्न सविशेषणे हि विधि-निषेधौ सति विशेष्ये बोधे (बाधे) विशेषणमुपक्रामत इति विशेषणेषु गर्जन-गानाभावेषु श्रवणदर्शनान्वयसम्भवादिति।

T13. यत्तु 'शृणु गर्जति मेघ' इत्यादौ श्रवणे प्रथमान्तार्थ एव कर्मत्वमित्यपास्तमिति तन्न 'सविशेषणे हि' इति न्यायेन श्रवणे गर्जनविशिष्टमेघकर्मत्वबो(बा)धेऽपि गर्जन-कर्मत्वस्यान्वयसम्भवात् कर्मत्वं प्रथमार्थ इति सम्यगेवोक्तमिति पदार्थत्वेन प्रकारतया भानं विशेषः।

T14. वस्तुतस्तु विभक्तौ लक्षणेति नियमात् कर्मत्वं प्रथमार्थो न सम्भवति। किञ्च सा धातुत्वमात्रर्थिकायाः प्रथमायाः शक्याभावात् शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणाऽपि (न) सम्भवत्येवेति तत्त्वम् 'शङ्खाः श्रूयन्ते', 'भेर्यः श्रूयन्ते' इति महाभाष्यप्रयोगात्।

प्रबुद्धसेन्द्राम्बुदनादधीरं कृष्णार्णवाम्पर्णचरेकहंसः।
मन्द्रानिलापूरकृतादधानो निधानतश्श्रूयते पाञ्चजन्यः।।

इत्यतियुक्तप्रयोगाच्च 'सविशेषणे ही'ति न्यायस्य सर्वसम्मतत्वाच्चेति।

T15. यत्तु किञ्चैवं मृगे संख्यान्वयो न स्यात्। आख्यातोपस्थाप्य-संख्याप्रकारकान्वयबोधं

प्रति मुख्यविशेष्यतया प्रथमान्तपदजन्योपस्थितेर्हेतुत्वात्। अन्यथा 'हंसीव धवला कीर्ति'रित्यत्र हंस्यामपि संख्यान्वयप्रसङ्गः। मृगसंख्यानन्वये इष्टापत्तौ च 'पश्य धावति मृगाः' इत्यादेरपि साधुत्वापत्तेरिति तन्न , तत्र मुख्येति न वक्तव्यम्, चैत्र एव पचतीत्यादौ व्यभिचारात्। अन्ययोगव्यवच्छेदतयैवकारार्थैकदेशे चैत्रस्य विशेषणत्वेन मुख्यविशेष्यतया प्रथमान्तपदजन्योपस्थितिविषयत्वाभावात् 'चैत्रान्यो न पचति' 'चैत्रः पचति' इति तदर्थात्।

T16. तथा च 'चैत्र एव पचती'त्यत्र चैत्रे संख्यान्वयार्थमाख्यातोपस्थाप्य-संख्याप्रकारकान्वयबोधं प्रति विशेष्यतया प्रथमान्तपद- जन्योपस्थितिर्हेतुरित्येव कार्यकारण- भावोऽङ्गीकर्तुमुचितः। अन्यथा 'हंसीव कृष्ण ते कीर्तिः', 'स्वर्गङ्गामवगाहत' इत्याद्युपमाने संख्यान्वयाङ्गीकारे स्वर्गङ्गावगाहनाश्रयत्वस्याख्यातार्थस्य संख्यायाश्च साधारण- धर्मत्वानुपपत्तेः। 'हंसीव कृष्ण ते कीर्ति'रित्यादीनामप्यसाधुत्वापत्तौ चालङ्कारिकमते वैरस्यापादक-लिङ्गवचनभेदस्योपमानोपमेयेषु नि .....१ ...ष्त....त्वं न स्यात्। संख्याकालातिरिक्ताख्यातार्थो भावना भावनान्वयिनि संख्यान्वय इति नियमाच्च। क्वचिद् विशेष्यस्य क्वचिद् विशेषणस्य परामर्शात् तात्पर्यविषयपरामर्शित्वं तच्छब्दस्येति मतं, परन्तु पदार्थतावच्छेदक- रूपविशेषणस्य क्वचिन्न परामर्श **इति 'वाक्यवाद'स्समाप्तः। लिखितो रामदत्तेन स्वपठनार्थम्। श्रीः**

Appendix - 2

Quoted Texts & Authors (उद्धृत ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार)

(i) ग्रन्थ / सम्प्रदाय

कण्टकोद्धार (मधुसूदनठक्कुरकृत)	-	T3
भाष्य (पतञ्जलिकृत)	-	T1
महाभाष्य (पतञ्जलिकृत)	-	T1
मीमांसा (पूर्वमीमांसा-दर्शन)	-	T10

(ii) ग्रन्थकार

आलङ्कारिक (काव्यशास्त्री आचार्य)	-	T16
कात्यायन (वार्तिककार)	-	T1
नैयायिक (न्यासम्प्रदाय के आचार्य)	-	T3
फणीन् (पतञ्जलि)	-	T4/T5
भाष्यकृत् (पतञ्जलि)	-	T9/T10
मधुसूदनठक्कुर (कण्टकोद्धारकार)	-	T3
मिश्र (?)	-	T3
मुकुट (रायमुकुट)	-	T3
यास्कमुनि (निरुक्कतकार)	-	T9
वंशमणि (महामहोपाध्याय मैथिल)	-	T8
वैयाकरण (व्याकरणसम्प्रदायिन्)	-	T1
हेलाराज (प्रकीर्णप्रकाशटीकाकृत्)	-	T5/T9/T10

Appendix - 3

The statements quoted (उद्धृत शास्त्रीय वाक्य)

अस्तिर्भवतिपरः प्रथमपुरुषः (कात्यायनोक्त) - T1

आख्यातस्थले प्रत्ययार्थप्राधान्यं त्यजेत् (यास्कोक्त) - T9

आख्यातार्थेषु संख्यावर्तमानत्वादिषु
भावस्यैव संख्या-कालातिरिक्ताख्यातार्थस्यैव
प्राधान्यमस्तीति नियमात् - T9

एकतिङ् वाक्यम् (वार्तिकोक्त) - T1

एकतिङन्तार्थमुख्यविशेष्यकबोधजनकपदसमूहो
वाक्यम् (भाष्योक्त) - T1

तिङतिङः (पा. सू. ८.१.२८) - T3

धावनकर्तृक-मृगकर्मक-दर्शनाश्रयस्त्वम् - T3

धावनकृतिविशिष्ट-मृगस्य
वाक्यार्थत्वेन नामार्थत्वसम्भवात् - T5

नहि क्रियाविनिर्मुक्तं वाक्यमस्ति (भाष्योक्त) - T1

नामार्थ-धात्वर्थयोरभेदातिरिक्तसम्बन्धेन साक्षादन्वयबोधः - T5

किञ्च नहि क्रियाविनिर्मुक्तं वाक्यमस्तीति फणिनो
धरणीभारविजृम्भणभणतिः (भाष्यमत की आलोचना) - T4

प्रकृति-प्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः (भाष्योक्त) - T9

भावप्रधानमाख्यातम् सत्त्वप्रधानानि
नामानि (यास्कोक्त निरुक्त) - T9

लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे (पा. सू. ३.२.१२४) - T2

(न) विभक्तौ लक्षणेति नियमात् - T14

सविशेषणे हि विधि-निषेधौ सति विशेष्ये
बाधे विशेषणमुपक्रामते - T12

सुबन्तं हि यथानेकतिङन्तस्य विशेषणम्।
तथा तिङन्तमप्याहुस्तिङन्तस्य विशेषणम्।।
(हेलाराजोक्त) - T5

Appendix - 4

The Examples / Counter Examples quoted

(वाक्य रूप में उद्धृत उदाहरण / प्रत्युदाहरण)

कति कालास्त्रयः कालाः
(How many tenses (Times) ten tenses) T11

घटोऽनश्यत्पश्य
(See the jar has been destroyed) T6 / T12

चैत्र एव पचति
(Chaitra alone cooks) T15

चैत्रः पचति (Chaitra cooks) T3/T5/T15

चैत्रान्यो न पचति
(No one other than Chaitra cooks) T15

चैत्रो ग्रामं गतस्तत्र मैत्रः किं कुरुतेऽधुना
(Chaitra has gone to village,
what does Maitra do there?) T7

जयन्ति कृष्णस्य दशावताराः
(glory upon the Ten incarnations of Krishna) T3

तण्डुलः पचति (Rice cooks) T3/T5

त्रयः कालाः (Three tenses) T3/T6

त्रयः कालाः ज्ञयान्ते
(Three tenses are being known) T11

दशैते राजमातङ्गाः
(These are ten royal tribals) T7

दशैते राजमातङ्गास्तस्यैवामी तुरङ्गमाः
(These are ten royal tribals
and these are their horses) T4

धावन्तं मृगं पश्य (See the deer running) T2/ T6

नटो गायति शृणु (Hear the dancer sings) T6/ T12

पचति भवति (Stays cooking) T1

पटोलपत्रं पितघ्नं नाडी तस्य कफापहा
(The leaves of (Patol) reduces
biles (pitta) and its tubular organ (नाडी)
reduces the cough T7

पश्य मृगो धावति (see the deer runs) T1/ T3/ T5

पश्य धावति मृगाः (see the deer (plural) runs) T15

प्रयाति पुरुषस्तस्य चरणावभिवादये
(Here goes the man and I bow to his feet) T4

प्रबुद्धसेन्द्राम्बुदनादधीरं कृष्णार्णवाम्पर्णचरैकहंसः।
मन्द्रानिलापूरकृतादधानो निधानतश्श्रूयते पाञ्चजन्यः।। T14

भेर्यः श्रूयन्ते (The kettledrums are being heared) T14

मृगो धावति (deer runs) T8

लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति
(The priests are moving wearing red turbans) T16

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षयमन्नदः (!)
(The cloud gets satisfection,
let the bestower of corns pleases forever) T3

शङ्खाः श्रूयन्ते (The conchs are being heared) T14

शृणु गर्जति मेघो (Hear the cloud roars) T6/ T12/ T13

सोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति
(The priests are moving wearing turbans) T10

स्वर्गङ्गामवगाहते
(Takes bath in the heavenly Ganges) T16

हंसीव कृष्ण ते कीर्तिः
(O krishna ! your fame is as white as swan) T6/T16

हंसीव धवला कीर्तिः
(The fame is as white as swan) T15

हरेर्दशावताराः (Ten incarnations of हरि i.e. lord विष्णु) T3

Appendix - 5

Glossary

Technical Terms used (प्रयुक्त पारिभाषिक पद)

अतियुक्तप्रयोग (Exagerative usage) T14

अध्याहार (Supplying an element which is not there) T1

अनुपपत्ति (contingency) T3/T7/T11/T16

अनेकतिङन्त (Having more than one words ending with तिङ्) T5

अनेकसुबन्त (Having more than one words ending with सुप्) T5

अन्वय (relation between two positive entities) T3/T5/T6/T7/T9/T10/T12/T13/T15/T16

अन्वयबोध (Understanding of अन्वय) T5/T7/T9/T15/T16

अन्वयिन् (Relatum) T10

अप्रथमा (Other than the Nominative case) T2

अभेदातिरिक्तसम्बन्ध (Other than identical relationship) T5

अयोग्यता (Lack of compatibility) T3

अर्थवत्त्व (Meaningfulness) T3

अवच्छेदक (Delimitor) T7/T16

अविवक्षित (Not intended by the speaker) T3

अव्याप्ति (Narrow application) T6

आख्यात (Personal suffix or linguistic element that expresses function or व्यापार) T7/T8/T9/T15/T16

आख्यातार्थ (meaning of the element expressing function) T9

आपत्ति (Contingency or objection or entering into condition) T2/T4/T6/T15

आश्रय (Substratum, Relation of Dependance) T2/T4/T16

इष्टसाधन (Means or cause of desired object) T10

इष्टापत्ति (Desired contingency) T7/T11/T15

उत्सर्ग (general rule; perceiving repeatedly : भूयोदर्शनमुत्सर्गः; more doubt : अधिककोटिसंशय एवोत्सर्गः) T7

उपमान (Means of analogical cognition) T16

उपमेय (Object to be compared) T16

उपस्थाप्य (the state of cause of rememberance) T7/T15/T16

उपस्थिति (Remembrance or knowledge) T4/T7/T9/T15/T16

एकतिङ् वाक्यम् (The expression possesing one verbal form is called a sentence) T1

एकतिङन्तार्थ (The meaning of the expression containing one verbal form) T1

एकवाक्यता (The property of being one sentence) T1

एकवाक्यत्व (The property of being one sentence) T3/T5

कर्तरि (Active voice) T8/T9

कर्म (Acccusative case; object; action) T2/T3/T5/T6

कर्मक (Possessing accusative case) T3

कर्मत्व (the state of being an action or an object) T6/T13/T14

कर्मता (Acccusativeness) T3/T5/T10

कारण (Cause) T9/T16

कार्य (effect) T9/T16

कार्यकारणभाव (Cause and effect relationship) T9/T16

क्रिया (Action, verbal activity, verbal form) T4/T5/T9/T10/T11

क्रियान्तर (Other action) T8

क्रियाध्याहार (Supply of a verb or an action) T11

क्रियापदाध्याहार (Supply of verbal form) T1/T2

क्रियान्वय (Syntactic relationship with verbal form) T6

क्रियापद (Verbal word, verbal form) T1/T2

क्रियाविनिर्मुक्त वाक्य (Verbless sentence) T1/T4

गौरव (Prolixity, cumbersomeness, heavyness) T2

ज्ञान (Cognition, experience, knowledge) T9
तात्पर्य (Intention of the speaker) T16
तात्पर्यविषयपरामर्शिन् (That which considers the intention of the speaker) T16
तिङन्त (Ending with verbal suffix तिङ्) T1/T3/T5/T9
तिङन्तसमूह (Collection of words ending with verbal suffix) T3
तिङन्तार्थ (Meaning of words ending with verbal suffix) T1
दर्शनक्रिया (दर्शन or 'seeing' as an action) T10
दर्शनाश्रय (Substratum of the action 'seeing') T3
दृशिक्रिया (दृश् or 'to see' as action) T9
द्वितीया (Accusative case-ending) T2
धात्वर्थ (Meaning of the root) T5/T9
धावनकर्तृक (That having धावन or running as its agent) T3
धावनकृतिविशिष्ट-मृग (The deer qualified by the volition of the action running) T5
धावनक्रिया (धावन or running as action)
नाम (Name, stem, base) T9
नामार्थ (Meaning of Noun) T5/T8
नियम (A rule, invariable concomitance, Limitative) T7
नियामक (Delimitor) T11
निरूपित (described) T9
निषेध (Prohibition) T3/T12
निष्क्रिय (वाक्य) (verbeless sentence) T3
न्याय (maxim, the sentence which explains intended meaning) T14
पद (Word; A minimum meaningful unit of language) T1/T7/T14/T16
पदजन्य (Caused or generated by a word) T7/T14/T16
पदजन्योपस्थिति (Remembrance caused by word) T7/T14/T16

पदसमूह (Collection of words) T1

पदार्थ (Word meaning or Content of valid knowledge or Individual) T7/T13/T16

पदार्थता (Categoryness) T7/T16

पदार्थतावच्छेदक (Delimitor of Categoryness) T7/T16

परामर्श (Consideration; immediately preceding cause ofअनुमिति i.e. inferential knowledge) T4/T7/T16

पर्यायशब्द (Alternative word or Synonym) T11

प्रकारक (that which differentiates something from other) T7/T9/T15/T16

प्रकारता (The qualifierness) T9

प्रकारतानिरूपित (described by the qualifierness) T9

प्रकृति (The original; Base of a word which is used in language by the addition of affixes. Such words are of three kinds described in grammar : धातु or roots, प्रातिपदिक or noun bases and प्रत्यय or suffixes) T9

प्रत्यय (Suffix; knowledge) T9

प्रत्ययजन्योपस्थिति (The remembrance or understanding generated by the Suffixes) T9

प्रत्ययार्थप्राधान्य (Predominance of the suffix-meaning) T9

प्रथमपुरुष (Third person) T1

प्रथमा (Nominative case-affix) T2/T6/T8/T10/T13/T14/T15/T16

प्रथमान्तपद (Word ending with nominative case-affix) T15/T16

प्रथमान्तपदजन्योपस्थिति (Remembrance or understang of the word ending with nominative case-affix) T15/T16

प्रथमान्तार्थ (The meaning of the word ending with nominative case-affix) T2/T10/T13

प्रथमान्तार्थ-प्राधान्य (Predominance of the meaning of the word end-

ing with nominative case-affix) T10

प्रथमार्थ (The meaning of the nominative case-affix) T6/T14

प्रधान (Principal, main, chief) T9

प्रधानपरामर्शित्व (The state of that which considers the principal) T7

प्रातिपदिक (A stem) T3/T4/T5

बाध (Contradiction, obstruction) T12

बोधजनक (That which generates understanding) T1

भाव (action) T9

भावप्रधान (where the action is primary) T9

भावना (An action) T16

भावनान्वयिन् (That which relates an action) T16

मुख्य (Primaryt or principal) T1/T7/T15

मुख्यविशेष्यक (Prime qualificand) T1/T7/T15

मृगकर्मक (That having मृग or deer as its object) T3

रूढ (Conventional) T9

लक्षणा (Implication, A relation between the word and its referent denoting secondary meaning) T14

लट् (A class of verbal suffixes denoting present tense, A metalinguistic term coined by पाणिनि) T3

लट्-प्रत्ययान्त (A form ending with लट्- suffixes) T3

लडर्थ (The meaning of लट्- suffixes) T3

लिङ्ग (Gender and probandum or reason) T16

वचन (Number) T16

वर्तमान (Present Time) T3/T9

वर्तमानसामीप्य (Nearness of the Present Time) T3

वाक्य (Sentence i.e. collection of words having expectancy, proximity and compatibility)T1/T2/T3/T4/T5/T6/T11

वाक्यभेद (Sentence - split) T2/T3

वाक्यार्थ (The sentence-meaning i.e. the relation among the meanings that are understood from the words) T3/T5/T8

वाक्योच्छेद (Discarding or excluding of sentences) T2

विधि (Statement which prompts action) T12/T13

विभक्ति (Case-affix, Case-ending) T14

विवक्षा (Intention by speaker) T5/T6

विवक्षित (Intended by speaker) T9

विशेषण (Qualifier or that which differenciates) T4/T5/T7/T9/T12/ T15/T16

विशेषणता (Qualifierness) T10

विशेष्य (Qualificand) T2/T4/T16

विशेष्यक (Qualificand) T1/T9

विशेष्यता (Qualificandness) T7/ T9/T15/T16

विशेष्यतासम्बन्ध (Relationship of ualificandness) T9

विशेष्यान्वयिन् (That which relates the qualificand) T10

वैयर्थ्य (The state of being redundant) T3

वैरस्यापादक (Remover of the absence of sentiment i.e making something interesting) T16

व्यभिचार (A fallacious reason) T15

व्यावर्त्य (That which is distinguished) T3

शक्य (Primary meaning) T14

शक्यसम्बन्ध (Relationship with the word expressed) T14

शतृ (A कृत् - suffix in the sense of the agent of the present time in case of परस्मैपदी roots) T2

शब्द (Word) T7/T11

शानच् (A कृत् - suffix in the sense of the agent of the present time in case of आत्मनेपदी roots) T2

शाब्दबुद्धि (Verbal understanding) T9

संख्या (Number or a Numeral) T7/T8/T15/T16

संसर्ग (Relationship or Syntactical connection between words) T3/T5

सत्त्व (Substance, The static existence possessed by substantives as contrasted with भाव) T9

सत्त्वप्रधान (where the substance is primary) T9

समानाधिकरण (Words which have got the same individual object referred to by means of their own sense, which are put in same case) T2

सम्बन्ध (Relation) T5/T14

सविशेषण (Linked or associated with a qualifier) T12/ T13/T114

साधारणधर्म (A common property) T16

साधुत्वापत्ति (Contingency of correctness) T3/T5/T7/T15/T16

सुबन्त (Ending with case- affix called सुप्) T3/T5/T9

सुबन्तसमूह (Collection of words ending with case affixes) T3

सुबन्त-तिङन्तसमूह (Collection of words ending with both case affixes as well as verbal affixes) T3

हेतु (Cause) T7/T9/T15/T16

Appendix - 6

A List of other Sanskrit works related to Vākya

Vākyasudhā by Śaṅkarācārya (Vedānta)
Vākyasudhā (Vedānta)
Vākyārthasudhāṭīkā
Vākyavṛtti by Śaṅkarācārya (Vedānta)
Vākyavṛtti - Tarkasaṅgrahaṭīkā
Vākyānumāna
Vākyārthacandrikā by Kṛṣṇambhaṭṭa
Vākyatattva by Siddhāntapañcānana
Vākyārthacandrikā (Vedānta)
Vākyasaṅgraha (Vedānta)
Vākyasāra (Vedānta)
Vākyāmṛta by Sundaragaṇi
Vākyāmṛta by Tulajarāja
Vākyārthadarpaṇa (Vedānta)
Vākyārthabodha (Vedānta)
Vākyārthadīpikā (Vedānta)
Vākyaprakaraṇa by Śivayogendra (Vedānta)
Vākyaprakāśa by Harṣakulāgraṇī
Vākyabhedadoṣa by Anantadeva
Vākyamālā (Tattvavivekadīpanavyākhyā)
Vākyaratna by Keśava quoted in his Alaṅkāraśekhara

Appendix - 7

Bibliography

सहायक-ग्रन्थसूची

Pāṇini Kā Samarthasiddhānta Our Vākyavyutpādana, V.K.S. Iyyanger, Gaveṣaṇā - 48, pp. 47 - 58, 1986

***Vākya* according to the *Munitraya* of Sanskrit grammar**, G. V. devasthali, Charudev Shastri Felicitation Vol., ed. S.K. Chaterji, pp. 206-215, 1974

Śleṣātmaka Bhāratīya Bhāṣāoṃ Meṃ Vākya, K. Subrahmanya, Vākyapariśīlana, SV.XXV, 1-2 : 1

Vyākaraṇa-Nyāya-Mīmāṃsā-Matānusāreṇa Vākya- Svarūpam, Peri Suryanarayan Shastri, PAIOC, 29th Session, pp. 487-490, 1980

Some Evalutionary aspects of Vākyabheda, S. G. Moghe, Charudev Shastri Felicitation, JGJRI, XXXVII, 1-4, pp. 169-188, 1981

Bhaṭṭadīpikā of Khanadadeva, Vol. 1, Govt oriental library series, Bibliothecs Sanskrit -3, Mysore, 1908.

***Mahābhāṣya* of Patañjali,** ed F. Kielhorn, Rev. ed. K.V. Abhyankar, Bhandarkar Sanskrit Series, BORI, Poona, 1962 (Vol.1)

attvacintāmaṇi of Gangesopadhyaya (Śabdakhaṇḍa) with comms. Bibliotheca Indica, Calcutta - 1901.

Vākyapadīya of Bhartṛhari (3rd *Kāṇḍa*, Pt.2) with comm. Prakīrṇaprakāśa of Helārāja, ed.Ravi varma, L.A. Univ. of Travancore, 1942).

Paramalaghumañjuṣā with comm. Bhāvaprakāśikā and Bālabodhanī, Ed. Jayasankarlal Tripathi, Kṛṣṇadāsa Sanskrit series-50, Varanasi 1985.

Vaiyākaraṇasiddhāntamañjuṣā with the comm. Kuñjikā of

Durvalācārya and Kala of Ballamabhaṭṭa, Chaukhamba 4Sanskrit Series, Varanasi

Vaiyākaraṇasiddhāntamañjuṣā, ed. Kalika Prasad Shukla, Sampoornanand Sanskrit University, Varanasi, 1977

Vaiyākaraṇabhūṣaṇa, ed V. N. Mishra, Bharatiya Vidya Prakashan, Delhi,1987.

Vaiyākaraṇabhūṣaṇasāra with ***Darpaṇa*** and Hindi Bhāṣya of B.D. Dwivedi, Chowkhamba Orientalia, Varanasi, 1985.

Bhūṣaṇasārasamīkṣā, K. V. Ramakrishnamacharya, Raghav Prakashan, Tirupati, 1996

***Vyākaraṇamahābhāṣya* of Patañjali,** Ed. with Translation and Notes by S. D joshi (*Samarthāhnika*) Univ.of Poona, Pune,1967

***Vākyapadīya* of Bhartṛhari** with the comm. *Prakīrṇaprakāśa* of Helārāja, Ed. Ravi Varma L. A. Univ od Travancore,1942.

***Siddhāntakaumudī* of Bhaṭṭojī** Ed. with Translation and Notes by S. C. Vasu, Vol.I, MLBD.Varanasi. 1962.

Current issues in linguistic theory : Chomsky, Noam (1964): In J. A. Fodor and J. J. Katz (Eds.), The structure of language : Readings in the philosophy language (pp. 91-112). Englewood Cliffs, N. J: Prentice-Hall.

The sound pattern of English : Chomsky, Noam; and Halle, Morris. (1968): New York: Harper & Row.

The aims of autosegmental phonology by Goldsmith, John A. (1979): . In D. A. Dinnsen (Ed.), Current approaches to phonological theory (pp. 202-222). Bloomington: Indiana University Press.

Aṣṭādhyāyīsūtrapāṭhaḥ, Motīlāla Vanārasīdāsa, Naī Dillī, Prathamasaṃskaraṇam, 1997

***Vyākaraṇamahābhāṣyam*, Ed. K.V. Abhyankar,** Bhaṇḍārakara

Prācyavidyā- Śodhasaṃsthānam, Pune, 1975

Vyākaraṇamahābhāṣyam **(*Samarthāhnika*)** Joshi S.D & Roodbergen J.A.F. , University of Pune, Pune, 1968

Tarkasaṅgrahaḥ (Dīpikāsahitaḥ) Śrī Rāmakṛṣṇamaṭha, Milāpora, Cennai, 1994, Pṛ.67

Śabdaśaktiprakāśikā **of** Jagadīśa (with comm. Kṛṣṇakānti, Kashi Sanskrit series - 109, Benaras, 1934

Vākyapadīyam **of Bhartṛhari** (3rd Kāṇḍa, Pt.2) with comm. Prakīrṇaprakāśa of Helārāja, ed.Ravi Varma, L.A. Univ. of Travancore, 1942

Vyākaraṇa Kī Dārśanikabhūmikā**,** Satyakāma Varmā Munsiram Manoharlal, Delhi, 1971

A Dictionary of Sanskrit Grammar, Gaikwad Oriental Series, Oriental Institute, Baroda, 1977

Dictionary of *Nyāya* Terms, V. N. Jha, Centre of Advanced Study in Sanskrit, University of Pune, 2001

Studies on Sanskrit Grammar and Grammatical Concepts, Banamali Biswal, Padmaja Prakashan, 57, Vasant Vihar, Jhusi - Allahabad - 211019, 2007

Bhartṛhari : As a philosopher and Grammarian, Banamali Biswal, Padmaja Prakashan, 57, Vasant Vihar, Jhusi - Allahabad - 211019, 2006

Vākyapadīya of Bhartṛhari, Ed. K.V. Abhyankar & V. P. Limaye, Poona, 1965

Mahābhāṣya **of Patañjali, with Kaiyaṭa's *Pradīpa* and Nāgeśa's *Udyota*****,** (Navāhnikaṃ), Ed. B. B. Joshi, (Fifth Edn.), Bombay, 1951

Evolution of Sanskrit language from Pāṇini to Patañjali - Laddu, S.D. : CASS, University of Poona, 1974

Word Index to Patañjali's *Mahābhāṣya* - Pathak, S. Shastri & Chitrao S. Shastri: BORI, Poona, 1972

Sphoṭasiddhiḥ - Maṇḍana Miśraḥ, edited by S.K. Ramanatha Sastri (Madras University Sanskrit Series, No. 6, 1931)

Siddhāntakaumudī - Bhaṭṭojī-Dīkṣakṣakṣitaḥ, ed. & Tr. S.C.Vasu, Vol.1-2, Motilal Barasidas, Delhi, 1962

Vaiyākaraṇasammata Vākyasiddhānta - Eka Dārśanika Vivecana, Banamali Biswal, Bhāratīya Manīṣā-Darśana, Hindūstānī Akādamī, Allahabad, 2009

Kāśikāvṛttiḥ (*Nyāsa-Padamañjarī-Sahitā)* Jayāditya Vāmana, Ed. D. Shastri, Prachya Bharatiay Prakashan, Tara Publications, Delhi

Vākyavādaḥ (Manuscript No. 4333) of Manuscript Library of Rashtriaya Sanskrit sansthan, Ganganath Jha Campus, Allahabad

□□

Contributors to this volume

(Volume LXIV)

1.	Abhiraj Rajendra Mishra	Sunrise villa, Lower Summer Hill, Shimla
2.	Anirvan Das	Central University of Tibetan Studies Sarnath, Varanasi - 7 (U.P.)
3.	Anita Sengupta	Sanskrit Department Ishwar Sharan Degree College, Allahabad
4.	Anjana Trivedi	English Department, KVM P.G. College, Kanpur
5.	Aparajita Mishra	Rashtriya Sanskrit Sansthans G.N. Jha Campus, Azad Park, Allahabad - 211 002
6.	Arun Kumar	22, Mall Road, Agra- 282001 (U.P.)
7.	Ashutosh Kumar	Department of Hindi, BHU, Varanasi (UP)
8.	Banamali Biswal	57, Vasant Vihar, Jhusi, Allahabad - 211019
9.	Bipin Kumar Jha	Deptt. of Humanities, IIT, Mumbai 400067
10.	Chandradeo Pandey	Dept. of Ancient History Culture & Archaeology, Allahabad University, Allahabad-211002
11.	Devendra Pratap Singh	Sanskrit Vibhag, Ganapat Sahay P .G. College, Sultanpur (U.P.)
12.	Gayatri	61D/6A/1, Gayatrinagar, Teliyarganj, Allahabad (U.P.)
13.	Gopal Krishna Dash	P.G. Dept. of Sanskrit, Utkal University, Vani Vihar, Bhubaneswar-751 004
14.	Hemlata Boliya	Sanskrit Department, Mohanlal Sukhadiya University, Udaipur, (Raj.).
15.	Indulata Das	Qr. No. 5R-9, Forest Park, Unit-1, Bhubaneswar, Orissa - 751009

32.	Purna Chandra Upadhyaya	Govt. Birla College, Bhawani Mandi, Rajasthan
33.	Radharaman Pandey	Vill. Chandgadhi, P.O. Sirsiya, Dist. Shravasti, U.P. - 271840
34.	Ramhit Tripathi	Pt. Mahadeva Shukla Krishak P.G. College, Gaurbatti (U.P.)
35.	Santosh Kumar Mishra	Sarvoday P.G. College, Ghosi, Mau, U.P.
36.	Satyavrat	7/34, Purani Abadi, Near Namdev Flour Mill, Sri Ganganagar (Raj.)
37.	Savita Ojha	Sanskrit Department Rajiv Gandhi P. G. College, Kotwa, Jamunipur, Allahabad (UP)
38.	Shekh Abdul Gani	1-3-257, Pahadinagar, Bhongeer, Dist. – Nalgonda, Pin – 508 116, (A.P).
39.	Sindhu Upadhyaya	Deptt. of Humanities, IIT, Mumbai
40.	Shiv Kumar Mishra	1/32, MIG Avas Vikas Coloney, Yojana-3, Jhusi, Allahabad - 211019
41.	Suchitra Mitra	Sanskrit Department, Allahabad University, Allahabad – 211 002
42.	Sudarshan Sharma	HIG Block 61-B3, Sector-6, Parwanoo-173 220 (H.P.)
43.	Surendra Pal Singh	Sanskrit Dept., C.M.P. Degree College, Allahabad
44.	Vijaypal Shastri	Rashtriya Sanskrit Sansthan, Garli Parisar, Garli, Himcachal Pradesh
45.	Vinod Kumar Dixit	71/2, East of Shiva Mandir, Nehru Nagar, New Coloney, Deoria (U.P.)

To Our Contributors

The Rashtriya Sanskrit Sansthan, Ganganatha Jha Campus, Allahabad (formerly Ganganatha Jha Research Institute till 1973 and Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha till 2002) under the Ministry of HRD, Government of India, was founded on November 17, 1943 in memory of Mm. Dr. Sir Ganganatha Jha, one of the greatest Orientalists of India. From the very beginning, a number of Indologists and erudite scholars of eminence like Mm. Dr. Gopinatha Kaviraj, Dr. Ishwari Prasad, Mm. Dr. Umesh Mishra, Pt. Kshetresh Chandra Chattopadhyaya and others have been closely associated with this Research Institute which has been conducting higher research in Indology and publishing a research journal of International repute on Sanskrit and Indological subjects since its inception. The Research Journal, in addition to the research papers written by eminent scholars from all over the world, also contains sections on short communications, critical editions of short original Sanskrit texts and reviews of books concerning Indology.

We welcome your kind and invaluable cooperation in the form of your research articles and reviews written either in English or in Hindi or Sanskrit Languages. The articles must give an evidence of research by discovery of new facts or by that of new interpretation or relationship of known facts and must not be parts or chapters of theses. The articles should be brief and completely ready for the press with an abstract of maximum 200 words.

The research articles should be computerised in widely acceptable fonts in double space, fully corrected, and with notes and references at the end of the paper numbered consecutively. The writers are requested to follow the standard system of presentation and transliteration. The titles of books and journals as well as important Sanskrit or non-English words or quotations written in Roman script should be in italic and properly marked with diacritical Signs. Titles, authors and places of publications or editions of books and journals referred to for the first time in the paper should be given in full and thereafter, their abbreviations should be used. The postal address of the author with phone No. and email ID should be given at the end of the article.

The contributors will get 25 off-prints of their articles and one author-copy of the journal. The decission of the Editorial Board is final with regard to the publication of the Research papers.

The papers are preferred by Email or in CD with fonts used along with a hard copy.

Editors

Rashtriya Sanskrit Sansthan

(Deemed University)

Ganganath Jha Campus

Chandrashekhar Azad Park

Allahaad - 211002